प्रकाशक—

श्री रामचन्द्र गुप्त,

व्यवस्थापक

रीगल बुक डिपो,

नई सड़क, देहली ।

मुद्रक:—

१. न्यू इण्डिया प्रेस, नई दिल्ली—१-३६२

२. हिन्दी प्रिन्टिंग प्रेस, दिल्ली—२-१००

प्राक्कथन

साहित्यरत्न परीक्षा का मान दिन प्रतिदिन बढ़ रहा है और सम्भवतः उसके प्रति हिन्दी प्रेमियों का आकर्षण भी बढ़ रहा है। साहित्यरत्न के प्रथम खंड में पाठ्य पुस्तकों का ही विशेष रूप से अध्ययन करना होता है किन्तु द्वितीय खंड में कुछ ऐसे विषयों का भी अध्ययन करना होता है जिनसे साधारण विद्यार्थी पूर्व परिचित नहीं होता। अतः इस बात की आवश्यकता मैं बहुत दिन से अनुभव कर रहा था कि भाषा विज्ञान साहित्य लोचन, इतिहास एवं निबन्ध के सम्बन्ध में प्रश्न और उत्तर लिख कर विद्यार्थियों का पथ-प्रदर्शक करूँ। मैं जानता और मानता हूँ कि प्रथम दर्शकों के कारण छात्र गम्भीर अध्ययन से पराङ्मुख होते जा रहे हैं परन्तु द्वितीय खंड के अध्ययन के सम्बन्ध में ऐसी अशोभा ही नहीं है क्योंकि इसमें पाठ्य पुस्तकों का अध्ययन न होकर सामान्यता इधर लिखे विषयों का अध्ययन ही अपेक्षित है। इसी से मैंने इस ओर यत्न किया है। रीगल बुक डिपो के उत्साही संचालक महोदय ने बार २ प्रेरणा देकर मुझ से यह कार्य करा लिया है अन्यथा मैं इस ओर प्रवृत्त हो पाता इसमें सन्देह है।

इसके लिखने में मुझे अपने अनेक प्रिय शिष्यों से सहयोग पाया हुआ है। बलवन्त राजपूत कॉलेज के प्रोफेसर प्रिय राजेन्द्र शर्मा ने जो सहयोग दिया है उसके बिना तो इस पुस्तक में लिखा

शासनकी उन्नतिके कार्यों में

साहित्यरत्न-पथ-प्रदर्शक

(द्वितीय खण्ड)

भापा विज्ञान

प्रश्न १—भापा विज्ञान किसे कहते हैं ? व्याकरण और साहित्य का उससे सम्बन्ध बताइये ?

उत्तर १—भापा विज्ञान आजकल के विद्वानों की दृष्टि में योरोप की देन समझा जाता है। यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि भापा विज्ञान का जो रूप हमें आजकल मिलता है वह योरोपीय विद्वानों की देन है किंतु वास्तव में भापा-विज्ञान की नींव उसी समय पड़ गई थी जबकि आर्य लोगों ने वेदों के अध्ययन के हेतु व्याकरण और निरुक्त की रचना की थी।

जिस प्रकार किसी वस्तु को देख कर उसकी परीक्षा करके नियम निर्धारित करने का कार्य विज्ञान का होता है उसी प्रकार भापा के कार्यों का निरीक्षण करके उसके आधार पर सामान्य नियमों की रचना करना भापा-विज्ञान का कार्य है। भापा विज्ञान भापा की उत्पत्ति, उसकी बनावट और उसके ह्रास की वैज्ञानिक व्याख्या करता है।

भापा विज्ञान की परिभापा ही इस बात की सूचक है कि इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। किसी देश अथवा काल की भाषा इसका विषय बन सकती है। कभी किसी भी देश अथवा मानव मुख से निकले हुये शब्द इसके परीक्षण के विपय बन जाते हैं। भाषा विज्ञान यद्यपि आज अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है परन्तु इसका व्याकरण के साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि प्रायः भाषा विज्ञान और व्याकरण के बीच भेद करना कठिन हो जाता है।

व्याकरण के मुख्य चार भेद किये गये हैं—वर्णनात्मक व्याकरण, ऐति-

हासिक व्याकरण, तुलनात्मक व्याकरण और सामान्य व्याकरण। व्याकरण वास्तव में भाषा और उसके शब्दों की साधुता और असाधुता का विचार करता है, किंतु भाषा की वैज्ञानिक व्याख्या करना उसके क्षेत्र से बाहर की बात है यह कार्य भाषा विज्ञान का है इसीसे आधुनिक विद्वान् केवल वर्णनात्मक व्याकरण को ही व्याकरण मानते हैं। अन्य तीनों भेदों का समावेश भाषा विज्ञान के अंतर्गत हो जाता है। इन भेदों को उदाहरण देकर स्पष्ट कर लेना उचित होगा।

वर्णनात्मक व्याकरण के अनुसार धातु के अंत में आ जोड़ने से भूत-कालिक कृदन्त बनता है। यदि धातु के अंत में आ, ए, अथवा ओ हो तो धातु के अंत में 'य' कर देते हैं। जैसे 'कहना'—'कहा', 'मरना'—'मरा'; 'लाना'—'लाया' 'बोना'—'बोया'।

पर करना से किया, जाना से गया आदि प्रयोग इस नियम के अपवाद हैं। ऐतिहासिक व्याकरण इन शब्दों के इतिहास को प्रस्तुत करके यह स्पष्ट करता है कि 'किया' 'गया' हिन्दी की 'कर और जा' धातुओं से नहीं बने हैं। वे सस्कृत के कृत· और गत: अथवा प्राकृत के 'कओ' और 'गओ' तथा अपभ्रंश के 'किय' 'गवा' आदि से बने हैं। हिंदी मे कर और जा धातुओं से करा और जाया ही बनते हैं। करा का प्रयोग प्रांतीय बोलियों में और जाया का संयुक्त क्रिया के रूप म मिलता है।

वर्णनात्मक व्याकरण के अनुसार होना के दो अर्थ होते हैं—स्थिति और विकार। विकारार्थक होना क्रिया से 'है, था' आदि रूप बनते हैं। गुजराती, मराठी, बंगला आदि अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं के 'छे, आहेत, अहै और आछे आदि रूपों की तुलना से पता चलता है कि 'है' क्रिया का 'अस्' धातु से और 'होना' क्रिया का 'भू' धातु से सम्बन्ध है। इस प्रकार तुलनात्मक व्याकरण वर्णनात्मक व्याकरण को और अधिक स्पष्ट कर देता है। साथ ही हम देखते हैं कि ऐतिहासिक व्याकरण का सहयोग भी इसमें अपेक्षित होता है।

सामान्य व्याकरण का काम है कि वह सभी भाषाओं में साधारणतः पाये जाने वाले सिद्धान्तों की खोज करता है और उसके लिये ऐतिहासिक और

तुलनात्मक व्याकरण की सहायता लेता है। उदाहरणार्थ हिंदी के 'जाता हूं' 'गया' आदि रूपों की अंग्रेजी के go and went, संस्कृत के गच्छामि और गतः आदि रूपों से तुलना करके यह निश्चय किया जाता है कि क्रियाओं के रूप प्रायः निश्चित नहीं रहते। इसी तुलना के बल पर यह सामान्य सिद्धांत बना लिया गया है कि संख्या, सम्बंध और गृहस्थी के वाचक शब्द भाषा के अधिक स्थिर अंग होते हैं।

इस प्रकार व्याकरण तथा भाषा विज्ञान दोनों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि व्याकरण एक काल की किसी एक भाषा से सम्बंध रखता है किंतु भाषा-विज्ञान बहुत व्यापक है और उसका सम्बंध सब कालों की सब भाषाओं से होता है। व्याकरण वर्णन प्रधान होता है वह सिद्ध रूपों को लेकर अपना कार्य करता है पर भाषा विज्ञान उनके कारणों की खोज करता है। भाषा विज्ञान और व्याकरण में अंगाङ्गी भाव है। भाषा विज्ञान अङ्गी है और व्याकरण उसका अंग।

इस प्रकार व्याकरण एक कला है भाषा विज्ञान विज्ञान है। एक का क्षेत्र संकीर्ण है और दूसरे का व्यापक एक वर्णन प्रधान है दूसरा व्याख्या-प्रधान। एक 'क्या' का उत्तर देता है दूसरा 'कैसे' का।

भाषा विज्ञान और साहित्य—यद्यपि भाषा विज्ञान को भाषा का स्वभाव तथा उसकी प्रवृत्तियों को समझने के लिये अशिक्षितों की बोलियों से अधिक सहायता लेनी पड़ती है तथापि साहित्यिक भाषायें भी उसके लिये बहुत उपयोगी होती हैं। ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन के बिना भाषा विज्ञान का कार्य सम्पादित नहीं हो सकता। इसके लिये उसे साहित्य को अपना आधार बनाना पड़ता है। आज भाषा विज्ञान का जो विशद, तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन हो रहा है उसके लिये वह संस्कृत साहित्य के प्रति ऋणी है।

साहित्य भाव प्रधान होता है और भाषा विज्ञान में भावों और अर्थों का भी अध्ययन किया जाता है। इस दृष्टि से भी साहित्य में भाषा विज्ञान की सहायता लेनी पड़ती है। तुलनात्मक अध्ययन के लिये केवल प्राचीन भाषाओं के साहित्य की ही नहीं अपितु आधुनिक साहित्यिक भाषाओं के अध्ययन की

भी आवश्यकता पड़ती है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि भाषा विज्ञान के अनेक अंग है। उनमें से सभी अंगों के साथ साहित्य का सीधा सम्बन्ध नहीं होता।

व्याकरण एवं साहित्य के अतिरिक्त भूगोल, इतिहास, मनोविज्ञान, लिपिविज्ञान, मानव-विज्ञान तथा पुरातत्व आदि से भी भाषा विज्ञान का विशेष सम्बन्ध है। विभिन्न देशों की ध्वनियों में अंतर देखा जाता है। जैसे संस्कृत का टवर्ग आर्य परिवार की अन्य भाषाओं में नहीं मिलता। ऐसे प्रश्न का उत्तर भोगौलिक परिस्थिति ही दे सकती है। किसी भाषा का रूप परिवर्तित होते-होते किस प्रकार पूर्णत. बदल जाता है इसका पता इतिहास से चलता है। इतिहास ही हमें यह बतलाता है कि कैसे आधुनिक हिन्दी में पुर्तगाली, अंग्रेज़ी आदि के शब्द ही नहीं आ गये हैं प्रत्युत हिंदी के व्याकरण पर अंग्रेज़ी के व्यांकरण का भी प्रभाव पड़ा है। भाषा विज्ञान के भावात्मक अंग को समझने के लिए मनोविज्ञान का सहारा लेना पड़ता है। प्राचीन रूपों को समझने के लिये भाषा विज्ञान को लिपि-विज्ञान और पुरातत्व आदि का सहारा भी लेना पड़ता है। केवल भाषा विज्ञान के आधार पर निश्चित की हुई बातें अपूर्ण ही रहती हैं। अतः भाषा विज्ञान विभिन्न शास्त्रों से सहायता प्राप्त करता है और साथ ही अन्य शास्त्रों के विकास में वह भी सहायक होता है।

प्रश्न २—यूरोप मे भाषा विज्ञान के सम्बन्ध मे जो कार्य हुआ है उस पर प्रकाश डालिये ?

उत्तर २—भाषा विज्ञान का जो रूप आज कल हमें मिलता है, उसका आविर्भाव तो पिछली शताब्दी में ही हुआ है, परन्तु उसकी परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। यूनानी विद्वान् प्लेटो ने व्युत्पत्ति विद्या के रूप मे इसकी नीव डाली यद्यपि प्लेटो के क्रेटिलस मे दी हुई व्युत्पत्ति वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती, तथापि उसके ग्रन्थों मे भाषा के अध्ययन को विशेष स्थान प्राप्त था। ऐरिस्टोटल ने व्याकरण के कारकों का प्रकरण जोड़ करके उसे और भी विकसित किया। रोम तथा इटली में भी बहुत प्राचीन काल से भाषा विज्ञान का अध्ययन आरम्भ हो गया था। इस विषय का सबसे प्राचीन ग्रन्थ ईसा से ४३ वर्ष पूर्व बन चुका था। जूलियस सीजर ने भी

व्याकरण पर दो भागों में एक ग्रन्थ लिखा था। इसी काल में ग्रीक विद्वानों में डिसकोलस का नाम उल्लेखनीय है। वह ग्रीक वाक्य-विचार का पिता माना जाता है।

यद्यपि तुलनात्मक अध्ययन के वीज बहुत प्राचीन काल में दिखाई देते हैं किंतु उनका सच्चा विकास १८वीं शताब्दी के अंत में आरम्भ हुआ। सर विलियम जोन्स ने यूरोप के विद्वानों को संस्कृत से परिचित कराया था और उनके सामने यह बात रखी कि संस्कृत, लेटिन और ग्रीक एक बड़े भाषा परिवार में उत्पन्न बहिनें हैं। इस प्रकार उन्होंने तुलनात्मक भाषा विज्ञान को जन्म दिया।

वास्तव में विलियम जोंस की कल्पना को वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय अन्य विद्वान् को है। जिसने ग्रीक, लेटिन, पर्शियन और जर्मन भाषाओं की क्रियाओं के साथ सस्कृत क्रियाओं की विस्तार के साथ तुलना की। उसने ध्वनि परिवर्तन सम्बंधी नियमों की विवेचना की।

इस समय और भी कई विद्वान् इस क्षेत्र में कार्य करने लगे। जिनमें जैकव ग्रिम वहुत प्रसिद्ध है। बौप ने रूपों की ओर विशेष ध्यान दिया था। ग्रिम ने ध्वनि को अपना लक्ष्य बनाया। इसका ध्वनि सम्बन्धी नियम ग्रिम नियम के नाम से प्रसिद्ध है।

इस काल का दूसरा प्रसिद्ध विद्वान् पॉट था। व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में सबसे पहिला वैज्ञानिक ग्रंथ इन्हीं के द्वारा लिखा गया। इनके पश्चात् इस क्षेत्र में मैक्समूलर ने भाषा विज्ञान को लोकप्रिय बनाने का विशेष उद्योग किया। आगे चलकर भाषा विज्ञान सम्बन्धी अनेक नई खोजें हुई जिनमें ग्रासमान तथा वर्नर आदि की खोजें विशेष महत्व की हैं।

पुराने सम्प्रदाय के विद्वान् उपमान के कारण होने वाले विकारों को घृणा की दृष्टि से देखा करते थे। मिथ्या-सादृश्य नाम से यही व्यंजना होती है। भाषा की व्युत्पत्ति जैसे प्रश्नों से उनका अनुशीलन आरम्भ करना अवैज्ञानिक ही था। नये सम्प्रदाय ने जीवित भाषाओं का अध्ययन करके उन्हीं सिद्धांतों और नियमों के आधार पर मृत भाषाओं की ओर जाना अच्छा समझा। नये सम्प्रदाय का नेता कार्लब्रुग माना जाता है। जस पर्सन, स्वीट,

डनियल जोंस तथा टर्नर आदि आधुनिक काल के प्रसिद्ध विद्वानों ने भाषा विज्ञान के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति की है। आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों में से अधिकांश विद्वान् नये सम्प्रदाय की संकीर्णता को दूर करने के लिये पुराने सम्प्रदाय को अपने ढंग से अपनाने का यत्न कर रहे हैं।

प्रश्न ३—भारतवर्ष में भाषा विज्ञान के सम्बन्ध में जो कार्य हुआ है उस पर प्रकाश डालिये।

उत्तर ३—भाषा विज्ञान का अध्ययन करने वाले साधारण पाठक प्रायः यही समझते हैं कि यह आधुनिक यूरोपीय विद्वानों की देन है। किन्तु वास्तव में इस शास्त्र का गम्भीर अध्ययन बहुत पहले ही भारतवर्ष में हो चुका था, भारतीय व्याकरण के विकसित रूप में शिक्षा, निरुक्त, रूप, विचार, वाक्य विचार अथवा अर्थ विचार आदि भाषा विज्ञान के सभी अंगों का समावेश हुआ था। व्याकरण भाषा विज्ञान का सबसे प्रधान अंग है। इस अंग का जितना अध्ययन और अनुशीलन भारतवर्ष में हुआ उतना अन्यत्र नहीं। आजतक पाणिनि से बढ़कर कोई वैयाकरण संसार में नहीं हुआ। पाणिनि से पूर्व भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय व्याकरण के सम्बन्ध में उत्पन्न हो चुके थे। पाणिनि के पश्चात् कात्यायन पंतजलि, भर्तृहरि और नागेश आदि ने व्याकरण के सम्बन्ध में प्रशंसनीय कार्य किया। जिस समय पाश्चात्य भाषा विज्ञान का जन्म भी नहीं हुआ था उस समय तक भारत में इस शास्त्र का पर्याप्त विकास हो चुका था। भाषा के कुछ अंगों के सम्बन्ध में अलंकार शास्त्रों और दर्शनों में भी अच्छा विवेचन किया गया था। यूरोप के विद्वानों ने ग्रीक के व्याकरण के विश्लेषण करने के बाद भाषा विज्ञान को जो प्रगति दी यदि वे संस्कृत के व्याकरण का अनुशीलन करते तो निश्चय ही भाषा विज्ञान और अधिक उन्नति कर सकता था।

बहुत प्राचीन काल में वेदों का अध्ययन बहुत ही मनोयोग के साथ किया जाता था। मन्त्रों के उच्चारण में शुद्धाशुद्ध होने पर बहुत ध्यान रखा जाता था। संस्कृत को जब देववाणी माना जाने लगा तब उसकी एक-एक मात्रा स्वर आदि को ध्यान में रखकर शिक्षा शास्त्र का विकास हुआ। धीरे-धीरे ध्वनियों का विशेष अध्ययन होने लगा। प्रातिशाख्यों का मुख्य उद्देश्य

संहिता के स्वर और मात्रा से युक्त शुद्ध उच्चारण को सिखाना था। निरुक्त में इसका समर्थन किया गया है। पद-पाठ किसी भी वेद की संहिता के मन्त्रों के एक-एक पद को अलग-अलग पढ़ने का नाम है। अतः ध्वनियों के विश्लेषण की प्रक्रिया का वेदों के अध्ययन के कारण बहुत ही विस्तार हुआ।

धीरे-धीरे वैदिक संस्कृत के अध्ययन की दृष्टि से व्याकरण और निघण्टु की रचना होने लगी। इनमे शब्दों के सम्बन्ध में सामान्य नियमों का वर्णन रहता था। बाद में यह समझाने के लिये कि किसी शब्द का कोई अर्थ क्यों होता है ? व्युत्पत्ति विद्या अथवा निरुक्त का बीजारोपण हुआ। यास्क ने निरुक्त में केवल शब्दों की व्युत्पत्ति ही नहीं दी है प्रत्युत भाषा की व्युत्पत्ति गठन वृद्धि आदि पर भी विचार किया है। यास्क ने भाषा की व्युत्पत्ति धातुओं से मानी है। यास्क का यह सिद्धान्त बड़े महत्व का है।

यास्क के पश्चात् वेदों के अध्ययन का महत्व कुछ कम होने लगा। परन्तु भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन बन्द नहीं हुआ। इन मुनियों के सूत्रों वार्तिकों और भाष्यों में भी भाषा सम्बन्धी अनेकों बातें मिलती हैं। महा भाष्यकार ने शब्द के भौतिक और मानसिक दोनों रूपों को स्वीकार किया है। यह विचार आधुनिक विज्ञान से भी मेल खाता है। इसके अनन्तर संस्कृत का वैज्ञानिक अध्ययन न होकर दार्शनिक अध्ययन होने लगा फलस्वरूप शब्द और अर्थ की शक्ति का तथा व्याकरण के मूल तत्वों का विवेचन किया गया। आगे चल कर पाली प्राकृत और अपभ्रंश आदि भाषाओं के व्याकरण बने और उनका संस्कृत से जन्य-जनक-सम्बन्ध दिखाने का उद्योग किया गया है।

देशी और विदेशी विद्वानों के द्वारा भारत के इस व्याकरण की सहायता से भारत की भाषाओं का तथा भाषा सामान्य का अध्ययन किया गया था यद्यपि वह आधुनिक भाषा विज्ञान से सर्वथा भिन्न अवश्य था।

वर्तमान युग में भाषा विज्ञान सम्बन्धी काम करने वालों में सर्वप्रथ स्वर्गीय राम कृष्ण गोपाल भंडारकर का नाम आता है। इन्होंने संस्कृत के व्याकरण की परम्परा को स्थिर रखते हुए यूरोपीय विद्वानों के सिद्धान्तों का भी गम्भीर अध्ययन किया। भारत के दूसरे भाषा वैज्ञानिकों में सुनीति कुमार चटर्जी प्रमुख हैं। पुरातत्व के विशेषज्ञ होने के कारण इन्होंने भाषा विज्ञान को

व्यापक दृष्टिकोण प्रदान किया है। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने भाषा और बोलियों की अच्छी खोज की है। इनके अतिरिक्त डा० धीरेन्द्र वर्मा बनारसीदास जैन श्यामसुन्दरदास, बाबूराम सक्सेना, डा० मंगलदेव आदि विद्वानों ने भी इस सम्बन्ध में अच्छा कार्य किया है।

प्रश्न ४—भाषा की वैज्ञानिक परिभाषा देते हुए बोली, विभाषा, भाषा और राष्ट्रभाषा का अन्तर स्पष्ट कीजिये तथा भाषा के सहायक अंगों पर प्रकाश डालिये।

उत्तर ४—भाषा की वैज्ञानिक परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है मनुष्य और मनुष्य के बीच वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान प्रदान करने के लिये व्यक्त ध्वनि संकेतों का जो व्यवहार होता है उसे भाषा कहते हैं।

इस परिभाषा के सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि भाषा का सम्बन्ध प्रायः वक्ता के भाव, इच्छा, आज्ञा आदि मनोविकारों से अधिक रहता हैं साधारण पाठक भी यह समझता है कि वह सदा विचार प्रकट करने के लिए ही नहीं बोलता। इसके अतिरिक्त भाषा सदैव किसी न किसी वस्तु के विषय में चाहे वह भौतिक जगत् की हो अथवा आध्यात्मिक या मानसिक जगत् की वस्तु के विषय में कुछ कहती है। सबसे अधिक महत्व की बात यह है कि भाषा समाजसापेक्ष वस्तु है। मनुष्य एक दूसरे के विचारों और भावों को प्रभावित करने के लिये ही व्यक्त ध्वनि संकेतों का प्रयोग करते हैं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है और वह एक दूसरे के साथ सहयोग और विनिमय के बिना नहीं रह सकता। इस कार्य के लिये भाषा माध्यम का कार्य करती है।

यद्यपि भाषा व्यक्त ध्वनियों का संकेत रूप होती है और वर्ण ही उसका सबसे बड़ा आधार है परन्तु उसके साथ-साथ उसके कुछ और भी सहायक अंग होते हैं। केवल अशिक्षितों में ही नहीं अपितु शिक्षितों में भी हम यह बात देखते हैं कि वे भाव प्रकाशन के हेतु भाषा के साथ-साथ आंख और हाथ आदि संकेतों का भी प्रयोग करते हैं। हम सदैव यह अनुभव करते हैं कि किसी अन्य भाषा-भाषी के साथ संलाप करते समय भाषा से हमारा

कार्य नहीं चल पाता। उस समय हमें अपने अपूर्ण शब्द-भंडार की पूर्ति के लिये सहायक अंगों की अधिक सहायता लेनी पड़ती है। बहरे और गूंगे व्यक्तियों के साथ बातचीत करने में भी सहायक अंग आवश्यक होते हैं। क्रोध घृणा जैसे भावों को व्यक्त करने के लिये प्रत्येक व्यक्ति मुखविकृति का प्रयोग करता है। इस प्रकार केवल मुखविकृति, आंख और हाथ आदि के संकेत ही नहीं अपितु स्वर-विकार, मात्रा आदि के द्वारा भी सहायता ली जाती है। अतः ये भाषा के सहायक अंग कहलाते हैं।

बोली से अभिप्राय स्थानीय और घरेलू बोली से होता है जो नाम मात्र को भी साहित्यिक नहीं होती तथा बोलने वालों के मुख तक ही सीमित रहती है। इसमें थोड़े-थोड़े क्षेत्र के पश्चात् अन्तर दिखाई देता है। अर्थात् यदि हम किसी देश के एक कोने से दूसरे कोने तक यात्रा करें तो हम देखेंगे कि कुछ मीलों अनन्तर ही बोली बदल जाती है। विभाषा का क्षेत्र बोली की अपेक्षा विस्तृत होता है। किसी प्रांत की बोलचाल तथा साहित्यिक रचना की भाषा विभाषा कहलाती है। हिन्दी में विभाषा के लिए शब्दों का निश्चित प्रयोग देखने में नहीं आता क्योंकि विभाषा को कोई उपभाषा कोई बोली और कोई प्रांतीय भाषा कहता है। कई विभाषाओं में जो विभाषा शिष्ट समुदाय के द्वारा ग्रहण कर ली जाती है वही भाषा अर्थात् टकसाली (परिष्कृत) भाषा कहलाती है। यह भाषा विभाषाओं पर अपना प्रभाव डालती है और कभी-कभी कुछ विभाषायें उससे इतनी प्रभावित होती हैं कि उनका अस्तित्व ही मिट जाता है। विभाषाओं का अपने प्रांत पर बहुत कुछ अधिकार होता है पर भाषा राजनैतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक और धार्मिक आन्दोलनों के द्वारा व्यापक रूप धारण कर लेती हैं। भाषा-विभाषा के भेद को समझने के साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि एक भाषा की जो अनेक विभाषायें होती हैं उनमें एक प्रकार की समानता होती है इसी कारण एक भाषा की भिन्न-भिन्न विभाषाओं के बोलने वाले एक दूसरे को समझ लेते हैं।

अनेक भाषाएं किसी भी देश में प्रमुखता प्राप्त दीखती हैं। किन्तु समस्त राष्ट्र के राजनीतिक कार्य संचालन के हेतु किसी एक भाषा को चुन लिया जाता है। यद्यपि अपने-अपने प्रांतों में अपनी-अपनी भाषा के द्वारा ही

सब कार्य चलते हैं किन्तु राष्ट्र सम्बन्धी कार्य के हेतु किसी एक भाषा को व्यवहार में लाना होता है। जैसे 'गाल मे बंगला, महाराष्ट्र में मराठी तथा गुजरात म गुजराती भाषा का प्रयोग होता है। किन्तु भारत के प्रत्येक प्रांत के राजनीतिक कार्यों के लिये माध्यम के रूप में प्रयोग करने के हेतु खड़ी बोली को चुन लिया गया है। अत· उसे हम राष्ट्र भाषा कहेंगे। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अनेक विभाषाओं में एक विभाषा प्रमुखता प्राप्त करके किसी प्रांत की प्रधान भाषा का रूप धारण कर लेती है उसी प्रकार किसी राष्ट्र की अनेक भाषाओं में कोई एक भाषा व्यवहार की दृष्टि से इतनी प्रमुखता प्राप्त कर लेती है कि राष्ट्र के सभी लोगों के द्वारा उसका व्यवहार होने लगता है और उसे हम राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन कर देते हैं।

प्रश्न ५—भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कौन-कौन से सिद्धांत प्रचलित हैं तथा उनमे से कौन से सिद्धांत आधुनिक भाषावैज्ञानिकों के द्वारा मान्य हैं।

उत्तर ५—भाषा समाजसापेक्ष वस्तु है और हमें वह परम्परा से प्राप्त होती है। आधुनिक पीढ़ी को तो वह अपने पूर्वजों से प्राप्त अवश्य हुई है किन्तु आरम्भ में उसकी उत्पत्ति कैसे हुई होगी यह वैज्ञानिकों के विवाद का विषय रहा है।

सबसे प्राचीन मत यह था कि भाषा को ईश्वर ने उत्पन्न किया। सभी धर्मानुयायी अपने-अपने ग्रन्थों को ईश्वर के द्वारा उत्पन्न समझते थे किन्तु इस सिद्धांत को वैज्ञानिक दृष्टि से दोष पूर्ण माना जाता है। यह तो सभी मानते हैं कि उच्चारण की शक्ति ईश्वर की देन है। किन्तु व्यवहार में आने वाली भाषा बाद में ही बनी होगी। यह अवश्य ठीक है कि भाषा मनुष्य की विशेष सम्पत्ति है। अन्य प्राणियों को इस रूप में वह प्राप्त नहीं हुई।

कुछ विद्वानों ने यह मत दिया है कि आदि काल में मानव ने कुछ ध्वनि संकेतों को जन्म दिया। वे ही आगे चलकर विकसित भाषा के रूप में हो गये, किन्तु इसमें यह आपत्ति उठती है कि सकेत निश्चित करने के लिये उन्होंने किस भाषा का प्रयोग किया होगा।

इस प्रकार दिव्य उत्पत्ति, एवं "साकेतिक उत्पत्ति" सम्बन्धी दोनो मत

भाषा वैज्ञानिकों ने असंगत ठहराये और बाद में चार मतों की स्थापना की। जिनमें पहला मत अनुकरणमूलकता वाद है। इस मत के अनुसार भाषा के प्रथम शब्द अनुकरणात्मक थे। पशु पक्षियों की अव्यक्त ध्वनि सुनकर उसी के अनुसरण पर मनुष्य नया शब्द बना लेता था। जैसे कौवे की 'का, का' की ध्वनि के अनुसरण पर काक शब्द की अथवा बिल्ली की ध्वनि पर "म्याऊं" शब्द की उत्पत्ति हुई होगी। इस मत के सम्बन्ध में यह आपत्ति उठाई जाती है कि जब मनुष्य पशु-पक्षियों तथा अन्य निर्जीव पदार्थों की ध्वनियों का अनुकरण करता था तो वह स्वयं मनुष्य की ध्वनि का भी अनुकरण करता होगा।

दूसरा प्रसिद्ध वाद "मनोभावाभिव्यंजकता" का है। इसके अनुसार आरम्भ में विस्मय आदि मनोभावों के बोधक शब्दों से भाषा की उत्पत्ति हुई। प्रत्येक भाषा में हर्ष, शोक आदि भावों के द्योतक शब्द प्रायः एक से पाये जाते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में दो प्रकार की आपत्तियाँ उठाई जाती हैं, पहिली यह कि मनोभावाभिव्यजक शब्द वास्तव में भाषा के अन्तर्गत नहीं आते क्योंकि इनका व्यवहार तभी होता है जब वक्ता या तो बोल नहीं सकता या बोलना नहीं चाहता। दूसरी यह कि विस्मयादिबोधक शब्द भी प्रायः सांकेतिक और परम्परा गत होते हैं।

तीसरा सिद्धांत यो-हे-हो वाद कहलाता है। इस वाद के जन्मदाता नायर हैं उनके अनुसार परिश्रम करने पर मनुष्य के श्वास-प्रश्वास का वेग बढ़ जाता है जिससे स्वर-तन्त्रियों में कम्पन होने लगता है। उस कम्पन के कारण ध्वनियों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार श्रम के कारण उत्पन्न होने वाली ध्वनियों से आरम्भ में भाषा की उत्पत्ति हुई।

चौथा मत डिंग डैंग वाद कहलाता है। मैक्स-मूलर के अनुसार प्रकृति का यह नियम है कि चोट लगने पर प्रत्येक वस्तु अनुकरण करती है। मनुष्य में आदि काल में एक विभाविका शक्ति थी जो बाह्य वस्तुओं के लिये वाचक शब्द बनाया करती थी। भाषा के विकसित हो जाने के पश्चात् वह शक्ति नष्ट हो गई। बाद में मैक्स-मूलर ने अपने इस सिद्धांत को सदोष जानकर स्वयं उसे त्याग दिया था।

आधुनिक भाषा वैज्ञानिक प्रसिद्ध वैयाकरण स्वीट के मत से सहमत हैं। उसके अनुसार भाषा के आरम्भिक रूप की उत्पत्ति तीन प्रकार से हुई। कुछ शब्द अनुकरणात्मक थे कुछ मनोभावाभिव्यंजक और इनसे अवशिष्ट प्रतीकात्मक। प्रतीकात्मक को स्वीट ने बहुत व्यापक माना है। उसका कहना है कि आदिम मनुष्य जिस प्रकार की क्रियायें करता था उसी प्रकार के शब्दों को प्रतीक रूप में बना लेता था। जैसे लेटिन की 'पियर' संस्कृत की पिबति, हिन्दी की पीना अरबी की शरब हिन्दी का शरबत अथवा अंग्रेजी sherbat शब्द इस बात के प्रतीक हैं कि आदिम मनुष्य पीने में किस प्रकार श्वास को भीतर खींचता था अनेक सर्वनाम भी इसी प्रकार बने होंगे। यद्यपि कभी-कभी यह प्रतीक रचना बहुत कुछ अस्पष्ट होती है। पर प्रायः शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के मूल में प्रतीक भावना अवश्य रहती है।

बहुत से शब्दों का समाधान इन तीनों नियमों से भी नहीं होता। ऐसे शब्दों की उत्पत्ति का कारण उपचार माना जाता है। इसका साधारण अर्थ है ज्ञात के द्वारा अज्ञात की व्याख्या करना। अंग्रेजी का Pipe पहिले गड़रिये के बाजे के लिये आता था किन्तु बाद में हुक्के को उस बाजे के समान ही लम्बा व पोला देखकर उसे भी Pipe कहने लगे। उसके पश्चात् नलों को भी उसी आकार प्रकार का देखकर उन्हें भी Pipe कहा जाने लगा।

इस प्रकार भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हम देखते हैं कि आरम्भ में दो मत प्रचलित थे—दिव्य उत्पत्ति तथा सांकेतिक उत्पत्ति का सिद्धांत। बाद में ये दोनों मत अमान्य ठहराये गये और चार मतों की स्थापना हुई जिनमें डिंग डँग वाद को अमान्य ठहरा कर तीनों मतों को अंशतः सत्य माना जाता था। आधुनिक विद्वान् विकासवाद के समन्वित रूप तथा उपचार को ही स्वीकार करते हैं।

प्रश्न ६—सिद्ध कीजिये कि भाषा परम्परागत सम्पत्ति है और भाषा अर्जित सम्पत्ति है।

उत्तर ६—भाषा परिवर्तनशील है। उसका जो रूप एक बार निश्चित हो जाता है वह कुछ ही समय के बाद निश्चित रूप से थोड़ा बहुत परिवर्तित हो जाता है। इसका प्रधान कारण यह है कि भाषा समाज सापेक्षवस्तु है।

भाषा के मानसिक और भाषण दो रूप हैं और दोनों ही में समय के परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तन होता रहता है। जो विचार मध्य युग में थे वे आज नहीं।

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्रत्येक मनुष्य अपना व्यक्तित्व अलग रखता है। फलस्वरूप एक पीढ़ी के द्वारा निश्चित की हुई भाषा विभिन्न मनुष्यों के द्वारा व्यवहार मे लाये जाने के कारण परिवर्तित हो जाती है। किन्तु यह परिवर्तन पूर्ण रूप से नहीं होता अर्थात् यह सम्भव नहीं है कि एक पीढ़ी के मनुष्य जिस भाषा का व्यवहार करते हैं वह भाषा उस पीढी के समाप्त होने के साथ ही समाप्त हो जाय, वरन् दूसरी पीढ़ी में जो परिवर्तन होता है वह बहुत साधारण होता है। साधारण दृष्टि से देखने पर कोई परिवर्तन प्रतीत ही नहीं होता। इसी प्रकार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में भाषा पर प्रभाव चलता चला जाता है और सहस्रों वर्षों के पश्चात् हमे भाषा पूर्ण परिवर्तित प्रतीत होती है। आज हिन्दी भाषा का जो रूप है वह आदि प्राकृत का परम्परा से चला आता परिवर्तित रूप ही है। इसी से यह कहा जा सकता है कि सामाजिक वस्तु होने के कारण नई पीढ़ी भाषा का निर्माण नहीं करती अपितु अपने पूर्वजों की भाषा लेकर अपना कार्य चलाती जाती है यानी भाषा परम्परागत है।

भाषा प्रत्येक पीढी के द्वारा निर्मित नहीं होती, पूर्वजों के द्वारा परम्परा से प्राप्त होती है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि नई पीढी को वह बिना किसी प्रयास के ही प्राप्त हो जाती है। जिस प्रकार पुत्र को पिता की सम्पत्ति उत्तराधिकार के रूप मे मिल जाती है अथवा रक्त विकार जिस प्रकार पिता से पुत्र में आ जाते हैं, उसी प्रकार पुत्र को पिता से उत्तराधिकार के रूप मे भाषा नहीं प्राप्त होती। यदि कोई व्यक्ति किसी भाषा विशेष का बहुत बड़ा विद्वान् होता है तो यह आवश्यक नही कि जन्म से ही उसका पुत्र उस भाषाविशेष का वैसा ही विद्वान् हो, प्रत्युत उसे दूसरों के संसर्ग से भाषा का ज्ञान प्राप्त करके श्रमपूर्वक ज्ञानार्जन करना पड़ता है। यदि किसी भारतीय माता-पिता के पुत्र को उत्पन्न होते ही विदेशी महिला के पास पालन-पोषण के लिये छोड़ दिया जाय तो वह, उस पालन करने वाली महिला से भाषा को सीखेगा न

कि माता-पिता की भाषा को। इसके अतिरिक्त यह भी देखा जाता है कि मनुष्य परिश्रम के द्वारा एक नहीं अनेक भाषाएँ अर्जित कर लेता है। इसलिए यह कहना ठीक ही है कि यद्यपि भाषा परम्परा के द्वारा प्राप्त होती है परन्तु प्रत्येक व्यक्ति अपने परिश्रम के द्वारा उसे अर्जित भी करता है। अतः भाषा परम्परागत सम्पत्ति होने के साथ-साथ अर्जित सम्पत्ति भी है।

प्रश्न ७—भाषा-चक्र से आप क्या समझते हैं ? भाषा संहिति से व्यवहिति की ओर जाती है या व्यवहिति से संहिति की ओर ?

उत्तर ७—जब हम संसार के विभिन्न देशों की भाषाओं को देखते हैं तब उनमें एक महान् अन्तर दिखाई देता है। संसार की भाषाओं में ही नहीं अपितु किसी एक ही देश की भाषा का जो स्वरूप प्राचीन काल में था वह आज बहुत परिवर्तित दिखाई देता है। भाषा का यह नियम है कि वह व्यवहार में जितनी अधिक आती है उतनी ही परिवर्तित होती जाती है। अफ्रीका की वे जंगली भाषाएं जिनका दूसरों की भाषाओं के साथ सम्पर्क नहीं हुआ अब तक अपनी अपरिवर्तित प्राचीन दशा में ही पड़ी हुई हैं। भाषाओं के इस प्रकार व्यवहार में आते-आते परिवर्तित रूप को देखकर ही विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भाषायें व्यवहिति से संहिति और संहिति से व्यवहिति की दशा में परिवर्तित होती रहती हैं। पहले विद्वानों का यह मत था कि भाषा सृष्टि के आरम्भ में व्यवहिति की दशा में रही होगी। बाद में जैसे भाषा का विकास होता गया वैसे-ही-वैसे भाषा संहित होती गई, इसे ही विद्वान् भाषा-चक्र कहते थे, किन्तु जैसा हम अभी लिख चुके हैं व्यवहार में आने वाली संसार की भाषाएं हमें व्यवहिति दशा में मिलती हैं, तथा जंगली लोगों की वे भाषायें जो व्यवहार में नहीं आईं संहिति की दशा में हैं। इससे आजकल के भाषा वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भाषा आरम्भ में संहित रूप में होती है और विकसित होने पर वह व्यवहित हो जाती है।

भाषा में संहिति और व्यवहिति दोनों रूप उसके शब्दों और वाक्यों पर निर्भर होते हैं। आरम्भ में जब भी भाषा प्रचलित हुई होगी, तब मनुष्य ने उसका आरम्भ वाक्य से ही किया होगा। पूर्ण रूप में वह वाक्य न होते

हुए भी तात्पर्य रूप में वाक्य ही रहा होगा। अतः संहिति से व्यवहिति की ओर या व्यवहिति से संहिति की ओर भाषा चक्र चलता है इसे समझने के लिये चार प्रकार के वाक्य तथा चार प्रकार के शब्दों को जान लेना आवश्यक है।

वाक्य की दृष्टि से भाषा चार प्रकार की होती है:—

व्यास प्रधान :—जैसे चीन की भाषा में म्री न्गो ता नी।

समास प्रधान :—जैसे अमेरिका की चौरिको भाषा मे नाधो-लि-निन।

प्रत्यय प्रधान :—जैसे तुर्की भाषा मे मेव मेक्।

विभक्ति प्रधान :—जैसे अरबी भाषा में कत्ल, कतल, कातिल।

इसी प्रकार शब्दों की दृष्टि से भी प्रत्येक भाषा मे चार ही रूप देखने को मिलते हैं। धातु शब्द जैसे राम, प्रत्यय शब्द जैसे रामवत्, विभक्ति शब्द जैसे रामाय, तथा वाक्य शब्द जैसे अस्मि।

इस प्रकार चार प्रकार के वाक्यों तथा चार प्रकार के शब्दों के अनुसार ही कोई भाषा निर्मित होती है। किसी भाषा में यदि वाक्य व्यास प्रधान होते हैं तो दूसरी भाषा में समास प्रधान, प्रत्यय प्रधान या विभक्ति प्रधान। आरम्भ में भाषा के अन्दर वाक्यों में समास प्रधान वाक्यों की अधिकता रही होगी जिनमें उद्देश्य और विधेय का मिला हुआ रूप दिखाई देता होगा, तथा शब्दों की दृष्टि से भाषा में वाक्य शब्द अधिक रहे होंगे अर्थात् आरम्भ में भाषा संहिति दशा में रही होगी। उसके पश्चात् जिस भाषा का जितना अधिक व्यवहार होता गया वह उतनी अधिक व्यवहित होती गई। उदाहरणार्थ भारत योरोपीय परिवार की सबसे अधिक दशा में व्यवहित पाई जाने वाली भाषायें अंग्रेजी या हिन्दी है और इसका कारण इनका अत्यधिक व्यवहार में आना ही है।

प्रश्न ८—आकृति मूलक वर्गीकरण किस आधार पर किया जाता है यह बताकर संसार की भाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण कीजिए ?

उत्तर ८—आरम्भ में भाषा वाक्य के रूप में उत्पन्न हुई अथवा शब्द के रूप में, इस विषय पर पहले बहुत विवाद था। किन्तु आधुनिक खोजों ने

यह स्पष्ट कर दिया है कि भाषा के आरम्भिक काल में वाक्यों अथवा वाक्य शब्दों का ही प्रयोग होता था। हम देखते हैं कि बालक भी जब बोलना आरम्भ करता है, तब पहले वाक्य ही बोलता है चाहे वह देखने में शब्द ही प्रतीत होता हो। यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से अथवा शास्त्रीय दृष्टि से शब्द ही भाषा का चरम अवयव है, तथापि तात्पर्य की दृष्टि से वाक्य ही भाषा का चरम अवयव है।

वाक्य की इस प्रधानता को ध्यान में रख कर ही भाषाओं का वाक्य मूलक अथवा आकृतिमूलक वर्गीकरण किया जाता है। आकृति की दृष्टि से वाक्य चार प्रकार के होते हैं। जिस वाक्य में उद्देश्य और विधेय आदि वाचक शब्द एक होकर समास का रूप धारण कर लेते हैं उसे समास प्रधान वाक्य कहते हैं। जैसे उत्तर अमेरिका की चेरेकी भाषा में 'नाधोलिनिन' तीन शब्दों से बना है और एक पूर्ण वाक्य है जिसका अर्थ है "हमारे लिये एक नाव ले आओ, किन्तु देखने में यह एक शब्द प्रतीत होता है।

दूसरे वे वाक्य होते हैं जिनमें सभी शब्द स्वतन्त्र होते हैं। उद्देश्य और विधेय आदि का सम्बन्ध स्थान और स्वर के द्वारा प्रकट होता है जैसे चीनी भाषा के न्गो-ता-नी, का अर्थ होता है—"मैं तुम्हें मारता हूँ, स्थान बदल कर यदि हम यों कहें नी-ता-न्गो तो अर्थ होगा—तुम मुझे मारते हो।

तीसरे प्रकार के वे वाक्य होते हैं जिनमें प्रत्ययों की प्रधानता रहती है। व्याकरण के कारक लिंग, वचन आदि के सभी भेद प्रत्ययों के द्वारा प्रकट किये जाते हैं। ऐसे वाक्य में एक शब्द से अनेक प्रत्यय लगा कर भिन्न-भिन्न अर्थ निकाले जाते हैं। जैसे बान्तु परिवार की काफिर भाषा में "उमुन्तु वेतु ओमुचिल उपवो नकल, का अर्थ है—हमारा आदमी देखने में भला है। इसका बहुवचन इस प्रकार होगा "अबन्तु वेतु अवचिल वनबो नकल—इस प्रकार के वाक्य प्रत्ययप्रधान माने जाते हैं।

चौथे प्रकार के वाक्य विभक्ति प्रधान होते हैं जिनमें कारक वचन आदि का सम्बन्ध विभक्तियों के द्वारा प्रकट किया जाता है। विभक्ति प्रधान वाक्य में प्रत्यय ही सम्बन्ध का ज्ञान कराते हैं। पर वे स्वयं अपना अस्तित्व खो

बैठते हैं। संस्कृत अरबी आदि में इस प्रकार के वाक्यों की ही अधिकता होती है। जैसे 'अहं ग्रामं गतवान्।

वाक्यों के समान शब्द भी चार प्रकार के होते हैं। धातु शब्द जैसे राम, प्रत्यय शब्द जैसे रामवत्, विभक्ति शब्द जैसे—रामाय, वाक्य शब्द जैसे अस्मि। संसार की भाषाओं मे चार प्रकार की वाक्य रचना और चार प्रकार की ही शब्द रचना देख पड़ती है अत. आकृति के आधार पर भाषाओं का स्थूल वर्गीकरण चार रूपों मे किया जाता है।

वाक्य और शब्दों के विवेचन से निम्नलिखित चार वर्गों में भाषाओं का विभाजन किया जाता है—व्यास प्रधान, समास प्रधान, प्रत्यय प्रधान, विभक्ति प्रधान। इनमें से पहले वर्ग को निरवयव और शेष तीनों को सावयव कहते हैं।

व्यास प्रधान के अंतर्गत अफ्रीका की सूडानी भाषा, एशिया की चीनी, तिब्बती बर्मी और स्यामी आदि भाषायें आती हैं। इन भाषाओं में वाक्य विचार होता है पर शब्द विचार का कोई स्थान नहीं है क्योंकि भाषा के सभी शब्द स्वतन्त्र होते हैं।

व्यास प्रधान रचना मे वाक्य के सभी शब्द पृथक्-पृथक् रहते हैं। समास प्रधान रचना में इसके विरुद्ध वाक्य और शब्द इतने मिले रहते हैं कि उनमें भेद करना कठिन हो जाता है। दोनों अमेरिका की भाषायें पूर्णतः समास प्रधान हैं। कुछ भाषायें अंशतः समास प्रधान होती हैं अर्थात् जिनमें कुछ शब्द स्वतन्त्र भी रहते हैं। यूरोप की बास्क भाषा अंशतः समास प्रधान है।

प्रत्यय प्रधान भाषा में व्याकरण—सम्बन्ध 'पुरः प्रत्यय' 'अंतः प्रत्यय' अथवा 'पर-प्रत्यय' के संयोग से सूचित किया जाता है। कुछ भाषायें सर्व-प्रत्यय प्रधान और ईषत् प्रत्यय प्रधान होती हैं इस प्रकार प्रत्यय प्रधान भाषाओं को चार विभागों में बांटा जाता है। पुरः प्रत्यय प्रधान, पर प्रत्यय प्रधान, सर्व-प्रत्यय प्रधान और ईषत् प्रत्यय प्रधान। बान्तु भाषायें पुरः प्रत्यय प्रधान होती हैं। यूराल, अल्टिक और द्राविड परिवार की भाषायें पर प्रत्यय प्रधान होती

हैं। मलयन और मेलनेशिया परिवार की भाषायें सर्व प्रत्यय प्रधान होती हैं। जापानी और काकेशी भाषायें ईषत् प्रत्यय प्रधान होती हैं।

विभक्ति प्रधान भाषाओं मे प्रकृति और प्रत्यय एक दूसरे से इतने मिले रहते हैं कि प्रायः प्रत्यय का प्रत्यक्ष अस्तित्व ही दिखाई नहीं देता। पहिले ये विभक्तियां शुद्ध प्रत्यय के रूप में रहती हैं बाद में प्रकृति में लीन हो जाती हैं। विभक्तियां या तो अन्तमुर्खी होती हैं या बहिमुर्खी। इसी से इसके दो भेद किये जाते है। अन्तमुर्खी विभक्ति प्रधान भाषायें तथा बहिमुर्खी विभक्ति प्रधान भाषायें। सेमटिक और हेमेटिक परिवार की भाषायें अन्तमुर्खी विभक्ति प्रधान होती हैं। बहिमुर्खी विभक्ति प्रधान के अंतर्गत योरोपीय परिवार की भाषायें आती हैं। संस्कृत, लेटिन और ग्रीक आदि भाषायें इसी के अन्तर्गत हैं।

प्रश्न ६—आर्यों के मूल स्थान तथा उनके भारत प्रवेश के सम्बन्ध में विभिन्न मतों का उल्लेख कीजिये?

उत्तर ६—आर्यों का मूल स्थान क्या था इस सम्बन्ध मे बहुत मतभेद है। प्राचीन भारतीय ग्रंथों में आर्यों के भारत मे आने के सम्बन्ध में कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता। पहिले अधिकतर भारतीय विद्वानों का मत था कि आर्यों का मूल निवास स्थान तिब्बत मे किसी स्थान पर था। वहीं मानव की आदि सृष्टि हुई थी और वहीं से आर्य लोग आये।

ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों के आधार पर लोकमान्य तिलक ने उत्तरी ध्रुव के समीप किसी प्रदेश में आर्यों का मूल स्थान सिद्ध किया है। इसका खंडन करते हुये एक बंगाली विद्वान ने यह सिद्ध किया है कि आर्यों का मूल स्थान भारत में सरस्वती के तट पर अथवा उसी के उद्गम निकट हिमालय के किसी भाग में था। यहीं से जाकर आर्य लोग ईरान में बसे।

भाषा विज्ञान के आधार पर युरोपीय विद्वानों का अनुमान है कि वे मध्य एशिया अथवा दक्षिण पूर्व-युरोप में कहीं रहते थे। इस मत का आधार यह है कि भारत युरोपीय, इरानी तथा भारतीय भाषायें जहां पर मिली हैं उसी के आस-पास कहीं इन भाषाओं के बोलने वालों का मूल स्थान होना चाहिये क्योंकि उसी स्थान से ये तीनों भागों में विभक्त हुए होंगे। पहिले

युरोपीय शाखा अलग हो गई; उसी से उसकी भाषाओं तथा भारत और इरानी भाषाओं में बहुत भेद है। शेष आर्य सम्भवतः बहुत समय तक साथ-साथ ईरान में रहते रहे। बाद में एक शाखा ईरान मे रह गई और दूसरी भारत चली आई। इन शाखाओं के लोगों के सबसे प्राचीन ग्रंथ अवस्था और ऋग्वेद हैं। जिनकी भाषा परस्पर बहुत मिलती है।

भारत में आर्य कई बार में आए होंगे। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के अध्ययन से हार्नली महोदय इस निष्कर्ष पर पहुचे हैं कि आर्य लोग भारत में दो बार अवश्य आये। ऋग्वेद तथा बाद के संस्कृत साहित्य में भी इसके प्रमाण मिलते हैं। पहली बार काकुल घाटी के मार्ग से आये थे। दूसरी बार सम्भवतः गिलगित और चितराल्व होते हुये सीधे दक्षिण की ओर पहुंचे थे।

पंजाब में आने पर इन दूसरी बार आने वाले आर्यों को पुराने आर्यों से लड़ना पड़ा होगा। जो बहुत काल तक अलग रहने के कारण भिन्न भाषा-भाषी हो गये थे। ये नवागत आर्य पूर्व पंजाब में सरस्वती के निकट बस गये। इनके चारों ओर पहिले आये हुए आर्य बसे हुए थे। संस्कृत साहित्य में मध्यदेश शब्द का प्रयोग हुआ है। आरम्भ में इसका प्रयोग केवल कुरु, पचाल और हिमालय प्रदेश के लिये हुआ है। बाद मे इसका विस्तार हो गया और हिमालय तथा विन्ध्य के बीच तथा सरस्वती के लुप्त होने के स्थान से प्रयाग तक का भूमिभाग मध्यदेश कहलाने लगा। इस भूमिभाग की भाषा प्रामाणिक मानी गई है। इसी भूमिभाग मे सम्भवतः नवागत आर्य बसे थे जो अपने को पूर्वागत आर्यों मे भिन्न और श्रेष्ठ समझते थे।

जो कुछ भी हो आर्य लोगों के मूल स्थान के विषय में निश्चय पूर्वक अभी तक कुछ कहा नहीं जा सकता। संसार के विद्वानों मे जिनमें युरोपीय विद्वानों का आधिक्य है यही मत है कि आर्यों का आदिम स्थान पूर्व युरोप में बाल्टिक समुद्र के निकट कहीं था। इस स्थान मे ईरान तथा भारत की ओर आने के मार्ग के सम्बन्ध में दो मत हैं। पुराने मत के अनुसार यह मार्ग कैस्पियन समुद्र के उत्तर से मध्य एशिया से होकर माना जाता था। नवीन मत यह है कि भारत ईरानी बोलने वालों का एक समूह काले समुद्र से पश्चिम से होकर आया होगा।

प्रश्न १०—संसार की भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण कीजिये और उसमें हिन्दी का स्थान निश्चित कीजिये।

उत्तर १०—संसार की भाषाओं का वर्गीकरण या तो आकृति की दृष्टि से किया जाता है अथवा उनकी उत्पत्ति की एकता की दृष्टि से। पहिले प्रकार के वर्गीकरण में रूप, आकृति या सामान्य रचना की ओर ही ध्यान दिया जाता है। दूसरे प्रकार के वर्गीकरण अर्थात् पारिवारिक वर्गीकरण का मुख्य आधार भाषाओं के ऐतिहासिक सम्बन्ध पर होता है। एक भाषा परिवार में में उन्हीं भाषाओं को रखा जाता है कि वे किसी एक ही मूल भाषा से निकली हैं। इस प्रकार के वर्गीकरण में केवल आकृति की समस्या पर ही दृष्टि नहीं रहती प्रस्तुत यह भी है कि उन भाषाओं की उत्पत्ति या विकास कुछ समान मूल शब्दों से हुआ है। भाषा परिवार शब्द में परिवार शब्द औपचारिक शब्द है। अर्थात इस शब्द के प्रयोग से यहां यही तात्पर्य है कि एक भाषा परिवार से सम्बन्ध रखने वाली भाषायें एक ही भाषा से निकली है।

पारिवारिक दृष्टि से भाषा वैज्ञानिक संसार की भाषाओं को कुलों उपकुलों, शाखाओं, उपशाखाओं तथा समुदायों में बांटते हैं। उनके विषय में ऐसा ज्ञात होता है कि भिन्न-भिन्न परिवारों की भाषायें किसी एक मूल भाषा से उत्पन्न हुआ हुई हैं। किंतु नये प्रमाण मिलने पर उस वर्गीकरण में परिवर्तन सम्भव है। अब तक शोध के द्वारा संसार की समस्त भाषायें बारह कुलों में विभक्त की गई है।

१. भारत युरोपीय कुल-समस्त परिवारों में यह कुल सबसे महत्व पूर्ण समझा जाता है। कुछ विद्वान इसे आर्य भारत जर्मनिक अथवा जर्फेटिक नाम से भी पुकारते हैं। इस कुल की भाषायें उत्तर भारत, अफगानिस्तान, ईरान तथा प्रायः सम्पूर्ण युरोप में बोली जाती हैं। संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि प्राचीन भाषायें इसी कुल की थीं। आजकल इस कुल में अंग्रेजी फ्रांसिसी, जर्मनी, पश्तो, हिंदी, मराठी, बंगाली आदि भाषायें हैं।

२. सैमेटिक कुल—प्राचीन काल की कुछ प्रसिद्ध समस्याओं के केन्द्र में फ्रोनेशिया तथा आसीरिया में नमूने अब केवल शिलालेखों में मिलते हैं। यहूदियों की प्राचीन हिब्रू भाषा जिसमें मूल बाईबिल लिखी गई थी और

प्राचीन अरबी भाषा जिसमें कुरान है इसी कुल की है। आजकल इस कुल की भाषा वर्तमान अरबी तथा हब्शी भाषायें हैं।

३. हैमेटिक—इस कुल की भाषायें उत्तर अफ्रीका मे बोली जाती हैं जिनमे मिश्रदेश की प्राचीन भाषा कप्टिक मुख्य है। उत्तर अफ्रीका के समुद्र तट के कुछ भाग में बोली जाने वाली लिब्रियन पूर्व भाग के कुछ अंश में बोली जाने वाली एशियोपियन तथा सहारा की हौसा भाषा इसी कुल मे हैं।

४ तिब्बत चोनी कुल—इस कुल को बौद्ध कुल नाम देना अधिक उपयुक्त होगा। क्योंकि जापान को छोड़कर शेष समस्त बौद्ध धर्मावलम्बी देश चीन, तिब्बत, बर्मा, स्याम तथा हिमालय के भीतरी प्रदेशों मे इसी कुल की भाषायें बोली जाती हैं इन सब भाषाओं मे चीनी भाषा मुख्य है। इस भाषा के ईसा से दो हज़ार वर्ष पूर्व तक के प्रमाण मिलते हैं।

५. युराल-आल्टाइक कुल—इसको तूरानिया या सीदियन कुल भी कहते हैं। इस कुल की भाषायें मंगोलिया मंचूरिया तथा सायबेरिया में बोली जाती हैं। तुर्की या तातारी भाषा इसी कुल की है। कुछ विद्वान् जापान तथा कोरिया की भाषा की गणना भी इसी कुल में करते हैं।

६. द्राविड़ कुल—इस कुल की भाषाये दक्षिण भारत में बोली जाती हैं जिनमें तामिल, तेलगु मलयालय तथा कन्नड मुख्य है। ये भाषायें उत्तर भारत की आर्य भाषाओं से भिन्न हैं।

७. मैले पालीनेशियन कुल—मलाया प्रायद्वीप, प्रशान्त महासागर के सुमात्रा, जावा, बोर्नियो तथा अफ्रीका के समीपवर्ती मैडागास्कर द्वीप में इस कुल की भाषायें बोली जाती हैं। भारत में सन्थालों की कोल भाषायें इसी कुल में गिनी जाती हैं।

८. बन्टुकुल—इस कुल की भाषायें दक्षिण अफ्रीका के आदिम निवासी बोलते हैं। जजीबार्की स्वेहली भाषायें इसी कुल की हैं ये व्यापारियों द्वारा बहुत प्रयुक्त होती हैं।

९. मध्य अफ्रीका कुल—उत्तर के हेमेटिक तथा दक्षिण के बण्टुकुलों के बीच में एक तीसरे कुल की बोलियाँ बोली जाती हैं। ब्रिटिश सूडान भाषायें इसी कुल की हैं।

१०. अमेरिका की भाषाओं का कुल—उत्तर तथा दक्षिण अमेरिका के मूल निवासियों की भाषाओं को एक कुल में स्थान दिया गया है। इनकी संख्या बहुत अधिक है तथा इनमें परस्पर भेद भी बहुत हैं।

११. आस्ट्रेलिया तथा प्रशांत महासागर की भाषाओं के कुल—आस्ट्रेलिया महाद्वीप तथा टसमेनिया के मूल निवासियों की भाषायें एक कुल के अन्तर्गत रखी जाती हैं। प्रशात महासागर के छोटे-छोटे द्वीपों में दो अन्य कुलों की भाषायें भी बोली जाती हैं।

१२ शेष भाषायें—कुछ भाषाओं का वर्गीकरण अभी तक निश्चित नहीं हो पाया। काकेशिया की भाषाओं को किसी कुल में सम्मिलित नहीं किया जा सका। यूरोप की बास्क भाषायें भी बड़ी विचित्र हैं उन्हें भी किसी कुल के अन्तर्गत नहीं रखा जाता।

संसार की समस्त भाषाओं को बारह कुलों मे रखा गया है जिनमें हिन्दी का सम्बन्ध भारतयोरोपीय कुल से है। इस कुल को केन्टुम और शतम दो वर्गों में विभक्त किया गया है। शतम वर्ग के आर्य अथवा भारत ईरानी, आरमेनियन, बाल्टो-स्लैवोनिक तथा अल्बेनियन, में और केन्टुमवर्ग को ग्रीक इटेलिक, केल्टिक और जर्मनिक या टयूटनिक कुलों में विभक्त किया गया है।

आठों उपकुलों में हिन्दी का सम्बन्ध आर्य अथवा भारत ईरानी उपकुल से है। इसकी ईरानी दरद तथा भारतीय आर्य भाषा तीन शाखायें हैं। भारतीय आर्य भाषायें प्राचीन माध्यमिक तथा आधुनिक तीन कालों में विभक्त की गई हैं हिन्दी इनमे से आधुनिक काल के अंतर्गत आती है।

इस प्रकार संसार की भाषा संघों में भारत-योरोपीय कुल में भारत ईरानी उपकुलों में भारतीय आर्य शाखा को आधुनिक भाषाओं में से एक मुख्य भाषा हिन्दी है।

प्रश्न ११—योरोपीय परिवार के नामकरण महत्व और विशेषताओं पर प्रकाश डालिये और उसका पूर्ण परिचय दीजिये।

उत्तर ११—संसार के भाषा परिवारों मे क्षेत्र अथवा भाषा और साहित्य सम्बन्धी विशेषताओं के कारण सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिवार भारतयोरोपीय भाषा परिवार है इसके नामकरण मे भी विद्वानों में मतभेद

रहा है। पहिले मेक्समूलर के द्वारा उसे आर्य परिवार नाम दिया गया परन्तु अब यह शब्द केवल भारत ईरानी वर्ग का बोध कराता है। कुछ काल तक इन्डोजर्मन अथवा भारत जर्मनीय नाम व्यवहार में आता था। पर सबसे अधिक प्रचलित नाम योरोपीय अथवा भारतयोरोपीय है। यह नाम ही सबसे अधिक उपयुक्त है। क्योंकि इस-परिवार की भाषाओं का भौगोलिक विस्तार का इससे पता चल जाता है। इन नामों के अतिरिक्त इन्डोकैल्टिक, सांस्कृतिक, काकेशसिया और जयफ़ेटिक नाम भी प्रयोग में आये पर इनका प्रचार न हो सका।

भाषा वैज्ञानिक निर्विवाद रूप से इस भाषा परिवार को ही सबसे अधिक महत्व देते हैं क्योंकि वास्तव में भाषाविज्ञान की नींव इसी परिवार के आधार पर रखी गई है। आज तक जितनी खोज इस परिवार के विषय में हुई है उतनी औरों के विषय में नहीं। वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन के लिये इस परिवार में पर्याप्त स्पष्टता निश्चयात्मकता और विस्तार तीनों गुण पाये जाते हैं। बहुत प्राचीन काल से इस परिवार की भाषाओं का विकास आरम्भ हो गया था इससे उनके विकास के समझने में बड़ी सहायता मिलती है। ऋग्वेद के रूप में जितना ऐतिहासिक साक्ष्य इस परिवार की भाषाओं में मिलता है उतना अन्य में नहीं। संसार का सबसे अधिक साहित्य संस्कृत, ग्रीक, लेटिन, इसी परिवार के हैं। देश दृष्टि से भी उसका विस्तार सबसे अधिक है।

इस परिवार का अध्ययन सबसे अधिक हुआ है। सामान्यतया इस परिवार को भाषाओं में विभक्तियां प्रायः बहिर्मुखी होती हैं और प्रकृति के अंत में लगती हैं। इस परिवार की प्रायः सभी भाषायें संहित से व्यवहित हो रही हैं। धातुओं में कृत् और तद्धित प्रत्यय लगने से अनेक रूप बनते हैं। समास रचना की विशेष शक्ति पाई जाती है तथा इस परिवार की भाषाओं में विभक्तियों की भी अधिकता देखी जाती है।

योरोपीय कुल के सम्बन्ध में विद्वानों की यह कल्पना है कि प्रागैतिहासिक काल मे भी इस यूरोपीय भाषा में भी दो विभाषायें थी इसी से उनमे निकली हुई भाषाओं को ध्वनियों में भेद लक्षित होता है। ग्रीक लेटिन आदि कुछ भाषाओं में प्राचीन मूल भाषा के चवर्ग ने कवर्ग का रूप धारण

कर लिया है। संस्कृत, ईरानी आदि भाषाओं में वही चवर्ग घर्षक ऊष्म बन गया है। जैसे लेटिन में कैन्टुम्, आक्टो ढिक्टिको गनेश रूप जाते हैं। इन्हीं के संस्कृत प्रतिशब्द शतम्, अष्टौ, दिष्टी, जनः आदि मे ऊष्म वर्ण दिखाई देते हैं। इसी भेद के आधार पर योरोपीय भाषाओं के दो वर्ग माने जाते हैं कैन्टुम और शतम्। सौ का वाचक शब्द सभी भारोपीय भाषाओं मे पाया जाता है। अतः इसी के भेद को मानकर यह नामकरण किया गया है। जैसे मूल भारोपीय में चतोम, लेटिन में कैन्टुम, ग्रीक में ¬क्त। गाथिक में खुंद,तोखारी में कंध या कन्द तथा दूसरे वर्ग में संस्कृत मे शतम् अवस्ता में सतम लिथुआनिया मे शिंतस् तथा रूसी में स्तो का प्रयोग होता है। पहिले अस्कोली ने इस भेद की खोज की थी बाद में फानकाडके ने यह दो प्रकार का वर्गीकरण किया।

शतवर्ग में चार उपकुल हैं

१. आर्य अथवा भारत-ईरानी उपकुल—इस उपकुल में तीन मुख्य शाखायें हैं। प्रथम में भारतीय आर्य भाषायें हैं तथा दूसरे में ईरानी भाषायें हैं। एक तीसरी शाखा दरद या पैशाची भाषाओं की भी मानी जाने लगी है।

२. आरमेनियम—आर्य उपकुल के पश्चिम में यह उपकुल है। इस में ईरानी शब्द अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। यह उपकुल यूरोप और एशिया की भाषाओं के मध्य में हैं।

३ बाल्टो-स्लेवोनिक—इस उपकुल की भाषायें काल समुद्र के उत्तर में प्रायः सम्पूर्ण रूस में फैली हुई है आर्य उपकुलों के समान इसकी भी शाखायें हैं।

४. अल्बेनियन—इस भाषा में प्राचीन साहित्य नहीं पाया जाता। इस पर अपनी निकटवर्ती शाखाओं का प्रभाव बहुत अधिक है।

कैण्टुम समूह की भाषाओं को भी चार उपकुलों में विभक्त किया गया है।

१. ग्रीक—इस वर्ग की भाषाओं में यह उपकुल सबसे प्राचीन है। प्रसिद्ध कवि होमर ने ईलियड तथा ओडेसी नामक महाकाव्य प्राचीन ग्रीक भाषा में ही लिखे थे। सुकरात तथा अरस्तू के मूल ग्रंथ भी इसी में हैं।

२. इटैलिक—प्राचीन रोमन साम्राज्य की लेटिन भाषा के कारण यह उपकुल विशेष महत्व का है। यूरोप की समस्त वर्तमान भाषाओं पर लैटिन और ग्रीक भाषाओं का बहुत प्रभाव पड़ा है।

३. कैल्टिक—इस उपकुल की भाषाओं मे दो मुख्य हैं। एक का वर्तमान रूप आयर्लैण्ड मे मिलता है तथा दूसरे का स्काटलैण्ड में वैल्स तथा कार्नवाल प्रदेशों में पाया जाता है।

४. जर्मनिक या ट्यूटानिक—इसका प्राचीन रूप गोथिक और नार्स भाषाओं में मिलता है जर्मन डच फ्लेमिश तथा अंग्रेज़ी भाषायें इसी कुल में हैं।

प्रश्न १२—आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का डा० गियर्सन तथा डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने जो वर्गीकरण किया है उसे समझाइये।

उत्तर १२—डा० गियर्सन ने आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के उच्चारण तथा व्याकरण का विचार करके उन्हें तीन उपशाखाओं में विभक्त किया।—अंतरंग बहिरंग और मध्यवर्ती।

बहिरंग उपशाखा

(क) पश्चिमोत्तरी वर्ग

१. लहंदा, २ सिंधी।

(ख) दक्षिणी वर्ग

३. मराठी।

(ग) पूर्वी वर्ग

४. आसामी, ५ बंगाली, ६. उड़िया, ७. बिहारी।

मध्यवर्ती उपशाखा

(घ) मध्यवर्ती

८. पूर्वी हिन्दी।

अंतरंग उपशाखा

(ङ) केन्द्र वर्ग

९. पश्चिमी हिन्दी, १०. पंजाबी, ११. गुजराती, १२. भीली, १३. खानदेशी, १४. राजस्थानी।

(च) पहाड़ी वर्ग

१५. पूर्वी पहाड़ी या नेपाली, १६. केन्द्रवर्ती, १७. पश्चिमी पहाड़ी।

गियर्सन महोदय के मतानुसार सत्रह भाषायें ६ वर्ग और तीन उपशाखायें हैं। बाहरी उपशाखा की भिन्न-भिन्न भाषाओं म उच्चारण तथा व्याकरण सम्बन्धी कुछ ऐसे साम्य पाये जाते हैं जो उन्हें अंतरंग उपशाखा की भाषाओं से पृथक कर देते हैं जैसे अंतरंग उपशाखा की भाषाओं के स का उच्चारण बाहरी उपशाखा की बंगाली आदि पूर्वी समुदाय की भाषाओं २१ हो जाता है। तथा पश्चिमोत्तर समुदाय की शाखाओं में हो जाता है ? संज्ञा के रूपांतरों में भी यह भेद पाया जाता है। अंतरंग उपशाखा की भाषायें अभी तक वियोगावस्था में हैं। किन्तु बाह्य उपशाखा की भाषायें इस अवस्था से निकल कर प्राचीन आर्य भाषाओं के समान संयोगावस्था प्राप्त करने लगी हैं। जैसे हिन्दी मे सम्बन्ध कारक का-के-की लगा कर बनाया जाता है जिनका संज्ञा से पृथक अस्तित्व है यही कारक चिह्न बहिरंग उपशाखा की बंगाली उपशाखा में एक लगा कर बनता है और यह चिह्न संज्ञा का एक भाव हो जाता है। क्रिया के रूपान्तरों में भी इसी तरह के भेद पाये जाते हैं जैसे हिंदी में तीनों पुरुषों के सर्वनामों के साथ केवल एक 'मारा, कृदन्त रूप का व्यवहार होता है किन्तु बंगाली तथा बहिरंग उपशाखा की अन्य भाषाओं मे अधिक रूपों का व्यवहार किया जाता है।

डा० सुनीति कुमार चटर्जी भी डा० गियर्सन के इस वर्गीकरण से सहमत नहीं हैं उनका कहना है कि सुदूर पश्चिम और पूर्व की भाषायें एक साथ नहीं रखी जा सकतीं। उनके अनुसार भाषाओं का वर्गीकरण निम्नलिखित रूपों में किया गया है—

(क) उदीच्य उत्तरी वर्ग

१. सिंधी, २. लहंदा, ३ पंजाबी।

(ख) प्रतीच्य (पश्चिमी) वर्ग

४ गुजराती, ५. राजस्थानी।

(ग) मध्यदेशीय (बिचला) वर्ग

६. पश्चिमी हिंदी।

(ब) प्राच्य (पूर्वी) वर्ग

७. पूर्वी हिंदी, ८. बिहारी, ९. उड़िया, १०. बंगला ११. आसामी।

(ङ) दक्षिणी (दाक्षिणात्य) वर्ग

१२ मराठी।

इस प्रकार वर्गीकरण के सम्बन्ध में दो मत दिखाई देते हैं। एक अन्तरंग और बहिरंग भेद को मानने वाला और दूसरे को विरोधी। साधारणत: डा० चटर्जी का वर्गीकरण अधिक स्वयाविक है क्योंकि प्राचीन काल से आजतक मध्यदेश की ही भाषा सर्व प्रधान राष्ट्र भाषा होती आई है अत: पश्चिमी हिंदी को केन्द्र मानकर उसके चारों ओर के चार भाषा वर्गों की परीक्षा करना सुविधा जनक होता है आगे चलकर डा० गियर्सन ने भी चटर्जी के अनुसार हिंदी को मध्यदेशीय भाषा मानकर अपने वर्गीकरण में संशोधन किया। उनका संशोधित वर्गीकरण निम्नलिखित है—

(क) मध्यदेशीय भाषा

१. हिंदी (हि:)।

(ख) अंतवर्ती अथवा मध्य भाषायें

(अ) मध्य देशी भाषा से विशेष घनिष्ठता वाली

(२) पंजाबी, (३) राजस्थानी, (४) गुजराती, (५) पूर्वी पहाड़ी, खसकुरा अथवा नेपाली (पू० पी०) (६) केन्द्रस्थ पहाड़ी (के० प०) (७) पश्चिमी पहाड़ी (प० प०)।

(आ) बहिरंग भाषाओं से अधिक सम्बन्ध रखने वाली

(८) पूर्वी हिंदी (पू० हि०)

(ग) बहिरंग भाषायें।

(अ) पश्चिमोत्तर वर्ग

९. लहंदा (ल०), १०. सिंधी (सि०), ११. मराठी।

(उ) पूर्वी वर्ग

१२. बिहारी (बि०), १३. उड़िया (उ०), १४ बंगाली (बं), १५. आसामी (आ०)।

डा० चटर्जी ने पहाड़ी बोलियों को राजस्थानी का ही रूपान्तर माना

है। भीली को गुजराती तथा खानदेशी को राजस्थानी में अंतर्भूत कर दिया है। किन्तु डा० गियर्सन ने अपने वर्गीकरण में पहाड़ी भाषाओं को तो अलग ही स्थान दिया है पर भीली को गुजराती और खानदेशी को राजस्थानी में उन्होंने भी रखा है।

प्रश्न १३—भारतवर्ष मे किन-किन परिवारों की भाषायें बोली जाती हैं।

उत्तर १३—भाषाओं की दृष्टि से यूरेशिया खंड सबसे प्रमुख है उसमें भी भारोपीया परिवार अनेक दृष्टियों से सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। भारतवर्ष के भीतर इस परिवार की भाषायें सबसे अधिक प्रचलित हैं। किन्तु इस परिवार के अतिरिक्त कुछ अन्य परिवारों की भाषायें भी बोली जाती हैं। इन सबका वर्गीकरण निम्नलिखित है।

१. आस्ट्रिक परिवार
  (क) इन्डोनेशियन (मलयद्वीपी अथवा मलायु
  (ख) अस्ट्रो शिमाटिक (१) मा ख्मेर।
                                (२) मुंडा (कोल अथवा शावर)
२. एकाक्षर अथवा चीनी परिवार।
  (क) श्यामी चीनी। (ख) तिब्बती, बर्मी।
३. द्राविड परिवार।
४. आर्य परिवार (भारत-ईरानी भाषायें)
  (क) ईरानी शाखा। (ख) दरद शाखा। (ग) भारतीय आर्य शाखा।
५. विविध अर्थात् अनिश्चित समुदाय।

डा० गियर्सन ने भाषा सर्वे में मान और कारेन दो परिवार माने हैं किन्तु अधिकतर विद्वान् इन दोनों परिवारों को विविध समुदायों में अंतर्भूत कर लेते हैं।

१. आस्ट्रिक—भाषा वैज्ञानिक मुंडावंश की भाषाओं को द्राविड परिवार भाषाओं से सर्वथा भिन्न मानते हैं यद्यपि पहले केविद्वानों ने इन दोनों परिवारों की भाषाओं को एक साथ रखा था। वास्तव में आस्ट्रिक परिवार की भाषायें बहुत बड़े क्षेत्र में फैली हुई हैं क्योंकि इस परिवार की भाषायें दक्षिणी

द्वीपों में फैली हुई हैं इसीलिये इन्हें आस्ट्रिक अर्थात् दक्खिनी नाम दिया गया है—इस परिवार के दो बड़े भाग किये गये हैं—आशेय देशी और आग्नेय द्वीपी इन दोनों भागों में भाषाओं की संख्या बहुत अधिक हैं।

भारतवर्ष में इस परिवार की सबसे प्रधान भाषा मुंडा है। पश्चिमी बंगाल से लेकर बिहार, मध्यप्रांत, उड़ीसा और मद्रास प्रांत के गंजाम जिले तक इस वर्ग की बोलियां फैली हैं। इनके बीच-बीच में कहीं-कहीं द्राविड़ बोलियां भी पाई जाती हैं।

मुंडा तुर्की के समान प्रत्यय प्रधान है। आर्य भाषाओं पर भी मुंडा का प्रभाव बहुत ही स्पष्ट दिखाई देता है। "अपन गये थे"—अथवा कोरी का कोड़ी प्रयोग मुंडा के ही हैं।

चीनी परिवार की भाषाओं को अनेक वर्गों में विभक्त किया जाता है जिनमें तिब्बती और चीनी सबसे प्रधान हैं। भारतवर्ष में चीनी कहीं नहीं बोली जाती। श्यामी शाखा की अनेक बोलियां ब्रह्मा और उत्तर पूर्वी आसाम में बोली जाती हैं। तिब्बत और बर्मा के लोग एक ही नस्ल के हैं। उनकी भाषा को भाषा वैज्ञानिक तिब्बती बर्मी कहते हैं। तिब्बती बर्मी की बोलियां हिमालय के उत्तरी भाग में बोली जाती हैं तिब्बती भाषा का साहित्य बहुत अधिक है।

तिब्बती चीनी भाषाओं का आर्य भाषाओं से बहुत संघर्ष और संसर्ग रहा है। ये भाषायें वियोगप्रधान या व्यासप्रधान हैं और इसकी धातुयें एकाक्षर होती हैं।

३. द्राविड़ परिवार—भारत में आर्य भाषा परिवार को छोड़कर सबसे अधिक द्राविड़परिवार की भाषायें ही बोली जाती है। आधुनिक द्राविड़ भाषायें चार वर्गों में बांटी जाती हैं। १. द्राविड वर्ग २. आंध्र वर्ग ३. मध्यवर्ती वर्ग ४. बहिरंग वर्ग। तामिल,मलयालम कनाडी द्राविड वर्ग की मुख्य बोलियां हैं। तेलगु या आंध्र भाषा आंध्र वर्ग की मुख्य भाषा है। इस परिवार की भाषाओं में ये चार भाषायें सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं इनमें भी तामिल सबसे अधिक उन्नत और साहित्यिक भाषा है। आठवीं शताब्दी से लेकर अब तक इसमें साहित्य की रचना होती आई है। मलयालय तामिल की जेठी बेटी

कही जाती है। ब्राह्मणों के प्रभाव के कारण यह संस्कृत प्रधान हो गई है। कनाडी मैसूर की भाषा है इसकी भाषा का सम्बन्ध तामिल से है पर लिपि तेलगु से अधिक मिलती है।

४. आर्य परिवार—प्रायः समस्त उत्तरी भारत मे आर्य परिवार की भाषायें बोली जाती हैं। इस परिवार की तीनों शाखायें—ईरानी, दरद और भारतीय भारत में प्रचलित हैं।

ईरानी भाषायें बिलोचिस्तान, सीमाप्रांत और पंजाब के सीमांत पर बोली जाती हैं उनमें सबसे महत्व की भाषा फारसी है इसका भारत में साहित्यिक रूप में अध्ययन तो होता है पर बोली नहीं जाती।

पामीर और पश्चिमोत्तर पंजाब के बीच में दरदिस्तान है और वहां की भाषा तथा बोली दरद कहलाती है उसे कुछ विद्वानों ने पिशाच या पैशाची भाषा कहा है काश्मीरी ही ऐसी दरद भाषा है जिसमें अच्छा साहित्य है।

भारत में इस परिवार की भारतीय शाखा की भाषायें सबसे अधिक बोली जाती हैं। डा० गियर्सन ने इन भाषाओं को तीन उपशाखाओं ६ वर्गों तथा सत्रह भाषाओं में बांटा है इन सब भाषाओं में हिन्दी भाषा केन्द्रीय भाषा है। क्षेत्र की दृष्टि से इसका विकास बहुत अधिक हो चुका है और अब राष्ट्र की भाषा हो जाने के कारण सब प्रांतों की भाषाओं पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

५. विविध परिवार की भाषायें—पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत की बुरुशासकी और अन्दमान की अन्दमानी किसी भी भाषा परिवार में नहीं रखी जा सकतीं। बर्मा देश की कारेन और मान बोलियां भी ऐसी ही हैं।

प्रश्न १४. स्वरों का व्यंजन से भेद दिखाकर उसका वर्गीकरण कीजिये।

उत्तर १४ ध्वनियाँ मुख से किस प्रकार बाहर आती हैं इसका विचार करके उनके स्वर और व्यंजन दो भेद किये जाते हैं। जब किसी नाद ध्वनि को मुख से निकलने में कोई रुकावट नहीं होती और न निश्वास किसी प्रकार रगड़ खाती है तब वह ध्वनि स्वर कहलाती है अर्थात् स्वर के उच्चारण में मुखद्वार छोटा बड़ा तो होता है पर वह बिलकुल बन्द नहीं होता। स्वरों के

अतिरिक्त शेष सब ध्वनियां व्यंजन कहलाती हैं। स्वरों में न किसी प्रकार का स्पर्श होता है न घर्षण। व्यजनों के उच्चारण मे थोड़ा बहुत स्पर्श होता और घर्षण अवश्य होता है। स्वरों में श्रवणीयता अधिक होती है अर्थात् साधारण व्यवहार में समान प्रकार से उच्चरित होने पर व्यंजन की अपेक्षा स्वर अधिक दूर तक सुनाई पड़ता है।

स्वरों में जिह्वा और ओठों की अवस्था से भेद उत्पन्न होते हैं। अतः जिह्वा के प्रधान अंगों के अनुसार उनका वर्गीकरण करना सहज होता है। जिह्वा की तीन अवस्थायें होती हैं। एक सबसे आगे की ऊंची, दूसरी सबसे पीछे की ऊंची और बीच की सबसे नीची इस प्रकार जिह्वा उच्चारण के समय कहां रहती है इस विचार से स्वरों के अग्र मिश्र और पश्च तीन भेद किये जाते हैं। ये भेद जीभ की आड़ी स्थिति के आधार पर किये जाते हैं। निम्न-लिखित चित्र से यह भेद स्पष्ट हो जायगा।

जिस स्वर के उच्चारण में जिह्वा बिना किसी रगड के ऊंची उठ जाती है उस स्वर को संवृत (बन्द) कहते हैं। और जिस स्वर के लिये जिह्वा जितनी हो सके नीचे आ जाती है उसको विवृत (खुला) कहते हैं इन दोनों स्थानों के बीच के अंतर के तीन भाग किये जाते हैं जो संवृत से तिहाई दूरी पर पड़ता है उसे ईषद् विवृत कहते हैं। उदाहरणार्थ ईख, रईस और ऊपर शब्दों में ई, अ और ऊ क्रमशः अग्र मध्य और पश्च हैं। तथा ऊ पर अनेक, बोतल और आम में अ, ए ओ, और आ क्रमशः संवृत ईषत् संवृत ईषद् विवृत और विवृत हैं।

ओठों की स्थिति के आधार पर स्वरों के दो भेद किये जाते हैं वृत्ताकार और अवृत्ताकार। उच्चारण करते समय ओष्ठ उदासीन अवस्था में रहते हैं अथवा वे इस प्रकार संकुचित होते हैं कि उनके बीच में कभी गोल और कभी लम्बा विवर बन जाता है। जिन स्वरों के उच्चारण में ओष्ठों की आकृति गोल सी बन जाती है वे वृत्ताकार तथा शेष अवृत्ताकार कहलाते हैं जैसे ऊ वृत्ताकार और ई, आ, आदि अवृत्ताकार हैं।

मांस पेशियों की शिथिलता और दृढ़ता के आधार पर स्वरों के दो भेद किये जाते हैं—दृढ़ और शिथिल, जैसे ई और ऊ दृढ़ स्वर हैं। इ और उ

शिथिल स्वर हैं। कंठ पिटक और चिवुक के बीच में अंगुली रखने से उसका सरलता से अनुभव हो जाता है। उच्चारण के समय ऐसी स्थिति होती है कि नासिका विवर जब बन्द हो जाता है और ध्वनि केवल मुख में से निकलती है। परन्तु जब कोमल तालु थोड़ा नीचे आ जाता है तब हवा मुख और नासिका दोनों में से निकलती है। यह एक दूसरी ही स्थिति होती है। ऐसी स्थिति में उच्चरित स्वर अनुनासिक कहे जाते हैं और पहिली स्थिति में उच्चरित स्वर अनुनासिक कहे जाते हैं। अनुनासिक स्वर प्रायः बोलियों में ही मिलते हैं शिष्ट हिन्दी में नहीं।

प्रश्न १५. व्यंजनों का वर्गीकरण कीजिये।

उत्तर १५. ध्वनियां मुख से किस प्रकार बाहर आती हैं इसका विचार करके उनके स्वर और व्यंजन दो भेद किये जाते हैं। जब किसी नाद ध्वनि को मुख से निकलने में कोई रुकावट नहीं होती और न निश्वास किसी प्रकार रगड़ खाती है तब वह ध्वनि स्वर कहलाती है अर्थात् स्वर के उच्चारण में मुख द्वार छोटा बड़ा तो होता है पर वह बिल्कुल बन्द नहीं होता। स्वरों के अतिरिक्त शेष सब ध्वनियां व्यंजन कहलाती हैं। स्वरों में न किसी प्रकार का स्पर्श होता है न घर्षण। व्यंजनों के उच्चारण में थोड़ा बहुत स्पर्श और घर्षण अवश्य होता है। स्वरों में श्रवणीयता अधिक होती है अर्थात साधारण व्यवहार में समान प्रकार से उच्चरित होने पर व्यंजन की अपेक्षा स्वर अधिक दूरी तक सुनाई पड़ता है। व्यंजनों का उच्चारण स्वरों के बिना असम्भव माना जाता है।

व्यंजनों का विचार दो आधारों पर किया जाता है। एक तो उच्चारणोपयोगी अवयवों के आधार पर और दूसरे उच्चारण की रीति के आधार पर। उच्चारणोपयोगी अवयवों के आधार पर व्यंजनों के आठ भेद किये जाते हैं।

१. काकल्य—उस ध्वनि को कहते हैं जो काकल स्थान में उत्पन्न होती है जैसे 'ह'।

२. कंठ्य—कंठ्य से अभिप्राय तालु पर उस अंतिम कोमल भाग का है जिसे अंग्रेज़ी में Soft Palate कहते हैं। जब जिह्वा मध्य कोमल तालु का स्पर्श करती है कंठ्य ध्वनि का उच्चारण होता है। जैसे क, ख।

३. मूर्धन्य—कठोर तालु के पिछले भाग से उच्चरित वर्ण मूर्धन्य कहलाते हैं। जैसे—ट, ठ, ष आदि।

४. तालव्य—अर्थात् कठोर तालु और जिह्वोपाग्र से उच्चरित ध्वनि। जैसे—च, छ, ज।

५. वर्त्स्य—अर्थात् तालु के अन्तिम भाग, ऊपरी मसूढ़ों और जिह्वा-नोक से उच्चरित वर्ण। जैसे—न अथवा 'न्ह'।

६. दन्त्य—ध्वनियां ऊपर के दांतों की पंक्ति और जिह्वानोक से उच्चरित होती हैं। जैसे—त, थ, द, ध।

७. ओष्ठ्य वर्णों का उच्चारण—बिना जिह्वा की विशेष सहायता के ओठों द्वारा होता है। इसके दो भेद होते हैं द्वयोष्ठ्य—जैसे प, फ। तथा दन्तोष्ठ्य जैसे—व।

८. जिह्वामूलीय—हिन्दी में कुछ ऐसी विदेशी ध्वनियां आग ई हैं जो जिह्वामूल से उच्चरित होती हैं। जैसे—क़, ख़। इन्हें जिह्वामूलीय कहते हैं।

यदि हम उच्चारण के प्रयत्न के आधार पर व्यंजनों का वर्गीकरण करें तो निम्नलिखित आठ भेद किये जा सकते हैं—

१. स्पर्श—वे वर्ण हैं जिनके उच्चारण में अवयवों का एक दूसरे से पूर्ण स्पर्श होता है। पहिले मुख में हवा बिल्कुल एक हो जाती है फिर धक्का देकर बाहिर निकलती है इससे एक स्फोट ध्वनि होती है। जैसे—क, ख आदि।

२. घर्ष—वर्ण के उच्चारण में वायु मार्ग किसी एक ही स्थान पर इतना संकीर्ण हो जाता है कि हवा के बाहिर निकलने में सर्प जैसी शीत्कार ध्वनि होती है। जैसे—श, स, ष, ज आदि।

३. स्पर्श-घर्ष—जिनके उच्चारण में स्पर्श तो होता हो पर साथ ही हवा थोड़ी रगड़ खा कर इस प्रकार निकलती है कि उसमें ऊष्म ध्वनि भी सुन पड़ती है। जैसे—च, छ, ज, झ।

४. अनुनासिक—जिन वर्णों के उच्चारण में किसी एक ही स्थान पर मुख बन्द हो जाता है और कंठ स्थान इतना झुक जाता है कि हवा नासिका में से निकल जाती है तब वह अनुनासिक कहा जाता है। जैसे—न, ण।

५. पार्श्विक—जिनके उच्चारण में हवा मुख के मध्य में रुक जाने से जिह्वा के पार्श्व से बाहिर निकलती है जैसे 'ल'।

६. लुठित—जिनके उच्चारण में जीभ बेलने की तरह लपेट खाकर तालु को छूती है। जैसे—र।

७ उत्क्षिप्त—उन ध्वनियों को कहते हैं जिनमें जीभ तालु के किसी भाग से मार कर हट आवे। जैसे—ड, ढ।

८. अर्ध स्वर—जो साधारणतया व्यंजन की तरह व्यवहृत होते हैं परन्तु कभी-कभी स्वर हो जाते हैं। जैसे—य, व।

प्रश्न १६—ध्वनियाँ किस प्रकार उत्पन्न होती हैं ? यह स्पष्ट कीजिये।

उत्तर १६—ध्वनि का अध्ययन करने के लिए भाषा वैज्ञानिकों ने ध्वनि को दो भागों में विभक्त किया है—ध्वनि शिक्षा और ध्वनि विचार। ध्वनि शिक्षा के दो मुख्य अंग हैं। एक में ध्वनियों की उत्पत्ति, जिह्वा के स्थान और करण का विचार किया जाता है और दूसरे में उन प्रयत्नों की परीक्षा की जाती है, जो उच्चारण में आवश्यक होते हैं। स्थान और प्रयत्न का अध्ययन किए बिना ध्वनियों का विश्लेषण और वर्गीकरण सम्भव नहीं है।

प्राण वायु के प्रधान रूप से दो ही कार्य होते हैं। श्वास तथा प्रश्वास। शब्द की उत्पत्ति प्रश्वास से ही होती है। अर्थात् जब वायु फेफड़ों से चलकर श्वास नलिका द्वारा कण्ठ पिटक में आती है अथवा थोड़ा बाहिर निकलने लगती है, तब स्वर-तन्त्रियों के व्यापार से शब्द की उत्पत्ति होती है।

ध्वनि की दृष्टि से गले का वह भाग सबसे मुख्य है जिसका उभार पुरुषों के गलों में दीख पड़ता है। इसे कण्ठ-पिटक कहते हैं। इसी के द्वारा श्वास नलिका मुख से सम्बद्ध रहती है। वायु इसी पिटक में आकर ध्वनि का रूप धारण करती है। इस पिटक के इस पार से उस पार तक दो स्वर-तन्त्रियाँ फैली रहती हैं। ये रबड़ की भांति खिंचकर सिकुड़ जाने वाली होती हैं, और श्वास-मार्ग को इस प्रकार घेरे रहती हैं कि साधारण अवस्था में श्वास-प्रश्वास में कोई बाधा नहीं पड़ती।

दोनों स्वर-तन्त्रियों के बीच के अवकाश को काकल कहते हैं। काकल के ऊपर गला होता है। मुख विवर में से भोजन इस गल-बिल में से होकर जाता है। इस गलबिल अथवा गले से लेकर कण्ठ पिटक तक का श्वास मार्ग शब्दोत्पत्ति के समय खुला रहता है और भोजन के समय यह श्वास मार्ग एक पर्दे से बन्द हो जाता है। इस प्रकार गल-बिल के नीचे के भाग का संयोग कभी कण्ठ पिटक से होता है कभी अन्न मार्ग से।

गल-बिल अथवा कण्ठ-बिल के आकार-प्रकार का नियन्त्रण जिह्वा के निचले और पिछले भाग तथा कण्ठ अर्थात् मुख के ऊपर वाले छप्पर के पिछले कोमल भाग से होता है। इस प्रकार जिह्वा और कण्ठ इन दोनों अंगों के कारण कण्ठ बिल में जो नाना प्रकार के परिणाम अथवा विकार होते हैं, वे ही अनेक प्रकार के स्वरों को जन्म देते हैं। कण्ठ बिल से निकल कर प्रश्वास या तो नासिका विवर में जाती है अथवा मुख विवर में। जब कण्ठ की घंटी नासिका विवर को बन्द कर देती है, तब ध्वनि मुख विवर में से होकर आती है। वह शुद्ध ध्वनि कहलाती है। परन्तु जब नासिका और मुख दोनों के मार्ग खुले रहते है, तब सानुनासिक ध्वनि उत्पन्न होती है।

मुख विवर के ऊपर नीचे के—मूर्धा, तालु, दन्त, ओष्ठ आदि उच्चारणोपयोगी अवयवों से ही वास्तव में ध्वनि उत्पन्न होती है। अतः मुख को प्रधान वाग्यन्त्र माना जाता है। काकल और कण्ठ बिल में ध्वनि की आरम्भिक अवस्था रहती है। अतः उनका सबंध बाह्य माना जाता है। नासिका विवर मुख का ही एक अंग माना जाता है। इस प्रकार ध्वनि की उत्पत्ति में चार प्रधान अंग कहे जा सकते हैं—काकल, कण्ठबिल, मुख तथा नासिका।

प्रश्न १७—ध्वनियों मे जो भेद हो जाते हैं उन्हे बतलाते हुए उनके कारणों पर प्रकाश डालिये।

उत्तर १७—तुलना और इतिहास की सहायता से जब हम भिन्न-भिन्न कालों की ध्वनियों को देखते हैं तब हमें ज्ञात होता है कि ध्वनियाँ सदा एक सी नहीं रहतीं, उनमें सदा विकार होते रहते हैं। प्रत्येक भाषा के ध्वनि

विकार अपनी कुछ विशेषताएं रखते हैं। अतः सभी भाषाओं के ध्वनि-विकारों के सभी भेदों का वर्णन एक ही स्थान पर सम्भव नहीं।

१. मात्राभेद:—ह्रस्व स्वरों का दीर्घ हो जाना और दीर्घ स्वरों का ह्रस्व हो जाना। जैसे—भक्तः से भात। या खट्वा से खाट। तथा कीटकः, का मराठी में किडा, (कीड़ा)। ह्रस्व करने की प्रवृत्ति खड़ी बोली में नहीं है। पूर्वी हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि में बहुत अधिक है।

२. लोप:—यह कई प्रकार का होता है। इसके मुख्य दो भेद हैं। स्वर लोप और व्यंजन लोप। ये भेद भी आदि, मध्य और अन्त में विभक्त होते हैं। जैसे:—थान, कवितावली, पश्चा (प्राकृत) में क्रमशः आदि, मध्य और अंत व्यंजन का लोप है। तथा भीतर, इम्ली, जात् में क्रमश. आदि मध्य और अन्त के स्वर का लोप है।

३. आगमः—लोप के समान इसमें भी स्वर और व्यंजन का आगम होता है। यह भी आदि, मध्य और अन्त में होता है। जैसे—होठ (ओष्ठ), बन्दर (वानर), कलह (कलय) क्रमशः आदि, मध्य, और अन्त में आगम व्यंजन के उदाहरण हैं। इसी प्रकार असनान (स्नान), रतन (रत्न), अग्नी (अग्नि) ये क्रमशः आदि, मध्य, और अन्त स्वरागम के उदाहरण हैं।

४. वर्ण विपर्यय:—अनेक शब्दों के वर्णों का परस्पर स्थान परिवर्तन हो जाने से नये शब्दों की उत्पत्ति होती है। जैसे:—मतबल (मतलब), नखलऊ (लखनऊ)।

५. सन्धि और एकीभाव:—स्वरों के बीच में जो विवृति रहती है वह सन्धि द्वारा विकार उत्पन्न किया करती है। टैम (टाइम), थेर (थइर) (पाली में गिरनार के शिला लेख में)।

६ सावर्ण्य अथवा सारूप्य:—ध्वनियां इस प्रकार एक दूसरे पर प्रभाव डाला करती हैं कि कभी एक वर्ण दूसरे वर्ण को सजातीय बना लेता है, कभी सजातीय को विजातीय। एक वर्ण के कारण दूसरे वर्ण का सजातीय बन जाना सावर्ण्य कहलाता है। इसके दो भेद होते हैं—पूर्व सावर्ण्य और पर सावर्ण्य। जैसे—तक्र से तक्क तथा धर्म से धम्म।

७ असावर्ण्यः—यह सावर्ण्य के विपरीत होता है। जैसे कंकन, कङ्कन (कंगन)।

८. भ्रामक उत्पत्तिः—कुछ ऐसे ध्वनि विकार हुआ करते हैं जो अकस्मात् हो जाते हैं। प्रायः विदेशी और अपरिचित शब्द व्यवहार में आते हैं, तब साधारण जनता उनका अर्थ अपने मन के अनुसार समझ लेती है और उनके अनुसार ही उनका उच्चारण करती है। जैसे—लाइब्रेरी का रायब्रेरी तथा इन्तकाल का अन्तकाल।

९. विशेष ध्वनिविकारः—कुछ ध्वनिविकार ऐसे होते हैं जो देश विशेष या भाषा विशेष में ही पाये जाते हैं। जैसे—संस्कृत में शब्द के आदि में जहां 'स' आता है वहां अवेस्ता और फारसी में 'ह' हो जाता है। जैसे—सिन्धु का हिन्दु।

प्रश्न १८—ध्वनि विकार के क्या कारण होते हैं?

उत्तर १८—ध्वनि विकार के कारणों पर विचार करने से हमें दो प्रकार के भेद दिखाई देते हैं। कुछ विकार आभ्यन्तर होते हैं और कुछ बाह्य। आभ्यन्तर ध्वनिविकार कुछ श्रुतिजन्य होते हैं और कुछ मुखजन्य। श्रवण और अनुकरण द्वारा ध्वनि परम्परा आगे बढ़ती जाती है। प्रत्येक वक्ता में मुख-सुख अथवा प्रयत्न लाघव की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इसी से आगम लोप आदि विकार होते हैं। इसके अतिरिक्त जब कोई श्रोता किसी ध्वनि को असावधानी से सुनता है और अपूर्ण अनुकरण करता है, तब ध्वनि में बहुत परिवर्तन हो जाते हैं। वास्तव में मुख-सुख की अपेक्षा अपूर्ण अनुकरण ध्वनि-विकारों का प्रधान कारण होता है।

ध्वनि का प्रत्यक्ष संबंध व्यक्ति, देश और काल से होता है। व्यक्ति से तो ध्वनि का संबंध स्पष्ट दीखता है। व्यक्ति-वैचित्र्य के कारण ही ध्वनि-वैचित्र्य दिखाई देता है। ध्वनि की उत्पत्ति जिस वाग् यन्त्र से होती है उस की रचना पर देश का प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक है। इसी से एक देश में उत्पन्न मनुष्य के लिए दूसरे देश की ध्वनियों का उच्चारण कठिन हो जाता है। जैसे मध्य देश का 'स' बंगाल में 'श' और ईरान में 'ह' बोला जाता है। व्यक्ति और देश से भी बढ़कर ध्वनियों पर काल का अर्थात् ऐतिहासिक

परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। हम देखते हैं कि जब किसी भाषा के बोलने वाले अन्य देशों के लोगों से अधिक सम्पर्क में आते हैं तब उनकी ध्वनियों में बहुत परिवर्तन होते हैं। भारत में यवनों तथा योरोपीय जातियों के शासन के कारण ध्वनियों में बहुत परिवर्तन हो गया।

इन तीन बड़े कारणों के साथ ही यह भी विचार कर लेना चाहिए कि वे आभ्यन्तर कारण कौन से हैं जिनके द्वारा ध्वनियों में विकार होते रहते हैं। ध्वनि-विकारों के मुख्य आभ्यन्तर कारण निम्नलिखित हैं :—

१ श्रुति—प्रायः श्रुति के द्वारा आगम होता है। श्रुति पहले या बाद में होती है, जिसे पूर्व-श्रुति और पर-श्रुति कहते हैं। जैसे इस्त्री (स्त्री), इस्नान (स्नान)।

२. कुछ आगम उपमान अर्थात् अन्य सादृश्य के कारण होते हैं। जैसे दुक्ख के सादृश्य पर सुक्ख में 'क्' का आगम कर लेते हैं।

३. कुछ आगम छन्द और मात्रा के कारण भी हो जाते हैं। जैसे ऋग्वेद में वेदः का वेदाः हो जाता है।

४. प्रमाद और अशक्ति के कारण वर्ण विपर्यय होता है। जैसे लखनऊ का नखलऊ।

५ सन्धि और एकीभाव के तथा पूर्व-सावर्ण्य और पर-सावर्ण्य आदि के विकार मुख-सुख के कारण होते हैं।

६. लौकिक व्युत्पत्ति से उत्पन्न हुए जो विकार [दिखाई देते हैं, उन्हें अज्ञान के कारण मानते हैं। साथ ही उनमें प्रमाद और मुख-सुख की प्रवृत्ति भी काम करती है।

७. लोप, मात्रा भेद आदि का प्रधान कारण स्वर और बल का आघात होता है। संस्कृत में अपश्रुति अर्थात् अक्षरावस्थान के उदाहरण मिलते हैं। वे स्वर के कारण हुए हैं। प्राकृत में जो अनेक प्रकार के ध्वनि लोप हुए हैं, उनमें से अनेक का कारण बल का घटना या बढ़ना माना जाता है। इस प्रकार मुख्यतः तीन बाह्य तथा सात आभ्यन्तर कारणों से ध्वनियों में विकार होते रहते हैं।

प्रश्न १६—ध्वनि नियम किसे कहते हैं? ग्रिम के ध्वनि नियम

को समझाइये और उसके ग्रासमान और वर्नेर न जो अपवाद दिए हैं, उन्हें भी स्पष्ट कीजिए।

उत्तर १९—भिन्न-भिन्न भाषाओं मे एक ही काल में अथवा एक ही भाषा में भिन्न-भिन्न कालों मे होने वाले ध्वनि विकारों की तुलना करने से ज्ञात होता है कि वे विकार कुछ नियमों के अनुसार होते हैं। उन पर विचार करके ध्वनि नियम बनाये जाते हैं।

ध्वनि नियम के संबध में तीन बातों पर विशेष ध्यान रखना पड़ता है :—

१. वह नियम किस काल से सबंध रखता है।

२. किस भाषा अथवा भाषाओं पर लगता है।

३. किस प्रकार, किन सीमाओं के भीतर वह अपना काम करता है।

ध्वनि विकार के ऐसे नियम प्रत्येक भाषा परिवार में अनेकों होते हैं। जिनमें ग्रिम ध्वनि नियम बहुत प्रसिद्ध है। ग्रिम ने जिस रूप में अपना ध्वनि नियम प्रस्तुत किया है उसे उस रूप में वैज्ञानिक नहीं माना जाता क्योंकि उसमे तीनों प्रकार के दोष हैं। उसने दो भिन्न-भिन्न काल के ध्वनि विकारों को एक साथ रख कर अपना सूत्र बनाया था। उसने जिन दो वर्ण परिवर्तनों का सम्बन्ध स्थिर किया है, उनमें से दूसरे का क्षेत्र उतना बड़ा नहीं है, जितना वह समझता है, तथा ग्रिम ने अपने नियम की उचित सीमाएँ भी निर्धारित नहीं की थीं। इस प्रकार ग्रिम नियम सदोष था। उसके आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा दो भाग कर लिये गए हैं—सदोष नियम और निर्दोष नियम।

सदोष नियम :—

आरम्भ में ग्रिम नियम इस प्रकार था—

१. जहाँ संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि मे अघोष अल्पप्राण स्पर्श करता है, वहीं गाथिक, अंग्रेज़ी, डच आदि में महाप्राण ध्वनि और उच्च जर्मन मे सघोष वर्ण होता है।

२. संस्कृत आदि का महाप्राण—गाथिक आदि का सघोष—उच्च जर्मन का अघोष होता है।

३ संस्कृत का सघोष—गाथिक का अघोष—उच्च जर्मन का महाप्राण होता है।

१—संस्कृत और ग्रीक	२—गाथिक	३—उच्च जर्मन
प	फ	ब
फ	ब	प
ब	प	फ

यदि आदि के वर्णों को संकेत मानकर हम यह सूत्र बनावें तो यह
(अ) (म) (स)
नियम स्पष्ट हो जाता है—अमसमसासाम (अघोष, महाप्राण, सघोष)

मैक्समूलर इन तीन प्रकार के वर्ण विकारों को देखकर यह कल्पना किया करते थे कि मूल भारोपीय भाषा तीन भागों मे विभक्त हो गई थी, पर अब यह कल्पना ठीक नहीं मानी जाती क्योंकि यह विकार केवल जर्मन वर्ग में पाये जाते हैं। जर्मन भाषा वर्ग की भी अधिकांश भाषाओं में केवल प्रथम वर्ण परिवर्तन के उदाहरण मिलते हैं। अतः द्वितीय वर्ण परिवर्तन को केवल जर्मन भाषाओं की विशेषता मानकर प्रथम वर्ण परिवर्तन को ही ग्रिम नियम के द्वारा पुकारा जाता है।

ग्रिम नियम का निर्दोष अंश—ग्रिम ने लेटिन, ग्रीक, संस्कृत, गाथिक, जर्मन, अंग्रेज़ी आदि अनेक भारोपीय भाषाओं के शब्दों की तुलना करके यह निष्कर्ष निकाला था कि किस प्रकार जर्मन वर्ग की भाषाओं मे मूल भारोपीय स्पर्शों का विकास ग्रीक, लेटिन, संस्कृत आदि अन्य वर्ग की भाषाओं की अपेक्षा भिन्न प्रकार से हुआ है। उसने तुलना के द्वारा यह नियम बताया था—

संस्कृत आदि में K. T. P. / G. D. B. / Gh. DH. BH.
अंग्रेजी आदि में WH. TH. F. / K. T. P. / G. D. B

उदाहरणार्थ भारोपीय K संस्कृत में कः और अंग्रेज़ी में who, भारोपीय T, संस्कृत में त्रि और अंग्रेजी में three, भारोपीय P, संस्कृत में पिता और अग्रेजी में Father हो जाता है।

भारोपीय G, संस्कृत में गौ और अंग्रेजी में cow; भारोपीय D, संस्कृत में द्वि और अंग्रेजी में Two, भारोपीय B संस्कृत मे उदाहरण नहीं मिलता।

भारोपीय Gh, संस्कृत मे हंस, और अंग्रेजी में Goose, भारोपीय Bh, संस्कृत में भ्रातृ और अंग्रेजी में Brothor हो जाता है।

इस प्रकार ग्रिम नियम का निर्दोष अंश इस प्रकार है कि भारोपीय अघोष स्पर्श K, T, P जर्मन वर्ग मे घर्ष wh, Th, F हो जाते हैं। भारोपीय घोष स्पर्श G, D, B जर्मन मे अघोष K, T, P हो जाते हैं और भारोपीय महाप्राण GH, DH, BH, जर्मन में अल्पप्राण G, D,B हो जाते हैं। ग्रिम नियम का यह अंश जर्मन भाषाओं का प्रथम वर्ण-परिवर्तन कहलाता है।

जब ग्रिम नियम के विरुद्ध कुछ उदाहरण मिलने लगे तो उनका समाधान करने के लिये ग्रासमान और वर्नर ने अपने उपनियम बनाए।

ग्रिम नियम के अनुसार K, T, P का Wh, Th, F होना चाहिए। इस प्रकार ग्रीक के कुछ शब्दों से अंग्रेजी में क्रमशः HO, Thumb, Fody मिलते हैं। यह नियम का अपवाद दिखाई देता है। अतः ग्रासमान ने यह उपनियम बनाया कि ग्रीक और संस्कृत में एक अक्षर के आदि अन्त दोनों स्थानों में एक साथ प्राणध्वनि अथवा महाप्राण स्पर्श नहीं रह सकते अर्थात् एक अक्षर में एक ही प्राणध्वनि रह सकती है। उसने यह सिद्ध किया कि जहाँ ग्रीक K, T, P के स्थान में जर्मन G,D,B होते हैं, वहाँ समझना चाहिए कि K, T, P प्राचीनतर महाप्राण स्पर्शों के स्थानापन्न हैं।

संस्कृत और ग्रीक की बोध, Peuth धातुओं की बराबरी की गाथिक क्रिया Binda है। ग्रिम के अनुसार Pinda अथवा Finda होना चाहिए। इसी प्रकार संस्कृत 'बन्ध' से गाथिक Binda और अंग्रेजी Bind आदि का सम्बन्ध भी अपवाद सूचक है, क्योंकि मूल भारोपीय भाषाओं में इन धातुओं की मूल ध्वनि 'भ' थी। अतः 'भ' के स्थान में गाथिक में 'ब' नियमानुसार ही हुआ है और ग्रीक तथा संस्कृत मे 'भ' के 'ब' अथवा 'प' हो जाने का नियम ग्रासमान का नियम था।

आगे चल कर कुछ ऐसे उदाहरण मिलने लगे जिनमें ग्रासमान के नियम के विरुद्ध शुद्ध K, T, P के स्थान में जर्मन भाषाओं में G, D, B

हो जाते हैं, जैसे—युवक का अंग्रेजी मे Young, 'शतम्' का अंग्रेजी में hundred, होते हैं।

साधारण नियम के अनुसार Young न होकर Younh होना चाहिए था और Hundred न होकर Hunthred होना चाहिए था तथा गाथिक bi-leiba न होकर bileifa होना चाहिए था। ग्रासमान का उप-नियम इस अपवाद का समाधान न कर सका। अतः वर्नर ने एक तीसरा उपनियम बताया कि शब्द के मध्य में आने वाले K, T, P के अव्यवहित पूर्व में यदि भारोपीय काल में कोई उदात्त स्वर रहता है, तब उनके स्थान में H, Th, F, आते हैं अन्यथा G, D, B आते हैं। भारोपीय स्वरों का निश्चय अधिकतर संस्कृत से और कभी-कभी ग्रीक से होता है। ऊपर के उदाहरणों में युवकः, शतम्, और लिम्पामि के क, त, प, के पीछे उदात्त स्वर आया है अतः ग्रिम नियम के अनुसार परिवर्तन नहीं होता।

प्रश्न २०—बौद्धिक नियम तथा अर्थ विचार का भेद बताते हुए दोनों के नियम बतलाइये ?

उत्तर २०—भाषा के अन्दर दो प्रकार के परिवर्तन धीरे-धीरे होते रहते हैं। ध्वनि और अर्थ दोनों में ही कुछ समय पश्चात बड़ा परिवर्तन दीख पड़ता है। जब अर्थ के अनुसार भाषा में परिवर्तन होता है तब उन विकारों का बुद्धिगत कारण होता है। उन कारणों का विचार करके जो नियम स्थिर किए जाते हैं वे बौद्धिक नियम कहलाते हैं, किन्तु जब केवल अर्थों में विकार दिखलाए जाते हैं, तब वे अर्थ-विचार के अन्तर्गत आते हैं

बौद्धिक नियम १—विशेष भाव का नियम—जब एक अर्थ को प्रगट करने के लिये अनेक शब्द प्रयुक्त होते हैं और फिर कारणवश शब्द कम हो जाते हैं, तब इस परिवर्तन का कारण विशेष भाव माना जाता है। जैसे—यदि एक ही व्याकरणिक सम्बन्ध दिखाने के लिये अनेक प्रत्ययों का प्रयोग होता है, तो धीरे-धीरे कुछ समय मे उन अनेकों प्रत्ययों के स्थान पर दो ही प्रत्ययों से काम लिया जाता है। जैसे

गरिष्ठ, लघिष्ठ और महिष्ठ इत्यादि को देखकर ज्ञान होता है कि संस्कृत में तर, तम, ईयस् और इष्ठ दो प्रकार के प्रत्यय एक ही अर्थ

के लिये प्रयुक्त होते हैं । किन्तु आगे चलकर दूसरे प्रकार के प्रत्यय विजयी हुए। संख्यावाचकों में तम के संक्षिप्त रूप 'म' की अधिकता दिखाई देने लगी। जैसे—अष्टम, नवम, प्रथम, पंचम, दशम, सप्तम। ईयस् वाले रूप संख्या-वाचक दो ही शब्दों में दिखाई देते हैं। द्वितीय और तृतीय । इष्ठ का 'थ, केवल 'चतुर्थ' शब्द में दीख पडता है।

२ भेद या भेदीकरण का नियम—धात्वर्थ के अनुसार अथवा किसी ऐतिहासिक कारण से जो शब्द हमें पर्यायवाची प्रतीत होते हैं, वे ही शब्द जिस प्रक्रिया के द्वारा भिन्न अर्थों में आने लगते हैं उसको भेदीकरण का नियम कहते हैं। जैसे डाक्टर, वैद्य और हकीम तीनों पर्यायवाची शब्द हैं पर तीनों के अर्थ में भेद है । डाक्टर से Alopathy प्रणाली का चिकित्सक और वैद्य से आयुर्वेद का चिकित्सक तथा हकीम से यूनानी प्रणाली का चिकित्सक लिया जाता है।

३—उद्योतन का नियम—उद्योतन उस प्रक्रिया को कहते हैं, जिससे किसी शब्द का अर्थ अच्छा या बुरा अथवा किसी और प्रकार का हो जाता है और इस प्रकार से जो उद्योतकता आती है वही आगे चलकर उस शब्द की विशेषता मानी जाती है । जैसे साहबी, नवाबी आदि शब्दों में 'ई' का सामान्य अर्थ है, किन्तु साहबी ठाठ और नवाबी चाल आदि प्रयोगों के प्रभाव से 'ई' में नई द्योतकता आ गई है । इसी प्रकार धोती, मटकी, पोथी आदि शब्दों का बडप्पन और पुरुषत्व प्रकट करना होता है तो 'आ' प्रत्यय का प्रयोग करके धोता, मटका, पोथा आदि बना देते हैं।

४—विभक्तियों के भग्नावशेष का नियम—जब विभक्तियाँ किसी कारण से लुप्त हो जाती हैं, तब भी वे किसी न किसी रूप मे मस्तिष्क में विद्यमान रहती हैं। जैसे—घरे, खेते, खरियाने आदि में संस्कृत की सप्तमी विभक्ति जीवित है। ये प्रयोग अधिकतर बोलियों में पाये जाते हैं।

५—मिथ्या प्रतीति का नियम—कभी-कभी भ्रम से हमें जिस अर्थ का भान होने लगता है वही अर्थ उस प्रत्यय अथवा शब्द में भी पीछे से स्थिर हो जाता है। जैसे 'काबुल वाले' के स्थान पर 'काबुली वाला' अथवा 'विविध' के स्थान पर 'विविध प्रकार' का प्रयोग भ्रान्ति के कारण हुआ है ।

६—उपमान का नियम—मनुष्य अनुकरण प्रिय होने के कारण एक प्रचलित शब्द के अनुकरण पर दूसरा नया शब्द गढ़ लेता है। जैसे—प्राचीन भारोपीय काल में उत्तम पुरुष वर्तमान के दो प्रत्यय थे 'मि' और 'ओ'। उपमान के प्रभाव से धीरे-धीरे यह भेद मिट गया। संस्कृत में लोगों ने 'मि' को अपना लिया और ग्रीक में 'ओ' को। सस्कृत के 'अस्मि' और अवस्ता के 'अह्नि' की बराबरी का 'एह्नि' ग्रीक में मिलता है। इस प्रकार उपमान नए शब्दों के गढ़ने और पुराने शब्दों के प्रति विनाश में सहायक होता है।

७—नये लाभ का नियम—भाषा में एक ओर कुछ अंगों और अंशों का विनाश होता है और दूसरी ओर कुछ नये रूपों और अर्थों का विकास होता है। जैसे क्रिया विशेषण अभी हाल ही की चीज़ है। कोई संज्ञा अथवा विशेषण जब अव्यय बन जाता है और उसमें विभक्तियों का प्रयोग नहीं होता तब क्रिया विशेषण बन जाता है। जैसे—चिरम्, अगत्या।

८—अनुपयोगी रूपों का विनाश—जब एक ही अर्थ के वाचक कई शब्द काम में आने लगते हैं, तब धीरे-धीरे कुछ शब्दों का नाश हो जाता है और एक-दो शब्द ही उस अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। जैसे—'देखना' क्रिया के लिये दो धातुएं थी। 'स्पश्' और 'दृश्' पीछे दोनों एक हो गईं। अब 'पश्य' आदेश माना जाता है और कुछ रूपों में ही उसका ग्रहण होता है। इसी प्रकार गच्छति, जगाम आदि की भी दशा है।

प्रश्न २१— अर्थों के परिवर्तन होने के विभिन्न कारणों की व्याख्या कीजिए।

उत्तर २१—भाषा के मानसिक एवं भौतिक दो पक्ष होते हैं। भौतिक पक्ष का संबंध ध्वनि विचार से है और मानसिक पक्ष का संबंध अर्थ विचार से। जब हम शब्द के अर्थों के बढ़ने, घटने अथवा नष्ट होने आदि की व्याख्या करते हैं तब इसमें अनेक कारण दिखाई देते हैं।

१ अर्थापकर्ष—बहुत से शब्दों के अर्थों में हम देखते हैं कि जो शब्द पहले अच्छे अर्थ में प्रयुक्त होते थे वे ही अनेक कारणों से बुरे अर्थ में आने लगते हैं। धीरे-धीरे उनका अच्छा अर्थ समाप्त हो जाता है और बुरा

अर्थ ही प्रधान हो जाता है। इस अर्थापकर्ष के अनेक कारण हैं। अतिशयोक्ति के कारण प्रायः शब्दों का अर्थ गिर जाता है। जैसे—विराट सभा, सत्यानाश। जिन अर्थों और भावों को समाज गुप्त रखने योग्य समझता है उन भावों और अर्थों को प्रकट करने वाले शब्द अपना गौरव खो बैठते हैं। जैसे—सहवास, प्रसंग, समागम आदि सामान्य अर्थ में आने वाले शब्द हैं। किन्तु जनता ने इन शब्दों का संबंध कामशास्त्र से जोड़ लिया है। पेशे के कारण भी अच्छे शब्द अर्थ को खो बैठते हैं। जैसे—महाजन और महाराज। महाजन का अर्थ अब लेन-देन करने वाला बनिया और महाराज का प्रयोग रसोइया के अर्थ में होने लगा है। प्रान्त बदलने और एक भाषा से दूसरी भाषा में जाने से भी शब्द का अर्थ भ्रष्ट हो जाता है। जैसे—मद्रास का पिल्ला (आदमी का बच्चा) युक्त प्रान्त में आते आते कुत्ते का बच्चा बन गया। इसी प्रकार उर्दू में आशिक और माशूक शब्द अच्छे अर्थ में आते हैं किन्तु हिन्दी में इनका प्रयोग गिरे हुए अर्थ में होता है।

२. अर्थापदेश—प्रायः मनुष्य अप्रिय, अशुभ और अपवित्र बातों का बुरापन कम करने के लिये सुन्दर शब्दों का प्रयोग करते हैं। जैसे शौच का अर्थ होता है पवित्र होना किन्तु इसका अर्थ पाखाने जाना हो गया है। मृत्यु के लिए स्वर्गवास, वैकुण्ठलाभ आदि प्रसिद्ध ही हैं। अमंगल और अशुभ से बचने के लिए लोग दुकान बन्द करने को दुकान बढ़ाना तथा दिया बुझाने को दिया बढ़ाना कहते हैं।

३ अर्थोत्कर्ष—जिस प्रकार शब्दों के अर्थ में गिरावट आ जाती है उसी प्रकार अनेक कारणों से शब्दों के अर्थ में उत्कर्ष भी हो जाता है। उदाहरणार्थ संस्कृत में साहस शब्द का अर्थ हत्या, चोरी, व्यभिचार था परन्तु अब साहस शब्द बहुत अच्छे अर्थ में ही आता है। इसी प्रकार संस्कृत में मुग्ध शब्द मूढ़ के अर्थ में आता था किन्तु अब हिन्दी में मुग्ध शब्द का अर्थ मोहित होना हो गया है।

४. अर्थ का मूर्तिकरण और अमूर्तिकरण—कभी किसी शब्द का अमूर्त अर्थ धीरे-धीरे मूर्त अर्थ में प्रयुक्त होने लगता है। अर्थात् एक शब्द क्रिया, गुण अथवा भाव बोधक न रह कर किसी द्रव्य का वाचक बन जाता

है। जैसे देवता और जनता शब्द पहले भाववाचक थे, किन्तु अब वे मूर्त अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। मिठाई और खटाई शब्द भी भाववाचक हैं और अब वे द्रव्य-वाचक हो गए हैं। कपाल और हृदय दोनों शब्द मूर्त अंगों के वाचक थे, किन्तु अब उनका प्रयोग भाग्य और भावुकता के अर्थ में होने लगा है।

५ अर्थ-संकोच—शब्द का अर्थ पहले बहुत व्यापक रहता है, किन्तु प्रयोग से धीरे-धीरे वह संकुचित होने लगता है। जैसे—'गोली' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक था किन्तु यह एक ही शब्द सिपाही, वैद्य, खिलाड़ी आदि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के साथ भिन्न-भिन्न संकुचित अर्थों में आता है। कुछ शब्द जो पहले जातिवाचक होते हैं वे संकुचित होकर व्यक्तिवाचक रह जाते हैं। जैसे—'मृग' शब्द संस्कृत में पशु मात्र के अर्थ में आता था, हिन्दी में अब हिरन में उसका प्रयोग होता है।

६ अर्थ-विस्तार—अर्थ संकोच के ठीक विपरीत अ -विस्तार होता है। आरम्भ में किसी वस्तु का कुछ गुणों के आधार पर कोई नाम रखा जाता है। आगे चल कर उन नामों का कोई रूढ अर्थ हो जाता है। लोग उसके असली अर्थ को भूल जाते हैं। जैसे—स्याही का मूल अर्थ है काली। पर उसका रूढ अर्थ हो गया है किसी भी प्रकार की लिखने की स्याही। जैसे–लाल स्याही, हरी स्याही आदि। अत्यधिक महत्व के कारण व्यक्तिवाचक नाम कभी कभी जातिवाचक बन जाते हैं। जैसे—यहाँ तो कई कालीदास बैठे हैं। कभी एक लिंग के शब्द से दूसरे लिंग का बोध होता है। जैसे—बिल्ली कहने से बिलौटा का भी बोध हो जाता है।

७ रूपक—रूपक के कारण भी अर्थ में परिवर्तन देखा जाता है। जैसे—आज यह कमल मुरझाया क्यों है अथवा उस साँपिन से सभी डरते हैं।

८ अनेकार्थता—जब कोई एक शब्द किसी दूसरे अर्थ में आने लगता है तब यह आवश्यक नहीं होता कि उसका पहला अर्थ नष्ट हो ही जाय और इस प्रकार धीरे धीरे एक शब्द के अनेक अर्थ हो जाते हैं। जैसे—धातु शब्द व्याकरण, आयुर्वेद, खनिज पदार्थ आदि में भिन्न-भिन्न अर्थों में

आता है। कभी-कभी संक्षेप की प्रवृत्ति के कारण एक शब्द के अनेक अर्थ हो जाते हैं जैसे कांग्रेस शब्द से अमेरिका वाले अपनी व्यवस्थापिका सभा का, योरोपियन इतिहासज्ञ वियना की कांग्रेस का और हिन्दुस्तानी अपनी राष्ट्रीय महासभा का अर्थ लेते हैं।

९. एकोच्चरित समूह—प्रत्येक भाषा में कुछ ऐसे शब्द समूह होते हैं जिनका विग्रह करने से शब्द बदल जाता है। जैसे 'ओं नमः सिद्धम्' का "ओनामासिढ्म"।

१०. समास—कभी-कभी कुछ शब्दों के समास के कारण अर्थ बदल जाता है। जैसे :—दौड़-धूप, कामचोर आदि।

११. नामकरण—नामकरण के अन्तर्गत अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शक्तियाँ आ जाती हैं। शब्द शक्तियाँ शब्द के अथ के परिवर्तन में बहुत बड़ा कार्य करती हैं। जैसे लक्षणा से 'गधा' शब्द का अर्थ मूर्ख लिया जाता है। वस्तुओं के नाम साधारणतः संकेत मात्र होते हैं। अधिकांश नामों का कोई अर्थ नहीं होता। जैसे :—भौंदूमल्ल। कभी किसी विशेष गुण के कारण भी नाम होता है। जैसे—रजनीगन्धा।

प्रश्न २२—हिन्दी भाषा के शब्द समूह का निर्माण किन-किन भाषाओं के शब्दों से हुआ है ?

उत्तर २२—भाषा परिवर्तनशील वस्तु है। कोई भी भाषा एक ही रूप में स्थिर नहीं रह सकती। मानव समाज की विभिन्न परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ विभिन्न प्रभावों के फलस्वरूप भाषा में अनेक प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं। हिन्दी भाषा योरोपीय परिवार की आर्य शाखा का आधुनिक रूप है। प्राचीन संस्कृत ने पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के रूप में परिवर्तित होते-होते आज हिन्दी का रूप धारण कर लिया है। चाहे आर्य पहले भारत में ही उत्पन्न हुए हों अथवा मध्य एशिया या अन्य स्थान से उत्तर भारत में आकर उन्होंने अनार्यों को दक्षिणी भारत की ओर भगा दिया हो परन्तु यह निश्चय है कि आरम्भ से ही आर्यों को अनार्यों के सम्पर्क में आना पड़ा। इसके अतिरिक्त मुसलमानों के आगमन के साथ-साथ विदेशों की भाषाओं का प्रभाव हिन्दी पर पड़ना आरम्भ हुआ। बाद में अंग्रेजी

राज्य की स्थापना होने पर अन्य विदेशी भाषाएँ भी हिन्दी को प्रभावित करने लगीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी भाषा का शब्द समूह आर्य, अनार्य और विदेशी भाषाओं के शब्दों से निर्मित हुआ है।

आर्य शब्द :—भारतीय आर्य भाषायें दो वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं। प्राचीन और आधुनिक। प्राचीन संस्कृत तथा आधुनिक बंगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं का हिन्दी पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। संस्कृत से हिन्दी में शब्द तीन रूपों में आये हैं।

तत्सम :—वे शब्द हैं जो ध्वनियों की सरलता के कारण आजतक अपने मूल रूप में चले आ रहे हैं, अथवा सीधे संस्कृत से हिन्दी में आये हैं जैसे अंक, अधर, अग्नि, सुर, असुर आदि।

तद्भव—वे शब्द हैं जो प्राकृत में होते हुए संस्कृत से अथवा सीधे प्राकृत से हिन्दी में आये हैं। जैसे संस्कृत में अग्नि, प्राकृत में अग्गि, हिन्दी में आग। ऐसे ही दुग्ध, दुध्ध, दूध, धर्म, धम्म, धरम; कर्म, कम्म, करम।

तत्समाभास :—वे शब्द हैं जो तत्सम न होते हुए भी तत्सम से प्रतीत होते हैं। जैसे श्राप (शाप संस्कृत में), राष्ट्रीय (राष्ट्रिय संस्कृत में), जागृत (जाग्रत् संस्कृत में)।

इसके अतिरिक्त कुछ शब्द तद्भवाभास में भी मिलते हैं। वे शब्द जिन्हें न तो तत्सम कहते हैं और न ही तद्भव। जैसे 'मौसी' से गढ़कर 'मौसा'। 'मौसी' तद्भव है। कुछ शब्दों की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। जैसे—लोटा, चिड़िया, खिचड़ी आदि। ऐसे शब्दों को देशज कह सकते हैं।

अन्य आधुनिक भाषाओं के शब्द :—आधुनिक आर्य भाषाओं के शब्द हिन्दी में थोड़े ही आये हैं जैसे मराठी का लागू, चालू, आदि; बंगला का प्राणपन, भद्र लोग आदि।

अनार्य भाषाओं के शब्द :—कोल और द्राविड़ भाषाएँ भारतीय अनार्य भाषाओं के अन्तर्गत आती हैं। जैसा कि हम लिख चुके हैं, अनार्यों के आर्यों के साथ सम्पर्क होने के समय से ही शब्दों का आदान-प्रदान शुरू हो गया था। आजकल दक्षिण भारत में इन भाषाओं का प्रचलन होने पर भी हिन्दी में इनके बहुत से शब्द आ गए हैं। जैसे पिल्ला, कोठी, घड़ा, कोड़ा, बर्तन।

विदेशी शब्द :—वैसे तो सम्पर्क के कारण चीनी आदि विदेशी भाषाओं के भी शब्द हिन्दी में थोडे वहुत आ गए हैं परन्तु मुसलमानों और अंग्रेजों के भारत पर बहुत काल तक शासन करने के कारण अरबी, फारसी, तुर्की आदि मुसलमानी भाषाओं के तथा अंग्रेज़ी, फ्रेञ्च, पुर्तगाली तथा डच आदि योरोपीय भाषाओं के शब्द हिन्दी में विशेष रूप से मिल गए हैं।

अरबी शब्द :—अमीर, इमारत, तोता, दावत, इत्यादि।

फारसी शब्द :—अफसोस, आतिशबाज़ी, देहात इत्यादि।

तुर्की शब्द :—बीबी, मशालची, कैंची, उर्दू, इत्यादि।

योरोपीय शब्द :—

अंग्रेज़ी :—इंजन, स्टेशन, आफिस, इत्यादि।

पुर्तगाली :—अलमारी, कमीज, कमरा, इस्त्री, इत्यादि।

फ्रांसीसी :—अंग्रेज, कारतूस, कूपन।

डच :—तुर्प, बम (गाडी में लकडी के दो डंडे)।

द्विज (वर्ण संकर) :—वे शब्द हैं जो दो भाषाओं के शब्दों के सम्मिश्रण से बनते हैं। जैसे अग्निबोट, अमन सभा, डबल रोटी, राम बख्श।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यवहार में आने वाली किसी भी जीवित भाषा के समान हिन्दी मे अनेक भाषाओं के शब्द आ चुके हैं और आते जा रहे हैं। जैसे भाषा का नियम है, वे शब्द व्याकरण के अनुरूप ऐसा रूप धारण कर लेते हैं कि हम उनके अनार्यपन तथा विदेशीपन को भूलकर उन्हें ठेठ हिन्दी का ही समझने लगते हैं। वास्तव में विभिन्न भाषाओं के शब्द पचा-पचा कर हिन्दी भाषा ने अपने को पुष्ट किया है।

प्रश्न २३—भाषा-परिवर्तन के कारणों पर प्रकाश डालिये।

उत्तर २३—भाषा का रूप नित्य परिवर्तित होता रहता है। उसके मुख्य तीन अंग हैं—ध्वनि, रूप और अर्थ। ध्वनि से भाषा के बोले जाने वाले स्वरूप से अभिप्राय है। रूप से अक्षर विन्यास तथा वाक्य विन्यास से तात्पर्य है। अतः भाषा में जो परिवर्तन होते हैं वे रूप विकार, ध्वनि विकार और अर्थ विकार के ही कारण होते है। और इस प्रकार धीरे-धीरे इन तीन अगों में परिवर्तन होते-होते एक समय ऐसा आता है जब कि भाषा का स्वरूप

बिलकुल ही बदल जाता है। इन तीन अंगों में परिवर्तन होने के अनेक कारण हैं। निम्नलिखित कारण मुख्य हैं:—

वैयक्तिक विभिन्नता:—प्रत्येक व्यक्ति के वाग्यन्त्र तथा उसके मानसिक गठन में अन्तर होता है। जिसके कारण एक व्यक्ति द्वारा उच्चरित ध्वनि से दूसरे की उच्चरित ध्वनि में अन्तर दिखाई देता है। क्योंकि समाज का निर्माण व्यक्ति से हुआ है तथा भाषा सामाजिक वस्तु है अतः वैयक्तिक विभिन्नता के फलस्वरूप भाषा में परिवर्तन होता रहता है।

मुख-सुख अथवा सुविधा:—भाषा के व्यवहार करते समय प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि अल्प समय और प्रयत्न में अपने विचार दूसरों तक पहुंचा सकूं। इसके लिए वह अपने शब्दों तथा वाक्यों को सरल और संक्षिप्त बनाने का यत्न करता है। सावर्ण्य, असावर्ण्य, मात्रा भेद, आगम, लोप आदि ध्वनि विकार इसी कारण हो जाते हैं।

कालभेद:—यद्यपि भाषा की धारा परम्परागत है, फिर भी उसमें अस्पष्ट रूप से सदैव गति—परिवर्तन होता रहता है। भाषा में कालभेद से दो प्रकार के भेद उत्पन्न हो जाते हैं। एक उच्चरित और दूसरा साहित्यिक रूप। किसी भी भाषा में कालभेद के अनुसार प्राचीन, माध्यमिक अथवा अर्वाचीन रूपों में इसलिये अन्तर मिलता है। सतत प्रयोग से केवल ध्वनियों में ही नहीं अर्थों तक में अन्तर पड़ जाता है।

स्थान भेद:—किसी स्थान विशेष के मनुष्य की बोली को सुन कर हम उसे पहचान लेते हैं कि वह अमुक स्थान विशेष का रहने वाला है। यह स्थानीय भाषा भेद भी अशिक्षितों की बोली में अधिक स्पष्ट होता है। इन स्थान-सम्बन्धी परिवर्तनशीलता का कारण यह है कि प्रत्येक स्थान की प्राकृतिक दशा तथा जलवायु का वहाँ के निवासियों के शरीर गठन और वाग्यंत्र पर विशेष प्रभाव पड़ता है। अतएव विभिन्न स्थानों की बोलियों में भेद हो जाता है। उदाहरणार्थ पंजाबी न को ण और त को ट बोलते हैं।

विजातीय सम्पर्क.—विभिन्न देशों और जातियों का परस्पर संपर्क होने पर भाषा में बहुत अंतर उत्पन्न हो जाता है क्योंकि स्थान भेद के कारण ' यों या देशों के व्यक्तियों में पर्याप्त अन्तर होता है। अतः एक ही

भाषा को दूसरा भिन्न रूप से बोलता है। यवनों के साथ सम्पर्क होने पर अरबी और फारसी के उच्चारण ने हमारी भाषा पर बहुत प्रभाव डाला। जैसे फारसी के इंतकाल ने हिन्दी मे अंतकाल का रूप धारण कर लिया। इस सम्पर्क के संबंध में प्रायः यह देखा जाता है कि जो जाति प्रभावशाली होती है उसका प्रभावित जाति की भाषा पर अधिक प्रभाव पड़ता है। यहाँ तक कि प्रभावशाली जाति के अशुद्ध प्रयोग भी चालू हो जाते हैं जैसे नाखालिस, वेफ़िजूल आदि। इसमें राजनैतिक परिस्थिति भी अपना प्रभाव डालती है। जैसे मुसलमानों और अंग्रेज़ों के शासक होने के कारण हमारे देश की भाषाओं की ध्वनियों और शब्दों में अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए।

धार्मिक अवस्थाः—प्राचीन काल में साहित्य अथवा काव्य रचना धार्मिक कारणों से होती थी। धर्म-ग्रन्थों की भाषा पवित्र समझी जाती थी। फलतः उसे राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त हो जाता था। राष्ट्रभाषा होने के कारण उसका प्रयोग अधिक होने लगता था और देश की अनेक विभाषाओं के शब्द उसमें आने लगते थे। धीरे-धीरे वह भाषा बंधनों में बंधकर जब उस धर्म विशेष के कुछ विद्वानों की ही भाषा रह जाती है, तब जनता की भाषा में धर्म का प्रचार करने वाले किसी सुधारक की भाषा प्रचार पाती है। उदाहरणार्थ वैदिक धर्म के वेदों के कारण संस्कृत की, बुद्ध धर्म के कारण पाली की, सिक्ख धर्म के कारण गुरमुखी की विशेष उन्नति हुई और उन्होंने विकास पाया।

सामाजिक अवस्थाः—किसी देश की सामाजिक अवस्था का उस देश की भाषा पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ आर्य समाज के उत्थान काल से हिन्दी में व्यंग्यात्मक और तर्क-वितर्क शैली चल पड़ी है, तथा शुद्धि आंदोलन के फल-स्वरूप लोग भाषा की शुद्धि में भी लग गए हैं।

शिक्षा तथा संस्कृतिः—समाज में सभी व्यक्ति शिक्षित नहीं होते। शिक्षित और अशिक्षितों की संस्कृति में बहुत भेद होता है। फलस्वरूप शिक्षितों के द्वारा उच्चरित भाषा अशिक्षितों के द्वारा अशुद्ध रूप में प्रयुक्त होती है। उदाहरणार्थ वर्ण विपर्यय के अंतर्गत होने वाले अनेक शब्द भाषा में प्रयुक्त होने लगते हैं, जैसेः—नखलऊ, मतबल।

मिथ्या सादृश्य अथवा उपमान'—जब किसी कारणवश नया रूप भाषा में प्रयुक्त होने लगता है, तो उसके सादृश्य पर अनेक शब्द विकृत हो जाते हैं। उदाहरणार्थ संस्कृत मेघ का हिन्दी में परिवर्तित होकर मेह हो गया है और इसके चालू हो जाने पर इसी के सादृश्य पर शोभन का सोहना हो गया है, बधिर का बहिरा और मुख का मुँह हो गया है।

प्रश्न २४—हिन्दी सर्वनामों की व्युत्पत्ति समझाइए।

उत्तर २४—हिन्दी मे जिन सर्वनामों का प्रयोग होता है, उनको आठ मुख्य भेदों में विभक्त किया जा सकता है। आठ भेदों के अतिरिक्त कुछ सर्वनाम विशेषणों के समान प्रयुक्त होते हैं। हिन्दी सर्वनामों में प्राय: संज्ञाओं के समान ही कारक चिह्न लगते हैं।

१. उत्तम पुरुष—(पुरुष वाचक सर्वनाम)

उत्तम पुरुष 'मैं' के निम्नलिखित रूप बनते हैं।

	एकवचन	बहुवचन
मूलरूप	मैं	हम
विकृतरूप	मुझ (मुझे)	हम (हमें)
सबंधकारक	मेरा	हमारा

'मैं' का संबंध संस्कृत तृतीया के रूप 'मया' से माना जाता है। संस्कृत क 'अहं' से इसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। संस्कृत—'मया', प्राकृत—'मई', अपभ्रंश—'मइं', हिन्दी में 'मैं'।

'मुझ' का सम्बन्ध संस्कृत 'मह्यम', प्राकृत में 'मज्झम', पाली में 'मुझ', हिन्दी में मुझ।

'हम' का सम्बन्ध प्राकृत के 'अम्हे' से है। संस्कृत के 'वयं' से हम का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। प्राकृत के 'अम्हे' शब्द की उत्पत्ति 'अस्मे' से मानी जाती है, जो कि वैदिक भाषा में मिलता है।

'मेरा, हमारा' रूप अथवा मध्यम पुरुष के 'तेरा और तुम्हारा' रूप विशेषण के सम न प्युक्त होते हैं। अतः साथ आने वाली संज्ञा के अनुसार इनके लिंग तथा वचन में भेद होता है। 'र' लगाकर बने हुए इन सब षष्ठी

रूपों का सम्बन्ध प्राकृत के 'करक', 'करौ', 'केरा' तथा 'करा' आदि प्रत्ययों के प्रभाव से माना जाता है।

अम्ह करको > अम्ह अरओ > अम्हारौ > हमारो > हमारा;

तुम्ह करको > तुम्ह अरओ > तुम्हारौ > तुम्हारो > तुम्हारा।

'तू' का सम्बन्ध संस्कृत 'त्वया', प्राकृत 'तुअं', अपभंश—तुह से है।

तुझ का सम्बन्ध प्राकृत के 'तुज्झ' तथा संस्कृत 'तुभ्यम्' से माना जाता है।

२. निश्चय-वाचक सर्वनाम—(यह, वह)

हिन्दी में अन्य पुरुष का काम निश्चय-वाचक सर्वनामों से लिया जाता है। 'यह', 'ये', की व्युत्पत्ति संस्कृत के एषः, एते, एतानि, आदि रूपों से स्पष्ट है। चटर्जी के अनुसार निकटवर्ती निश्चय-वाचक सर्वनाम के समस्त रूपों का संबन्ध संस्कृत के मूल शब्द 'एत' से है।

'इस' का सम्बन्ध चटर्जी ने संस्कृत के 'एतस्य' से माना है। किन्तु संस्कृत 'अस्य'—प्राकृत 'एअस्स' से स्पष्ट मालूम होता है।

'इन' का सम्बन्ध 'एतेन' से नहीं है प्रत्युत संस्कृत सम्बन्ध कारक के बहुवचन के चिन्ह के प्रभाव से 'न' का होना प्रतीत होता है।

'वह' दूरवर्तीय निश्चय-वाचक सर्वनाम है। 'वह' का सम्बन्ध 'तद्' के रूपों से नहीं है। वास्तव में इस सर्वनाम की व्युत्पत्ति अनिश्चित है। चैटर्जी के अनुसार 'वह' की व्युत्पत्ति संस्कृत के कल्पित रूप 'अव' तथा 'उस' की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'अवस्य' से हुई है। 'वे' और 'उन' के सम्बन्ध में भी वैसी कल्पना की जाती है।

३. सम्बन्ध-वाचक—" जो " का सम्बन्ध संस्कृत 'यः' से है। 'जिस' का सम्बन्ध संस्कृत 'यस्य', प्राकृत—'जिस्स', से है। 'जिन' शब्द संस्कृत के षष्ठी बहुवचन 'यानाम' से निकला माना जाता है।

४. नित्य संबंधी सर्वनाम—(सो)

इस सर्वनाम का प्रयोग साहित्यिक हिन्दी में अधिक नहीं होता। 'इस' का सम्बन्ध संस्कृत 'सः' प्राकृत 'सो' से है।

५ प्रश्न-वाचक सर्वनाम—(कौन, क्या)

कौन की व्युत्पत्ति संस्कृत 'कः', प्राकृत 'कवन' से मानी जाती है। 'क्या' की व्युत्पत्ति अनिश्चित है। संस्कृत के 'किम्' से इसका सम्बन्ध नहीं है।

६ अनिश्चय-वाचक सर्वनाम—(कोई, कुछ) 'कोई' की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'कोऽपि', प्राकृत—'कोवि' से मानी जाती है। 'कुछ' का सम्बन्ध संस्कृत 'कश्चिद्', प्राकृत 'कच्छू' से माना जाता है।

७ निज-वाचक सर्वनाम—(आप) यह सर्वनाम संस्कृत के 'आत्मन्', प्राकृत 'अप्पा' से निकला है।

८ आदर-वाचक सर्वनाम—(आप)

व्युत्पत्ति की दृष्टि से निजवाचक और आदरवाचक शब्द एक ही हैं।

९ विशेषणों के समान प्रयुक्त होने वाले सर्वनाम—विशेषणों के समान प्रयुक्त होने वाले सर्वनाम दो रूपों में मिलते हैं—परिमाण वाचक और गुणवाचक। परिमाण वाचक 'इतना, उतना, कितना, जितना, तितना' आदि रूपों का सम्बन्ध संस्कृत इयत, कियत—प्राकृत–एत्तिय, केत्तिय आदि से है।

१० गुणवाचक—ऐसा, वैसा, तैसा, जैसा का सम्बन्ध संस्कृत के यादृश, तादृश आदि रूपों से जोड़ा जाता है। जैसे—संस्कृत—कीदृश, प्राकृत—केरिसा, हिन्दी—कैसा।

प्रश्न २५—हिन्दी के कारक चिह्नों की उत्पत्ति और विकास को समझाइए।

उत्तर २५—हिन्दी में कारक चिह्न व्याकरण सम्बन्ध बताने के लिए बहुत आवश्यक होते हैं। संज्ञा के विकृत रूप मे कारक चिह्न लगाकर हिन्दी विभक्तियों के रूप बनाये जाते हैं। प्राचीन तथा मध्यमकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के संहित रूपों के धीरे-धीरे घिस जाने पर मध्यकालीन के अंत में संज्ञा का मूल रूप भिन्न-भिन्न विभक्तियों में प्रयुक्त होने लगा। इससे अर्थ समझने में कठिनाई पड़ने लगी। इसलिए भिन्न-भिन्न कारकों के अर्थों को स्पष्ट करने के लिए मूल रूपों के साथ पृथक् शब्द जोड़े जाने लगे।

हिन्दी के कारक चिह्न इन्हीं पृथक् शब्दों के अवशेष मात्र हैं। घिसते-घिसते ये इतने छोटे हो गये हैं कि इनके मूल रूपों को पहचानना कठिन हो गया है। इनका पृथक् अस्तित्व नहीं रह गया। इसलिए इन्हे संज्ञा के मूल रूपों के साथ लिखा जाता है।

कर्ता या करण कारक—कर्ता के रूपों में कोई भी कारक चिह्न नहीं लगाया जाता। संस्कृत और प्राकृत में भी संज्ञाओं मे अधिकतर प्रथमा के रूपों में परिवर्तन नहीं होता। 'ने' कारक चिन्ह की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मं बहुत मतभेद है। बीम्स का कहना है कि गुजराती जैसी प्राचीन भाषा में करण तथा सम्प्रदान कारकों का एक दूसरे के लिए प्रयोग होता रहा है। नेपाली मे भी सम्प्रदान तथा करण के कारक चिह्न बहुत मिलते जुलते हैं। पुरानी हिन्दी के कर्म कारक के चिह्न "नै" तथा आधुनिक हिन्दी के कारक चिन्ह 'ने' में भी साम्य है। गुजराती मे भी कर्म और सम्प्रदान के लिये 'ने' प्रयुक्त होता है। मराठी में यही 'ने' करण का चिह्न है। इसलिये बीम्स का मत है कि सम्प्रदान और करण के चिह्न व्युत्पत्ति की दृष्टि से समान थे। उनके अनुसार 'ने' का सम्बन्ध 'लगि', 'लागि' जैसे शब्दों से है।

ट्रम्प का मत है कि 'ने' का संबन्ध सस्कृत की अकारान्त संज्ञाओं के करण कारक के चिह्न 'एन' से है। इस सम्बन्ध में यह आपत्ति की जाती है कि प्राकृत के अन्तिम रूपों में संस्कृत का यह चिह्न मिलता है। 'एन' के 'न' का लोप हो गया है। फिर 'एन' का 'ने' होना सम्भव नहीं। यदि संस्कृत में 'नेन' होता तो 'ने' होना सम्भव था।

ब्लाक ने ग्रियर्सन का मत उद्धृत करते हुए कहा है कि 'ने' का सम्बन्ध संस्कृत के 'तन' से होना सम्भव है। वास्तव में 'ने' की व्युत्पत्ति संदिग्ध है।

कर्म तथा सम्प्रदान:—हिन्दी मे कर्म तथा सम्प्रदान दोनों के लिये 'को' चिन्ह का प्रयोग होता है। सम्प्रदान में 'के लिये' रूप भी आ जाता है।

ट्रम्प के मतानुसार 'को' की उत्पत्ति संस्कृत 'कृतम्' से हुई है।

प्राकृत में यही शब्द 'कितो',—'किओ' रूप होकर हिन्दी में 'को' रूप हो गया है। ट्रम्प का यह मत मान्य नहीं समझा जाता।

हार्नली और बीम्स 'को' का सम्बन्ध संस्कृत के 'कक्षं' से जोड़ते हैं। चैटर्जी भी इससे सहमत हैं। 'कक्षम्' से—'कक्खम,—काख—काहं—कहुं—कहँ—कौं—को।

'के लिये' के सम्बन्ध में 'लिए' का संस्कृत 'लग्ने' के साथ सम्बन्ध जोड़ा जाता है। हार्नली के अनुसार 'लिये' की उत्पत्ति 'लब्धे' से हुई। संस्कृत 'लग्ने',—प्राकृत 'लग्गे', लग्गि,—हिन्दी लागी, लगे, तथा लिये।

करण तथा अपादान.—करण में 'ने' के अतिरिक्त 'से' का भी प्रयोग होता है। यही चिह्न अपादान में भी होता है। बीम्स ने 'से' का संबंध संस्कृत अव्यय 'सम' से जोड़ा है। हार्नली संस्कृत की अस् धातु से इस की व्युत्पत्ति मानता है। बीम्स का मत आजकल मान्य माना जाता है।

सम्बन्ध:—सम्बन्ध कारक के रूपों का सम्बन्ध क्रिया से न होकर संज्ञा से होता है। इस का प्रमाण यह है कि हिन्दी में सम्बन्ध सूचक कारक चिह्नों में आगे आने वाली संज्ञा के अनुसार लिंग भेद होता है। जैसे—'राम की पुस्तक'। सम्बन्ध कारक के चिह्न 'का', 'के', 'की' हैं। इन रूपों के सम्बन्ध में बीम्स तथा हार्नली एक मत हैं। उनके अनुसार संस्कृत 'कृतः'—प्राकृत 'करितो', 'करिओ, पुरानी हिन्दी—केरो या केरओ, हिन्दी—केर अथवा का। 'के' 'की' आदि रूप वचन और लिंग की दृष्टि से 'का' के रूपान्तर-मात्र हैं।

अधिकरण:—अधिकरण के लिए 'में' या 'पर' का प्रयोग होता है। 'में' का सम्बन्ध सभी विद्वान् संस्कृत 'मध्ये',प्राकृत—मज्झे पुरानी हिन्दी—मांहि या महि—हिन्दी 'में'। 'पर' का सम्बन्ध संस्कृत 'उपरि' से है। हार्नली संस्कृत—'परे', प्राकृत—'परि' से इसकी व्युत्पत्ति मानते हैं।

प्रश्न २६—हिन्दी क्रियाओं की व्युत्पत्ति पर विचार कीजिए।

उत्तर २६—संस्कृत में कुछ रूपों को छोड़ कर क्रिया पूर्ण रूप से संयोगात्मक थी। संस्कृत की दो हज़ार धातुएँ दस श्रेणियों में जिन्हें गण

कहते हैं विभक्त है। धातुओं के रूप बहुत अधिक होते हैं। आगे चल कर क्रिया संयोगात्मक तो रही परन्तु उसके रूप संस्कृत की अपेक्षा बहुत कम रह गये। प्राकृतों की क्रिया और भी सरल हो गई। महाराष्ट्री में गणों का अभाव है। प्राकृत तक की क्रियाओं के अधिकांश रूप सयोगात्मक ही थे। संस्कृत, प्राकृत तथा पाली तीनों में रूपों की संख्या क्रमशः कम होती गई। जब प्रत्येक प्रयोग काल तथा वचन आदि को व्यक्त करने के लिये धातु के पृथक् पृथक् रूप नहीं रह गये तब वियोगात्मक ढंग से नये रूपों को बनाये जाना स्वाभाविक था।

हिन्दी क्रिया का अन्य आर्य भाषाओं की क्रियाओं के समान रूपान्तरों का ढंग अत्यन्त सरल है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के समान हिन्दी में एकवचन और बहुवचन दो ही वचन हैं। जिन के तीन पुरुषों में तीन-तीन रूप होते हैं। सब से बड़ी विशेषता यह है कि हिन्दी क्रियाएँ बहुत अधिक वियोगात्मक हो गई हैं।

हार्नली के अनुसार हिन्दी की धातुओं की सख्या लगभग पाँच सौ है। ऐतिहासिक दृष्टि से ये धातुएँ दो श्रेणियों में विभक्त हैं—मूल धातु, यौगिक धातु। मूल धातु वे हैं, जो संस्कृत से हिन्दी मे आई हैं। कुछ मूल धातुएँ वे कहलाती हैं, जो संस्कृत धातुओं से तो नहीं आईं किन्तु जिनका सम्बन्ध या तो संस्कृत रूपों मे है या आधुनिक काल से गढ़ी गई हैं। मूल और यौगिक धातुओं के अतिरिक्त कुछ विदेशी भाषाओं की धातुएँ तथा शब्द हिन्दी में धातुओं के सदृश प्रयुक्त होने लगे हैं।

काल रचना में कृदन्त रूपों तथा सहायक क्रियाओं से विशेष सहायता ली जाती है। हिन्दी काल रचना में 'होना' सहायक क्रिया का व्यवहार होता है। इसके भिन्न-भिन्न कालों मे अनेक रूप बनते हैं। 'होना' के विभिन्न रूपान्तर व्युत्पत्ति की दृष्टि से संस्कृत की एक से अधिक क्रियाओं से सम्बन्धित हैं। 'हूँ' आदि वर्तमान निश्चयार्थ रूपों का सम्बन्ध संस्कृत 'असं' धातु से माना जाता है। 'था' आदि भूतकाल की क्रियाओं का सम्बन्ध 'स्था' से माना जाता है और होना के शेष समस्त रूपों का सम्बन्ध 'भू' से माना जाता है।

हिन्दी काल रचना में वर्तमानकालिक कृदन्त तथा भूतकालिक कृदन्तों का व्यवहार होता है। वर्तमान कालिक कृदन्त धातु के अन्त में 'ता' लगाने से बनता है। इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत कृदन्त के शतृ प्रत्ययान्त रूपों से मानी जाती है। जैसे—संस्कृत 'पचन्ती'—प्राकृत में भी पचन्ती, हिन्दी पचती है।

भूतकालिक कृदन्त धातु के अन्त में 'आ' लगाने से बनता है। इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत के भूतकालिक 'क्त' प्रत्ययान्त वाले रूपों से मानी जाती है। जैसे संस्कृत चलित., प्राकृत चलिओ, हिन्दी चला।

क्रियार्थक संज्ञा धातु के अन्त में 'ना' जोड़ने से बनती है। बीम्स के अनुसार 'ना' का सम्बन्ध संस्कृत भविष्य कृदन्त 'अनीय' से है। जैसे संस्कृत 'करणीयम्', प्राकृत—करणीअं, और हिन्दी 'करना'।

यद्यपि हिन्दी में वर्तमान, भूत और भविष्यत् तीन ही मुख्य काल हैं, किन्तु निश्चयार्थ, आज्ञार्थ तथा सम्भावनार्थ तथा व्यापार की सामान्यता और अपूर्णता का ध्यान रखते हुए हिन्दी कालों की संख्या सोलह मानी जाती है। ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी कालों को तीन भागों में विभक्त किया जाता है—

१ संस्कृत कालों के अवशेष काल। जैसे संस्कृत—'चलामि' प्राकृत-चलामि, अपभ्रंश में चलउँ और हिन्दी चलूँ।

२ संस्कृत कृदन्तों से बने काल। इनका सम्बन्ध संस्कृत कालों से सीधा नहीं है।

३ आधुनिक संयुक्त काल। इसके अन्तर्गत कृदन्त तथा सहायक क्रियाओं के सहयोग से आधुनिक काल में बने समस्त काल आ जाते हैं जिनका सम्बन्ध संस्कृत के कालों से बिल्कुल भी नहीं है।

हिन्दी में वाच्य बनाने का ढंग आधुनिक है। मूल क्रिया के भूतकालिक क्रियाओं के रूपों में 'जाना' धातु के आवश्यक रूपों के संयोग से हिन्दी कर्म वाच्य बन जाता है। संस्कृत में 'य' लगा कर कर्मवाच्य बनता ही था, प्राकृत तथा आधुनिक आर्य भाषाओं में इसने अनेक रूप धारण कर लिये।

संस्कृत में प्रेरणार्थक रूप धातु में 'अय' लगाकर बनता है। हिन्दी

में प्रेरणार्थक धातु का चिन्ह आ, वा, प्राचीन चिन्हों के रूपान्तर मात्र हैं। जैसे जलना, जलवाना।

नाम धातु भारतीय आर्य भाषाओं में प्राचीन काल से प्राप्त हैं। संज्ञा या विशेषण में क्रिया के प्रत्यय जोड़ने से इनके रूप बनते हैं।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में जो काम प्रत्यय आदि लगा कर किया जाता था वह काम बहुत कुछ संयुक्त क्रियाओं से हो जाता है। हिन्दी में संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग बहुत अधिक होता है। ये क्रियाएँ आधुनिक हैं। इनका ऐतिहासिक विवेचन असम्भव है। कुछ संयुक्त क्रियाएँ शब्दों को दुहरा कर बनाई जाती हैं। जैसे—खटखटाना, तिलमिलाना आदि। ऐसी क्रियाएँ प्रायः अनुकरणमूलक हैं।

प्रश्न २७—देवनागरी लिपि के आविर्भाव और विकास पर प्रकाश डालिये।

उत्तर २७—यद्यपि भारत मे उर्दू, रोमन, मुड़िया और मैथिल आदि अनेक लिपियों का व्यवहार होता है किन्तु देवनागरी लिपि सब से अधिक प्रचलित है। इस लिपि को समझाने वाली एक मात्र उर्दू लिपि ही है। भारतवर्ष के मुसलमानों तथा पंजाब, आगरा, दिल्ली के हिन्दुओं में उर्दू की लिपि का व्यवहार विशेष रूप से पाया जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से देवनागरी लिपि का मूल सम्बन्ध भारत की प्राचीनतम लिपि ब्राह्मी से है। ब्राह्मी और देवनागरी का सम्बन्ध कई परिवर्तनों के जान लेने पर ही स्पष्ट होता है।

वैदिक तथा बौद्ध साहित्य के बाह्य रूप तथा उसमें पाये जाने वाले उल्लेखों से यह स्पष्ट होता है कि भारत में लिपि का प्रचार चौथी शताब्दी ईसा पूर्व से बहुत पहले से हो चुका था। ऐसी अवस्था में योरोपीय विद्वानों के द्वारा जो यह मत दिया गया है कि भारतीय लोगों ने चौथी, आठवीं या दसवीं शताब्दी में किन्हीं विदेशियों से लिपि सीखी, ठीक नहीं प्रतीत होता।

भारत में प्राचीन काल में ब्राह्मी और खरोष्ठी नाम की दो लिपियाँ प्रचलित थीं। ब्राह्मी राष्ट्रीय लिपि थी। पश्चिमोत्तर प्रदेश को छोड़ कर समस्त भारत में इसका प्रयोग होता था। पश्चिमोत्तर प्रदेश में खरोष्ठी

लिपि का प्रचार था । ब्राह्मी देवनागरी के समान बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी और खरोष्ठी फ़ारसी के समान दाहिनी ओर से बाईं ओर को। खरोष्ठी लिपि आर्य लिपि नहीं है बल्कि इसका सम्बन्ध सेमेटिक लिपि से है। फ़ारसी लिपि का विकास खरोष्ठी लिपि से नहीं हुआ।

मध्य तथा आधुनिक काल की समस्त भारतीय लिपियों का उद्गम प्राचीन राष्ट्रीय लिपि ब्राह्मी से हुआ है—इस सम्बन्ध में तो किसी प्रकार का मत भेद नहीं है, किन्तु स्वय ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ही दो मत हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार ब्राह्मी का सम्बन्ध पश्चिमी एशिया की किसी विदेशी लिपि से है । दूसरे विद्वान जिनमें ओझा जी प्रमुख हैं, यह मानते हैं कि यह भारत के आर्यों का अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार है। इसकी प्रधानता तथा सुन्दरता से चाहे इसका कर्त्ता ब्रह्मा देवता माना जाकर इसका नाम ब्राह्मी पड़ा, चाहे ब्राह्मणों की लिपि होने से यह ब्राह्मी कहलाई, किन्तु किसी विदेशी लिपि से इसका सम्बन्ध नहीं है। इस लिपि का मौर्य काल में समस्त भारत में प्रचार था । अशोक के प्रसिद्ध शिलालेखों तथा अन्य प्राचीन लेखों की लिपि ब्राह्मी ही है।

ब्राह्मी लिपि का प्रचार भारत में लगभग तीन सौ पचास ईस्वी तक रहा। इस समय तक उत्तर और दक्षिण भारत की ब्राह्मी लिपि में पर्याप्त अन्तर हो गया था। उत्तर भारत की प्रचलित ब्राह्मी शैली का चौथी शताब्दी के लगभग गुप्त लिपि नाम रख दिया गया । इसके उदाहरण गुप्तकालीन शिलालेखों और ताम्रपत्र आदि में मिलते हैं।

गुप्त लिपि के विकसित रूप का नाम कुटिल लिपि रखा गया। इसका प्रचार छठी से नवीं शताब्दी तक उत्तर भारत में रहा । अक्षरों की कुटिल आकृतियों के कारण ही यह लिपि कुटिल कहलाई जाने लगी । इसी कुटिल लिपि से नागरी तथा काश्मीर की प्राचीन लिपि शारदा विकसित हुई। शारदा से वर्तमान काश्मीरी, ठाकरी, तथा गुरमुखी लिपियाँ निकली हैं। प्राचीन नागरी की पूर्वी शाखा से दसवीं शताब्दी के लगभग प्राचीन बंगला लिपि निकली।

नागरी लिपि का प्रयोग उत्तर भारत में दसवीं शताब्दी के आरम्भ

से मिलता है। किन्तु दक्षिण भारत मे कुछ लेख आठवीं शताब्दी तक के पाये जाते हैं। दक्षिण की नागरी लिपि नंदी नागरी के नाम से प्रसिद्ध है। नवीं शताब्दी की नागरी लिपि वर्तमान नागरी से मिलती जुलती है और बारहवीं शताब्दी से अब तक नागरी लिपि एक ही रूप मे चलती चली आई है। इस प्रकार आधुनिक देवनागरी लिपि दसवीं शताब्दी की प्राचीन नागरी लिपि का ही विकसित रूप है।

प्रश्न २८—देवनागरी लिपि की भाषा-विज्ञान की दृष्टि से समीक्षा कीजिए। बताइये कि उसमे किन सुधारों की आवश्यकता है?

उत्तर २८—भाषा विज्ञान की दृष्टि से देवनागरी लिपि की तुलना में कोई भी अन्य लिपि नहीं ठहर सकती। कोई भी वर्णमाला तभी वैज्ञानिक समझी जा सकती है जब कि ध्वनियाँ विश्लिष्ट हों अर्थात् एक ध्वनि के साथ और ध्वनियाँ नहीं मिली हों, एक ध्वनि केवल एक वर्ण का ही रूप धारण करे। इस कसौटी पर केवल देवनागरी लिपि ही खरी उतरती है। फ़ारसी और रोमन लिपियों में एक ध्वनि के लिये अनेक ध्वनियों का प्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थ—"अलिफ़" में पाँच ध्वनियाँ हैं। जबकि उसका प्रयोग केवल 'अ' के लिए होता है। इसी प्रकार फारसी और रोमन लिपियाँ अभी ऐसी अवस्था में हैं जिनमें ध्वनियों का पूरा विश्लेषण नहीं हुआ। देवनागरी की वर्णमाला में एकसूत्रता दिखाई देती है। उसके सभी व्यंजन 'अ' के सहयोग से उच्चरित होते हैं। अन्य लिपियों मे यह बात नहीं है।

क्रम की दृष्टि से भी देवनागरी लिपि वैज्ञानिक है। उसमें पहले मूल स्वर और बाद में संयुक्त स्वर रखे गये हैं। व्यजनों को भी उच्चारण स्थान के क्रम के अनुसार वर्गों में विभक्त किया गया है। इन वर्गों मे भी क्रम का ध्यान रखा गया है। प्रत्येक वर्ग मे दूसरा और चौथा वर्ण महाप्राण हैं और पाँचवां वर्ण अनुनासिक। ऐसा वैज्ञानिक क्रम अन्य वर्णमालाओं में नहीं मिलता। उन में तो स्वर और व्यंजन तक अलग-अलग नहीं रखे गए। इस का फल यह है कि देवनागरी लिपि में यदि हम शुद्ध उच्चारण करें तो शुद्ध रूप में किसी भी शब्द को लिख सकते हैं। किन्तु अन्य लिपियों में लिखने और उच्चारण में अन्तर रहता है। उदाहरणार्थ—'Hat' को 'हट', 'हाट'

और ईट तीनों ही रूप में पढ़ सकते हैं।

देवनागरी लिपि में भाषावैज्ञानिक दृष्टि से कुछ न्यूनताएँ भी मिलती हैं। प्रत्येक वर्ग में जो महाप्राण ध्वनियाँ हैं (जैसे ख, घ, फ आदि) वे वास्तव में 'ह' के योग से बनी हैं। किन्तु जिस रूप में वे लिखी जाती हैं, उसको देखने से यह भ्रम हो जाता है कि वे दो ध्वनियाँ न होकर एक ही ध्वनि है। यदि महाप्राण का सूचक एक चिह्न निर्धारित कर लिया जाय और उसे क, ग आदि के साथ संयुक्त करके ख, घ आदि ध्वनियों को लिखा जाय तो अधिक वैज्ञानिकता आ जाय। इसी प्रकार च, त्र, ज्ञ और क्ष जैसी ध्वनियों के रूप में परिवर्तन की आवश्यकता है। क्योंकि जिस रूप में वे लिखी जाती हैं, उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि किन-किन वर्णों के संयुक्त होने से ये वर्ण बने हैं। 'ख' वर्ण के रूप में भी परिवर्तन की आवश्यकता है क्योंकि उसे 'र' और 'व' भी पढ़ सकते हैं।

काका कालेलकर ने 'अ' के ऊपर ही स्वरों की मात्रा लगाकर सब स्वरों के लिखने की प्रणाली निकाली है। उनका कहना है कि यदि 'अ' के ऊपर मात्रा लगाकर 'ओ' और 'औ' लिखे जा सकते हैं, तो अन्य स्वर क्यों नहीं लिखे जा सकते? किन्तु निश्चय ही ऐसा करने से देवनागरी की वैज्ञानिकता पर आघात होगा, क्योंकि 'ओ' और 'औ' तो संयुक्त स्वर हैं ही, किन्तु 'ऊ' और 'ऋ' 'अ' के साथ संयुक्त कर देने से अपने मूल रूप को खो बैठेंगे।

कुछ ध्वनियाँ जो रोमन और फारसी वर्णमाला में मिलती हैं उनका देवनागरी लिपि में अभाव है। यद्यपि अब अधिकांश नई ध्वनियों का निर्माण हो चुका है, और उनका प्रयोग भी प्रचलित हो चुका है। जैसे ए, ऐ, ओ, औ, के बीच की ध्वनियाँ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैज्ञानिक दृष्टि से देवनागरी लिपि बहुत पूर्ण है। थोड़े से सुधार के कर देने पर वह ऐसा रूप ले सकती है, जिससे कि वह केवल एक राष्ट्र की ही नहीं अपितु विश्व लिपि के रूप में प्रचलित की जा सके, क्योंकि उसमें विश्व के किसी भी भाग में बोली जाने वाली ध्वनियों को व्यक्त करने की क्षमता है।

साहित्यालोचन

प्रश्न १—कला शब्द की पूर्ण व्याख्या कीजिये और समझाइये कि कला का 'ललित' और 'उपयोगी' वर्गों में विभाजन करना कहाँ तक समीचीन है।

उत्तर १—"अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही है कला" (गुप्तजी)

मनुष्य मात्र की यह भावना नितांत स्वाभाविक है कि वह अपने हृदयस्थ भावों को बिना अभिव्यक्त किए नहीं रह सकता। अपने दुःख, सुख, हर्ष, विषाद को वह व्यक्त करके ही संतोष लाभ करता है। मनुष्य की यह मानसिक क्रिया इतनी पुरातन है जितनी यह सृष्टि स्वयम्। मानव के अवचेतन मन पर उसके चतुर्दिक् वातावरण के चित्र अनजान में बनते रहे होंगे और मनुष्य उनको मूर्तरूप देने के प्रयत्न भी तभी से करता रहा होगा। अभिव्यक्ति की यह क्रिया वास्तव में उसके लिए बड़ी संतोषदायिनी रही होगी और धीरे-धीरे अभिव्यक्ति की विधियों का बाहुल्य हुआ होगा। यदि कहें तो कह सकते हैं कि मानव मन में अंकित भावनाओं की अभिव्यक्ति की विविध विधियों का नाम ही 'कला' हुआ। आरम्भ में तो किसी भाव का अनुभव और उसकी अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में यत् किञ्चित् अन्तर रहा होगा किन्तु कालान्तर में अभिव्यक्ति के अदम्य आवेग ने तथा उसको मार्मिक रूप से व्यक्त करने की सतत अभिलाषा ने उसे एक ही कर दिया होगा। इस प्रकार अभिव्यंजना की विविध विधियों को ही हम कला की संज्ञा दे सकते हैं।

यद्यपि अभिव्यंजना को ही 'कला' की संज्ञा दी गई है फिर भी सम्पूर्ण अभिव्यंजना कला नहीं है। इसका स्पष्ट प्रमाण तो यही है कि दर्शन, विज्ञान, आयुर्वेद आदि विषय अभिव्यक्ति के परिणाम तो अवश्य हैं किन्तु उन्हे कला नहीं कहा जा सकता। यह मानव प्रकृति है कि मनुष्य कभी तो विश्व में विविध चित्रों को देखकर चमत्कृत ही होता है और कभी वह उनमे एक निश्चित नियम का अनुसंधान करने लगता है। कभी उनका वर्गीकरण करने का प्रयत्न करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जहां मनुष्य की बुद्धि उसे विश्लेषण के द्वारा

किसी निश्चित सिद्धान्त निर्माण की ओर प्रेरित करती है वहाँ कभी अपने चतुर्दिक वातावरण में—किन्हीं विशिष्ट वस्तुओं से चमत्कृत होकर वह संश्लिष्ट तथा परिष्कृत रूपों या चित्रों की अभिव्यक्ति करती है। पहली दशा में वह अंग-अंग के द्वारा समग्र वस्तु का परिचय प्राप्त करती है—खंड-खंड करके पूर्ण वस्तु का ज्ञान करती है। दूसरी स्थिति में वह समग्र वस्तु को, उसके सम्पूर्ण सौन्दर्य को ही एक बार में ग्रहण करती है। पहली वैज्ञानिक की दृष्टि कही जाती है दूसरी कलाकार की। अतः पहली दृष्टि विज्ञान को जन्म देती है दूसरी कला को। पहली दृष्टि मात्र नियम निर्धारण करती है दूसरी किसी वस्तु को परिष्कृत रूप में और भी मार्मिक तथा प्रभावशाली रूप में केवल अभिव्यंजना। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अभिव्यंजना की विविध विधियाँ कला अवश्य हैं परन्तु अभिव्यंजना मात्र कला नहीं। व्यावहारिक दृष्टि से कलाओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है।

१—उपयोगी कला।

२—ललित कला।

अब प्रश्न उठता है कि क्या यह वर्गीकरण तात्विक है?

तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो कला एक ऐसी अखंड अभिव्यक्ति है जिसका वर्गीकरण किया ही नहीं जा सकता और न उच्चता तथा निम्नता की दृष्टि से इसका श्रेणी विभाजन श्रेयस्कर ही है। क्रोचे का तो स्पष्ट कथन है कि न तो कला की दृष्टि से और न तात्विक दृष्टि से और न दार्शनिक दृष्टि से कलाओं का श्रेणी विभाजन किया जा सकता है। यद्यपि प्रायः सभी विद्वान् इस विषय में एक मत हैं कि तात्विक दृष्टि से कलाओं का विभाजन सम्भव नहीं है और वह एक अखंड अभिव्यक्ति है; फिर भी प्रयत्न किए गए हैं—और उनकी संख्या भी कम नहीं है—कि कला का विभाजन किया जाय।

इन विभाजनों का आधार बाह्य उपकरण या वे आधार हैं जिनके माध्यम से कलाकार अपने हृदय की अनुभूति को पाठक या द्रष्टा के अन्तर में स्पष्ट करना चाहता है। ये विभाजन तो लौकिक या व्यावहारिक दृष्टि से सुविधा के लिये कर लिये गए हैं और उपयोगी तथा ललित कला वाला उपर्युक्त वर्गीकरण इनमें सर्वप्रधान है।

'उपयोगी' कला में वे सब कलायें आ जाती हैं जिनका हमारे दैनिक जीवन से अपरिहार्य सम्बन्ध है, जो जीवन के नित्य उपयोग की वस्तुयें हैं जैसे :—बढ़ईगीरी, लुहार का कार्य, इसी प्रकार सुनार, कुम्हार, राज, जुलाहे आदि का कार्य।

इसके अतिरिक्त ललित कलाओं में वे कलायें आती हैं जिनका हमारे दैनिक और व्यावहारिक जीवन से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है जितना मानसिक और लोकोत्तर जीवन से। वे अवकाश के समय हमारे जीवन को अनुप्राणित या अनुप्रेरित कर देती हैं और कुछ समय के लिये हमें एक ऐसी लोकोत्तर अवस्था में पहुंचा देती है जो ब्रह्मानंद सहोदर माना गया है।

दूसरा विभाजन कला के व्यावहारिक या भौतिक आधारों तथा उसकी अनुभूति को लेकर किया गया है। इस प्रकार कला को दो भागों में बाँट दिया गया है : १—कलापक्ष, २—अनुभूतिपक्ष। कलापक्ष में वे आधार या भौतिक माध्यम आते हैं जिनको साधन बनाकर कलाकार अपने को अभिव्यक्त करता है। अनुभूतिपक्ष में वह अनुभूति आती है जिसके द्वारा कलाकार एक बार आन्दोलित हो चुका है और जिसके द्वारा वह अपने द्रष्टा या पाठक को अभिभूत करना चाहता है।

इससे भी अधिक सुविधाजनक विभाजन इसी वर्ग में यह हो सकता है—कला की सफल अभिव्यंजना और कला की असफल अभिव्यंजना। स्पष्टतः इससे कला के दो पक्ष प्रकट होते हैं, अनुभूतिपक्ष तथा रूपपक्ष। यह रूप पक्ष ही वास्तव में अनुभूति को अभिव्यक्ति देता है। किसी भाव को अपने हृदय में अनुभव करना एक बात है और उसको तद्वत् तथा और भी प्रकर्ष से अभिव्यक्त करना दूसरी बात। अतः हम स्पष्ट देखते हैं कि अनुभूति तथा अभिव्यंजना की प्रक्रियाओं के द्वारा ही कला का स्फुरण होता है। अतः इन दोनों के आधार पर भी कला का वर्गीकरण सम्भव है। कभी-कभी होता वास्तव में यह है कि जब कलाकार का अनुभूतिपक्ष सत्य या अधिक सशक्त नहीं होता तो वह अपनी तत्सम्बन्धी न्यूनता को बाह्यपक्ष (रूपपक्ष) या कला के परिच्छद से ढाँकना चाहता है। ऐसी रचना में कलापक्ष या रूपपक्ष अधिक सशक्त रहता है और अनुभूतिपक्ष अपेक्षाकृत दुर्बल। कहीं इसका बिलकुल

विपरीत होता है। कभी किसी कलाकार की अनुभूति तो तीव्र, सत्य तथा सशक्त होती है किन्तु उसकी अभिव्यंजना वह उतनी सफलतापूर्वक नहीं कर पाता। दूसरे शब्दों मे उसका रूपपक्ष या कलापक्ष अपेक्षाकृत निर्बल रहता है। हृदय के आवेश या उद्रेक को ऐसा कलाकार रूपपक्ष के या कला के समुचित सशक्त बंधन में नहीं बाँध पाता। कवियों में विशेष रूप से ये लक्षण अधिक स्पष्टता से दृष्टिगोचर हो सकते हैं। उदाहरणार्थ केशव तथा अधिकांश रीतिकालीन कवि अपनी रूपपक्ष (कलापक्ष) की पूर्णता तथा सशक्तता के लिये प्रसिद्ध हैं, साथ ही उनकी अनुभूति की अपेक्षाकृत अशक्तता भी सर्वविदित है। इसी प्रकार कबीर तथा जायसी अपने अनुभूतिपक्ष की पुष्टता के लिये प्रख्यात हैं, साथ उनकी रूपपक्ष (कलापक्ष) सम्बन्धी अपेक्षाकृत असमर्थता तथा अशक्तता भी सर्वविदित है। उपरोक्त दोनों प्रकार की अभिव्यक्ति कला की दृष्टि से असफल ही कही जायगी। क्योंकि उसमें कला के दोनों पक्षों अनुभूति तथा अभिव्यंजना का उचित सामंजस्य नहीं रहता। किन्तु ऐसे कलाकार भी हैं जिनका अनुभूतिपक्ष उतना ही सबल, सशक्त और वेगमय है जितना रूपपक्ष, अर्थात् जिनकी कला मे रूपपक्ष और अभिव्यंजनापक्ष का उचित संतुलन है। जिस कलाकार की कृति या रचना में यह उचित संतुलन का गुण विद्यमान रहता है वही कलाकृति सर्वोत्कृष्ट समझी जाती है और कलाकार सर्वाधिक सफल स्रष्टा। कवियों मे इसके उदाहरण भी सरलता से उपलब्ध हो सकते हैं। तुलसी और सूर इसी प्रकार के कलाकार हैं जिनकी कलाकृतियों में रूपपक्ष या अभिव्यंजना पक्ष तथा अनुभूतिपक्ष उचित संतुलित रूप में दृष्टिगोचर होता है।

कुछ कलाकार ऐसे भी होते हैं जिनकी कृतियों में अनुभूति पक्ष तथा रूपपक्ष दोनों ही अशक्त हैं। ऐसे कलाकारों का बाहुल्य तो सर्वत्र देखा जा सकता है। पूर्णरूपेण सफल कलाकार तो होते ही कितने हैं ?

इस प्रकार कलाकृति के अवयव संघटन की दृष्टि से उनके निम्नांकित विभाग संभव हैं :—

१—अनुभूति की अशक्तता पर अभिव्यंजना सशक्त।

२—अनुभूति सशक्त पर अभिव्यंजना अशक्त।

३—अनुभूति तथा अभिव्यंजना का उचित संतुलन अर्थात् दोनों सशक्त।

४—अनुभूति तथा अभिव्यंजना दोनों पक्षों में कमी।

सफल कला वही है जहाँ रूपपक्ष तथा अनुभूतिपक्ष समान रूप से सशक्त तथा उत्कृष्ट हों।

कुछ लोगों ने कला का वर्गीकरण प्राचीन कला, आधुनिक-कला अथवा धार्मिक कला तथा लौकिक कला के रूप में करने का भी प्रयास किया है। तथा इसके अतिरिक्त कुछ श्रेणी विभाग (वर्गीकरण) ऐतिहासिक दृष्टि तथा रुचिभेद के आधार पर भी किये जाते हैं। कहीं-कहीं तो कुछ कलाओं के प्रति लोगों का दृष्टिकोण श्रद्धा की कोटि में चला गया है और आज भारत में मूर्तियाँ यहाँ के सामाजिकों के लिये कलाकृति से अधिक पूजा की वस्तु हैं। कुछ पुस्तकें तक, उदाहरणार्थ रामायण, महाभारत, काव्य न रहकर पूजा की वस्तु बन गये हैं। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार की रुग्ण दृष्टि कलाओं के उचित तथा सर्वांगीण विवेचन में बाधा ही उपस्थित करती है और कलाओं का विवेचन धारणाओं के आधार पर होने लगता है जो स्तुत्य नहीं।

कलाओं के वर्गीकरण के सम्बन्ध में ये मतभेद अस्वाभाविक नहीं कहे जा सकते। क्योंकि कला स्वयं तो एक अखंड अभिव्यक्ति है, उसका तो वर्गीकरण करने का प्रश्न ही हास्यास्पद है। वर्गीकरण होता है कला के बाह्य उपकरणों का—उन माध्यमों का जिनके द्वारा कलाकृतियाँ विविध रूप में प्रकट होती हैं। वास्तव मे अनुभूति कला का मूल है और वह प्रत्येक कलाकार के हृदय में एक ही प्रकार से होती है। हाँ, उसकी अभिव्यंजना प्रणाली की विविधता अवश्य ही कलाकृतियों को उनकी अपनी विशिष्टता प्रदान करती है।

इसलिये यह स्पष्ट है कि कलाओं का वर्गीकरण तात्विक दृष्टि से नहीं केवल व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव है। अतः कलाओं का वर्गीकरण निर्दोष तो हो नहीं सकता।

यह तो फिर भी स्वीकार करना ही पड़ेगा कि 'ललित और उपयोगी' कलाओं वाला विभाजन ही अधिक वैज्ञानिक है।

ललित कला का वर्गीकरण पाँच भागों में किया गया है—१. वास्तु-कला, २. मूर्तिकला, ३. चित्रकला, ४. संगीतकला, ५. काव्यकला। यह

स्मरणीय है कि यह वर्गीकरण अनुभूति की दृष्टि से नहीं है अपितु उपकरणों की दृष्टि से है। इसी दृष्टि से इन्हें भी दो भागों में बाँट लिया गया है :—

१—वे जो दृश्य हैं।

२—वे जो श्रव्य हैं।

दृश्य में वास्तुकला, मूर्तिकला तथा चित्रकला आती हैं तथा श्रव्य में संगीतकला तथा काव्यकला आती हैं। (वैसे काव्य के भी दो भेद हैं, श्रव्य काव्य तथा दृश्य, किन्तु यहाँ उनसे प्रयोजन नहीं है।)

प्रश्न २—आप कलाओं में सर्वोत्कृष्ट स्थान किस कला को देते हैं और क्यों ? विस्तार से विवेचन कीजिए।

उत्तर २—जिस कला में भौतिक—स्थूल उपकरण जितने अधिक होते हैं वह कला उतनी ही निकृष्ट मानी जाती है। इसका कारण यह है कि हृदय की अनुभूति इन स्थूल उपकरणों द्वारा व्यक्त होने के कारण सदा एकरस नहीं रह सकती और जब अनुभूति एकरस नहीं रह सकती तो स्पष्ट है कि उसकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही कम प्रभावशाली तथा कम मार्मिक होगी। पहले कहा जा चुका है कि कला तो एक अखंड अभिव्यक्ति है। किसी भावमयी अनुभूति की आवेशमयी अभिव्यंजना का यह आवेश स्थूल उपकरणों की अपेक्षा में कम तीव्र तथा कम प्रभावशाली रह जाता है और जितने ही कम भौतिक या स्थूल उपकरणों की अपेक्षा होगी कलाकृति उतनी ही उत्कृष्ट तथा प्रभविष्णु होगी। अब इस कसौटी पर हम सम्पूर्ण कलाओं की उत्कृष्टता की परीक्षा करेंगे।

सर्वप्रथम उपयोगी कलाओं को ही लें। यदि ध्यान से देखा जाय तो उपयोगी कलाओं को कला कहना कठिन है। कारण, वे तो दैनिक उपयोग की वस्तु हैं, मनुष्य की सौन्दर्यवृत्ति से उनका सम्बन्ध अनिवार्य नहीं है। यदि है तो केवल इतना ही कि मनुष्य स्वभाव से ही सौंदर्यप्रिय है। अतः जो भी वस्तु उसके निकट सम्पर्क या उपयोग में आती है वह उसे सुन्दर भी देखना चाहता है। मेज़, स्टूल, चारपाई के पाए यदि सपाट हों, फिर भी वे उतना ही काम देंगे जितना काम किए हुए अर्थात् कलात्मक सज्जा से युक्त वस्तुयें। किन्तु मनुष्य के साथ सतत सान्निध्य होने के कारण उनमें कलात्मक परिवर्तन

तथा परिवर्धन अनिवार्य और स्वाभाविक हो गए हैं । फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि एक काष्ठप्रतिमा निर्माण करने के लिये कितने ही स्थूल उपकरणों की आवश्यकता होगी। हो सकता है, उचित उपकरणों का अभाव ऐसी कलाकृति की कुरूपता का कारण भी हो जाय । सारांश यह कि इतने विभिन्न प्रकार के स्थूल उपकरणों के संचय में इतना अधिक समय और मस्तिष्क लगेगा कि इतने समय मे एक तो हृदयस्थ अनुभूति ही बहुत कुछ मंद पड जायगी और कुछ खंड-खंड निर्माण करने के कारण उसका सौंदर्य इतना प्रभावशाली नहीं होगा। इस प्रकार उपयोगी कलायें तो निकृष्ट कोटि की कलायें मानी ही जायंगी क्योंकि ये अपने स्रष्टा कलाकार के भावों को दर्शक के हृदय में तद्वत् जाग्रत करने में पूर्ण सफल नहीं हो सकतीं।

ललित कलाओं मे भी कुछ कलायें तो ऐसी हैं जिनका आधार स्थूल उपकरण है। वे निश्चित रूप से सूक्ष्म उपकरण वाली कलाओं की तुलना में निकृष्ट ही कही जायगी। साधारण रूप से निम्नांकित बातें सभी ललित कलाओं के मूल में मिलेंगी :—

१—किसी न किसी प्रकार के आधार की आवश्यकता सब कलाओं में होती है।

२—नेत्र तथा कानों के द्वारा हम कलाकृति का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

३—ये उपकरण वे माध्यम है जिनके द्वारा स्रष्टा या कलाकार अपने भावों को व्यक्त करता है अथवा दूसरों के लिये बोधगम्य बनाता है और उनके हृदय में वे ही भाव जाग्रत करने में समर्थ होता है जिनकी प्रेरणा से स्वयं उसने अपनी कलाकृति को जन्म दिया है। अतः कला की उत्कृष्टता के निर्णय के लिये इन बातों का ज्ञान आवश्यक है :—

१—कला का मूर्त आधार क्या है?

२— वे माध्यम जिनके द्वारा कलाकार अपनी अभिव्यक्ति को मूर्तरूप देता है।

३—वह कलाकृति दर्शक या श्रोता के हृदय में क्या भाव जाग्रत करती है और कितने तीव्र रूप में। इसी आधार पर सर्वोत्कृष्ट कला के निर्णय का प्रयत्न किया जायगा।

वास्तुकला :—इसका आधार स्थूल उपकरण ही होते हैं। जैसे—ईंट, पत्थर, लकड़ी, चूना आदि। यद्यपि मन्दिर, मस्जिद, गिर्जाघर आदि स्पष्ट रूप से ही दर्शक के ऊपर एक मानसिक भाव की अभिव्यक्ति का प्रभाव डालने का प्रयत्न करते हैं किन्तु कुछ विशिष्ट व्यक्ति ही उनकी पारिभाषिकता तथा व्यक्त प्रभाव से अवगत हो पाते हैं, अधिकांश दर्शक तो पत्थरों के जड़ाव तथा ईंटों के चिनने की प्रशंसा ही करते हैं और इस बात तक नहीं पहुँच पाते कि इस भवन या प्रासाद का निर्माण किन मानसिक भावों की अभिव्यक्ति का प्रयास है। इस प्रकार स्पष्ट है कि विभिन्न प्रकार के स्थूल उपकरण तथा अनेकानेक मनुष्यों की सहायता से बना भवन या प्रासाद उसके मूल चिन्तक या कलाकार के हृदयस्थ भावों की तद्वत् अभिव्यक्ति नहीं करता। यों भवन या प्रासाद कलाकृति तो इसलिये है कि कलाकार अनगढ़ ईंटों और पत्थरों को ऐसा मूर्त रूप देता है कि नेत्रों के द्वारा दर्शक एक विशेष आनन्द की प्राप्ति करता है। उसके समग्ररूप को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि कितनी कुरूप वस्तुओं के समुच्चय से उसका निर्माण हुआ है। यों मानसिक आनन्द का अपेक्षाकृत अभाव तो इसमें है ही, इसीलिये यह निकृष्ट ललित कला समझी जाती है।

मूर्तिकला :—स्थूल उपकरण इसके भी आधार होते हैं। जैसे—पत्थर, धातु, मिट्टी या लकड़ी आदि के टुकड़े। इन्हीं को काट-छाँट कर तथा सुनियोजित कर मूर्तिकार उन्हें एक सुन्दर एवं भावमयी मूर्ति का रूप दे देता है। इसमें संदेह नहीं कि वास्तुकला की अपेक्षा मानसिक भावों की अभिव्यंजना मूर्ति द्वारा अधिक अच्छी तरह की जाती है। मूर्तिकार मूर्ति में मानसिक भावों को उचित रूप से व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। भारतीय मूर्तिकार मूर्तियों में मानसिक सौंदर्य का स्फुरण विश्व के अन्य देशीय मूर्तिकारों की अपेक्षा अधिक सफलतापूर्वक कर सके हैं। विश्व में मूर्तियों के लिये यूनान, भारतवर्ष के बाद सर्वाधिक प्रसिद्ध है और इसमें तो कोई संदेह नहीं कि शारीरिक गठन की उत्तमता के प्रदर्शन में विश्व के किसी भी देश की मूर्तियाँ यूनानी मूर्तियों की प्रतिद्वंद्विता नहीं कर सकतीं। किन्तु हैं वे एक सुन्दर शव के समान। शव स्वयं मृत होने से कोई सुन्दर भाव दर्शक के हृदय में जाग्रत नहीं कर सकता।

यूनानी मूर्तियाँ अपने अवयवों के गठन और सर्वत्र उनके उचित अनुपात के लिये प्रसिद्ध हैं किन्तु भारतीय मूर्तियों में उंगलियों को कमल की पत्तियों के सदृश दिखाया गया है और आँखों को अर्धोन्मीलित कमल कलिका के सदृश। वास्तव में कमल कोमलता का प्रतीक है। इसलिये उन मूर्तियों के वे प्रतीकवादी अवयव एक विचित्र प्रभाव दर्शक के ऊपर छोड़ते हैं, जो अधिक तीव्र, अधिक सशक्त, और जीवन के अधिक निकट होता है। बुद्ध की प्रस्तर प्रतिमायें आज भी उनकी मानसिक शान्ति की छाया का प्रकाश प्रस्तरावयवों द्वारा विकीर्ण कर रही है। भारतीय मूर्तियाँ मानसिक भावों के प्रत्यक्षीकरण का सुन्दरतम निदर्शन हैं। फिर भी जब मूर्तिकार पत्थर को एक मूर्ति का रूप देता है तो वह अधिक स्थूल उपकरणों की सहायता के बिना ऐसा नहीं कर सकता और कलाकार की अनुभूति की अखण्ड अभिव्यक्ति इसमें नहीं हो पाती। ये भौतिक उपकरण उसकी अनुभूति की तीव्रता कुछ न कुछ कम कर ही देते हैं। इस प्रकार मूर्तिकला भी उतनी उत्कृष्ट कला नहीं जितनी कम स्थूल उपकरण वाली कलायें हैं।

चित्रकला :—इसका आधार है—वस्त्र, कागज़, चित्रपट आदि तथा कुछ रंग, ब्रुश और कूची आदि। इसके द्वारा चित्रकार अपने हृदय की अनुभूति को कागज़, वस्त्र या चित्रपट पर चित्ररूप में अंकित करता है। चूँकि कागज़, वस्त्र या चित्रपट में गहराई या मोटाई तथा ऊंचाई नहीं होती अतः चित्रकार को ये सब बातें कलम या ब्रुश से प्रकट करनी पड़ती हैं। यह तो निश्चित है कि इतने भौतिक या स्थूल उपकरणों के अभाव में चित्रकार अपनी अनुभूति को मूर्तरूप नहीं दे सकता अतः वह इन उपरोक्त वस्तुओं का मुखापेक्षी है। फिर भी वास्तुकला तथा मूर्तिकला से चित्रकला में मानसिक सौंदर्य की अभिव्यक्ति का अधिक अवकाश और अवसर है। चित्रकार अपने हृदयस्थ भावों को चित्र में इस प्रकार उतार देता है कि दर्शक भी उसी भाव से अभिभूत हो जाता है। जैसे, यदि एक वात्सल्य का चित्र हो या युद्ध का तो यह चित्रकार की सफलता पर ही निर्भर कि वह इसमें भावों की तीव्रता कितनी भर सकता है। इसमें तो संदेह नहीं कि किसी एक क्षण की दशा का जितना मार्मिक रूप चित्र में दिया जा सकता है उतना किसी कला में नहीं। वह क्षणिक भाव चित्र

में केन्द्रित-प्रभाव के रूप में व्यक्त होता है। किन्तु फिर भी चित्र में सजीवता इसलिए कम है कि जिस क्षण को भी चित्रकार ने मूर्तरूप दिया है वह हमेशा वैसा ही रहेगा उसमें परिवर्तन या गति सम्भव नहीं है। दर्शक के हृदय में एक भाव जागृत होगा और समाप्त हो जायगा, चित्रकला उस प्रभाव को निरन्तर-अबाध गतिशील नहीं बना सकती। फिर भी चित्रकला में पर्याप्त मानसिकता रहती है।

संगीत कला :—इसका आधार है नाद। नाद के द्वारा ही संगीतज्ञ अपनी अनुभूति को अभिव्यंजित करता है। संगीत और काव्य इतने अधिक सम्बद्ध हैं कि उनमें अन्तर बहुत ही सूक्ष्म है। संस्कृत साहित्य में संगीत और काव्य को सरस्वतीदेवी के दो कुचों के समान माना गया है। इस रूपक से भी दोनों का नैकट्य स्पष्ट हो जाता है।

नाद या तो गले से प्रकट किया जाता है या वाद्य यन्त्रों द्वारा। सप्त स्वर इस कला की कुंजी या आधार, जो कुछ कहें कह सकते हैं। नाद को प्रकट करने में किसी भौतिक उपकरण की अपेक्षा अनिवार्य नहीं है। गायक केवल अपने कंठस्वर से श्रोताओं को मंत्र-मुग्ध कर सकता है, हँसा सकता है; रुला सकता है, उत्तेजित कर सकता है। अतः विद्वानों में भी इस विषय में मतभेद है। कोई संगीत कला को सर्वश्रेष्ठ स्थान देता है और कोई काव्य कला को। पंत की निम्नांकित पंक्तियों से भी स्पष्ट हो जाता है कि संगीत और कविता प्रगाढ़ आलिङ्गन में आबद्ध हैं, उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। वे तो एक ही अनुभूति की द्विविध अभिव्यक्ति है।

"वियोगी होगा पहला कवि विरह से उपजा होगा गान।
निकल कर नयनों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान॥"

संगीत-कला मानसिकता में काव्यकला के अतिरिक्त सबसे बढ़ कर है। जंगली जातियों तथा जंतुओं पर भी संगीत का प्रभाव प्रसिद्ध ही है। संगीत हमारे अन्तःकरण को प्रभावित करता है और इस विषय में यह अपना प्रतिद्वंद्वी नहीं रखता। किन्तु फिर भी संगीत में गति की इतनी विविधता नहीं होती जितनी काव्य में। काव्य की तुलना में तो संगीत का आधार नाद भी कुछ स्थूल ही माना जायगा।

काव्य-कला :—मनुष्य अपने भावों को भाषा के माध्यम से दूसरे व्यक्ति पर प्रकट करता है। प्रत्येक शब्द किसी न किसी भाव का प्रतीक है, अतः वास्तव में प्रत्येक शब्द कुछ भावों का दार्शनिक प्रतीक है। अतः भाव को ही कवि भाषा में अभिव्यक्त करता है और शब्द ही इस प्रकार काव्य कला के आधार हैं।

काव्य कला की उत्कृष्टता की तुलना केवल संगीत से है क्योंकि ललित कलाओं में ये ही दो गतिशील कलायें हैं। संगीत लय और काव्य ध्वनि तथा शब्द का सहारा लेकर चलता है। संगीत किसी वस्तु का वर्णन नहीं कर सकता, अतः उसके द्वारा उपस्थित मानसिक चित्रों में विविधता अपेक्षाकृत कम होती है। काव्य के द्वारा तो कितनी ही बातों का वर्णन एक साथ किया जा सकता है। कभी-कभी तो एक एक शब्द एक-एक चित्र बनाता है। जैसे :—

संध्या का झुटपुट बाँसों का झुरमुट,
चिड़ियाँ करतीं टी वी टी टुट् टुट् ॥

एक-एक शब्द एक-एक चित्र सामने रखता है और सब शब्द मिलकर एक विचित्र वातावरण की अभिव्यक्ति करते हैं जो अनिर्वचनीय तथा वर्णनातीत है। संगीत घटनाओं का वर्णन नहीं कर सकता लेकिन काव्य के द्वारा पाठक तलवारों की झनझनाहट, पैदलों की पदचाप तथा घोड़ों और हाथियों की भगदड़ का जैसे स्पष्ट आभास पा सकता है। संगीत कला एक क्षण को स्थिर कर देती है, काव्यकला अगणित क्षणों को अपने पाश में बाँधती चलती है। संसार की प्रत्येक बात का वर्णन काव्य के द्वारा किया जा सकता है। काव्य में संगीत भी है, चित्र भी है, मूर्ति भी हो सकती है और भवन भी; किन्तु चित्र-कला, वास्तु कला, मूर्ति कला तथा संगीत भी—ये केवल सीमित तथ्यों की अभिव्यक्ति ही कर सकते हैं। और मानव जीवन पर प्रभाव का जहाँ तक सम्बन्ध है वहाँ तक तो वह अद्वितीय है ही। जन जीवन पर जितना प्रभाव काव्य का पड़ता है या पड़ सकता है उतना और किसी कला का नहीं। काव्य की एक पंक्ति 'कत्लेआम' बंद करा सकती है। मिर्जा राजा शाह को अकर्मण्य से क्रियाशील बना सकती है, रणोन्मत्त योद्धाओं को उनकी अंतिम रक्तबून्द रहने तक युद्धरत रख सकती है। जो काव्य क्रान्ति करा सकता है, जो शान्ति करा सकता है,

जो विध्वंस उपस्थित कर सकता है, जो निर्माण का संदेश दे सकता है, उसकी तुलना में विश्व की कोई कला कैसे खड़ी हो सकती है !

काव्य मानव जीवन के सम्पूर्ण भावों की अभिव्यक्ति जितनी मार्मिकता तथा सरलता से कर सकता है उतनी कोई दूसरी कला नहीं।

तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिस कला में स्थूल उपकरण जितने कम अपेक्षित होंगे वह कला उतनी ही उत्कृष्ट होगी । काव्य में स्थूल उपकरणों की बिलकुल अनुपस्थिति उसे सर्वोत्कृष्ट कला का पद प्रदान करती है।

अतः निश्चित रूप से काव्य कला ही सर्वोत्कृष्ट कला है।

प्रश्न ३—"कला कला के लिये है", "कला लोकहित के लिये है", इन कथनों की स्पष्ट व्याख्या कीजिये तथा वास्तविक काव्य स्वरूप मे सामजस्य स्थापन का प्रयत्न कीजिये।

उत्तर ३—"सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य में भले-बुरे का ज्ञान दृढ़ हुआ और इस प्रकार आचार मनुष्य प्रकृति का एक अभिन्न अंग बन गया।" सम्पूर्ण कला और साहित्य में मनुष्य के आचार की छाप पड़ी हुई है। मनुष्य की विवेक बुद्धि उसकी इच्छाओं को संयमित रखती है तथा भावनाओं का परिष्कार करती है। अतः कला में सद्वृत्तियों का होना स्वाभाविक ही है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज मे सुविधा तथा स्वतंत्रता की दृष्टि से कुछ बंधन एवं मर्यादा अपेक्षित हैं। मनुष्य उत्तरोत्तर सभ्य होता जा रहा है। अतः उसके द्वारा निर्मित वस्तुओं में सदाचार की छाप अस्वाभाविक नहीं है। फिर कवि तो एक असाधारण प्राणी है—अधिक भावुक, अधिक संस्कृत। इस लिए उसकी कृतियों में तो लोकहित की भावना सहज ही होती है। कवि जो कुछ लिखेगा वह समाज से सम्बद्ध होने के लिये बाध्य है और चूंकि वह एक असाधारण प्राणी है अतः उसकी कृति सामान्य से अधिक लोकहितपरक भी होगी ही।

भारतवर्ष में 'कला कला के लिए' का नारा योरुप से आया। इसलिये योरुप में उसके विकास पर एक दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा।

यूनान के आदि आचार्य, दार्शनिक तथा आलोचक अरस्तू का कहना

था कि कला जीवन की प्रतिकृति है। अर्थात् कला और जीवन दो वस्तुएं नहीं हैं, उसका तो जीवन से नित्य और घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों को अलग ही नहीं किया जा सकता।

अरस्तू के शिष्य प्लेटो ने उपरोक्त कथन में कुछ परिवर्तन किया और कहा कि 'कला जीवन की अनुकृति है'। उसका कहना था कि जीवन की प्रतिकृति तो सम्भव ही नहीं है।

कलाकृतियों में तो जीवन का मात्र अनुकरण किया जा सकता है। अनुकरण में ध्वनि यह रहती है कि कृति में जीवन का आभास भर होना चाहिये। बिल्कुल जीवन तो वह हो नहीं सकती। अरस्तू का विचार था कि हम जिस वस्तु को जिस रूप मे देखते हैं ठीक उसी रूप में उसे रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

वास्तव में यही दोनों आचार्य 'कला जीवन के लिये' तथा 'कला कला के लिये' के सिद्धांतों के मूल उद्गम है।

योरुप मे फ्रांस वादों की जन्मभूमि माना जाता है। 'कला कला के लिये' के सिद्धांत का जन्म यूनान में हुआ और पालन-पोषण फ्रांस में। यहीं उसका व्यापक प्रचार और प्रसार हुआ और होलर नामक महाशय इस सिद्धांत बीज को फ्रांस से इंगलैंड ले गये जहाँ वह अंकुरित तथा पल्लवित हुआ। इगलैंड में स्पष्ट रूप से दो दल हो गए। एक 'कला कला के लिये' के सिद्धांत का प्रचार करता था और दूसरा दल इसका खण्डन कर 'कला जीवन के लिये' के सिद्धांत की मान्यता प्रतिष्ठित करने के लिये कृतप्रयत्न था।

'कला जीवन के लिये' जिनका सिद्धांत था उनमें रस्किन, मैथ्यू आर्नल्ड, आई० ए० रिचार्डस तथा अम्बर क्रावी थे। वे इस पक्ष के 'अतिवादी' (Extremist) समर्थक थे।

'कला जीवन के लिये' सिद्धांत के अतिवादी (Extremist) समर्थक थे वाल्टर पेटर आस्कर वाइल्ड, ब्रेडले, प्रो० क्लिर कोच।

कुछ ऐसे भी विद्वान् थे जो मध्यम मार्ग के समर्थक थे अथवा सामंजस्यवादी या समन्वयवादी थे। इनमें क्लिर कोच आदि का नाम आता है।

लेकिन योरप में कुछ ऐसी विचारधाराएं साहित्य से अलग भी चल रही थीं जो कि 'कला कला के लिये' सिद्धांत की पोषक थीं। संक्षेप में उनका परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि साहित्य या कला का क्षेत्र भी इनसे प्रभावित होता रहता है।

प्रथम मत फ्रायड का स्वप्न सिद्धांत—फ्रायड का विश्वास है कि मानव विषम परिस्थितियों के कारण जो वस्तु इस जगत् में प्राप्त नहीं कर पाता उनको वह स्वप्न में प्राप्त कर पाता है। वह मनोविज्ञान का गंभीर विश्लेषण कर इस निष्कर्ष पर पहुँचने का दावा करता है कि मनुष्य अपनी अवरुद्ध वासनाओं की पूर्ति कल्पना द्वारा स्वप्न में करता है। और चूंकि साहित्य सृजन का मूल कल्पना ही है इसलिये अवरुद्ध या अपूर्ण वासनाओं की अधिक मात्रा में अभिव्यक्ति अत्यन्त स्वाभाविक है। वह साहित्य में शृंगार प्राचुर्य का यही कारण बताता है। इस सम्प्रदाय के विद्वानों ने शेक्सपियर तथा शेली के काव्य एवं माइकेल एंजिल की कलासृष्टि में इन्हीं तत्वों को ढूंढने का प्रयत्न किया है। उनका कथन है कि अतृप्त कामनाओं की पूर्ति में कठिनता या बाधा देखकर मानव मन उन्हें अपनी विभिन्न कलाकृतियों में व्यक्त करता है। लेकिन सच बात यह है कि इस सिद्धांत में कुछ सत्यांश हो सकता है, पूर्ण सत्य तो नहीं हो सकता। क्योंकि यदि कोई कलाकार एक भक्त की मूर्ति गढ़ता है तो यह आवश्यक नहीं कि वह अपने व्यक्तिगत जीवन में सदाचारी ही होगा या यदि कोई कलाकार किसी रमणी का चित्र बनाए तो वह विलासी होने के लिये बाध्य हो। पहले कहा जा चुका है कि कलाकार कोई साधारण प्राणी नहीं होता, उसकी कलाकृति मे हर स्थान पर उसके व्यक्तित्व को ढूंढना न्यायसंगत नहीं है। शेक्सपियर के काव्य में इतनी स्वाभाविकता तथा मार्मिकता है कि यह पता लगाना कठिन है कि शेक्सपियर कहाँ बोलता है। फिर उसके किसी पात्र को बरबस उसका—उसके व्यक्तिगत जीवन का प्रतिनिधि बताना बुद्धिसंगत नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार के एकांगी दृष्टिकोण कला के क्षेत्र म भ्रम उत्पन्न करते हैं। कला को जीवन से अलग करके देखने से आचार का कोई महत्व ही नहीं रह जाता। यदि विचार-पूर्वक देखें तो पता लगता है कि "संसार की अब तक की श्रेष्ठ कलाकृतियाँ

अधिकांश में विवेकवान और आचारनिष्ठ पुरुषों द्वारा प्रस्तुत की गई हैं।"

दूसरा मत यथार्थवादः—योरुप के कुछ विद्वान् यथार्थवाद के नाम पर कुछ ऐसी ही भ्रमपूर्ण बातें करते हैं। वे अपने वैज्ञानिक ज्ञान के अहंकार में घोषणा करते हैं कि मनुष्य का शरीर संघटन ही कुछ इस प्रकार का है कि आहार निद्रा भय मैथुन उसकी मूलवृत्तियाँ तो दृढ़भूत हैं किन्तु मनुष्य की शेष उदात्त वृत्तियाँ-सदाचार सम्बन्धी वृत्तियाँ-सभ्यताप्रसूत हैं, अतः वे दृढ़मूल नहीं हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि मनुष्य को प्राकृतिक भावनाएं ही उसकी कृतियों में स्फुरित हों। भारतीय मनीषियों ने स्पष्ट कहा है कि आहार निद्रा भय मैथुनादि में तो पशु और मनुष्य समान हैं, केवल विवेक ही वह वस्तु है जो मनुष्य को पशुओं से पृथक करती है। विवेक सदाचार का जनक है और मनुष्य विवेकशील प्राणी है, अतः सदाचार की छाप यदि उसकी भी कृतियों में न होगी तो सृष्टि के किस प्राणी से सदाचार की आशा की जाय? कलाओं का सृजन मूर्खों का अनर्गलप्रलाप नहीं है, वह मद्यप की सृष्टि नहीं है, वह एक असाधारण व्यक्ति की कृति है। अतः सदाचार से उसका सम्बन्ध स्वाभाविक है। यदि यह भी मान लिया जाय कि मनुष्य की उदात्त वृत्तियाँ सभ्यताप्रसूत हैं, दृढ़मूल नहीं, तो भी क्या सभ्यता का कोई महत्व नहीं? क्या वह इतनी दुर्बल वस्तु है? पाशव वृत्तियों में निरन्तर संघर्ष का परिणाम ही तो सभ्यता है जो सदाचार की जननी है, फिर वह नगण्य क्यों समझी जाय? फिर तो एक सभ्य और जंगली जाति की अभिव्यक्ति या कलाकृतियों में कोई अन्तर ही न रह जायगा। विश्व के सम्पूर्ण सभ्यता केन्द्र पशुचारण युग के व्यक्तियों से कुछ भी विशिष्ट न रह जायंगे। किन्तु ऐसा नहीं है। यह आवश्यक नहीं कि पाशव वृत्तियाँ मूल में होने के कारण मनुष्य की कलाकृतियाँ पाशव भाव प्रधान हों। पंक से पंकज की सृष्टि होती है और पंकज पर पंक के कुछ भी संस्कार नहीं होते, उसी प्रकार पाशव वृत्तियों के मूल में रहते हुए भी विवेक या पुण्य उससे सर्वथा और सर्वदा अछूता रहा हो, इसलिये यह कहना अयुक्तियुक्त है कि उदात्त भावनायें कलाकृतियों में व्यक्त हों यह आवश्यक नहीं। मनुष्य हृदय में अनुभव करता है और मस्तिष्क से मनन करता है।

अतः हृदय और मस्तिष्क के संयोग से प्रसूत कलाकृति जीवन से दूर कैसे रह सकती है और जीवन से पृथक उसका मूल्य भी क्या होगा ?

तीसरा मत क्रोचे का अभिव्यंजनावाद—क्रोचे का कथन है Expression is art और वह स्पष्टतया वस्तु (matter) को कोई महत्व न देकर केवल अभिव्यक्ति (expression) को ही महत्व देता है। हमारे भारतीय अभिव्यंजनावाद से यह बहुत कुछ मिलता जुलता है। अन्तर इतना ही है कि अभिव्यंजनावाद में वस्तु (matter) की इतनी अधिक अपेक्षा नहीं की गई है। साहित्य के दो पक्ष माने जाते हैं—१. भाव पक्ष, २. कला पक्ष। पहले का सम्बन्ध वस्तु से है, भाव या अनुभूति से है। और दूसरे का सम्बन्ध उस अनुभूति को प्रकट करने की प्रणाली विशेष से है। किन्तु यदि अनुभूति ही नहीं होगी तो फिर अभिव्यक्ति किसकी की जायगी। अनुभूति का सम्बन्ध जीवन से है और Expression for Expression sake, अभिव्यक्ति अभिव्यक्ति के लिये का तो कोई स्पष्ट अर्थ ही नहीं है। यह तो माना जा सकता है कि यदि किसी भाव को चमत्कारपूर्ण शैली में व्यक्त किया जाय तो वह उच्च कलात्मक वस्तु होगी। अभिव्यक्ति तो वस्त्र या परिच्छद के सदृश है जो किसी शरीर पर ही शोभा पाते हैं, स्वयं तो उनका न कोई महत्व है और न अस्तित्व। किन्तु Expression is art बहुत कुछ ऐसा ही वह है जो शरीर की अनुपस्थिति में भी वस्त्रों के अस्तित्व तथा शोभा में विश्वास रखता है। यह अधिक काल्पनिक है, सत्य कम। यह जीवन से दूर की बात है।

यही योरुप के कुछ वाद हैं जो 'कला कला के लिये' के सिद्धान्त का पोषण करते हैं। वास्तव में यह एकांगी तथा अपूर्ण दृष्टिकोण है। एक पक्ष की सर्वथा उपेक्षा इस वाद का खोखलापन प्रमाणित करती है।

भारतवर्ष में इस वाद का मूल आधार महात्मा तुलसीदास जी का निम्नांकित वाक्य रहा है:—"स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषा-निबन्धमतिमंजुलमातनोति"। कविता का अपने सुख से भिन्न और कोई प्रयोजन नहीं। उपरोक्त वाक्य का यही अर्थ विशुद्ध कलावादियों ने लिया और तुलसी ही द्वारा लिखी अन्य पंक्तियों की उन्होंने उपेक्षा कर दी जिन से स्पष्ट हो जाता है कि कविता होती कवि के हृदय से उत्पन्न अवश्य है परन्तु

उसकी शोभा अन्यत्र ही होती है, अर्थात् कलाकार कलासृष्टि करता है, उसका स्वाद लेते हैं अन्य लोग। यहाँ तुलसीदास जी स्पष्ट रूप से कला का जीवन में महत्व प्रतिपादित करते हैं।

भारतीय मनीषियों का दर्शन कभी एकांगी नहीं रहा, सब पक्षों को लेकर चलने की उनकी प्रवृत्ति रही है।

भारतीय विद्वानों ने इसके साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि यद्यपि कला जीवन से सम्बद्ध है फिर भी वह प्रचार का प्लेटफार्म नहीं है। उपदेश देने का स्थान साहित्य नहीं धर्म है। इस में सन्देह नहीं कि किसी भी सिद्धान्त, किसी भी मान्यता को साहित्य या कला का रूप दिया जा सकता है। किन्तु उसकी अभिव्यक्ति कलात्मक होनी चाहिए। एंगिल्स ने कहा था कि हम जो कुछ साहित्य में कहें वह आकर्षक रूप में कहें, उसमें से यह अभिव्यंजित न हो कि यह प्रचार के लिये है, क्योंकि राजनीति, धर्मशास्त्र तथा साहित्य में अन्तर है। भाव तो सारे विश्व में एक ही होते हैं, इसलिये विश्व की कला-कृतियों की उत्कृष्टता के निर्णय में देश, जाति और काल बाधा न बने, कला के नियम अपने अलग हैं। कलाकृति की परीक्षा धर्मशास्त्र और राजनीति के मापदण्ड से नहीं होगी, उसके अपने नियम हैं। यहां तक तो कला कला के लिए ठीक भी है। किन्तु इसके समर्थक इसे अति (Extreme) तक ले जाते हैं और वहीं यह दर्शन एकांगी हो जाता है। बंकिमचन्द्र का कथन है "कवि संसार के शिक्षक हैं किन्तु नीति की व्याख्या करके शिक्षा नहीं देते। वे सौंदर्य की चरम सृष्टि करके संसार की चित्त शुद्धि करते हैं। यही सौन्दर्य की चरमोत्कर्षसाधक सृष्टि काव्य का मुख्य उद्देश्य है। पहला गौण और दूसरा मुख्य है।" इसमें तो सन्देह ही नहीं कि सुधारक और कवि या कलाकार दो व्यक्ति होते हैं। कवि सुधार की बात भी सौन्दर्य के आवरण में कहेगा—आकर्षक रूप में कहेगा। सत्य हरिश्चन्द्र नाटक का उद्देश्य है 'सत्य बोलना चाहिए,' किन्तु कहीं भी तो लेखक ने ऐसा नहीं कहा। फिर भी उसका परिणाम यही निकलता है और दर्शक, पाठक तथा श्रोताओं पर भी उस नाटक का प्रभाव 'सत्य बोलो' इस वाक्य से असंख्य गुना अधिक पड़ता है।

उपदेश तीन प्रकार का होता है :—

१. गुरुसम्मित । २. मित्रसम्मित । ३ कान्तासम्मित । साहित्य या कलायें कान्ता-सम्मित उपदेश के अन्तर्गत ही आती हैं । यहाँ उद्देश्य उपदेश या सत्य व्यंग होकर आता है, वह व्यक्त या वर्णित नहीं होता ।

प्रेमचन्द जी ने कहा है :—

"साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और सुन्दर बनाता है । दूसरे शब्दों में उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है । यही उसका मुख्य उद्देश्य है ।"

उपदेश देना तो साहित्य का उद्देश्य अवश्य नहीं है,किन्तु अच्छे-बुरे के प्रति सचेत कर देना तो उसका उद्देश्य या आदर्श अवश्य है—

Poetry is not concerned with telling people what is to do but with extending our knowledge of good and evil. (Auden)

साहित्य हमारे मन का संस्कार करता है । वह मनुष्य की पाशव वृत्तियों को बराबर समाप्त करने का प्रयत्न करता है । साहित्य हमें साधारण से ऊंची भावभूमि पर ले जाता है जहाँ हम इस संघर्ष पूर्ण ससार की प्रवंचना से कुछ क्षण को विराम प्राप्त करते हैं । यह कहना तो बुद्धिमत्ता नहीं है कि कला उद्देश्यहीन होनी चाहिए । कला ही मनुष्यों के विचारों को सस्कृत कर उन्हे सभ्य बनाती है और सभ्य जन ही संस्कृत और परिष्कृत कला का आदर्श सामने रख सकते हैं । पाशव वृत्तियों से ऊपर उठना हमारा कर्तव्य है, कला का भी वही संदेश होना चाहिए । महाकवि पंत कहते हैं :—

हा मानव !

देह तुम्हारे ही है रे शव
तन की चिन्ता में घुल निशदिन
देह मात्र रह गए दबा-तिन
प्राणि प्रवर, होगए निछावर, अचिर धूलि पर !!
निद्रा भयमैथुनाहार
—ये पशु-लिप्सायें चार

हुईं तुम्हें सर्वस्व सार, धिक मैथुन आहार यंत्र !

× × ×

मानव को आदर्श चाहिए।

संस्कृति आत्मोत्कर्ष चाहिए॥

और इसका उत्तरदायित्व कलाकार पर है कि वह किस प्रकार जन-जीवन को संस्कृत करे। उसके उपदेश को जन-मन अमृत की भाँति पान करे, कड़वी औषधि की भाँति नहीं।

इस प्रकार यह बिलकुल स्पष्ट है कि कला जीवन से भिन्न कोई अस्तित्व नहीं रखती और कला का आदर्श एवं उद्देश्य भी कुछ होता है।

लेकिन वास्तव में यदि ध्यान से देखा जाय तो ये दोनों अतिवादी (Extremist) सम्प्रदाय दोषयुक्त हैं। 'कला कला के लिये' सिद्धान्त के समर्थक कला से जीवन का सम्बन्ध जोड़ना ही अनुचित समझते हैं और उसे नितान्त अलौकिक मानते हैं। 'कला जीवन के लिये' के कट्टर समर्थक दूसरी ओर कला में मात्र जीवन का प्रचार करना चाहते हैं। जो सामयिक समस्यायें हैं सामयिक परिस्थितियां हैं, हमारी कला उनसे ही निर्देशित होनी चाहिए। ऐसे लोग भी कला में शुष्कता का आनयन करते हैं। यह तो ठीक है कि हमारी भावनाओं को जहाँ कला मूर्तरूप देती है वहाँ यदि वह हमारी समस्याओं को भी मुखरित करे तो कोई अशुभ बात नहीं है। ध्यानपूर्वक सोचने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि केवल प्रचार के लिये लिखा गया साहित्य क्षणिक होता है। परिस्थिति विशेष क बदलते ही वह गतिहीन तथा प्रभावहीन हो जाता है। किन्तु मानव की सहज भावनाओं तथा प्रवृत्तियों पर आधारित साहित्य शाश्वत होता है, क्योंकि इस प्रकार की शाश्वत भावनायें जहाँ मूर्तरूप धारण कर लेती हैं वहाँ कला सार्वकालिक बन जाती है। आनन्द, क्रोध, घृणा, प्रेम आदि की अभिव्यक्ति कला में जब सफलतापूर्वक होती है तो वह समय, देश और जाति के बंधन में न बंधकर सार्वदेशीय तथा सार्वकालिक हो जाती है और उसके स्रष्टा कलाकार भी अमर हो जाते हैं। ऐसे ही कलाकारों के विषय में किसी ने ठीक ही लिखा है :—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम् ॥

यद्यपि आज इतने युग बीत गए हैं किन्तु फिर भी वाल्मीकि, कालिदास और तुलसी तथा सूर क्यों अमर हैं ? केवल इसलिये कि उनका साहित्य प्रचार-साहित्य नहीं है, शाश्वत साहित्य है । तो क्या जीवन से उनके साहित्य का कोई सम्बन्ध नहीं ? पहले कहा जा चुका है कि कवि एक सामाजिक प्राणी होता है, वह असाधारण रूप से योग्य तथा भावुक होता है। फिर वह जो कुछ लिखेगा वह जीवन से दूर की वस्तु हो ही नहीं सकती । वह तो शिव होने के लिये बाध्य है । मानव जीवन के सत्यों को जो कलाकार सुन्दर के आवरण में व्यक्त करते हैं वह शिव होने के लिये भी बाध्य है । सारांश यह कि एक महान् कलाकार की कृति तो सत्यं शिवं सुन्दरं का सुन्दरतम निदर्शन होती ही है । क्या प्रसाद की कामायनी कभी पुरानी होगी ? कदापि नहीं । जिन सूक्ष्म मानवीय भावनाओं को प्रसाद ने कामायनी में मूर्त रूप दिया है वे जहाँ स्वयं शाश्वत हैं वहाँ उनकी अभिव्यक्ति का वह माध्यम—साहित्य भी शाश्वत है ।

कलाकार लोकहित की भावना जान-बूझकर अपनी रचनाओं में नहीं लाता, वह तो स्वयमेव आ जाती है ।

वास्तव में मध्यम मार्ग या सामञ्जस्यवादी मार्ग ही श्रेयस्कर है । न तो कला कला के लिए ही है और न केवल जीवन के लिए ही । सुन्दरं और शिव तो सहज ही कला में चिर आलिङ्गनबद्ध हैं । फिर ये नारे व्यर्थ के हैं जो भ्रम उत्पन्न करते हैं ।

'कला कला के लिये' वाद के जो प्रेमी तुलसी के "स्वांतः सुखाय रघुनाथगाथा" में अपने भ्रम का पोषण पाने के भ्रम में है उन्हें उस महात्मा की कुछ और पंक्तियों पर भी दृक्पात करना चाहिए ।

मणि माणिक मुक्ता छवि जैसी ।
अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी ॥
नृप किरीट तरुणी तन पाई ।
लहहिं सकल सोभा अधिकाई ॥

तैसेइ सुकवि कवित बुध कहई।
उपजहि अनत अनत सुख लहई॥

काव्य उत्पन्न कहीं होता है और उसका आनंद कोई और लोग अर्थात् पाठक ही लेते हैं। सारांश यह कि कलाकृतियाँ स्वयं में कुछ अस्तित्व नहीं रखतीं, यदि उसका आनंद लेने वाले न हों। महात्मा तुलसीदासजी इस बात को और भी स्पष्ट कर देते हैं जब वे कहते हैं :—

"—कीरति भणिति भूति भल सोई।
सुरसरि सम सब कर हित होई॥"

काव्य में अथवा कला में शिवत्व की भावना तो फल में रस की भाँति स्वाभाविक रूप से सर्वदा रहती ही है। कला मनुष्य के मानसिक स्तर को ऊँचा उठाती है, उसमें देवत्व के गुणों की प्रतिष्ठा करती है। अतः वास्तव में कला, जीवन की सुन्दरम् में अभिव्यक्ति ही है।

प्रश्न ४—साहित्य तथा काव्य में आप क्या भेद समझते हैं? काव्य के लक्षण लिखिये तथा विस्तार सहित उसकी विवेचना कीजिये।

उत्तर ४—आज साहित्य शब्द कितने ही अर्थों मे व्यवहृत होता है। अंग्रेज़ी में लिट्रेचर (Literature) शब्द का जो अर्थ है हिन्दी मे वही अर्थ आज साहित्य देने लगा है। प्रचार के लिए छपने वाली सामग्री आज प्रचार साहित्य कही जाती है और सिनेमा सम्बन्धी लिट्रेचर भी सिनेमा साहित्य कहलाता है और इसी प्रकार अंग्रेज़ी के moment literature तथा day literature की भाँति हिंदी में भी क्षणिक साहित्य तथा स्थायी साहित्य आदि नाम रख लिये गये हैं।

परन्तु वास्तव में साहित्य का यह अर्थ नहीं है। साहित्य—वह साहित्य जो विज्ञान नहीं, धर्मशास्त्र नहीं, राजनीति नहीं, आयुर्वेद नहीं—क्या है? यह विचारणीय है। संस्कृत भाषा में साहित्य का अर्थ लिया जाता है जो हित सहित हो। यों साहित्य का और भी अनेक अर्थों में प्रयोग किया गया है जो द्रष्टव्य है।

गुप्तजी साहित्य शब्द का प्रयोग यहाँ साथ के अर्थ मे करते हैं :—"तदपि निश्चिन्त रहो तुम नित्य यहाँ साहित्य नहीं साहित्य"। गुप्तजी

दूसरे एक स्थान पर कौशल के अर्थ में साहित्य शब्द का प्रयोग करते हैं :—

"नयी नयी नायक सज्जायें सूत्रधार करते हैं नित्य ।
और ऐन्द्रजालिक भी अपना भरते हैं नूतन साहित्य ।"

भामह संस्कृत भाषा के प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने शब्द और अर्थ के सहित की बात कह कर उसे काव्य की संज्ञा दी है। बाद में तो रुद्रट तथा मम्मट ने भी इस विषय में उनका अनुकरण किया है। भामह का वह वाक्य है "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् ।"

राजशेखर के द्वारा नवीं शताब्दी में इस शब्द का प्रयोग मिलता है "शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या" अर्थात् वह विद्या जहाँ शब्द और अर्थ का यथायोग्य सहयोग रहता है साहित्य-विद्या है।

भर्तृहरि ने भी स्पष्ट ही कहा है :—

"साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ।"

(जो व्यक्ति संगीत, साहित्य तथा कला विहीन है वह पशु के ही सदृश है, केवल उसके पूँछ और सींग नहीं होते ।)

साहित्य के द्वारा ही शेष सृष्टि के साथ हम रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ होते हैं। इस विषय में कवीन्द्र रवीन्द्र के ये शब्द द्रष्टव्य हैं :—

"साहित्य शब्द से साहित्य में मिलने का एक भाव देखा जाता है। वह केवल भाव-भाव का, भाषा-भाषा का, ग्रंथ-ग्रंथ का ही मिलन नहीं है, किन्तु मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यंत अंतरंग मिलन साहित्य के अतिरिक्त अन्य किसी से सम्भव नहीं ।"

आज तो साहित्य शब्द वाङ्मय का पर्याय-सा होता जा रहा है। यद्यपि जहाँ यह काव्य के अर्थ में आता है वहाँ केवल 'साहित्य' आता है, नहीं तो कुछ विशेषणों के साथ आता है। उदाहरणार्थ अंग्रेज़ी साहित्य, वैदिक साहित्य, लौकिक साहित्य आदि।

रामचन्द्र शुक्ल ने अपने साहित्य नामक लेख में बिल्कुल ही स्पष्ट कर दिया है कि वे साहित्य से क्या समझते हैं। उनसे पूर्व महावीरप्रसाद द्विवेदी ने लिखा था "विचारों के संचित कोष का नाम ही साहित्य है।" फिर भूगोल क्या है ? दर्शन क्या है ? विचार तो सब में है। इस को अधिक स्पष्ट कर

रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था कि वे साहित्य के अन्तर्गत केवल निम्नलिखित विषयों को ही लेंगे—गद्य, पद्य, नाटक, उपन्यास, चम्पू तथा साहित्य सम्बन्धी आलोचनायें। शेष चाहे जहाँ जाए, उन्हें वह साहित्य नाम से स्वीकार नहीं था। अन्य विषयों से उसका भेद स्पष्ट करते हुए उन्होंने उसकी दो कसौटी रखी थीं जिन पर परीक्षा करने से निर्णय किया जा सकता है कि परीक्षित वस्तु साहित्य है या नहीं।

१—जो सुप्त भावों को जागृत कर सके।

२—या जिसमें चमत्कारपूर्ण अनुरंजन हो।

उपरोक्त दोनों बातें साहित्य की परिभाषा निश्चित कर देती हैं। या तो जिसमें भावों की प्रेषणीयता हो या भाषा का कलात्मक चमत्कार हो। साहित्य के अतिरिक्त किसी भी दूसरे विषय में ये बातें आवश्यक नहीं हैं।

अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक डी क्वेन्सी ने भी दूसरे शब्दों में इसी बात को स्पष्ट किया है। वह साहित्य दो प्रकार का मानता है।

1. Literature of power (शक्ति का साहित्य)
2. Literature of knowledge (ज्ञान का साहित्य)

शक्ति का साहित्य तो मनुष्य के हृदय में स्थित स्थायी भावों को उद्दीप्त करता है और आनंद की सृष्टि करता है। ज्ञान का साहित्य मनुष्य का ज्ञान वर्द्धन करता है।

हिंदी में हम जिसे साहित्य कहते हैं—काव्य कहते हैं, वही शक्ति का साहित्य है।

प्रसिद्ध आलोचक श्यामसुन्दर काव्य तथा साहित्य में अभेद स्थापित करते हुए लिखते हैं :—

"काव्य शब्द का वही अर्थ है जो साहित्य शब्द का वास्तविक अर्थ है।" वे आगे लिखते हैं :—

"काव्य वह है जो हृदय में अलौकिक आनंद या चमत्कार की सृष्टि करे। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'काव्य' कला है और 'काव्य' शब्द साहित्य का समानार्थक है। बहुत से लोग काव्य को कविता के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि कविता काव्य का एक अंग मात्र है।

किसी पुस्तक को हम साहित्य या काव्य की उपाधि तभी दे सकते है जब जो कुछ उसमें लिखा गया है वह कला के उद्देश्यों की पूर्त्ति करता हो। यही एक मात्र उचित कसौटी है। साहित्य के अन्तर्गत कविता, नाटक, चम्पू, उपन्यास, आख्यायिकायें आदि सभी आ जाते हैं। ज्योतिष, गणित, व्याकरण, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि के ग्रंथ साहित्य में परिगणित नहीं हो सकते।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि साहित्य तथा काव्य तत्वतः एक ही वस्तु हैं। काव्यों के समुच्चय या संग्रह को ही साहित्य कहेंगे।

अब प्रश्न उठता है काव्य क्या है ? जिस प्रकार जीवित व्यक्ति नहीं कह सकता कि जीवन क्या है, भक्त विश्लेषण नहीं कर सकता ईश्वर क्या है, उसी प्रकार काव्य की भी कोई निश्चित परिभाषा नहीं है। जैसा जिसके हृदय में आया है उसे परिभाषा में बाँधने का प्रयत्न किया है, किन्तु कोई भी परिभाषा पूर्ण नहीं कही जा सकती, यों सत्यांश तो सब में कुछ न कुछ है ही ?

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने काव्य की परिभाषा दी है 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्', रस से युक्त वाक्य ही काव्य है। परन्तु इस परिभाषा में रस ही एक ऐसा शब्द है जो स्वयं बोधगम्य नहीं है और काव्य की भाँति ही क्लिष्ट है।

काव्यप्रकाशकार मम्मट काव्य की परिभाषा देते हुए लिखते हैं— "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि"।

इसमें शब्द और अर्थ दोनों को ही प्रधानता दी गई है।

पण्डितराज जगन्नाथ लिखते है :—

'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द ही काव्य कहे जाते हैं। यह परिभाषा संस्कृत की अन्य परिभाषाओं की अपेक्षा अधिक अर्वाचीन है। इसमें रमणीय शब्द ध्यान देने योग्य है। रमणीय का अर्थ है अनुकूलवेदनीयता, अलौकिक चमत्कार की अनुभूति। ऐसी रमणीयता के वाहक जो शब्द हैं वे ही काव्य संज्ञा पाते हैं। संसार के मोद तथा इस रमणीयता में बड़ा अंतर है। भौतिक मोद अस्थिर होता है

और कम आनंददायक, किन्तु काव्यानंद तो अलौकिक होता है और वह फिर शब्दों के द्वारा प्राप्त होता है।

वामन "रीतिरात्मा काव्यस्य" (काव्य की आत्मा रीति) मानते हैं। ध्वन्यालोककार आनंदवर्धन "काव्यस्यात्मा ध्वनिः" (काव्य की आत्मा ध्वनि) मानते हैं।

भामह ने "शब्दार्थौ सहितौ काव्यं" (अर्थ सहित शब्द काव्य है) माना है।

अब इन परिभाषाओं पर विचार करने से पूर्व देखना है कि काव्य शरीर का निर्माण किन-किन तत्वों से होता है और क्या उपरोक्त परिभाषायें पूर्ण रूप से काव्य के सम्पूर्ण रूप पर प्रकाश डालती हैं?

काव्य के मूल तत्व चार माने गए हैं:—

१. भावात्मक तत्व, २. बुद्धितत्व, ३. कल्पनातत्व, ४. काव्यांग, अर्थात् भाषा, शैली, गुण तथा अलंकार आदि। इस प्रकार काव्य में इन तत्वों का समावेश अनिवार्य प्रतीत होता है अर्थात् उसमें मनोभावात्मक, बुद्ध्यात्मक, कलात्मक तथा रचनात्मक तत्वों का समावेश होना चाहिए।

काव्य साहित्य में भावों की तीव्रता, बुद्धि के द्वारा भावों का उचित नियंत्रण, कल्पना द्वारा नवीन चित्रों की अवतरणा तथा उनको अभिव्यक्त करने का कौशल—इतनी बातें होनी ही चाहिएं।

यदि हम चाहें तो उपरोक्त बात को और संक्षिप्त कर सकते हैं और काव्य के दो पक्ष करके ही काम चला सकते हैं—१. भाव पक्ष २. कला पक्ष।

भावपक्ष का सम्बन्ध उस अनुभूति से है जो कलाकार स्वयं करता है और उसे व्यक्त करने को व्याकुल हो उठता है। व्यक्त करने के विविध चमत्कार-पूर्ण ढंग ही कलापक्ष के अंतर्गत आयेंगे। भावपक्ष का जहाँ तक सम्बन्ध है वह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यह तो वह वस्तु है जिससे निर्माण किया जायगा। अनुभूति जिस कवि की जितनी तीव्र होगी उसका काव्य उतना ही प्रभावशाली होगा। यों कलापक्ष भी कम महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि भाव तो प्रायः विश्व में एक से ही होते हैं, उनमें नवीनता बहुत कम होती है। प्रेम, घृणा, क्रोध इत्यादि की भावनायें आदिम हैं, उनमें कुछ नवीनता नहीं। अतः व्यक्त करने का ढंग अपना अलग महत्व रखता है। हम देखते हैं कि

कभी-कभी कोई व्यक्ति सब के द्वारा कही हुई बात को इस प्रकार कह देता है कि हम चमत्कृत हो जाते हैं और हमें एक विशेष आनंद मिलता है। सर्वश्रेष्ठ काव्य तो वही है जहाँ तीव्र अनुभूति चमत्कारयुक्त भाषा में व्यक्त की गई हो अर्थात् जहाँ भावपक्ष और कलापक्ष का उचित सम्मिश्रण हो। ऊपर दी हुई अधिकांश परिभाषायें इस कसौटी पर एकांगी उतरती हैं। कारण, उनमें से किसी में भावपक्ष पर अधिक जोर दिया गया है और किसी में कलापक्ष पर। वास्तव में भावपक्ष और कलापक्ष के मिश्रण से ही काव्य का पूर्ण शरीर बनता है।

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' में स्पष्ट रूप से भावपक्ष की प्रधानता और कलापक्ष की गौणता परिलक्षित होती है।

इसी प्रकार 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" में कला पर अधिक जोर दिया गया है और भावपक्ष की उपेक्षा की गई है।

इसी प्रकार "रीतिरात्मा काव्यस्य" में कलापक्ष पर जोर दिया गया है, भावपक्ष की उपेक्षा की गई है।

इसी प्रकार 'काव्य की आत्मा ध्वनि है' में कलापक्ष को गौण बताया गया है।

सारांश यह कि कोई भी परिभाषा पूर्ण प्रतीत नहीं होती जो काव्य के दोनों पक्षों को लेती हुई चलती हो।

प्रश्न ५—मानव जीवन मे काव्य के महत्व पर प्रकाश डालिये और बताइये कि काव्य क्या एक मिथ्या सृष्टि है ?

उत्तर ५—मानव मन पर अनजाने में ही प्रकृति की कितनी ही वस्तुओं के छायाचित्र अंकित होते रहते हैं। वह कभी आनदानुभव करता है और कभी दुःख। यों तो मानव हृदय में उठने वाले भावों की हम गणना नहीं कर सकते किन्तु फिर भी जो भावनायें निरन्तर रूप से मानव मन में अवस्थित रहती हैं उनके अनुसार उनकी गणाना कर ली गई है और आचार्यों ने उनकी संख्या नौ मानी है। ये नौ स्थायी भाव जब साहित्य या काव्य के माध्यम से व्यक्त होते हैं तो रस कहलाते हैं। रसों के नाम इस प्रकार हैं:—

शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शांत।

शांत रस को रस मानना विवादास्पद है, किन्तु वह नाटकों में ही जहाँ उसकी अभिव्यक्ति का प्रश्न अभिनय द्वारा आता है।

साहित्य अनादिकाल से इन्हीं भावों को भाषा का रूप देता आ रहा है और जन मानस को काव्यानद में आप्लावित करता आ रहा है। साहित्य या काव्य अपने वर्णन कौशल से एक वृद्ध के हृदय में भी बच्चों की भावना उत्पन्न कर सकता है और युवक के हृदय में वृद्धों जैसी भावना। कारण यह है कि काव्य में ऐसी शक्ति होती है कि वह हमारे तद्विषयक भावों को उद्दीप्त कर देता है। दूसरी बात यह है कि काव्य सदैव ही पाठक या द्रष्टा के मन का संस्कार एव परिष्कार कर उसकी रुचि को उदात्त बनाता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना केवल साहित्य द्वारा ही आ सकती है। उपन्यास पढ़ते समय या नाटक देखते समय कभी-कभी पाठक या दर्शक भावावेष मे रोने तक लगते हैं, यद्यपि वे यह जानते हैं कि उपन्यास या नाटक में संकटग्रस्त व्यक्ति हमारा सगा सम्बन्धी नहीं है। फिर ऐसा क्यों होता है? केवल इसलिये कि काव्य मनुष्य के हृदय को उस धरातल पर ले जाता है जहाँ वह स्वगतत्व एवं पर-तत्व की भावना से रहित अपने को केवल मनुष्य अनुभव करता है। वहाँ उसकी वृत्ति केवल सात्विक रह जाती है और मानव मात्र के प्रति उसकी सहानुभूति हो जाती है। उसकी भावनायें इतनी सुकुमार, हृदय इतना विशाल तथा उदार हो जाता है कि वह एक मानसिक समरसता का अनुभव करने लगता है। काव्य के पात्र उसे अपनी ही प्रतिच्छाया प्रतीत होते हैं। वह सब में अपनी ही झलक देखने लगता है। दर्शन या भक्ति का भी यही चरम अभीष्ट है जहाँ साधक अहं की भावना त्याग दे। साहित्य में भी यही होता है। यह दूसरी बात है कि वह कुछ देर के लिये ही हो।

काव्य में जो कुछ वर्णित होता है वह इस प्रकार वर्णन किया जाता है कि पाठक के हृदय पर सीधा प्रभाव डालता है। कभी-कभी हम देखते हैं कि ससार की वास्तविक वस्तुओं को देख कर हमारे हृदय पर इतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना काव्य में उसका वर्णन पढ़ कर। और हम स्वयं चमत्कृत हो जाते हैं कि वह वस्तु इतनी सुन्दर थी, हम तो जानते नहीं थे। संसार की कुरूप लगने वाली वस्तुयें भी साहित्य मे सुन्दरम् का परिधान धारण करके,

आती हैं, अतः वे वांछनीय प्रतीत होती हैं। काव्य वास्तव में कोई फोटोग्राफी नहीं है कि जैसा दृश्य लेना है वह ज्यों का त्यों चला आए। हो सकता है कि उसमें कुछ ऐसी वस्तुयें भी अंकित हो जॉय जिनकी उपस्थिति चित्र में हमें अभीप्सित नहीं, जो चित्र की सुन्दरता में व्याघात उपस्थित करती हैं। किन्तु ऐसा कोई उपाय नहीं कि चित्र में उन वस्तुओं को अंकित होने से रोका जा सके। किन्तु काव्य के चित्र इस लिये अधिक प्रभावशाली होते हैं कि कवि अनभीप्सित वस्तुओं का परित्याग करके केवल उन वस्तुओं पर ही बल देता है जो उसके चित्र को अधिक प्रभविष्णु बना सकें। वह अपने चित्र में रखेगा वही सब कुछ जो उसने देखा है किन्तु उनका संस्कार करके—परिष्कृत रूप में। विद्वानों का कथन है कि साहित्य के मूल में ही अनुकरण की प्रवृत्ति है। लेकिन यह ध्यान रखना चाहिये कवि किसी भी वस्तु की मक्खीमार अनुकृति नहीं करता। अरस्तु ने लिखा है "अनुकरणकारी होने के कारण कवि तीन विषयों में से एक विषय का अनुकरण कर सकता है—वस्तु वैसी थी या है, वस्तु जैसी होने लायक कही या सोची गई है, या वस्तु को जैसा होना चाहिए।"

काव्य वही है कवि जिसे कहे बिना न रह सके। स्पष्ट है कि जो भाव प्रभावशाली रूप में उसके हृदय पर अंकित होते हैं वह उतने ही प्रभावशाली रूप में उन्हें व्यक्त करना चाहता है ताकि पाठक भी उस वस्तु का तद्वत् अनुभव कर सके। इस विषय में कवि जिस वस्तु से सबसे अधिक सहायता लेता है वह है उसकी कल्पना। यही वह वस्तु है जिससे कवि ब्रह्मा की भाँति एक स्वतन्त्र सृष्टि का निर्माता समझा जाता है। यही वस्तु है जो उसका प्रवेश उन स्थानों पर भी संभव बना देती है जहाँ सूर्य का प्रवेश भी सम्भव नहीं। यही वह वस्तु है जिसके द्वारा कवि ऐसी बातों की अवतारणा करता है जो न कभी किसी ने देखीं, न सुनीं, फिर भी जो मिथ्या नहीं लगतीं, मनोमोहक लगती हैं। कल्पना मिथ्या बातों का संकलन करती है, यह कहना बुद्धिमत्ता नहीं। कवि की अपनी सृष्टि होती है। वह निरंकुश प्राणी है 'निरंकुशाः कवयः।' कवि स्वयंभू भी इसी लिए है कि वह नवीन जगत् का निर्माण करता है।

कल्पना तीन प्रकार की होती है :—

१. उत्पादक (Creative imagination)

२. संयोजक (Associative imagination)

३. अवबोधक (Interpretative imagination)

उत्पादक कल्पना चित्रों का अपरिमित भंडार कवि के मस्तिष्क में ला कर रख देती है। संयोजक कल्पना के द्वारा कवि उनमें से सुन्दरतम चित्रों का संयोजन कर एक नवीन चित्र का निर्माण कर लेता है और तीसरे प्रकार की कल्पना उस नवीन चित्र को निश्चित और स्वाभाविक रूप देकर उसे अस्तित्व में लाती है।

संक्षेप में कहे, यदि कवि किसी व्यक्ति की सुन्दरतम आँखें देखता है, किसी की नाक और किसी के ओंठ, तो ये विभिन्न वस्तुयें उत्पादक कल्पना के सहारे उसके मस्तिष्क में एक साथ आयेंगी। कवि संयोजक कल्पना के सहारे उनमें से सुन्दरतम वस्तुओं को एक जगह कर लेगा और अवबोधक कल्पना के द्वारा उन सब को मिला कर एक सुन्दरतम चित्र तैयार कर देगा। यह तो नहीं कह सकते कि वह चित्र इस संसार में पहले से नहीं था अतः मिथ्या है, और न यह भी कह सकते हैं कि वह पहले नहीं था। कारण, नवीन प्रसूत चित्र के अंग-प्रत्यंग तो अस्तित्व में पहले भी थे पर एक स्थान पर नियोजित नहीं थे। कवि ने अपनी कल्पना से उन सबको एक ही स्थान पर नियोजित कर एक सुन्दरतम वस्तु की सृष्टि कर दी। कवि वास्तव में करता यही है। वह पाठक,श्रोता या दर्शकको सुन्दरतम देना चाहता है। अच्छे मनुष्य संसार में होते हैं, बहुत अच्छे भी। फिर भी उनमें कुछ कमियां होती हैं। लेकिन कवि कमियों को निकाल कर और विभिन्न विशेषताओं को एक ही स्थान पर रख कर एक ऐसा पात्र उपस्थित कर देगा जो अभूतपूर्व अश्रुतपूर्व होगा, किन्तु साथ ही विश्वसनीय भी, आदर्श भी—तुलसी के राम और क्या हैं? मानव की उच्चतम विशेषताओं का एक काल्पनिक समुच्चय जो कवि द्वारा किया गया। सारांश यह कि कवि सुन्दरम् देता है किन्तु उसे झूठा नहीं कहा जाता—नहीं कहा जा सकता।

इतिहास और साहित्य का अन्तर स्पष्ट करते हुए एक विद्वान ने लिखा

है कि साहित्य में नाम और तिथियों के अतिरिक्त सब सत्य होता है तथा इतिहास में नाम और तिथियों के अतिरिक्त सब मिथ्या।"

यदि उपरोक्त वाक्य पर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य में मिथ्या नाम की वस्तु उस रूप में नहीं होती जैसा कि लोग प्रायः समझते हैं। कवि का उद्देश्य होता है कि जिस भावना को उसने जिस रूप में स्वयं अनुभव किया है उसी रूप में पाठक को भी अनुभव कराए और इसी कारण उसे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का सहारा लेना पड़ता है और इसमें संदेह नहीं कि इनके द्वारा वह पाठक पर अपनी अनुभूति अभिव्यक्त करने तथा उसे भी तद्वत अनुभव कराने में समर्थ होता है। यदि कोई कहे "उस सुन्दरी का मुख चन्द्रमा के समान है" यह वाक्य वैज्ञानिक सत्य तो हो नहीं सकता क्योंकि कि किसी भी स्त्री का मुख चन्द्रमा के सदृश कभी नहीं हो सकता। इसी प्रकार ऐसे लोगों के विचार में "घोड़ा वायुवेग से दौड़ता है तथा तलवार बिजली जैसी कौंधती है" आदि वाक्य मिथ्या ही प्रतीत होंगे, परन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है।

कवि के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह जिस वस्तु की उपमा देता है या उत्प्रेक्षा करता है या रूपक बाँधता है वह उपमेय से सब बातों में मिलती हो। कवि तो एक प्रभाव डालना चाहता है। समानता का एक बिन्दु उभय-निष्ठ होने से उसका कार्य चल जाता है। चन्द्रमा की उपमा द्वारा सुन्दरता तथा शीतलता, बिजली के कौंधने से तीव्रता आदि का बोध वह पाठक को कराता है। विहारी के इस दोहे को इस कसौटी पर कसिए :—

पत्रा हीं तिथि पाइये, वा घर के चहुँ पास।
निति प्रति पून्यौ ही रहै, आनन ओप उजास॥

इस दोहे पर मिथ्या वर्णन का दोष सरलता से लगाया जा सकता है किन्तु वास्तव में वैज्ञानिक सत्य और कवि सत्य में अन्तर समझ लेना अत्यावश्यक है।

विज्ञान विश्लेषण प्रधान है। वह समग्र वस्तु का परिचय खण्ड-खण्ड करके प्राप्त करता है। नियम-निर्धारण, वर्गीकरण आदि उसका उद्देश्य होता है।

साहित्य संश्लिष्ट वस्तु है। वह खण्ड-खण्ड को छोड़ किसी वस्तु की समग्रता से सम्बन्ध रखता है। वह केवल भावाभिव्यक्ति करता है, नियम निर्धारण नहीं। उदाहरण के लिए एक वैज्ञानिक को पुष्प में कोई सौंदर्य दिखाई नहीं देगा। वह तो उसका खण्ड-खण्ड करके उस पुष्प की जाति तथा और ऐसी ही वैज्ञानिक बातों की ओर प्रवृत्त होगा, जब कि कवि का सम्बन्ध उस पूर्ण पुष्प से है, उसके बाद उसका कोई सम्बन्ध नहीं। सारांश यह कि काव्य केवल भावाभिव्यक्ति करता है और पाठक को उस भाव का अनुभव उसके चरम रूप में कराना चाहता है।

बिहारी का उपरोक्त दोहा केवल नायिका के सौंदर्यातिरेक की व्यजना करता है। नायिका का सुन्दरतम रूप वह पाठक के समक्ष रखना चाहता है। वह नायिका अत्यन्त सुन्दरी है। इस वाक्य में न कोई खण्ड और न कहने की कोई विचित्रता।

काव्य तो मानव हृदय की सुप्त कोमल भावनाओं को जाग्रत करने का कार्य करता है और उसके लिये कल्पना का अबाध प्रयोग उसमें होता है। कल्पना के द्वारा ही कवि वर्ण्य वस्तु से तादात्म्य कर पाता है और इसी लिये कहानी, उपन्यास, नाटक या कविता पढ़ते समय पाठक सोचता है "अरे यह तो मेरा ही वर्णन कर दिया गया है।" ।काव्य के सत्य के मूल में वह व्यापक भावना कार्य करती है जिसके द्वारा मानव सृष्टि की प्रकट विविधता में भी एक, पुष्पों में धागे की भाँति व्याप्त—भावना की समानता के दर्शन होते हैं और जिसमें कि अखण्ड मानवता के विकास का रहस्य-सूत्र उलझा हुआ है। काव्य अगर मिथ्या काल्पनिक सृष्टि मात्र हो तो क्यों प्रत्येक पाठक या दर्शक का मन काव्य कृति से आंदोलित होने लगता है ? क्यों कभी वह (पाठक) रोता है, कभी हँसता है और कभी रोमांचित होता है । वह जानता है कि कवि उसी के मानस की अगाध गहराई से सारे रहस्य चुरा ले गया है और काव्य के रूप में उसी की निधि उसे लौटा रहा है। यह तो सच ही है "जहां न जाइ रवि तहाँ जाइ कवि" सूर्य किरणें मानव उर में प्रवेश नहीं कर सकतीं लेकिन कवि से क्या छिपा रह सकता है ? पन्त जी ने कितना सुन्दर कहा है:—

देखूं सब के उर की डाली
सब में कुछ सुख के तरुण फूल
सब में कुछ दुख के करुण शूल
सुख-दुख न कोई सका भूल।

× × ×

किस छवि किस मधु के मधुरभाव ?
किस रंग इस रुचि से किसे चाव ?
कवि से रे किसका क्या दुराव !

लेकिन यदि कोई कहे कि मेरे ऊपर काव्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, तो संस्कृत साहित्य में स्पष्ट इंगित ऐसे व्यक्ति के लिए किया गया है कि पाठक 'सहृदय' होना चाहिए। पाठक की भी योग्यता कुछ होनी चाहिए।

प्रतिभा दो प्रकार की होती है—(१) कारयित्री, (२) भावयित्री। कवि में निर्माण या सृजन की प्रतिभा तथा पाठक में जब तक ग्रहण करने की प्रतिभा नहीं होगी तब तक काव्य उसके लिये व्यर्थ है।

सारांश यह कि काव्य मनुष्य की उदार वृत्तियाँ जागृत कर उसे 'देवत्व' की ओर उठाता है, उसे असाधारण रूप से सहृदय और महान् बनाता है। काव्य इस अर्थ में बिल्कुल सत्य है कि वह कुछ भाव जागृत करना चाहता है और उसमें वह पूर्ण सफल है।

प्रश्न ६—साहित्य के निर्माण में समालोचना की क्या उपादेयता है ? आधुनिक समालोचना के मुख्य रूपों का निर्देश कीजिए ?

उत्तर ६—साहित्य जब अपने रूप का विश्लेषण स्वयं करने लगता है तब समालोचना का जन्म होता है। इसका यही अर्थ है कि साहित्य में प्रथमतः लक्ष्य ग्रन्थों का प्रणयन होता है, फिर लक्षण ग्रन्थों का। पहले-पहल लक्ष्य ग्रन्थों की विशेषताओं के आधार पर कुछ सिद्धांत बनाए जाते हैं और फिर साहित्य की किसी भी कृति को उस कसौटी पर कस कर उसे अच्छा या बुरा ठहराया जाता है।

साहित्य क्षेत्र में ग्रन्थ को पढ़कर उसके गुण-दोष का विवेचन करना और उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है। सद्-असद्

की इस प्रकार की विवेचना साहित्य में अपेक्षित भी है क्योंकि साधारण पाठकों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे कवि के उद्देश्य को यथावत् समझ कर उसकी रचना का रसास्वादन कर सकेंगे। फिर यह आवश्यक भी तो नहीं कि साहित्य के नाम पर लिखी गई सब चीज़ें उच्च कोटि की ही हों। कितनी ही तो पठनीय भी नहीं होतीं। तो क्या समाज ऐसी पुस्तकें पढ़ने में भी अपने समय का अपव्यय करे जो पठनीय नहीं हैं? यहीं तो आलोचना का कार्य और आलोचक का गुरुतर कार्य आरम्भ होता है कि वह समाज को उन्हीं कृतियों को पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करे जो उत्तम कोटि की हैं और निम्नकोटि की वस्तुओं के अध्ययन से समाज के मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा करे।

यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा। साहित्य में जीवन की ही व्याख्या मिलती है और आलोचना चूंकि उस व्याख्या को और भी स्पष्ट करती है इस लिये उसका महत्व तो स्वयं सिद्ध है। समाज में अच्छे और बुरे प्रकार के दोनों तत्व विद्यमान रहते हैं किन्तु जिस प्रकार विद्वान् लोग बुरे तत्वों से समाज को सावधान करते रहते हैं उसी प्रकार आलोचक भी साहित्य में जीवन की भ्रमपूर्ण व्याख्या न की जाय, किसी सिद्धान्त का भ्रमपूर्ण प्रतिपादन न किया जाय आदि बातों का ध्यान रखते हैं।

साहित्य में बहती हुई गन्दी धाराएं, व्यर्थ की रूढ़ियाँ आलोचना के कठिन प्रहारों से छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और साहित्य की धारा में एक नई गति तथा नवीन जीवन आ जाता है। चूंकि साहित्य का सम्बन्ध जीवन की व्याख्या, नीति, समाज आदि अनेक बातों से होता है इसीलिये उसके गुण और दोषों के विवेचन की भी आवश्यकता होती है। आलोचना साहित्य का उचित मार्गदर्शन करती है। कुछ लोगों का विचार है कि साहित्य पर इस प्रकार का अंकुश अच्छा नहीं। उसे स्वेच्छया रहने देना चाहिए। किन्तु यह कथन भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है। ऐसे व्यक्ति साहित्य को केवल मानसिक-विलास मात्र समझते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि साहित्य में एक जीवनी शक्ति होती है जो मृत समाज की स्नायुओं में शुद्ध रक्त का संचार

करती है, उसे प्राणदान देती है। साहित्य में क्रान्ति कराने की शक्ति होती है। वह शासनविधान और वर्गश्रेणियों को मिटाने में पूर्ण समर्थ है—फ्रांसीसी तथा रूसी साहित्य इसके उदाहरण हैं। रूसी साहित्य विशेष रूप से इस विषय का सुन्दरतम निदर्शन है कि सामाजिक जीवन का अभ्युत्थान, राजनैतिक विधान में अभीप्सित परिवर्तन साहित्य द्वारा किस प्रकार सम्भव है। जब साहित्य में इतनी शक्ति है, जब वह एक शक्तिशाली शस्त्र से भी अधिक प्रभावशाली है, फिर अगर उसमें गन्दे भावों की धारा बह निकले तो उसे रोकना एक साहित्यिक और सामाजिक आवश्यकता है। यह कार्य केवल आलोचना से ही सम्भव है कि वह ऐसे साहित्य का उद्गम बन्द करे जो समाज विरोधी है। लेनिन ने कहा था कि और हथियारों की भाँति साहित्य हमारे मोर्चे का सब से अधिक सशक्त हथियार है। सभी साहित्यों में देखा हुआ कि जब-जब उच्छृंखलता बढ़ी तब-तब वहाँ समर्थ आलोचकों ने उचित रूप में उसे नियन्त्रित रखा और मानसिक गन्दगी की बाढ़ से समय-समय पर समाज को बचाया। यदि आलोचना के अंकुश का डर न रहे तो हमारा साहित्य "तोता-मैना" जैसी अश्लील और कुरुचिपूर्ण कृतियों से भर जाय।

आलोचना इस प्रकार एक ओर तो साहित्यिक स्वच्छन्दतावाद या उच्छृंखलतावाद पर कड़ा नियन्त्रण रखती है, दूसरी ओर जनरुचि को परिष्कृत कर सत्साहित्य के प्रचार का मार्ग प्रशस्त करती है। आलोचना सामूहिक रूप से जनमानस को परिष्कृत और सुरुचिपूर्ण बनाती है।

आलोचना कार्य उतना ही पुराना है जितना साहित्य सृजन का। यह तो निश्चित बात है कि मनुष्य जितनी वस्तुओं के सम्पर्क में आता है उनके प्रति अच्छे या बुरे विचार अनजान में उसके मस्तिष्क में बन जाते हैं। यही आलोचना की आदिम अवस्था होगी और प्राचीन समय के प्रशंसासूचक और कुछ अप्रशंसासूचक वाक्य आज तक प्रचलित हैं। ये सब आलोचनात्मक वाक्य हैं और आलोचना का अतिपुरातम रूप हमारे सामने रखते हैं।

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

उपरोक्त श्लोक कवि और उसकी रचना की विशेषताओं की संक्षिप्त

किन्तु कितनी सारगर्भित आलोचना है। यह परम्परा संस्कृत काल तक ही सीमित नहीं रही। हिंदी में वह और भी विकसित रूप में दृष्टिगोचर होती है।

'और कवि गढ़िया नंददास जड़िया'

नन्ददास के कलापक्ष की विशेषता जड़िया शब्द से बिलकुल स्पष्ट हो उठती है। इसी प्रकार—

सूर सूर तुलसी शशी, उडुगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जँह तँह करें प्रकास॥

यह उक्ति सूर, तुलसी और केशवदास के सम्मान की उचित श्रेणियाँ बनाती है और तद्विषयक ज्ञान को स्पष्ट करती है।

आधुनिक युग में अन्य बातों की भाँति आलोचना के क्षेत्र में भी परिवर्तन हुआ है। उसका ढंग अब बदल गया है और रूप भी।

आज हम आलोचना के चार भेद स्पष्टतः कर सकते हैं.—

(१) निर्णयात्मक आलोचना (२) व्याख्यात्मक आलोचना (३) आत्म-प्रधान आलोचना तथा (४) सैद्धान्तिक आलोचना।

निर्णयात्मक आलोचना :—इस प्रकार की आलोचना के लिये आलोचक को निश्चित व मान्य साहित्य सिद्धान्तों का आश्रय लेना पड़ता है। विस्तृत विवेचन इसकी प्रधान विशेषता है क्योंकि बिना पूर्ण विवेचन के निर्णयात्मक आलोचना सफल ही नहीं हो सकती। इस प्रकार की आलोचना में वस्तुत. आलोचक अपनी रुचि से शासित हो उसके अनुकूल आलोचन सिद्धान्तो को लेकर किसी कृति व कृतिकार की आलोचना के लिए उनका (सिद्धान्तों का) आरोप उस पर करता है और इस प्रकार वह रचना के भले बुरे होने का निर्णय करता है।

निर्णयात्मक आलोचक तीन प्रकार के होते हैं:—

(१) वे जो अपनी रुचि के अनुकूल ही किसी कृति का निर्णय करते हैं।

(२) वे जो सिद्धान्तों के लक्षण मिलाकर किसी कृति का निर्णय करते हैं।

(३) वे जो सिद्धान्तों से पूर्ण परिचित होते हैं किंतु फिर भी उनमें न बंध कर उनसे परे रहते हैं। यही सर्वमहान आलोचक होते हैं, क्योंकि केवल

सिद्धान्तों का अंधानुकरण किसी भी आलोचना को निम्नकोटि की बना देता है। चूंकि साहित्य जीवन की व्याख्या होने के कारण परिवर्तनशील है इस लिये नियम तो बदलते ही रहते हैं; बदलते रहने भी चाहियें।

हिन्दी में इस प्रकार की आलोचना प्रणाली की पुस्तकें हैं मिश्रबंधु-विनोद, नवरत्न।

२ व्याख्यात्मक आलोचना :—आलोचना का मुख्य स्वरूप है किसी रचना की आलोचना उसी में वर्णित बातों को दृष्टि में रख कर करना; निर्णयात्मक आलोचना की भाँति किसी निश्चित सिद्धान्त का आरोप उस पर न करना। इस प्रकार की आलोचना में आलोच्य रचना ही उसका सिद्धान्त होती है उसमें किसी भी प्रकार के बाह्य सिद्धान्तों का समावेश नहीं किया जाता। किसी रचना का मूलोद्घाटन (Valuation) ही इसआ लोचना का मुख्य उद्देश्य होता है। तुलनात्मक, ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक आलो-चनायें इसी के अन्तर्गत आती हैं। इस प्रकार की आलोचना की सब से बड़ी विशेषता यह है कि इसमें व्याख्या करने वाला कृति से कृतिकार की ओर चलता है लेखक से कृति की ओर नहीं। इसमें आलोचक एक अन्वेषक के रूप में रहता है न्यायाधिकारी की भाँति निर्णायक रूप में नहीं, जैसा निर्णयात्मक आलोचना में होता है। इस प्रकार की आलोचना में कवि के प्रगतिशील तत्वों की प्रशंसा ही की जाती है निर्णयात्मक आलोचना की भाँति नियमोल्लंघन का दोष उस पर नहीं लगाया जाता। इस प्रकार की रचनायें हैं:—

देव विहारी—कृष्णविहारी मिश्र

विहारी और देव—भगवानदीन

३ आत्मप्रधान आलोचनाः—इसमें आलोचक विवेचन या विचार की ओर उन्मुख नहीं होता जो आलोचना का मुख्य कार्य है। प्रत्युत वह किसी रचना द्वारा अपने हृदय पर पड़े प्रभावों को व्यक्त करता है।

प्रभावों की व्यंजना ऐसा आलोचक प्रायः प्रभावात्मक शैली में करता है जिसके कारण उसकी आलोचना एक स्वतन्त्र रचना के रूप में प्रस्तुत होती है।

इस प्रकार की आलोचना में सिद्धात या विचार मुख्य न रह कर

आलोच्य ग्रन्थ ही आलोचक के भावों का आलम्बन बन जाता है और यह आलोचना विवेचना न रह कर आत्माभिव्यक्ति मात्र रह जाती है। इस प्रकार की आलोचना में हम कवि से भी अधिक आलोचक का परिचय पाते हैं। क्योंकि कृति या कवि का उस द्वारा निरूपित रूप उसका अपना ही दृष्टिकोण होता है किसी मान्य सिद्धांत के आधार पर की गई विवेचना नहीं। प्रायः सभी छायावादी समालोचक हजारीप्रसाद द्विवेदी, शांतिप्रिय द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र तथा गंगाप्रसाद पाण्डे आदि इसी प्रकार के आलोचक है।

४ सैद्धान्तिक समालोचना—इसमें लक्ष्य ग्रन्थों के गम्भीर विवेचन के पश्चात् साहित्य-सिद्धान्तों की स्थापना होती है। असाधारण कवियों की अमरकृति द्वारा इन साहित्य-सिद्धान्तों की रचना होती है फिर इन्हीं साहित्य के सिद्धान्तों पर अन्य कवियों की रचनायें कसी जाती है और उनका उत्तम या निकृष्ट होना निश्चित किया जाता है। किन्तु इतना तो निश्चित है कि इस प्रकार के पूर्व निश्चित सिद्धान्त भी सब कवियों के साथ उचित न्याय नहीं कर सकते। एक लेखक ने कहा है कि कालिदास के जिन ग्रन्थों के आधार पर साहित्य शास्त्रों की रचना हुई अब उन्हीं साहित्य शास्त्रों के अनुसार उनमें (लक्ष्य ग्रन्थों में) कमियां ढूंढी जाती हैं। वास्तव में साहित्य नियमों के पीछे नहीं चलता, नियम उसके पीछे चलते हैं। भाषा व्याकरण का पदानुसरण नहीं करती, व्याकरण भाषा का अनुगामी है। जो साहित्य सिद्धान्त स्थिर किए गए हैं उनके अनुसार तो कोई भी रचना पूर्णतः ठीक निकलेगी नहीं, लेकिन प्रायः देखा जाता है कि किसी-किसी कवि की रचना प्राचीन निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार नहीं होती है फिर भी उसकी मान्यता होती है। आधुनिक काल के निराला और पन्त ऐसे ही कलाकार हैं जिनका अत्यधिक विरोध केवल इसीलिये हुआ कि वे कला के नए मानों के समर्थक थे, प्राचीनता के कट्टर विरोधी थे। आज वे किसी भी महाकवि के बराबर सम्मान्य हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि संस्कृत काल मे इसी प्रकार के आलोचना-ग्रन्थ अधिक लिखे गए। हिन्दी मे भी कुछ ऐसे ग्रन्थ हैं :—

विश्वनाथ—साहित्यदर्पण। जगन्नाथ—रसगंगाधर। आनन्द-

वर्धन—ध्वन्यालोक । भरत—नाट्यशास्त्र । श्यामसुन्दर दास—साहित्यालोचन । रामदहिन मिश्र—काव्यदर्पण । बाबू गुलाबराय एम० ए०—सिद्धान्त और अध्ययन । आदि ।

प्रश्न ७—आलोचना का कार्य एक महान् उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है । एक अच्छे तथा सफल समालोचक के कर्त्तव्य तथा अपेक्षित गुणों की विस्तृत विवेचना कीजिए ।

उत्तर ७—किसी भी लेखक की कोई कृति आज आलोचक के माध्यम से समाज में जाती है । जनसमाज इस कृति की परख के लिए आलोचक पर विश्वास करता है । अत आलोचक का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह ऐसा कोई कार्य न करे जिससे जन-मन के विश्वास को ठेस पहुंचे ।

प्रश्न उठता है कि क्या किसी कृति की आलोचना आवश्यक है ? क्या बिना आलोचना के कोई कलाकृति समाज से अपना सम्बन्ध सीधा नहीं जोड़ सकती ? उत्तर अत्यन्त साधारण है कि यदि एक साधारण पाठक साहित्यशास्त्र का पूर्ण ज्ञाता हो, विद्वान् हो तो फिर निश्चित रूप से आलोचना नाम की किसी वस्तु की आवश्यकता न पडे, किन्तु ऐसा होना सम्भव प्रतीत नही होता । कम से कम जब तक यह सम्भावना एक सत्य नहीं बन जाती तब तक आलोचना की आवश्यकता है ही ।

आलोचना का उद्देश्य क्या है ? इस पर एक दृष्टि डाल लेना भी असंगत नहीं होगा ।

आलोचना द्वारा किसी कवि या लेखक की कृति की विस्तृत व्याख्या की जाती है और आलोचक उस कृति के विषय में अपना मत स्थिर करता है जिससे कि पाठक उसका पूर्ण रसास्वादन कर सकें । भाव तथा भाषा के चमत्कारों को स्पष्ट करके वह कृति को पाठकों के लिये बोधगम्य बनाता है । किसी वाक्य के कितने अर्थ हो सकते हैं अथवा कितने अलंकारों का सुन्दर समावेश उसमें है, यह सब कुछ आलोचक सुन्दरतापूर्वक स्पष्ट करता है ।

कुछ लेखक या कवि ऐसे भी हो सकते हैं जो स्वयं अपनी प्रतिभा से

परिचित न हों। आलोचक का यह आवश्यक कार्य है कि लेखक को उसकी प्रतिभा का ज्ञान कराए और नवसाहित्य सृजन के लिए उसे उचित प्रोत्साहन दे। देखा यह जाता है कि कभी कभी अत्यन्त साधारण लेखक महान् आलोचकों से प्रोत्साहन पाकर महान् लेखक बन जाते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि आलोचक एक चारण या भाट है जिसका कार्य है किसी कवि की कृति की स्तुति करना। लेकिन यह ठीक नहीं। महान् आलोचक का व्यक्तित्व किसी भी महान् कवि से किसी दशा में कम नहीं है। आलोचक का कार्य है कवि या लेखक का उचित मार्गदर्शन करना। जब वह साधारण प्राणी होगा तो एक असाधारण व्यक्ति (कवि) का पथप्रदर्शन कैसे कर सकता है! डा० जान्सन के विषय में प्रसिद्ध है कि वे किसी लेखक की महानता से मन्त्रमुग्ध नहीं हुए, अपितु सदैव, एक हैडमास्टर जिस प्रकार विद्यार्थी को उसकी भूलों पर डांट कर उसे उचित शिक्षा देता है, महान् लेखकों को शिक्षा दिया करते थे। वास्तव में आलोचक जब तक इतना विद्वान्, बुद्धिमान् और तत्त्वदर्शी नहीं होगा तब तक न तो वह लेखक के साथ न्याय ही कर सकता है और न समाज का ही कुछ उपकार कर सकता है। उसका कार्य होता है आपत्तिजनक साहित्य को हतोत्साहित करना तथा सत्साहित्य को प्रोत्साहन देना, जिससे साहित्य की उचित वृद्धि हो सके।

आलोचक का एक महान् उत्तरदायित्व यह भी है कि वह साहित्य-जगत् में फैले भ्रमपूर्ण वादों का उचित निराकरण करे तथा सत्य को पाठक के समक्ष रखे। क्योंकि जब साहित्य में वादों का प्रचलन अधिक हो जाता है तो उसमें साम्प्रदायिकता की गंध आने लगती है जो साहित्य के स्वास्थ्य के लिए घातक है। संकीर्णता जिस साहित्य में प्रवेश पा जायगी फिर उसका समुचित विकास नहीं हो सकता। अत आलोचक का कर्तव्य है कि वह संकीर्णता तथा वादों पर उचित नियंत्रण किए रहे।

आलोचक का कार्य इतना साधारण नहीं है कि वह केवल उसके वर्तमान तक ही सीमित रहे। वह जो कुछ करता है उसका वर्तमान से भी अधिक भविष्य से सम्बन्ध है। जिस प्रकार राजनैतिक नेता सर्वोत्तम शासन विधान के आनयन के लिए कृतप्रयत्न रहते हैं उसी प्रकार आलोचक साहित्य-

सृजन की धारा को कल्याणकारी मोड देना चाहता है कि भविष्य मे भी साहित्य सृजन उसी के निर्देशित मार्ग पर हो। यह कोई असंभव बात नहीं है। प्रत्येक देश के साहित्य में इस बात के सहस्रशः उदाहरण मिलेंगे कि समर्थ समालोचक साहित्य में सृजन तथा उसके प्रवाह की दिशा ही बदल देते हैं। साहित्य-धारा किस मार्ग से प्रवाहित हो कि वह जनकल्याणी बने यह उनके ही चिंतन का विषय है। अकेले महावीर प्रसाद द्विवेदी ने रीतिकालीन उस श्रृंगार से पूर्ण गंदी धारा को ही रोक दिया जिसमें नव-रस अपनी पूर्ण गंदगी से प्रवाहित हो रहे थे और जो जनमानस में एक अनभीप्सित तथा घातक दलदल का निर्माण कर रहे थे। यदि द्विवेदी जी उस काल में न हुए होते वो नहीं कहा जा सकता कि साहित्य सृजन धारा की आज कौन सी दिशा होती। कितने आश्चर्य का विषय है कि एक व्यक्ति ने एक प्रवाह को रोक कर उसे मन-वांछित मोड़ दे दिया। ऐसे ही समालोचक होते हैं जो कवियों के द्वारा भी वंदनीय होते हैं। क्या द्विवेदीजी की आलोचनायें साहित्य सृजन के मार्ग में बाधक हुई ? ऐसा कहना भ्रम से रहित न होगा। न केवल सत्साहित्य को प्रोत्साहन देकर उन्होंने उसकी श्रीवृद्धि की अपितु कुछ महान् कवि भी हिन्दी साहित्य को दिए, मैथिलीशरणगुप्त उन्हीं में से एक हैं। उस समय का कोई कवि, कोई लेखक ऐसा नहीं जो उनके प्रभाववृत्त के बाहर रहा हो या उचित मार्ग दर्शन के लिये उनका आभारी न हो।

आलोचक किसी कृति का नैतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टि से मूल्यांकन करता है। यह उसका कर्तव्य होता है कि वह किसी कृति की आलोचना उसके कर्ता के साथ व्यक्तिगत वैमनस्य के कारण एकांगी और दोषपरक मात्र न करे। किन्हीं दो कवियों को अपनी मानसिक क्रीडा के लिये छोटा बड़ा न बनाए। तुलना करते समय उनके समय की परिस्थितियों तथा विचारधारा का ध्यान रखे।

कभी-कभी महान् प्रतिभाशाली कलाकार उपेक्षित रह जाते हैं और समाज उनके परिचय लाभ से लाभान्वित नहीं हो पाता। यहीं आलोचक की महान साधना का क्षेत्र आरम्भ होता है कि वह उन धूलभरे हीरों को उचित स्थान दिला पाता है या नहीं। प्रसिद्धतम देवता राम की भक्ति या कृष्ण भक्ति के कारण

सूर और तुलसी का प्रसिद्धि प्राप्त कर लेना कोई आश्चर्य की बात न थी, किन्तु प्रतिभा की साकार प्रतिमा अद्वितीय रससिद्ध कवि जायसी को कौन प्रकाश में लाया ? एक आलोचक ही—पं० रामचन्द्र शुक्ल। कवि कभी आलोचक को प्रसिद्ध कर देता है और कभी आलोचक कवि को। अतः स्पष्ट है कि ये दोनों व्यक्ति एक दूसरे से कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

अब प्रश्न उठता है कि जब आलोचना का कार्य इतना गुरुतर है कि समाज की रुचि और कुरुचि तक का प्रश्न उसी पर बहुत कुछ आधारित है, तो फिर आलोचक में कौन से गुण होने चाहिएं कि उसे एक सफल समालोचक कहा जा सके ?

सर्वप्रथम वस्तु जो एक सफल आलोचक के लिए अत्यावश्यक है वह है उसकी पैठ या अन्तर्दृष्टि (insight)। जिस प्रकार कवि के लिये प्रतिभा की आवश्यकता है उसी प्रकार आलोचक के लिये पैठ की। आलोचक को अध्ययनशील एवं रसिक होना चाहिए। कुछ लोगों का विचार है कि आलोचना का कार्य नीरस एवं शुष्क होता है, अतः आलोचक भी शुष्क होने के लिये बाध्य है, क्योंकि एक असफल कलाकार आलोचक बन जाता है। यह बात युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होती। आलोचक में वे सब गुण होने चाहिएँ जो कवि मे होते हैं। किसी बात को सुन्दरतर रूप में स्पष्ट करने का गुण आलोचक में और अधिक होता है।

आलोचक को सहृदय होना चाहिए और आलोच्य रचना एवं उसके कर्ता के प्रति सहानुभूति तथा श्रद्धा की भावना होनी चाहिए। बिना सहृदयता एवं श्रद्धा के रचना और रचनाकार के साथ उचित न्याय नहीं किया जा सकता। व्यक्तिगत बातों का प्रभाव कभी आलोचना पर नहीं पड़ना चाहिए और आलोचना करने के पूर्व किसी लेखक या उसकी रचना के प्रति कुछ धारणा बना लेना और तदनुकूल आलोचना करना तो और भी बुरी बात है। इस एकपक्षीय आलोचना को जोंकवृत्ति ही कहा जायगा। ऐसी एकांगी आलोचना शुभ नहीं मानी जाती।

आलोचक में बहुज्ञता का गुण भी अन्य गुणों की भाँति होना आवश्यक है। कवि स्वय एक बहुज्ञ प्राणी होता है अतः उसकी रचना की

युक्तियुक्त समीक्षा तथा विवेचना के लिये आलोचक का भी बहुज्ञ होना अत्यावश्यक है।

आलोचक को यह जानना चाहिए कि उसके कर्त्तव्य की सीमा-रेखा कहाँ तक है। उससे परे उसे कोई सम्बन्ध नहीं। कोई कलाकार व्यक्तिगत जीवन में कैसा है, उसकी कलाकृति को भी उसी दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। क्योंकि किसी भी कलाकृति का प्रणयन आवेश या भावुकता के क्षणों में होता है और उस क्षण या उस समय कवि अपनी सात्विकतम अवस्था में होता है। आलोचक को व्यर्थ की अप्रासंगिक एवं असंगत बातों से अपनी आलोचना को दूर रखना चाहिए। संक्षेप में कहें तो कह सकते हैं कि आलोचक को औचित्य का ज्ञान होना चाहिए।

अनन्यता और अनासक्ति भी आलोचक होने के लिये अत्यन्त अपेक्षित गुण हैं। आलोचक को सर्वप्रथम आलोच्य रचना का अनन्यतापूर्वक अध्ययन करना चाहिए। अध्ययन के समय सहानुभूति और श्रद्धा का भाव भी होना आवश्यक है। श्रद्धालु समालोचक को रचना में कितनी ही नवीन विशेषताएँ दिखाई दे सकती हैं। अगर वह किसी पूर्वनिश्चित धारणा को आधार बनाकर आलोचना करेगा तो हो सकता है कि आलोच्य पुस्तक उसे विशेषताशून्य ही दिखाई दे। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं है कि लेखक की रचना से वह इतना प्रभावित हो जाय कि उसकी आलोचना स्तुति मात्र रह जाय। मित्र की कृति होने के कारण भी किसी कृति की प्रशंसात्मक आलोचना करना उतना ही बड़ा साहित्यिक पाप है जितना किसी अमित्र की कृति की अप्रशंसात्मक आलोचना करना। आलोचक का पद महान् और उसका दायित्व महानतर है अतः भौतिक सम्बन्ध, नाते आदि बातों से आलोचक को बचना ही पड़ेगा, नहीं तो उसकी आलोचना या तो अयुक्तिपूर्ण स्तुति रह जायगी या केवल अप्रशंसा भर।

कवि या लेखक अपनी कृति में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है जैसा प्रयोग अन्यत्र नहीं मिलता है। आलोचक को उन पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान होना चाहिये। दूसरी बात उसे अपनी आलोचना में एक निश्चित शब्द का एक निश्चित अर्थ में ही व्यवहार करना चाहिए जिससे कि पाठक उसके

पारिभाषिक शब्दों को यदि एक बार समझ ले तो फिर उसे कठिनाई न हो। इसके अतिरिक्त आलोचना क्षेत्र में पहले से जो शब्द एक निश्चित अर्थ में व्यवहृत होते आ रहे हैं उन पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान भी आलोचक को होना चाहिये। जहाँ तक हो सके आलोचक को उन्हीं पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार अधिक करना चाहिये जो अधिक प्रचलित हैं। अपने नए शब्द बनाने की धुन प्रशंसनीय नहीं कह जाएगी।

आलोचक को शब्दशक्ति का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। इसके अभाव में तो निर्दोष आलोचना का होना ही असंभव है। कारण, कभी-कभी शब्द अपने वाच्यार्थ से भिन्न लक्ष्यार्थ का बोध कराता है और कभी व्यंग्यार्थ का। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना ये शब्द की तीन मुख्य शक्तियाँ होती हैं। इनका पूर्ण ज्ञान आलोचक को होना चाहिये। इनके अभाव मे कवि के काव्य चमत्कार को वह स्पष्ट कैसे कर सकेगा। इसी प्रकार सम्पूर्ण अलंकार और रसों का परिचय भी उसे होना चाहिये। सक्षेप में कहे तो कहेंगे कि भाषा की शक्ति क्या होती है, आलोचक को इसे समझना चाहिये। बिना भाषामर्मज्ञ हुए वह साहित्य के कलापक्ष का मार्मिक विवेचन न कर सकेगा और इस प्रकार कवि का उचित मूल्याकन नहीं कर सकेगा। कलापक्ष इतना प्रधान होता है कि अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति को ही कला कहा गया है।

साहित्य की आत्मा से आलोचक को परिचित होना चाहिये। यह तभी संभव है जब वह विद्वान हो और उसकी पैठ गहरी हो, वह भावुक हो तथा रसिक हो। रस ही काव्य की आत्मा है, इसका उसे ज्ञान हो। इसके अतिरिक्त आलोचक की तुला भी ठीक होनी चाहिये। उसे ऐसे दो कवियों की तुलना नहीं करनी चाहिये जिनका विषय, देश एवं परिस्थितियाँ भिन्न हों। उदाहरणार्थ, बिहारी बडे कवि थे या सूर, भूषण बड़े कवि थे या पद्माकर, ऐसी तुलना उचित नहीं। कारण, जब विषय मे ही साम्य नहीं फिर उत्कृष्ट या निम्न होने का निर्णय कैसे दिया जा सकता है ?

धैर्य तथा निष्पक्षता की मनोवैज्ञानिक मनोवृत्ति भी आलोचक में होनी चाहिये। एक बार मे यदि रचना उसे बोधगम्य नहीं हुई तो धैर्यपूर्वक उसे उसका अनुशीलन करना चाहिये तथा निष्पक्ष होकर वैज्ञानिक आधार पर

उस कृति का विश्लेषण करना चाहिये । आलोचक जब तक मनोविज्ञान का पण्डित नहीं होगा तब तक निश्चित रूप से वह साहित्य के मर्म को न समझ सकेगा फिर उसे स्पष्ट करना तो और भी दूर की बात है।

सब बातों के साथ आलोचक की अभिव्यक्ति प्रभावशाली होनी चाहिये। भाषा पर उसका पूर्ण अधिकार होना चाहिये । शैली सरस और सुबोध होनी चाहिये । आलोचक की शैली ही वास्तव में उसका व्यक्तित्व है। किसी बात को इस रूप में समझा देना कि पाठक बिना किसी कठिनाई के समझ जाय और आलोच्य रचना के विषय में उसका मस्तिष्क सुलझ जाय, वही सबसे अधिक सफल आलोचना कही जायगी।

आलोचक का कर्त्तव्य दुहरा होता है। एक ओर तो किसी बात के विश्लेषण और उसके तत्सम्बन्धी प्रभाव के लिये वह समाज के प्रति उत्तर-दायी है, दूसरी ओर कवि के प्रति उसका उत्तरदायित्व और भी अधिक है। समाज तो कवि को आलोचक की दृष्टि से देखता है, अतः किसी कवि के उचित सम्मान का महान दायित्व भी आलोचक के कंधों पर है।

इसके अतिरिक्त वह स्वयं अपने वर्ग (आलोचक) के सम्मान का प्रतिनिधि है। वह कोई ऐसी बात न लिखे जो उस पूरे आलोचक वर्ग के लिये असम्मान का कारण बने। अतः उपरोक्त सब गुण एक सफल आलोचक में होने चाहिएँ।

प्रश्न ८—"काव्य में भावपक्ष और कलापक्ष दोनों का नित्य सम्बन्ध है। जहाँ एक का दूसरे से विछोह हुआ वहाँ काव्य की अन्तरात्मा में अपने को प्रकट करने की सामर्थ्य नहीं रह जाती।" इस कथन पर अपनी युक्तियुक्त सम्मति दीजिये।

उत्तर ८—रोने, गाने और अपनी बात दूसरे से कहने का कार्य मानव अनादिकाल से करता चला आ रहा है। यही वृत्तियाँ वास्तव में संगीत और साहित्य की मूलस्रोत हैं । मनुष्य की अनुभूति और उसे संतोषजनक रूप से अभिव्यक्त करने की ये दो मनोवैज्ञानिक प्रक्रियायें ही साहित्य के विकास का इतिहास प्रस्तुत करती हैं। मानव के मन पर अनजान में ही दुःखसुखमयी अनेक भावनाओं के छायाचित्र अंकित होते गए और उनमें से कुछ जब विशेष

रूप मे स्थिर हो गये तो स्थायी भाव कहलाये। इन्हीं स्थायी भावों की साहित्याभिव्यक्ति 'रस' नाम से अभिहित हुई।

मनुष्य अपने हृदय में जो कुछ अनुभव करता है उसे बिना कहे वह रह नहीं सकता, उसके मस्तिष्क का निर्माण ही कुछ ऐसे तत्वों से हुआ है। मानव कभी चिन्तन करता है, कभी स्मरण करता है और अतीत की घटनाओं का सूत्र वर्तमान से मिलाने लगता है। कभी अपनी अनुभव परिधि की वस्तुओं का वर्गीकरण कर नियम निर्धारण करता है और कभी अपनी दुःख-सुख की भावना को रसमयी वाणी में एक प्रभावशाली एवं मार्मिक अभिव्यक्ति देना चाहता है। इन्ही मूलप्रवृत्तियों से क्रमशः दर्शन, इतिहास, विज्ञान तथा साहित्य का जन्म होता है।

दर्शन, इतिहास और विज्ञान मानव की व्यक्तिगत भावसाधना है; समाज से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं। किन्तु साहित्य भावों की सामाजिक स्तर पर साधना है।

साहित्य भावों का आगार है किन्तु भाव भाषा में ही मूर्त रूप धारण करते हैं। इसलिए मानव संस्कृति के विकास के साथ-साथ जहाँ भावों की विविधता हुई वहाँ उन भावों को संक्षिप्ततम भाषा में किन्तु सशक्ततम रूप में व्यक्त करने की मानव प्रवृत्ति भी सहज ही हुई। साहित्य साधना सम्मिलित रूप में भावसाधना और भाषासाधना है।

प्रत्येक वक्ता अपनी बात को अधिकाधिक प्रभावशाली बनाने के लिए उसे विचित्र ही प्रकार से कहता है। ठीक उसी प्रकार कवि या लेखक अपनी बात साधारण व्यक्ति से भिन्न एक विचित्र चमत्कारयुक्त रूप में प्रकट करना चाहता है। होता यह है कि जब अनुभूति चमत्कारयुक्त अभिव्यक्ति पाती है तो वह अतीव प्रभावशाली बन जाती है और उसका प्रभाव अमिट हो जाता है। केवल साहित्यिक लोगों में ही नहीं अशिक्षित एवं निरक्षर लोगों में भी अपनी बात को चमत्कारपूर्ण ढंग से कहने की प्रवृत्ति होती है। नीचे लिखे वाक्य इसके प्रमाण हैं।

'घोड़ा और फोड़ा हाथ फेरने से बढ़ता है।'
'गाम और राम जो करता है वही होता है।'

उपरोक्त वाक्यों में अनुप्रास का चमत्कार एवं वर्गीकरण की प्रवृत्ति भाव की दृष्टि से है अतः दोनों वाक्य साधारण वाक्य से अधिक चमत्कारपूर्ण और अधिक प्रभावशाली हैं।

अतः स्पष्ट रूप से समझने के लिए साहित्य के दो भाग कर लिए गए हैं। १ भावपक्ष २. कलापक्ष। भावपक्ष का सम्बन्ध मानव मन में हुई विभिन्न अनुभूतियों से है और कलापक्ष का सम्बन्ध उन अनुभूतियों को विशेष उत्कर्षरूप में—चमत्कारपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त करने से है। साहित्य में जब अनुभूति और अभिव्यक्ति का उचित सामंजस्य होता है तो उच्च कोटि के प्रभावशाली साहित्य का निर्माण होता है। किसी भी एक तत्व का अभाव साहित्य की उत्कृष्टता को और उसकी प्रभविष्णुता को कम करता है।

साहित्य की आत्मा तथा शरीर जिन तत्वों (भावपक्ष तथा कलापक्ष) से बनते हैं उनका सैद्धांतिक स्पष्टीकरण असंगत न होगा। यह समझ लेना आवश्यक है कि भावपक्ष में क्या-क्या आता है और कलापक्ष के कितने विभिन्न अवयव हैं।

भावपक्ष :—साहित्य में भावों का प्राधान्य तो अनिवार्य है। भावों के अभाव में साहित्य का अस्तित्व ही संभव नहीं है। प्रायः सभी मनुष्य अपने हृदय में एकसी भावनायें रखते हैं। इसी कारण जब वे साहित्य में व्यक्त होती हैं तो प्रत्येक पाठक उनका आस्वाद करता है। स्थायी भाव ९ हैं जो साहित्य में नवरस के नाम से प्रख्यात हैं। उनके नाम हैं:—

१. शृंगार, २. हास्य, ३. करुण, ४ रौद्र, ५. वीर, ६. भयानक, ७. बीभत्स, ८. अद्भुत तथा ९. शांत।

उपरोक्त स्थायीभाव सभी मनुष्यों के मानस में बीज रूप से अवस्थित रहते हैं और उचित वातावरण मिलने पर जागृत हो जाते हैं। साहित्य के द्वारा किसी भी स्थायी भाव को कभी भी जागृत किया जा सकता है और उसका आनद लिया जा सकता है। साहित्य में सभी अनुभूतियाँ आनंदमयी होकर आती हैं इस कारण उनका उदात्तीकरण हो जाता है।

यों तो भाव संख्यातीत हैं जिनकी गणना सम्भव नहीं, फिर भी वे भाव जो सबके हृदय में समान रूप से अवस्थित हैं ९ ही माने गए हैं। जो

भाव क्षण-क्षण मे परिवर्तित होते रहते हैं वे संचारी या व्यभिचारी भाव कहलाते हैं।

लेकिन केवल भावों से ही साहित्य सृजन सम्भव नहीं उसके लिए और कितनी ही बातें अपेक्षित हैं । प्रतिभा इनमें सर्वप्रथम है । इसका विश्लेषण संभव नहीं, इसलिए इसे ईश्वरप्रदत्त शक्ति भी कहते हैं। प्रतिभाशाली कवि किसी भी भाव को, साधारण से साधारण भाव को, उसके प्रकर्ष रूप में अनुभव करता है और उसकी अभिव्यक्ति पर प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि उसने तो इस बात को अत्यंत साधारण समझकर छोड़ दिया था और यह तो इतनी प्रभावशाली है। यह प्रतिभा ही का कार्य है कि वह अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों की उत्कर्ष साधना करती है । विद्वानों का कहना है कि यह शक्ति अभ्यास शक्ति से प्रथम वस्तु है । और इसलिये कहा जाता है (Poets are born, they are not made) कवि बनाया नहीं जा सकता, वह तो कवि ही पैदा होता है । लेकिन भावपक्ष में इसके साथ-साथ और भी कितनी ही बातें आती हैं। कल्पना और निरीक्षण उनमें से मुख्य हैं। कल्पना के द्वारा ही कवि कितनी ही वस्तुओं को मिलाकर एक नवीन तथा अधिक प्रभावशाली वस्तु प्रस्तुत करता है। किन्तु कल्पना का आधार निरीक्षण है। जितना ही पुष्ट कवि का निरीक्षण होगा उतनी ही तीव्र तथा प्रभावशाली उसकी कल्पना होगी। संक्षेप में उतना ही उसका भावपक्ष पुष्ट होगा।

भावपक्ष की सम्पन्नता एवं उसकी प्रभविष्णुता के लिये कवि का निरीक्षण, उसकी कल्पना तथा उसकी स्वाभाविकता अत्यन्त महत्वपूर्ण वस्तु है। यह तो ठीक है कि कवि सत्य भाव का सत्य होता है फिर भी यदि निरीक्षण की सच्चाई कल्पना के मूल में है तो कल्पना उतनी ही अधिक सजीव और स्वाभाविक होगी।

संग्रह और त्याग का गुण यदि उचित रूप से काव्य में है तो वह उतना ही प्रभावशाली होगा । यह कवि की अग्निपरीक्षा है या कसौटी है कि वह उन्हीं वस्तुओं का ग्रहण करे जो उसके भावपक्ष को सबल या पुष्ट बनायें और हानिकारक घास की भाँति साहित्य वाटिका में से उन वस्तुओं का त्याग कर दे जो उसके भाव की सजीवता में बाधक हैं।

संक्षेप में कह सकते हैं कि कल्पना, निरीक्षण या अनुभव से किसी भाव की अनुभूति भावपक्ष का विषय है।

काव्य भारत में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का दाता कहा गया है, अतः उसकी महत्ता स्पष्ट है। साथ ही उसकी महत्ता की सत्ता के लिये आवश्यक है कि साहित्य का भावपक्ष शालीन विचारों मे ही ओतप्रोत हो। जिस साहित्य का भावपक्ष जितने ही निकृष्ट भावों का संकलन मात्र होगा वह उतना ही निम्न कोटि का साहित्य होगा।

अब कलापक्ष को लें और देखें कि उसके अन्दर कितने तत्व हैं। कलापक्ष में चार बातें आती हैं:—

१. भाषा, २. छन्द, ३ अलंकार, ४. वर्णन।

१. भाषा :—भाषा ही वह शरीर है जहा काव्य मूर्त रूप धारण करता है। यदि भावों के अनुरूप भाषा नहीं होगी तो काव्य में कुरूपता आ जायगी और उसकी प्रेषणीयता कम हो जायगी। भाव कितने ही तीव्र तथा अनुभूत हों किन्तु उन्हें यदि व्यक्त नहीं किया जायगा तो फिर उनका अस्तित्व ही क्या। और वे व्यक्त केवल भाषा में ही किये जायेंगे। अतः भाषा का निर्दोष और गुणयुक्त होना अत्यन्त आवश्यक है। भाषा का उत्कृष्टतम रूप है कि कम से कम में अधिक से अधिक कहा जाय। काव्य-साधना केवल भाव-साधना ही नहीं है, भाषा-साधना भी उसका अनिवार्य अंग है। महान् कवि या लेखक ही महान् भाषाशिल्पी भी होते हैं। वे केवल भाषा का प्रयोग ही नहीं करते उसका निर्माण भी करते हैं। कविता-कामिनी के हृदय की परख तो बाद की वस्तु है, यदि वह आकर्षक वस्तुओं में परिधानित नहीं है तो उसका आकर्षण ही समाप्त हो जायगा। भाषा यदि सशक्त है तो वह भावों की तीव्रता में तथा प्रेषणीयता मे अत्यन्त सहायक होगी। भाषा का कलेवर चार तत्वों से बनता है:—

१. शब्दशक्ति, २. गुण, ३. रीति, ४. वृत्ति।

१ शब्दशक्ति :—अभिधा, लक्षणा, व्यंजना तीन हैं। किस शब्द मे कितनी शक्ति सम्भव है और कब, कहां शब्द क्या अर्थ देता है यह उसका

कार्य है। इसके उचित उपयोग से भाषा गठी हुई, सशक्त और व्यंजनापूर्ण रहती है।

२. गुण :—माधुर्य, ओज तथा प्रासाद तीन हैं। ये क्रमशः श्रृंगार, करुण, वीर, बीभत्स, रौद्र; तथा अद्भुत, हास्य, वात्सल्य रस के लिए उपयुक्त हैं। अर्थात उपरोक्त रसों में यदि क्रमशः उपरोक्त गुण हैं तो रचना अत्यन्त प्रभावशाली होगी।

३. रीतियां:—वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली तीन हैं। माधुर्य गुण के साथ वैदर्भी रीति, ओज के साथ गौडी तथा प्रसाद के साथ पांचाली उपयुक्त रहती है।

४. वृत्तियां:—उपनागरिका, परुषा तथा कोमला तीन हैं। इन सब के उचित सम्मिश्रण से भाषा अत्यन्त प्रभावशाली हो जाती है। भूषण की भाषा ओज गुण के लिए प्रसिद्ध है। रसानुकूल गुण, रीतियां तथा वृत्तियां भाषा को चमत्कारपूर्ण और प्रभावशाली बनाती हैं।

२. अलंकार:—भाषा से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है और ये उससे पृथक् नहीं किये जा सकते। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा जिनका साहित्य में नामकरण किया जाता है उनका प्रयोग अशिक्षित और निरक्षर व्यक्ति करते देखे जाते हैं। अत: स्पष्ट है कि अलंकार केवल मस्तिष्क की उपज नहीं हैं, भाषा से उनका सहज सम्बन्ध है।

अलंकार तीन प्रकार के माने गए हैं ?

१. शब्दालंकार, २. अर्थालंकार, ३. उभयालंकार।

अलंकार भाषा के लिए सचमुच आभूषण हैं भार रूप नहीं किन्तु—"अति सर्वत्र वर्जयेत्"। सफल काव्य में अलंकार भावों को तीव्र करने के लिए आते हैं।

शब्दालंकार—शब्दों में चमत्कार लाते हैं।

अर्थालकार—अर्थ मे चमत्कार उत्पन्न करते हैं

उभयालंकार—शब्द, अर्थ दोनों में चमत्कार उत्पन्न करते हैं।

महाकवि केशव कहा करते थे:—

'भूषण बिना न सोहई कविता वनिता मित्त'।

संस्कृत भाषा में तो अलंकार सम्प्रदाय ही अलग था जो अलंकारहीन काव्य को काव्य मानने को तैयार नहीं था। इसमें संदेह नहीं कि यदि उचित प्रयोग किये गए हों तो अलंकार भावों को तीव्र करते हैं और काव्य के स्थायित्व में सहायक होते हैं।

३ छंद:—काव्य में संगीत की उपस्थिति इतनी आवश्यक है कि संसार का प्रायः सभी भाषाओं का आदिसाहित्य छन्दों में है। संस्कृत भाषा में कहा गया है कि "संगीत और काव्य सरस्वती के दो स्तन हैं"। अर्थात् दोनों अभिन्न हैं। भावहीन संगीत केवल गलेबाजी होगा और संगीतहीन काव्य केवल शुष्क वाक्य रचना। संस्कृत भाषा में छन्दों का विस्तृत विवेचन है, जहा यह बताया गया है कि किस रस के लिए कौन सा छन्द उपयुक्त है।

छन्द ही कवि की अग्निपरीक्षा है जहां उसका भाषाज्ञान कसौटी पर कसा जाता है। छन्द में रसानुकूल गुण, वृत्ति और रीति बडी साधना का विषय हैं। किन्तु इनका यदि उचित सामंजस्य हो तो भाषा अत्यन्त चमत्कार-पूर्ण और प्रभावशाली बन जाती है और यदि भाषा सशक्त और संगीतपूर्ण है तो काव्य का उत्कृष्ट होना अनिवार्य है।

४. वर्णन—वर्णन की शक्ति भी इन आवश्यक तत्वों में से एक है। उपरोक्त सम्पूर्ण तत्वों का यन्त्रवत् सामंजस्य सौंदर्यविधायक नहीं होगा जब तक कि वर्णनशैली ठीक न होगी, कवि के एक-एक शब्द में, एक-एक वाक्य में वह छिपा रहता है। वाक्यों का चयन और एक सुनिश्चित ढग पर उनका नियोजन एक लम्बी साधना का सुपरिणाम होता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि भावपक्ष और कलापक्ष साहित्य के दो प्रधान अंग हैं और इनमे से किसी अंग की अपूर्णता, अपुष्टता साहित्य की दुर्बलता, प्रभावहीनता का कारण बनता है तथा इनका उचित सामंजस्य ही काव्य को अलौकिक प्रभाव और सौंदर्य से युक्त कर देता है।

प्रश्न ६—रस का संचार पात्रों मे होता है अथवा दर्शकों में ? इस सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों का मत उल्लेख कीजिये। इनमें कौन सा मत ग्राह्य है ? कारण सहित उत्तर दीजिये।

उत्तर ६—संस्कृत साहित्य में रस शब्द नाटकों से विशेष रूप से

सम्बद्ध है। नाट्यशास्त्र के आदि आचार्य भरतमुनि माने जाते हैं। यद्यपि भरतमुनि का नाट्यशास्त्र अति प्राचीन रचना है किन्तु उसमें विषयों का वर्गीकरण तथा विवेचन इतना संगत और पूर्ण है कि आज भी उसमें सुधार सम्भव नहीं है।

यह विवाद बहुत प्राचीन है कि रसनिष्पत्ति कहा पहले होती है? इसके लिए इतनी सम्भावनायें की जाती हैं :—

१. मूल पात्रों के हृदय में होती है जिनका वर्णन काव्य में किया गया हैं।

२. लेखक के हृदय में रसनिष्पत्ति होती है।

३. अभिनेताओं के हृदय में रसनिष्पत्ति प्रथमतः होती है।

४. दर्शक के हृदय में रसनिष्पत्ति होती है।

इस विवाद का मूल वाक्य है भरतमुनि के नाट्यशास्त्र का यह वाक्य "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"। इसी सूत्र की व्याख्या विभिन्न आचार्यों ने अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार की है और अपना मत निरूपित किया है।

इस सिद्धांत को समझने से पूर्व भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव क्या हैं,—को समझ लेना ठीक होगा।

मन के विकारों को भाव कहते हैं। ये ही काव्यार्थों की भावना कराते हैं, वाणी, अंगरचना या अनुभूति द्वारा। ये भाव दो प्रकार के होते हैं।

१. स्थायी भाव—जो अधिक देर तक मन में रह कर रस का आस्वादन कराते हैं।

२. व्यभिचारी भाव—जो क्षण क्षण में परिवर्तित होते रहते हैं स्थायित्व की विशेषता इनमें नहीं होती।

भरत के अनुसार स्थायी भाव आठ हैं।

१. रति, २. हास, ३. क्रोध, ४. उत्साह, ५. भय, ६. जुगुप्सा ७. विस्मय और ८. शोक।

इसी प्रकार संचारी या व्यभिचारी भावों की संख्या उन्होंने ३३ मानी है यद्यपि उनकी संख्या असख्य है फिर भी इन्हीं ३३ के अन्तर्गत ही

उन सब के समावेश करने का प्रयत्न किया जाता है।

विभाव—अकेले स्थायी भाव ही रस निष्पन्न नहीं कर सकते,यह कार्य विभावों की सहायता से ही सम्भव है।

विभाव दो प्रकार के होते हैं—१. आलम्बन विभाव २. उद्दीपन विभाव। जो विभाव भाव को जागृत करते हैं वे आलम्बन विभाव हैं तथा जो उन जागृत भावों को उद्दीप्त कर आस्वाद्य बनाते हैं वे उद्दीपन विभाव हैं। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

वाटिका में सीता को देखकर राम के हृदय मे रतिभाव जागृत हुआ। यहां सीता आलम्बन विभाव हुई, और वाटिका ने उस जागृत भाव को उद्दीप्त कर और भी तीव्र कर दिया। यहां वाटिका उद्दीपन विभाव हुई। विभावों के अभाव में कोई भाव उदित नहीं होता।

अनुभाव—अनुभाव का अर्थ है भाव के पीछे होने वाला। जब भाव के जागृत होने के लक्षण व्यक्त होने लगते हैं, वे ही अनुभाव कहलाते हैं। विभाव भाव को अंकुरित करते हैं, अनुभाव उसे आस्वाद्य बना देते हैं।

अनुभाव तीन प्रकार के होते हैं—१. कायिक, २. मानसिक ३. सात्विक। इनमें सात्विक अनुभाव रसों से अधिक निकट का सम्बन्ध रखते हैं अतः इनकी संख्या भी आचार्यों ने निश्चित कर दी है। इनके आठ भेद हैं:—

१. स्तंभ, २. स्वेद, ३. रोमांच, ४. स्वरभंग, ५. वेपथु, ६. वैवर्ण्य, ७. अश्रु, ८. प्रलय। ये ही वे सब बातें हैं जो रसनिष्पत्ति के समझने में सहायक होती हैं।

भरतमुनि के उस प्रसिद्ध सूत्र से यह तो स्पष्ट होता नहीं कि रस-निष्पत्ति किस प्रक्रिया से होती है। इसीलिए 'संयोग' और 'निष्पत्ति' को लेकर विभिन्न आचार्यों ने इसके विभिन्न अर्थ किये हैं।

इस सिद्धांत के मीमांसक चार आचार्य प्रसिद्ध हैं, जिनके नामों पर रसनिष्पत्ति के सिद्धांत के विभिन्न वादों के नाम पड़े।

१. भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद :—भट्ट लोल्लट का रसविषयक सिद्धांत उत्पत्तिवाद नाम से प्रसिद्ध हुआ। उन्होंने 'निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति' तथा 'संयोग' का अर्थ 'सम्बन्ध' किया। मीमांसाशास्त्र के अनुसार कार्य-

कारण सम्बन्ध मानकर उन्होंने इसकी व्याख्या की। वे विभाव को कारण तथा रस को कार्य मानते हैं। उनके मत से रस वास्तव में नायक आदि पात्रों में उत्पन्न होता है। नट चूंकि उनका अनुकरण, वाणी, वेशभूषा, क्रिया आदि से करते हैं अतः उनमें भी रस की प्रतीति होती है। दर्शक या पाठक चमत्कृत होकर आनन्द लाभ करते हैं।

इस मत में कई आपत्तियां उठती हैं।

१—भावों का अनुकरण किस प्रकार संभव हो सकता है? हाँ, बाह्य बातों का अनुकरण किसी प्रकार हो भी सकता है पर अनुभूति का तो नहीं हो सकता।

२—भट्ट लोल्लट कहते हैं कि पाठक चमत्कृत होकर आनन्दित हो उठता है वह स्वयं उस भाव का अनुभव नहीं करता। भला यह कैसे संभव है कि जिस भाव का पाठक अनुभव न करे और उससे वह आनन्दित भी हो जाय।

३—कार्यकारण सम्बन्ध भी ठीक प्रतीत नहीं होता। क्योंकि कार्य का अस्तित्व कारण के बाद भी रह सकता है परन्तु रसका अस्तित्व तो विभाव आदि के प्रत्यक्ष न रहने पर रह ही नहीं सकता। कार्य और कारण में पूर्वापर का सम्बन्ध भी आवश्यक है परन्तु विभावों का दर्शन और आनन्दानुभूति एक साथ ही होती है कार्य-कारण की भाँति कुछ भी आगे-पीछे नहीं।

२—श्री शंकुक का अनुमितिवादः—न्याय के आधार पर श्री शंकुक ने अनुमितिवाद का प्रतिपादन किया तथा उत्पत्तिवाद का खंडन किया। उन्होंने चित्र-तुरंग-न्याय के आधार पर इसका अस्तित्व अनुमान द्वारा अभिनेता में ही मान लिया साथ ही वे मूलतः उसका अस्तित्व नायक में ही मानते हैं। परन्तु जिस प्रकार दर्शक चित्र के घोडे को घोडा ही कहता है उसी प्रकार नायक की वेशभूषा, वाणी तथा जीवन का अभिनय करने वाले को नायक ही समझ लेता है। इसी भ्रम के कारण वह नट में भी नायक के भावों का अनुमान कर लेता है और फिर भाव सौंदर्य के कारण चमत्कृत हो जाता है और इस प्रकार एक अलौकिक आनन्द का अनुभव करता है। यही आनन्द या स्वाद रस कहलाता है। यह स्मरणीय है कि उन्होंने भरत की निष्पत्ति का

अर्थ अनुमिति माना तथा न्यायशास्त्र के आधार पर गम्य-गमक सम्बन्ध माना। अनुमान के कारण ही यह अनुमितिवाद कहलाया। इस के विरुद्ध भी कितने ही आक्षेप लगाए गए हैं।

१—अनुमान से ऐसा आनन्द कैसे आ सकता है जैसा प्रत्यक्ष ज्ञान से?

२—रस की सत्ता दर्शक या पाठक में इसमें भी नहीं मानी जाती फिर दूसरे के भावों से वह चमत्कृत कैसे हो उठता है?

३—यदि यह मान लें कि दर्शक या पाठक के हृदय में वे भाव उदित हो जाते हैं जो नायक के हृदय में आलम्बन के प्रति हैं तो देवता या पूज्य व्यक्तियों के विषय में इसका उचित समाधान नहीं हो पाता। नाटक में राम सीता के प्रति जो भाव रखते हैं पूज्य होने के कारण दर्शक वही भाव कैसे रख सकता है।

४—रसानुभूति सदा आनन्दमय होती है फिर यदि दर्शक नायक के भावों का ही अनुभव करेगा तो उसके रसानुभव को सदा आनन्दस्वरूप ही नहीं माना जा सकता क्योंकि जब नायक शोक में होगा तो उसे भी शोकयुक्त होना चाहिए। पर ऐसा नहीं होता अतः यह भी दोषमुक्त नहीं है।

भट्टनायक का भुक्तिवादः—सांख्य के आधार पर भट्टनायक ने भुक्तिवाद का प्रतिपादन किया। उन्होंने निष्पत्ति का अर्थ लिया भोग तथा संयोग का अर्थ भावित होना (साधारण रूप से योग) लिया। सर्वप्रथम इन्होंने रस की अवस्थिति दर्शक या पाठक में मानी। उन्होंने स्थायी भाव से रस बनने की प्रक्रिया में तीन शक्तियों की कल्पना की—१ अभिधा २ भावकत्व ३ भोजकत्व।

१—अभिधा—जिसके द्वारा काव्य का साधारण या आलंकारिक अर्थ बोधगम्य होता है।

२—भावकत्व—इसके द्वारा काव्य के विभाव-अनुभाव किसी पात्र विशेष के न रहकर साधारण अर्थात् मनुष्य मात्र के अनुभव करने योग्य हो जाते हैं। उदाहरणार्थ पाठक या दर्शक के लिये शकुन्तला एक स्त्री तथा दुष्यंत पुरुष मात्र रह जाता है।

३—भोजकत्व—यह वह क्रिया है जिसके द्वारा साधारणीकृत भाव का रसरूप में भोग होता है। इस भोग द्वारा मनुष्य की रजस् तथा तमस् प्रकृति शांत हो जाती है और केवल सत्वगुण का ही प्राधान्य हो जाता है जिसके कारण प्रत्येक अनुभव आनन्दमय ही होता है।

इस सिद्धान्त में भी एक कमी समझी गई कि काव्य की तीन शक्तियाँ मानने का क्या आधार है और फिर जब किसी बात का समाधान युक्तियुक्त कारणों से किया जा सकता है तो फिर उसके लिए काल्पनिक बातों की क्या आवश्यकता है ?

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवादः—अभिनव गुप्त ने वेदांत के आधार पर अभिव्यक्तिवाद का प्रतिपादन किया और भट्टनायक की भावकत्व तथा भोजकत्व दो काल्पनिक क्रियाओं के स्थान पर व्यञ्जना या ध्वनि ही उचित ठहराई। उन्होंने कहा कि भावों में भावकत्व का गुण तो सहज ही रहता है 'काव्यार्थान् भावयंतीति भावाः' (जो काव्यार्थों को भावना का विषय बनायें वे भाव होते हैं) और रस में भोग का भाव भी पहले से ही विद्यमान रहता है। कहा भी है "आस्वाद्यत्वाद्रसाः" (रस वही है जिसका आस्वाद हो सके) अतः भोजकत्व शक्ति की कल्पना भी अनावश्यक है। उन्होंने 'संयोग' का अर्थ लिया ध्वनित या व्यंजित होना तथा 'निष्पत्ति' का उन्होंने अर्थ लिया आनन्दरूप में प्रकाशित होना।

अब प्रश्न उठता है कि तब रस की अभिव्यक्ति होती कैसे है ? इसका यही उत्तर है, मानव के मन पर विभिन्न भावनायें स्वतः अंकित रहती हैं। वह जो कुछ जीवन में अनुभव करता है वही उसके हृदय में बीज रूप में बना रहता है। इस प्रकार दर्शक या पाठक के मन में स्थायीभाव वासनारूप से पहले से ही विद्यमान होते हैं। वे हर समय सुषुप्तावस्था मे रहते हैं और अज्ञान के आवरण में ढके रहते हैं किन्तु सुन्दर अभिनय तथा विभावानुभाव के प्रदर्शन से वह आवरण हट जाता है और वे जागृत हो उठते हैं या कहिए अभिव्यक्त हो उठते हैं। डा०श्यामसुन्दरदास का कथन है "इस प्रकार आत्मानन्द के प्रकाश में जब उनका अनुभव होता है तब वे रस कहे जाते हैं। यही रसास्वादन है।"

किन्तु यह आवश्यक नहीं कि सभी भाव वासनारूप से सभी

व्यक्तियों के हृदयों में रहते हों। जिन व्यक्तियों को काव्य में आनन्द नहीं आता है वे ऐसे ही व्यक्ति होते हैं। तार्किक और वैयाकरण ऐसे ही प्राणी हैं। केवल सहृदय ही काव्य का आनन्द ले सकता है। मनुष्य सहृदय तीन प्रकार से हो सकता है—१. सांसारिक अनुभव से, २. अभ्यास से ३. पूर्व जन्म के संस्कार से। जिसमें तीनों में से एक भी गुण नहीं वह काव्यानन्द लेने का अधिकारी नहीं।

उपरोक्त वर्णित मतों में अभिनव गुप्त का मत ही बाद के शास्त्रकारों को मान्य हुआ। धनंजय का उनसे केवल इतना ही मतभेद है कि वे आनन्द नट में भी मान बैठे हैं। पर यह बात युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती। कारण, यदि अभिनेता को भी आनंदानुभव होने लगेगा तब तो वह दर्शक की भांति भावावेश में आजायगा और अभिनय का कार्य जो कि पूर्ण चेतनता के बिना सभव नहीं किस प्रकार सफलता से हो सकेगा। यदि अभिनेता अपने को सचमुच राम और रावण अनुभव करने लग जाएँ तो रंगमच पर बड़ा बुरा दृश्य उपस्थित हो जायगा। सब इतना तो मानते ही हैं कि स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव के संयोग से आस्वाद्य हो जाता है तभी रसरूप में पाठक या दर्शक उसका आस्वादन करता है। अनुभव करने तथा आस्वादन करने में भेद है। अनुभव में दुःख और सुख दोनों प्रकार के भावों की सत्ता रहती है किन्तु आस्वादन में केवल सुखानुभूति ही होती है। यही कारण है कि दर्शक आवश्यकता पड़ने पर रोने तो लगते हैं पर उस में भी उन्हें आनन्द आता है। वे करुणतम दृश्य को बारबार देखना चाहते हैं। यदि ऐसी बात न होती तो वे करुण रस की वस्तुयें देखना भी पसंद नहीं करते। किन्तु भवभूति का उत्तर रामचरित जितना लोकप्रिय सिद्ध हुआ है उतना शायद ही कोई नाटक हुआ हो।

अभिनव गुप्त ने रस की अवस्थिति प्रेक्षक (दर्शक या पाठक) में मानी है जो ठीक है। तथा यह भी ठीक है कि रस उत्पन्न नहीं होता निष्पन्न होता है। जो वस्तु पहले से ही अस्तित्व में है वह पैदा या उत्पन्न कैसे हो सकती है? अतः निष्पन्न शब्द ही उचित है। इसमें संदेह नहीं कि अभिनवगुप्त के मत में सम्पूर्ण शंकाओं का निराकरण हो जाता है और उनके द्वारा प्रतिपादित

सिद्धांत ही अबतक प्रतिपादित तद्विषयक सिद्धांतों में सर्वाधिक निर्दोष दिखाई देता है।

प्रश्न १०—काव्य में प्रकृति चित्रण कितने प्रकार से हुआ है ? विस्तार पूर्वक लिखिए।

उत्तर १०—मनुष्य प्रकृति की गोद में रहता है। प्रकृति ने उसे सहज ही अनेकों बार लुभाया है उसके मन को आकर्षित किया है। मानव सभ्यता ने जब आँखें खोली होंगी तब भी उसने अपने आपको प्रकृति की सुरम्य गोद में पाया होगा। मानव ने पुष्पों को देखकर—सूर्य-चन्द्र और वृक्षों को देखकर आश्चर्य प्रकट किया होगा। कौतूहलपूर्ण नेत्रों से प्रकृति के अंगप्रत्यंग को देखा होगा। उसका वह आश्चर्य, प्रकृति के प्रति प्रेम की वह भावना आज भी सामवेद में सुरक्षित है। अनादिकाल से मानव प्रकृति को प्रेम करता आ रहा है अतः साहित्य में—जीवन की अभिव्यक्ति में—प्रकृति का वर्णन न होता यही आश्चर्य की बात थी।

हिंदी काव्य में प्रकृति मुख्यतः दो रूपों में आई है—१—प्रस्तुत रूप में २ अप्रस्तुत रूप मे।

प्रस्तुत रूप में भी प्रकृति चित्रण के दो प्रकार मिलते हैं। १—अर्थ-ग्रहण-मात्र २—बिम्बग्रहण। अर्थग्रहणमात्र को भी दो रूपों में विभाजित किया जा सकता है।

१—नामपरिगणनात्मक २—शुद्ध प्रकृति चित्रण।

बिम्बग्रहण के प्रकार को भी चार भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

१—शुद्ध प्रकृति वर्णन, २—पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति चित्रण, ३—मानवीकरण के रूप में प्रकृति चित्रण, ४—अलंकृत रूप में प्रकृति चित्रण।

प्रकृति चित्रण के अप्रस्तुत भेद को चार भागों मे विभाजित किया जा सकता है :—

१—उद्दीपन रूप में प्रकृतिचित्रण २—रहस्यवाद के रूप में प्रकृतिचित्रण ३—अलंकार के रूप में प्रकृतिचित्रण ४—उपदेश के रूप में प्रकृतिचित्रण।

इसके अतिरिक्त प्रतीकरूप में तथा दूतरूप में भी प्रकृति का चित्रण काव्य में किया जाता है। यहाँ एक-एक प्रकार को लेकर प्रकृति चित्रण स्पष्ट किया जाएगा।

प्रस्तुत रूप में या आलम्बन रूप में प्रकृति चित्रण कालिदास, वाल्मीकि, सेनापति, पन्त तथा प्रसाद आदि में मिलता है।

कालिदास के रघुवंश में भी प्रकृतिचित्रण आलम्बन रूप में मिलता है। वाल्मीकि रामायण में पर्याप्त स्थल ऐसे हैं जहाँ आलम्बन रूप में प्रकृति का वर्णन मिलेगा। सेनापति ने यद्यपि अपना अधिकांश काव्य रीतिकालीन परम्परा के अनुसार ही लिखा है किन्तु फिर भी सेनापति की प्रवृत्ति प्रकृति चित्रण की दीख पड़ती है। क्वार घन के ऊपर लिखते हुए वे कहते हैं :-

"रजत से राजत हैं पूरब कौं भाजत हैं, गग गग गाजत हैं, गगन घन क्वार के।" इसी प्रकार शरदागम का वर्णन देखिए :-

"पाउस निकास ताते पायौ अवकास,
भयौ जोन्ह कौ प्रकास सोभा अति रमनीय कौं।
विमल अकास होत वारिज विकास,
सेनापति फूले कास हित हंसन के हीय कौं।
छिति न गरद मानो रंगे हैं हरद,
सालि सोहत जरद को मिलावै हरिपीउ कौं।
मत्त हैं दुरद मिट्यौ खंजन दरद,
ऋतु आई, है सरद सुखदाई सब जीव कौं।"

उपरोक्त दोनों उद्धरणों में यह स्पष्ट है कि कवि का मन प्रकृति चित्रण में रम रहा है और प्रकृति ही उसके भावों का आलम्बन है। छायावादी कवियों में तो प्रकृति अपने सुन्दरतम रूप में आई है। कवि प्रकृति को इतना अधिक प्रेम करता है कि वह संसार को उतना पसन्द नहीं करता।

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले ! तेरे बालजाल में कैसे उलझा दूं लोचन
छोड़ अभी से इस जग को। (पंत)।

इसी प्रकार अन्य छायावादी कवियों से भी इसके सहस्रशः उद्धरण दिए जा सकते हैं।

बिम्बग्रहण के प्रकार के अन्तर्गत शुद्ध प्रकृतिवर्णन भी मिलता है। कामायनी में प्रसाद जी ने इसका प्रचुर प्रयोग किया है। देखिए :—

स्वर्ण शालियों की कलमें थी दूर-दूर तक फैल रहीं,
शरद इन्दिरा के मन्दिर की मानो कोई गैल रही।
अचल हिमालय का शोभनतम लताकलित शुचि सानुशरीर।"

पृष्ठभूमि के रूप में संस्कृत काव्यग्रन्थों में तथा हिंदी काव्यग्रन्थों में भी प्रकृतिवर्णन मिलता है। कुशल कवि प्रकृति को पृष्ठभूमि में रखकर चित्रों की सुन्दरता बढ़ा देते हैं। आधुनिक काल में प्रकृति का पृष्ठभूमि रूप में चित्रण करने में हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त तथा प्रसादजी विशेष प्रसिद्ध हैं। सब से अधिक सफलता हरिऔध को इसमें मिली है। प्रियप्रवास में कृष्ण के मथुरा जाने से पूर्व की अन्तिम रात्रि, वैदेही वनवास में सीतावनवास का प्रातः—इसके सुन्दरतम निदर्शन हैं। इसी प्रकार सीता वनवास के पूर्व की शांत रजनी एक दम विक्षुब्ध हो उठती है।

थी सब ओर शांति दिखलाती प्रकृति नटी नर्तन रत थी।
फूली फिरती थी प्रफुल्लता उत्सुकतातितरंगित थी॥
उसी समय बढ़ गया वायु का वेग क्षितिज पर दिखलाया।
एक लघु जलद खंड पूर्व में जो बढ़ 'वारिद बन पाया॥
इसी प्रकार प्रसादजी में भी :—

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठ शिला की शीतल छांह।
एक पुरुष भीगे नयनों से देख रहा था प्रलय प्रवाह॥
नीचे जल था ऊपर हिम था एक तरल था एक सघन।
एक तत्व ही की प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन॥

मानवीकरण के रूप में प्रकृति चित्रण :—यों तो कहा जाता है कि वेदों तक में प्रकृति के मानवीकरण के उदाहरण मिलते हैं परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि एक प्रवृत्ति के रूप मे आज से पूर्व वह कभी नहीं रहा। प्रकृति में प्राण का आरोप यह छायावादी काल की ही विशेषता है और आधुनिक छायावादी कवियों ने इसका प्रचुर प्रयोग किया है। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी इस दिशा के महान कलाकार हैं।

प्रसाद से एक उदाहरण लीजिए। रात्रि का मानवीकरण :—

पगली हाँ सम्भाल ले कैसे छूट पड़ा तेरा अंचल,
देख बिखरती है मणिराजि अरी उठा बेसुध चंचल ।

पंत से एक उदाहरण लीजिये । गंगा का मानवीकरण—
सैकत शैया पर दुग्ध धवल तन्वंगी गंगा ग्रीष्म विरल,
लेटी है श्रांत, क्लांत, निश्चल तापस बाला गंगा निर्मल ।
शशिमुख से दीपित मृदु करतल लहरें उर पर कोमल कुंतल ।।

निरालाजी की जुही की कली छायावाद की सर्वप्रथम तथा सर्वश्रेष्ठ रचना के रूप में प्रसिद्ध है । एक तरुणी के रूप में निराला जी ने उसका चित्र अंकित किया है ।

विजन वन वल्लरी पर सोती थी सुहाग भरी,
स्नेह स्वप्न मग्न अमल कोमल तन तरुनी-जुही की कली ।
दृग बंद किए शिथिल पत्रांक में ।।

यों तो कालिदास का मेघदूत पूरी रचना ही मानवीकरण का उदाहरण प्रस्तुत करती है किन्तु हम इस परम्परा का प्रवाह अक्षुण्ण नहीं पाते ।

संवेदनात्मक रूप में प्रकृति चित्रण :—कभी मनुष्य जब दुःखी होता है तब अपने चतुर्दिक वातावरण को भी खिन्न एवं उदास पाता है और जब प्रसन्न होता है तो प्रकृति भी उसे विहंसती दृष्टिगोचर होती है । दुःख-सुख की यही भावना इस प्रकार के प्रकृतिचित्रण के मूल में है । साहित्य में—किसी भी साहित्य में इसके उदाहरण विरल नहीं हैं । सीता के वियोग में राम को सब प्रकृति ही विषादमयी लगती है । (तुलसी) तथा लक्ष्मण के वियोग में उर्मिला को यावत् सृष्टि रोती ही दिखाई देती है । हरिऔध में भी इसके पर्याप्त उदाहरण मिलेंगे । प्रसाद जी से एक उदाहरण लीजिये । कामायनी मनु के वियोग में उन वस्तुओं को जो सुखद थीं आज दुखद देखती है :—

आज सुनूं केवल चुप होकर कोकिल चाहे जो कह ले,
अब न परागों की वैसी है चहल पहल जो थी पहले ।
इस पतझड़ की सूनी डाली और प्रतीक्षा की सध्या,
कामायनि ! तू हृदय कड़ा कर धीरे-धीरे सब सह ले ।।

नामपरिगणनात्मक रूप में प्रकृति चित्रण :—कुछ समय अपनी बहुज्ञता के प्रदर्शन का ऐसा प्रचलन हो गया था कि लोग विभिन्न वस्तुओं की लम्बी तालिका देने में अपने काव्य की सार्थकता समझने लगे थे। तुलसी, सूर, जायसी और आधुनिक काल में हरिऔध तक इस प्रवाह से न बच सके। भक्ति-रीति युग के संधिकाल के कवि केशव ने भी इसे अपनाया।

कुछ उदाहरण लीजिये :—

लवंग सुपारी जायफर सब फरफरे अपूर।
आसपास घन इमली औ घन तार खजूर॥ (जायसी)

तथा

तरु तालीस तमाल ताल हिंताल मनोहर।

+ + +

एला लता लवँग सँग पुंगीफल सोहैं। (केशव)

इस प्रकार का प्रकृति-चित्रण निकृष्ट कोटि का माना जाता है अतः छायावादी युग में इसका नितांत अभाव रहा।

उद्दीपन रूप में प्रकृतिचित्रण:—उद्दीपन रूप में प्रकृति का प्रयोग सबसे अधिक किया गया है। संस्कृत में तो उद्दीपन रूप में प्रकृति वर्णन का एक नियम सा ही बन गया था जिसका अनुकरण हिंदी के रीतिकाल में अत्यधिक किया गया। भक्तिकाल में भी उद्दीपन के रूप में प्रकृति चित्रण का बाहुल्य है और सूर में तो प्रकृति सबसे अधिक उद्दीपन रूप में ही आती है। छायावादी युग में इसके कुछ उदाहरण ही भले मिल जांय। एक प्रवृत्ति के रूप में वह इस युग में नहीं रहा। प्रसिद्ध समालोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सर्वप्रथम इसका विरोध किया और कहा कि आलम्बन रूप में भी प्रकृति-चित्रण होना चाहिए क्योंकि प्रकृति का भी स्वतन्त्र अस्तित्व है।

उद्दीपन रूप में प्रकृति चित्रण उसे कहते हैं जहां प्रकृतिभावों को उद्दीप्त करने के लिए प्रयुक्त होती है।

कुछ उदाहरण लीजिए :—

घन घमंड नभ गरजत घोरा, प्रियाहीन मन डरपत मोरा। (तुलसी)

सूर का एक उदाहरण लीजिये :—

बिन गुपाल बैरिनि भईं कुंजें।

तब ये लता लगति अति सीतल अब भईं विषम ज्वाल की पुंजें।
वृथा बहति जमुना खग बोलत वृथा कमल फूलें अलि गुंजें।
पवन पानि घनसार सजीवन दधिसुत किरन भानु भइ भुंजें।

बिहारी का एक उदाहरण लीजिए :—

हौंही बौरी विरहबस, कै बौरो सब गांव।
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहिं सीतकर नाँव॥

इस प्रकार के असंख्य उदाहरण दिए जा सकते हैं। कारण, अधिकांश काव्य प्रकृति के उद्दीपन रूप में चित्रण से भरा पड़ा है। आधुनिक कवि प्रसाद से भी एक उदाहरण देना असंगत न होगा। श्रद्धा के प्रति प्रेम को प्रकृति पदार्थ मनु के हृदय में तीव्रतर कर देते हैं :—

मधु बरसती विधु किरण है कांपती सुकुमार,
पवन मे है पुलक मथर चल रहा मधुभार।
तुम समीप अधीर इतने आज क्यों है प्राण,
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण।

अलकार रूप में प्रकृति वर्णन :—कवि अपने काव्य के लिए उपमान अधिकतर प्रकृति के ही असीमित कोष से लेता है। दांत दाड़िम, शुक नासिका, हंस जैसी चाल, चन्द्रमा के समान मुख आदि उपमान प्रकृति से ही प्राप्त होते हैं। अतः अलंकार रूप में प्रकृति चित्रण भी उद्दीपन की भांति ही अधिकता से मिलता है। ऐसा कोई कवि नहीं होगा जिसने अपने उपमान प्रकृति से न लिये हों। सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, आधुनिक काल में प्रसाद, पंत, महादेवी, निराला आदि सब ही अपने काव्य के उपमान अधिकतर प्रकृति से ही लेते हैं। इसके उदाहरण सभी कवियों में बिना कठिनाई के प्राप्त हो सकते हैं। यहां हम कुछ उदाहरण प्रसादजी से देंगे। श्रद्धा का ऐसा अलंकृत वर्णन हिंदी में अन्यत्र नहीं मिलेगा।

नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा था मृदु अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ वन बीच गुलाबी रंग।

+ + +

आह वह मुख पश्चिम के व्योम बीच जब घेरते हो घन श्याम,
अरुण रविमण्डल उनको भेद दिखाई देता हो अभिराम।
घिर रहे थे घुंघराले बाल अंस अवलम्बित मुख के पास,
नील घन शावक से सुकुमार सुधा भरने को विधु के पास॥

उपदेश के रूप में प्रकृति वर्णन:—यद्यपि काव्य में इसका प्राचुर्य नहीं फिर भी भक्तिकालीन काव्य में यह अपेक्षाकृत अधिकता से दृष्टिगोचर होता है और तुलसी रामायण में तो यह अपने चरम रूप में दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण लीजिये :—

हरित भूमि तृण संकुलित, समुझि परै नहि पंथ।
ज्यों पाखंड विवाद ते, लुप्त होंइ सद्ग्रन्थ॥

महा वृष्टि चलि फूटि कियारी। जिमि स्वतन्त्र होई बिगरै नारी॥
क्षुद्र नदी भरि चलि उतराई। ज्यों थोरेहु धन खल बौराई॥
दामिनी दमकि रही घन माही। खल की प्रीति यथा थिर नाही॥

रहस्यवाद के रूप में प्रकृति चित्रण: कवि जब प्रकृति निरीक्षण में तल्लीन हो जाता है तो उसमें वह उस असीम सत्ता का आभास पाने लगता है। साधक और कवि में यही अन्तर है कि उस असीम सत्ता का आभास तो दोनों पाते है किन्तु साधक उसे व्यक्त नहीं करता—करना चाहता भी नहीं किन्तु कवि उस आनद को व्यक्त कर देना चाहता है। काव्य सृजन के समय जब कवि प्रकृति का वर्णन करते-करते तन्मय हो जाता है तो रहस्यात्मकता सहज ही उसमें आ जाती है।

प्रकृति का यह रहस्यात्मक रूप वेदो के समय से ही पाया जाता है। कबीर और फिर जायसी मे इसके दर्शन सुन्दर रूप में होते हैं। आधुनिक कवियों में प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी सभी में प्रकृति का रहस्यात्मक रूप प्रचुरता से मिलता है। लोगों का यह कहना है कि यह उन पर सर्वात्मवाद के प्रभाव के कारण है। कुछ उद्धरण इस विषय में द्रष्टव्य हैं।

देखि मानसर रूप सुहावा, हिय हुलास पुरइन होइ छावा ।
गा अँधियार रैन मसि छूटी, भा भिनुसार किरन रवि फूटी ।
अस्ति अस्ति सब साथी बोले, अन्ध जो अहे नैन विधि खोले ।

तथा

पवन जाइ तँह पहुचै चहा, मारा तैस लोटि भु इ रहा।
पानि उठा उठि जाइ न छूआ, बहुरा रोइ आइ भुइ चूआ ।
(जायसी)

जो चमक कर लोचनों को मूँदता तड़ित की मुस्कान में वह कौन है ?
(महादेवी वर्मा)

प्रसादजी का एक उदाहरण लीजिये :—

महानील इस परम व्योम में अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान ।
गृह नक्षत्र और विद्युतकण किसका करते हैं संधान ॥
छिप जाते हैं और निकलते आकर्षण में खिंचे हुए ।
तृण वीरुध लहलहे हो रहे किसके रस से सिंचे हुए ॥

आदि अनेक उद्धरण इसके दिए जा सकते हैं।

प्रतीक रूप में प्रकृतिचित्रण :—विशेष रूप से रहस्यवादी कवियों में प्रकृति चित्रण प्रतीक रूप में भी हुआ है। कबीर, जायसी तथा आधुनिक छायावादी कवियों ने प्रतीकों का विशेष रूप से उपयोग किया है। अंग्रेजी के Symbolism का प्रभाव भी आधुनिक कवियों पर है अतः उनके प्रतीक प्रभाव साम्य को लेकर चले हैं।

दूत रूप में प्रकृति चित्रण :—प्रकृति को दूत रूप में भी में काव्य वर्णित किया गया है। इस प्रकार का सर्वप्रथम तथा सर्वप्रसिद्ध काव्य मेघदूत है। इसके अतिरिक्त सूरदास, नंददास, सत्यनारायण आदि द्वारा भौंरे को दूत बनाया गया है।

हरिऔध ने प्रियप्रवास में पवन को दूत बनाकर राधा का संदेश देकर भेजा है। पक्षियों को संदेश देकर भेजने की बात भी पुरानी है। नागमती ने भी एक परेवा रत्नसेन के पास भेजा था और हीरामन भी स्वयं तोता ही था।

प्रश्न ११—महाकाव्य के लक्षण लिखिए। क्या लक्षणों का कोई वैज्ञानिक आधार भी है? अब किन नए तत्वों का समावेश हुआ है और उसे आप कहाँ तक उचित समझते हैं, लिखिए।

उत्तर ११—हिंदी काव्य में महाकाव्य के वे सभी लक्षण मान्य हैं जो संस्कृत भाषा में संस्कृत महाकाव्यों के लिये मान्य हैं। संस्कृत भाषा में साहित्य का—काव्य का—गंभीर मंथन हुआ है और संस्कृत का काव्य-शास्त्र जितना सुलझा, सुविभाजित तथा उचित रूपेण वर्गीकरण किया हुआ है शायद ही किसी दूसरी भाषा का काव्यशास्त्र इतना स्पष्ट और भ्रम-रहित हो।

संस्कृत साहित्य शास्त्र मे जो महाकाव्य के लक्षण मिलते हैं वे किसी मद्यप का अनर्गल प्रलापमात्र नहीं है। उनका आधार बिलकुल वैज्ञानिक है। यह दूसरी बात है कि आज प्रत्येक वस्तु को देखने का दृष्टिकोण ही बदल गया है फिर भी किसी भी दृष्टि से देखने पर संस्कृत साहित्य अपने नियमों की गहराई तथा प्रगतिशीलता के तत्वों में विश्व के किसी भी साहित्य से पिछड़ा हुआ नहीं कहा जा सकता। लक्षण इस प्रकार हैं :—

१.—महाकाव्य के आरंभ में मंगलाचरण होना चाहिए। खल-निंदा या सज्जन-संकीर्तन होना चाहिए, जैसा कि तुलसी रामायण में है।

भारत, यह तो निश्चित है, एक आध्यात्मिक संस्कृति रखता है। ईश-वंदना को यहां आध्यात्मिक महत्व दिया गया है। काव्य-शक्ति की प्राप्ति कभी-कभी देवताओं से भी होती है इसलिये उनकी वंदना आवश्यक समझी गई है। दूसरी बात भारतीय कवि सदा ही अपने को तुच्छ समझता है और उसके द्वारा यदि कुछ असाधारण बन भी पड़े तो वह इसका श्रेय परमात्मा को ही देता है। खलनिंदा एवं सज्जन-संकीर्तन की सामाजिक उपादेयता है जो मनोवैज्ञानिक है।

२—कथा सर्गबद्ध हो, सर्ग ८ से कम न हों।

इसमें प्रबंध-चारुता की ओर स्पष्ट इंगित है। एक महान काव्य महाकाय तो होना ही चाहिए। फिर उसकी कथा को सर्गों में विभाजित कर

देने से उसमें सुचारुता की रक्षा हो सकेगी । इस नियम का सम्बन्ध कथा के रूप विधान से है कि यह व्यवस्थित तथा पुष्ट रहे ।

३—ख्यातवृत्त हो तथा प्रासंगिक कथा भी हो ।

इसका अभिप्राय तो बिलकुल स्पष्ट है । समाज का अधिकांश जिस कथा को जानता हो वही कथा महाकाव्य के लिये चुननी चाहिए । इस प्रकार से महाकाव्य की घर-घर पहुंच सहज ही हो जाएगी और उस ख्यातवृत्त के कारण उसमें वर्णित सभी बातें समाज को सुपरिचित और चिरपरिचित लगेंगी जो महाकाव्य को उनके लिए अधिकाधिक बोधगम्य बना सकेंगी । ख्यातवृत्त होने से एक लाभ यह भी है कि अगर उसमें कोई अलौकिक अंश है तो समाज उसे अस्वाभाविक या अतिरंजित नहीं समझेगा अपितु उसकी अलौकिकता से इसके विपरीत प्रभावित और होगा । इस प्रकार सम्माननीय गुणों से उसका भी सहज में ही परिचय हो सकेगा ।

प्रासंगिक कथा के दो उद्देश्य हैं । एक तो प्रधान कथा के नायक का चरित्र विकास, दूसरे कथा में उचित मोड या परिवर्तन—जो कथा को अधिक रुचिकर बना देता है । हिंदी या संस्कृत के सभी महाकाव्यों मे प्रासंगिक कथायें मिलेंगी । मानसिक तथा कथासौंदर्य दोनों दृष्टि से यह उचित प्रतीत होता है । नायक का चरित्र अधिक स्पष्ट हो जाता है—अधिक उत्कर्ष को पहुँच पाता है और पाठक के लिए कथा अधिक रोचक हो जाती है ।

४—नायक धीरोदात्त तथा सद्वंशजात होना चाहिए ।

धीरोदात्त वह नायक होता है जो धार्मिक, महान प्रतापी तथा सत्यवादी और एकपत्नीव्रत होता है । दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि ऐसा नायक अपने देश की संस्कृति का समर्थ प्रतिनिधि होता है। समाज प्रत्येक आदर्श उसी से ग्रहण करता है अतः असाधारण और महान होना उसके लिये अनिवार्य है। नायक अपराजेय, अलौकिक शक्ति सम्पन्न तथा धर्म रक्षा में समर्थ होना चाहिए। इसका एकमात्र कारण यह है कि यदि महाकाव्य के नायक को निर्बल और सामर्थ्यहीन चित्रित किया जाय तो समाज उससे क्या शिक्षा लेगा ? नायक अपराजेय इसलिये रखा जाता है कि उसकी विजय धर्म या सद्वृत्तियों की विजय है तथा विरोधी की विजय पापी तथा पाप की विजय है। ऐसे नायक

के साथ समाज का हृदय स्वयमेव हो जाता है और इसकी पराजय दिखाना धर्म की पराजय दिखाना होगा, सत्य का पतन दिखाना होगा जो समाज के मानसिक स्वास्थ्य के लिये अत्यधिक घातक होगा।

उच्च वंश का होना इसलिये आवश्यक है कि सभी वर्गों की श्रद्धा का वह पात्र हो सके और आदरणीय गुणों का समावेश उसमें सहज ही हो। इस प्रकार वह एक असाधारण प्राणी होने के लिये बाध्य है। भारतीय महाकाव्य का नायक इतना महान् तथा आदर्श प्राणी होना चाहिए कि प्रत्येक पाठक इस से कुछ न कुछ ग्रहण कर सके।

संक्षेप में धीरोदात्त नायक तथा सद्वंशजात होने से नायक के जीवन में विविधता का समावेश स्वतः हो जायगा। महाकाव्य जीवन का सर्वांगीण चित्र उपस्थित करता है। अतः नायक का जीवन भी विविधता से पूर्ण होना ही चाहिए। आदर्श गुणों की विजय तथा पाप की पराजय की भी सामाजिक उपादेयता है। यह अच्छा ही है कि सामाजिकों को दृढ़ विश्वास हो जाय कि धर्म की जय और पाप की पराजय होती ही है।

४—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से एक की प्राप्ति नायक को होती है!

संसार में प्राणी के जन्म लेने का क्या उद्देश्य है? चाहे कुछ भी हो किन्तु इतना तो निश्चित है कि इन चार वस्तुओं के अतिरिक्त वह चाहेगा भी क्या? रह भी क्या गया? आचार्यों ने प्राप्य वस्तुओं की तालिका में धर्म तथा मोक्ष के अतिरिक्त अर्थ तथा काम को भी रख कर उद्देश्य को अधिक स्वाभाविक तथा जीवन के निकट का बना दिया है और इस प्रकार विविधता तथा स्वाभाविकता का समावेश स्वतः हो गया है। किन्तु एक बात विचारणीय अवश्य है कि महाकाव्य में धर्म के माध्यम से ही प्रत्येक वस्तु की प्राप्ति का विधान होगा। अर्थ एवं काम महाकाव्य के उद्देश्य में कोई साधारणता तथा वर्णन में कोई अश्लीलता न ला पायेंगे क्योंकि अधर्म या अनुचित उपायों से नायक द्वारा उसकी प्राप्ति नहीं दिखाई जायगी।

साहित्य का उद्देश्य क्या है? मनुष्य को मानसिक भोजन देना साथ ही उसके जीवन के चरम लक्ष्य की ओर उसे सतत उन्मुख रखना। भारतीय महाकाव्यों का यही उद्देश्य रहता है। कुछ लोगों को यह आपत्ति है कि इस

प्रकार के उद्देश्यों से अस्वाभाविकता का समावेश हो जाता है और काव्य जीवन के निकट की वस्तु नहीं रह जाता । इसका उत्तर तो बहुत साधारण है। जीवन की कुरूपता संसार में जैसी है वैसी ही यदि काव्य में अभिव्यक्त की जाय तो समाज पर क्या प्रभाव पडा ? यह कहा जा चुका है कि काव्य कोई Photography नहीं है कि जैसा दृश्य हो उसका ज्यों का त्यों चित्र उतार दिया जाय। कलाकार काव्य में जिस दृश्य को रखता है उसकी सम्पूर्ण कुरूपता वह अवश्य दूर कर देता है । साहित्य में यदि जीवन का परिष्कृत रूप रखा जाय तो वह वांछनीय ही कहा जायगा । स्वाभाविकता के नाम पर साहित्य में अश्लीलता का नग्न नृत्य दुर्भाग्य का ही विषय कहा जायगा। फिर भारतीय काव्यों में तथ समस्या को काव्य का रूप नहीं दिया जाता था उद्देश्य को काव्य का रूप दिया जाता था । हाँ, सहायक रूप में सब बातें उसके अन्तर्गत आ जाती थीं। इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्राप्य रूप मे रखी गईं ये चार वस्तुयें साहित्यशास्त्रियों के ज्ञान वैभव को ही प्रकट करती हैं किसी दुर्बलता को नहीं।

६—शृंगार या वीर में से एक रस प्रधान हो शेष रस सहायक रूप में उपस्थित हुए हों।

उपरोक्त लक्षणों से स्पष्ट है कि महाकाव्य या तो पराक्रम-प्रधान हो या प्रेम का सुन्दर वातावरण उसमें हो। ये ही दो रस प्रधान क्यों हों इसका भी वैज्ञानिक या मनोवैज्ञानिक कारण है ।

शृंगाररस रसराज कहा जाता है । इसके दो पक्ष होते हैं। संयोग शृंगार तथा विप्रलम्भ शृंगार। अर्थात् जीवन की सुखदुःखमयी अनुभूतियाँ शृंगाररस के अन्तर्गत सरलता पूर्वक रखी जा सकती हैं। ऐसा और कोई दूसरा रस नहीं जो जीवन के इतने विस्तृत क्षेत्र को अपने प्रभाववृत्त में समाहित किये हुए हो। जीवन की विविधता जितनी शृंगार रस में दिखाई जा सकती है किसी दूसरे रस में नहीं । इसके अतिरिक्त शृंगाररस में सम्पूर्ण संचारी भाव आ जाते हैं। केवल कुछ रसों—रौद्र, भयानक, बीभत्स आदि से उसका विरोध है; अधिकांश रस सहायक रूप में उसके साथ आ सकते हैं ।

इसी प्रकार वीर रस भी जीवन का महानतम तथा अत्यन्त उदात्त स्थायी भाव है। दया, क्षमा, परोपकार आदि की भावना उसमें स्वतः ही निहित रहती है और उत्साह जो वीररस का स्थायी भाव है उसके अभाव में तो कोई रस टिक ही नहीं सकता। वीररस शृंगार के साथ भी आ सकता है। शृंगार के बाद महत्व में वीररस ही आता है।

इस प्रकार शृंगार और वीर रस का प्रधान रस के रूप में महाकाव्य में विधान हर दृष्टि से वैज्ञानिक या मनोवैज्ञानिक उचित प्रतीत होता है। शेष सब रस महाकाव्य में सहायक होकर आते हैं। जब जीवन में मनुष्य समय-समय पर सब भावों का अनुभव करता है तो महाकाव्य में भी उनका आना आवश्यक है और स्वाभाविक भी। क्योंकि महाकाव्य सर्वाङ्गीण जीवन की साहित्याभिव्यक्ति ही है।

७—एक सर्ग में एक छंद हो। अंत में छंद परिर्तन हो तथा अंतिम छंद मे अगले सर्ग की कथा की सूचना भी हो।

एक सर्ग में एक ही छन्द होने से कथा में प्रवाह बना रहता है। अधिक छन्द परिवर्तन रस में बाधक होता है। इसके लिए केशवदास का उदाहरण लिया जा सकताहै। उनकी रामचन्द्रिका 'छन्दों का अजायबघर' प्रतीत होती है। किन्तु अन्त मे छन्द परिवर्तन का भी एक मनोवैज्ञानिक रहस्य है। एक छंद पढ़ने से जब पाठक ऊब जाता है तो अंत में परिवर्त्तित छद से उसका मन चमत्कृत हो जाता है। अच्छा हो यदि महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग में एक नवीन छन्द हो। उससे कवि का भाषा तथा पिंगल शास्त्र पर अधिकार भी सिद्ध होगा।

अंतिम छन्द में अगले सर्ग की कथा का आभास महाकाव्य के प्रबंध-विधान में एक सुन्दर मनोवैज्ञानिक वृद्धि है। इसका संबन्ध पाठक से अधिक है। अगले सर्ग की कथा के आभास से उसकी उत्सुकता निरंतर बनी रहेगी और इस प्रकार महाकाव्य की रोचकता बनी रहेगी। पाठक, लेखक या दर्शक की दृष्टि से भारतीय साहित्य का सब विधान पूर्ण ही दिखाई देता है।

८—महाकाव्य में प्रेम, नगर, यात्रा, संध्या, रजनी, प्रभात, सागर, सरिता, निर्झर, षट्ऋतु, मृगया, युद्ध, रणसज्जा, वन आदि का वर्णन हो।

इस नियम का सम्बन्ध भी महाकाव्य के रूपविधान से ही अधिक प्रतीत होता है। पाठक की दृष्टि से उसमें रोचकता बढ़ जायगी। लेखक जीवन की विविधता का समावेश कर सकेगा। महाकाव्य में अन्य बातों का भी वर्णन हो सकता है किन्तु इतनी बातों का वर्णन तो अनिवार्य ही है।

६—सामयिक समस्याओं पर व्याख्यान—यह तो ठीक है कि काव्य जीवन की 'मक्खीमार अनुकृति' नहीं है फिर भी कवि सामाजिक प्राणी है अतः युग की पुकार यदि उसके काव्य में प्रस्फुटित हो उठे तो यह स्वाभाविक ही है। कवि समाज का सबसे अधिक सजग प्रहरी है। सामाजिक समस्यायें प्रत्येक व्यक्ति के मन और मस्तिष्क से टकराती हैं किन्तु उनपर मनन कितने व्यक्ति करते हैं ? कवि भी उनसे अछूता नहीं रह सकता। फिर जो वस्तु उसके सम्पर्क में आयेगी वह उसे उसके सुन्दरतम रूप में रखने का प्रयत्न करेगा। अतः सामाजिक, राजनैतिक या धार्मिक किसी भी प्रकार की समस्याओं के लिये समाज कवि का मुखापेक्षी है इसीलिये कवि का उत्तर-दायित्व महान है और वह एक असाधारण प्राणी है। कवि प्रधान समस्याओं पर बिना प्रकाश डाले कैसे रह सकता है। समाज उसीसे सर्वोत्तम हल की आशा रखता है। महाकाव्य में सामाजिक समस्याओं का विवेचन कवि की बहुज्ञता एवं विद्वत्ता की परीक्षा भी है। तुलसी की रामायण जीवन की सब समस्याओं का समाधान करती है अत' तुलसी महानतम कवियों में से हैं।

आधुनिक युग में महाकाव्य की परिभाषा में परिवर्तन ही नहीं हुआ उसके लक्षणों में परिवर्तन भी हुआ है और आज प्राचीन लक्षणों का पालन काव्य में आवश्यक नहीं समझा जाता। महाकाव्य के प्राचीन लक्षणों के अनुसार महाकाव्य दुखांत हो ही नहीं सकता था क्योंकि महाकाव्य का नायक धर्म का प्रतिनिधि होता था अत' उसका पतन धर्म का पतन था। ऐसा होने से समाज का विश्वास ही आदर्श सिद्धांतों से हट जाता। नायक का पतन धर्म का पतन या सत पक्ष का पतन था अतः वह कभी नहीं दिखाया जाता था। आज यह सब कुछ आवश्यक नहीं रहा। पाश्चात्य ट्रेजेडी तथा कौमेडी का प्रभाव यहाँ भी पड़ा और यहां भी दुःखांत काव्य लिखे जाने लगे। इस प्रकार के काव्य समर्थकों का कहना है कि विश्व में सदैव सत् पक्ष की

विजय नहीं होती फिर साहित्य में उसे सदा क्यों विजयी दिखाया जाय, यह तो घोर अस्वाभाविकता है ।

इसके अतिरिक्त आज महाकाव्य का नायक कोई भी हो सकता है—एक मजदूर, एक घास खोदने वाला तक । नवीन समर्थकों का कहना है कि प्राचीन काव्य सामंतवादी तथा पूँजीवादी संस्कृति का साहित्यिक प्रचार है । उसमें समाज के बहुमत को जो दीन-दुःखी है कोई स्थान नहीं ।

आज के महाकाव्य के लिये यह आवश्यक नहीं कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में एक उसका प्राप्य हो । आज तो समस्या-प्रधान काव्य की रचना अधिक होती है । एक ज्वलन्त समस्या लेखक लेता है और उसे काव्य का आवरण पहना देता है ।

जीवन का सर्वाङ्गीण और स्वाभाविक चित्र आज के नवीन लक्षणों मे से एक है । आज और बातों से अधिक इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि जीवन के लिए एक संदेश महाकाव्य अवश्य दे । पाप और पुण्य का स्थूल संघर्ष अब हट रहा है और द्वंद्व तथा मनोवैज्ञानिक संघर्ष का प्राबल्य महाकाव्यों में रहता है । आज के महाकाव्य चरित्र-चित्रणप्रधान रहते हैं, प्राचीन महाकाव्य कथाप्रधान रहते थे ।

आज महाकाव्य का अर्थ है—'महान् कथानक तथा महान् काव्यत्व ।' इन दोनों के सम्मिश्रण से ही महाकाव्य का रूप निर्माण आज अधिक वाँछनीय समझा जाता है । एक और नवीन तत्व जो आज के महाकाव्यों में दृष्टिगोचर होता है वह है उसमें गीतों का प्रयोग । आधुनिक महाकाव्यों—कामायनी, वैदेही वनवास, साकेत आदि सब में गीतों का प्रयोग हुआ है । इसमें संदेह नहीं कि यह एक नवीन आकर्षण है जो वाँछनीय है। गीतों में आत्माभिव्यक्ति तीव्रतर रूप में होती हैं अत. काव्य की प्रभविष्णुता बढ़ाने में वे सहायक होते हैं ।

कहने का सारांश यह कि आज महाकाव्य के पुराने लक्षण अधिक मान्य नहीं हैं। नवीन लक्षणों का समावेश हो रहा है । समयानुकूल तथा काव्य-धारा के अनुकूल परिवर्तन कभी अस्वास्थ्यकर नहीं होता । नवीन लक्षण भी आज के वातावरण मे हमारे काव्य साहित्य को नवीन आकर्षण एवं नवीन बल

देंगे। परिवर्तन का स्वागत करना प्रत्येक सच्चे व्यक्ति का कर्त्तव्य है। रूढ़ियों से चिपके रहना हितकर नहीं। परन्तु इतना अवश्य है कि कोई प्राचीन वस्तु केवल इसलिए कुरूप एवं अग्राह्यनीय नहीं हो जाती—नहीं हो जानी चाहिए कि वह प्राचीन है। अगर प्राचीन वस्तु ठीक है तो उसका ग्रहण भी श्रेयस्कर है।

प्रश्न १२—साधारणीकरण किसे कहते हैं? उदाहरण देकर समझाइये।

उत्तर १२—काव्य पढ़ते समय या नाटक देखते समय पाठक या दर्शक जब इतने अधिक तन्मय हो जाते हैं कि वे स्वगतत्व की भावना से ऊँचे उठ जाते हैं और वर्णनों तथा दृश्यों को देखकर रोते और प्रसन्न होते हैं—यद्यपि रोना भी उस दशा में आनन्दप्रद लगता है—तो यही दशा साधारणीकरण है।

डा० श्यामसुन्दरदास इसी बात को इस प्रकार कहते हैं-"जब तक सांसारिक वस्तुओं का हमें अपर प्रत्यक्ष होता रहता है तब तक शोचनीय वस्तु के प्रति हमारे मन में दुःखात्मक शोक अथवा अभिनन्दनीय वस्तु के प्रति सुखात्मक हर्ष उत्पन्न होता है परन्तु जिस समय हमको वस्तुओं का पर-प्रत्यक्ष होता है उस समय शोचनीय तथा अभिनन्दनीय सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे केवल सुखात्मक भावों का आलम्बन बनकर उपस्थित होती हैं। उस समय दुःखात्मक क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मकता छोड़कर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेते हैं। अभिनवगुप्त पाद आचार्य का साधारणीकरण भी यही वस्तु है और कुछ नहीं।"

अपर प्रत्यक्ष शब्द को स्पष्ट करना आवश्यक है। दो शब्द हैं अपर-प्रत्यक्ष तथा पर-प्रत्यक्ष।

अपर-प्रत्यक्ष उसे कहते हैं जहाँ शब्द, अर्थ तथा ज्ञान इन तीनों की प्रतीति भिन्न-भिन्न हो। इसी भिन्न-भिन्न अनुभव करने को अपर प्रत्यक्ष कहते हैं। इसमें वितर्क रहता है।

पर-प्रत्यक्ष उसे कहते हैं जहाँ वितर्क की भावना ही नहीं रहती अर्थात् शब्द, अर्थ तथा ज्ञान की प्रतीति भिन्न-भिन्न नहीं होती। पर प्रत्यक्ष की इसी अवस्था को योग में मधुमती भूमिका कहा गया है। मधुमती भूमिका

योग की जिस दशा का नाम है साहित्य में रस की उसी दशा का नाम साधारणीकरण है। दोनों में ही योगी तथा पाठक को अपनत्व तथा परत्व का ज्ञान नहीं रहता और विश्व का कण-कण एक ही रस में डूबा प्रतीत होता है। सर्वत्र केवल एक सत्ता का ही आभास होता है। अन्तर इतना ही है कि सिद्ध योगी मधुमती भूमिका में जब तक चाहे रह सकता है किन्तु कवि या पाठक रजस् या तमस् के उभरते ही इस अवस्था से अलग हो जाता है। दोनों की अनुभूति सर्वथा तथा सर्वदा आनन्दमयी ही होती है। दुःखात्मक भाव भी इस दशा में सुख के आलम्बन बन कर आते हैं। क्योंकि भाव जब रस दशा को पहुँच जाता है तब उसमें केवल 'सत्व' की प्रधानता ही रहती है। रज अथवा तम की नहीं। यह रसानुभूति कवि और पाठक दोनों को ही होती है। काव्य पढ़ते-पढ़ते अथवा नाटक देखते-देखते जब भाव जागृत होकर रस दशा को पहुंच जाते हैं तो पाठक या दर्शक का हृदय आनन्द से आप्लावित हो जाता है। उसकी सब वृत्तियाँ एकतान हो जाती हैं, आनन्द में लय हो जाती हैं। यही साधारणीकरण या मधुमती भूमिका की दशा है।

फिर भी साधारणीकरण के विषय में कुछ विवाद है। डा० श्यामसुन्दरदास तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल का इस विषय में मतैक्य नहीं है। विवाद का विषय यह है कि 'हमारा हृदय कवि के, आश्रय के, आलम्बन के, भाव के,—किस के साथ साधारणीकरण करता है।'

शुक्ल जी का कथन इस विषय में यह है—"जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक रसास्वादन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इस रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।"

शुक्ल जी का मत है कि जो भाव लाया जाय वह विचित्र तथा विशिष्ट नहीं होना चाहिए वरन लोकसामान्य होना चाहिए जिससे कि सामाजिक उस भाव को सरलता से ग्रहण कर सके तथा आनन्द ले सके। शुक्ल जी, स्पष्ट है कि साधारणीकरण में आलम्बनत्व के धर्म को प्रधानता देते हैं। वे आश्रय से तादात्म्य तथा आलम्बन का साधारणीकरण मानते हैं।

इस विषय में "साधारणीकरण" के जनक भट्ट नायक का मत भी द्रष्टव्य है क्योंकि इस विषय में शुक्ल जी उन से ही प्रभावित प्रतीत होते हैं।

भट्ट नायक ने साधारणीकरण होने तक की प्रक्रिया में तीन शक्तियों की कल्पना की थी—१ अभिधा, २ भावकत्व, ३ भोजकत्व।

पहली शक्ति के द्वारा पाठक काव्य का साधारण अर्थ समझता है, दूसरी के द्वारा काव्यगत पात्रों के विभाव, अनुभाव किसी पात्रविशेष के न रह कर साधारण हो जाते हैं अथवा सामान्य हो जाते हैं अर्थात् ऐसी दशा में पाठक या दर्शक के लिए सीता एक स्त्री और राम पुरुष मात्र रह पायेंगे और इस प्रकार पाठक या दर्शक उनके विभाव और अनुभाव का सहज आनन्द ले सकेगा।

शुक्लजी का अभिप्राय विभाव-अनुभाव को साधारण रूप देकर लाए जाने से प्रतीत होता है। किन्तु इससे तो 'विभाव, अनुभाव आदि सीमित तथा शृङ्खलाबद्ध हो जायेंगे और काव्य की व्यापकता नष्ट हो जायगी।' इस विषय में प० रामदहिन मिश्र लिखते हैं—"इससे स्पष्ट है कि वे (शुक्लजी) आलम्बनत्व धर्म को प्रधानता देते हैं और स्पष्ट कहते भी हैं कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। इस दशा में वे अपरिमित को परिमित बना देते हैं, विस्तृत को संकुचित कर देते हैं। क्या रसोद्बोध में आलम्बन ही आलम्बन है? यदि अनुभाव विपरीत हो तब ? शोकातुर व्यक्ति को ताल-लय से मंच पर गाना गाते देख सभी शोकग्रस्त हो सकते हैं? यहाँ तो शोक भाव का आलम्बन सभी का आलम्बन तो है और उससे साधारणीकरण भी होता है पर उसके अनुभाव से सभी का साधारणीकरण नहीं हो सकता। अतः केवल आलम्बन का ही नहीं सभी का साधारणीकरण आवश्यक है।"

कुछ विद्वानों का कथन है कि जब हमारा चित्त एकाग्र या साधारणीकृत हो जाता है तब सब कुछ साधारण-सा लगने लगता है और कुछ का कहना है कि लेखक जब ऐसे सामान्य भावों को ही काव्य में अभिव्यक्त करता है जो सबके हृदय में विद्यमान हैं तब साधारणीकरण होता है।

शुक्लजी का कथन है कि साहित्य का कार्य 'बिम्बग्रहण' कराना है अर्थ-ग्रहण मात्र नहीं। बिम्बग्रहण सामान्य वस्तु का नहीं हो सकता केवल व्यक्ति

का या विशिष्ट वस्तु का ही हो सकता है। अतः साधारणीकरण के लिये यह आवश्यक है कि जो विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति काव्य में लाया जाय वह सामान्य का प्रतिनिधि हो उसकी अनुभूति विचित्र या निराली न हो। नहीं तो समाज का उससे तादात्म्य नहीं हो सकेगा। यहाँ भी शुक्लजी भाव को साधारणीकृत रूप में रखने के पक्षपाती हैं उनका कथन यह है कि योरुप में जो चरित्र-चित्रण प्रधान साहित्यधारा बह रही है उसमें पाठक को रसानुभूति नहीं होती क्योंकि पात्रों के विभाव-अनुभाव सामान्य न होकर व्यक्तिगत होते हैं। उनकी परिस्थितियाँ भी सामान्य न होकर विशिष्ट कल्पित की हुई होती हैं। अतः ऐसे पात्रों को पढ़कर केवल एक कौतूहल मिश्रित आनन्द होता है जो रसकोटि का नहीं होता। लेकिन रस में कोटियों की बात कहना न्यायसगत प्रतीत नहीं होता। रही अलौकिक एवं निराली अनुभूतियों की बात सो वह यों समझी जा सकती है कि विश्व के सभी मनुष्यों के मस्तिष्क का निर्माण एक ही प्रकार से नहीं हुआ। वह अनंत रहस्य से भरा है। कभी-कभी सत्य, कल्पना से भी अधिक आश्चर्यजनक होता है। बहुत से व्यक्तियों में अपनी निजी विशेषतायें होती हैं उन्हें साहित्य में प्रकट ही न किया जाय, यह तो नियम नहीं बनाया जा सकता। फिर साहित्यकार का कार्य केवल इतना ही नहीं कि जो अत्यन्त सामान्य तथा स्थूल भावनायें हैं उनको ही बार-बार काव्य का रूप देता रहे। मानव मन में वासनारूप से निहित भावनायें कितनी हैं? इसकी गणना का गर्व कौन कर सकता है? निराली अनुभूतियाँ नाम का कोई शब्द हो कैसे सकता है? केवल इतना कहा जा सकता है कि भय, मैथुन, आहार, निद्रा से सम्बन्धित भावनायें सामान्यतः सब व्यक्तियों में अधिक विकसित रूप में पाई जाती हैं किन्तु सभ्यता-प्रसूत वासनायें तथा संस्कार भी तो हैं। सबसे अधिक सभ्य और सर्वाधिक असभ्य व्यक्ति की वासनाओं में क्या कोई अन्तर नहीं है? साहित्य के गंभीर विषय, मनोविज्ञान की जटिल बाते सभ्यता से दूर रहने वाले व्यक्ति के लिए यदि आजीवन निराली बनी रहे तो क्या आश्चर्य? यदि वही असभ्य अपने को सभ्य व्यक्तियों में मिला ले तो हो सकता है निराली तथा अलौकिक बातें उसके लिए सामान्य बन जायं। टालसटाय ने एक स्थान पर कहा है कि 'पृथ्वी के अणु, परमाणु में इतने रहस्य व्याप्त हैं कि कोई

भी वैज्ञानिक चाहे जो कल्पना करके अन्वेषण करने लगे वही तथ्य प्रमाणित कर सकता है। आकर्षण का सिद्धान्त भी बन सकता है विकर्षण का भी।' ठीक यही बात मानव मन के सम्बन्ध में कही जा सकती है कि उसके अन्तर के स्तर-प्रस्तरों में कितनी वासनायें बीज रूप से निहित हैं कौन जानता है? जिन अनुभूतियों को सामान्य कहा जाता है क्या संसार में ऐसे व्यक्तियों का अभाव है जिनके लिए वे भी निराली तथा अलौकिक नहीं हैं? फिर यह कोई तर्क नहीं कि काव्य में भाव को साधारणीकृत करके ही लाना चाहिए। कवि तो भावों का वर्णन करेगा और साधारणीकरण होगा पाठकों का लेखक की अभिव्यक्ति-विशेषता के कारण। पाठक साधारणीकरण, तन्मयता तथा तादात्म्य का कोई निश्चित मानदण्ड लेकर पढ़ने नहीं बैठता कि अमुक वस्तु में वह आनन्द लेगा अमुक में नहीं। वह तो पढ़ते समय लेखक के हाथ में रहता है। यह लेखक की सफलता अथवा असफलता है कि वह पाठक को अपने साथ ले सका है या नहीं। यदि पाठक साथ नहीं चल पाता तो या तो लेखक असमर्थ है अथवा पाठक अयोग्य है, भावों तथा भावनाओं से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रमाण के लिये तुलसी की कैकेयी से पाठक विरक्त रहता है। उसके प्रति घृणा की भावना रहती है किन्तु गुप्तजी की कैकेयी से पाठक को घृणा तो दूर, सहानुभूति रहती है। क्यों? केवल लेखक की अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति के कारण सामान्य या असामान्य भावों के चित्रण के कारण नहीं।

साकेत ने कैकेयी के चरित्र को स्पष्ट करने वाले शब्दों—

'पागल सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई
सौ बार धन्य वह एक लाल की माई
जिस जननी ने है जना भरत सा भाई।' की तुलना तुलसी के इन शब्दों से कीजिये'—

'गातगलानि कुटिल कैकेयी।'

क्या कारण है पाठक की सहानुभूति तुलसी की कैकेयी से नहीं होती, गुप्तजी की कैकेयी से होती है।

इसके अतिरिक्त शरद के चरित्रहीन या देवदास को लीजिए। देवदास शराब पीता है और भी समाज की दृष्टि से अवगुण उसमें हैं किन्तु पाठक उसे प्यार करता है, उससे सहानुभूति करता है। क्यों ? शुक्लजी के शब्दों में उसकी अनुभूतियाँ तो निराली अवश्य हैं।

इसी प्रकार मेघनाद एक ऐसा पात्र है कि असत् का प्रतीक मानकर पाठक उससे घृणा करता है उसे दस्यु अथवा राक्षस समझता है किन्तु माइकेल मधुसूदनदत्त के मेघनाद से उसे सहानुभूति क्यों हो जाती है। इसमें तो सन्देह नहीं कि अब तक प्रचलित भावनाओं को देखते हुए लेखक ने उसमें निराली भावनाओं का समावेश किया है और भी आज ऐसे शतशः उपन्यास मिलेंगे जिनमें कि दुश्चरित्र एवं नीच कहे जाने वाले पात्रों से हमें सहानुभूति होती है। आज युग बदल रहा है; लेखक और पाठक भी बदल रहे हैं।

उपरोक्त विश्लेषण से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि वास्तव में साधारणीकरण लेखक के विचारों के साथ होता है पात्रों के साथ नहीं। उपरोक्त बात मान लेने से किसी प्रकार का विवाद नहीं रह जाता। वास्तव में लेखक कुछ भावनाओं से प्रभावित होता है और उसे अपने हृदय के रस से सिक्त कर साहित्य में रखता है। वह वर्णन ऐसे कौशल से करता है कि उसने जिस भावना का अनुभव जिस रूप में किया था ठीक उसी रूप मे पाठक उसी भावना का अनुभव करता है। लेखक या कवि की यही चरम सार्थकता है। अतः प्रश्न सामान्य अनुभूतियों का नहीं है अपितु इस बात का है कि लेखक अपने अभिव्यक्ति-कौशल से पाठक के हृदय में अपने ही अनुकूल भावनाओं का उद्रेक कराने में सफल होता है या नहीं ? लेखक यदि समर्थ और प्रतिभाशाली है तो वह प्रसिद्ध से प्रसिद्ध ऐतिहासिक पात्र के लिये हमारी घृणा आकर्षित कर सकता है और नीच से नीच पात्र के साथ हमारी सहानुभूति करा सकता है। हमारा साधारणीकरण हर दशा में लेखक की मान्यताओं और उसके विचारों के साथ ही होता है।

प्रश्न १३—'एक भ्रम लोगों में यह फैल गया है कि रस और कला का सम्बन्ध योग से है। यह बात तो सोलह आने ठीक है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि इसका सम्बन्ध देवता और परलोक से है।'

उपर्युक्त कथन के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए उसके सत्यासत्य का विवेचन कीजिए।

उत्तर १३—काव्यानंद को ब्रह्मानंद-सहोदर कहा गया है। बात यह है कि जब पाठक का साधारणीकरण होता है तो वह काव्य का रसास्वादन करने लगता है। यह रसास्वादन यद्यपि लौकिक वस्तुओं के माध्यम से होता है किन्तु है फिर भी अलौकिक । रसास्वादन में पाठक की वृत्ति आनंदमयी तथा सत्वप्रधान हो जाती है । रज तथा तम का अभाव उसमें हो जाता है । अतः ऐसी दशा में हर प्रकार की अनुभूति आनदमयी होती है । वस्तु जगत् में जो वस्तुएं आनंददायक नहीं होतीं काव्य में रसदशा में वे भी आनंदप्रद हो जाती हैं यही काव्यानद की लौकिकता है। अन्तर इतना ही है कि ब्रह्मानंद का योगद्वारा सम्बन्ध है और चिरकाल तक रह सकता है किन्तु काव्यानंद विभाव-अनुभावों के प्रदर्शन की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो जाता है । यों चित्त-वृत्ति का निरोध तथा सत्वगुणप्रधानता योग में भी होती है और साधारणीकरणमें भी।

डा० भगवान दास जैसे प्रसिद्ध विद्वान् तथा दार्शनिक का कथन है—'लोकोत्तर भी कैसे कहा जा सकता है, लोक में ही तो काव्य-साहित्य के रस की चर्चा है।' यहाँ लोकोत्तर से डा० साहब का अभिप्राय परलोक से ही है ।

इस विषय में डा० श्यामसुन्दर दास का कथन भी द्रष्टव्य है ।

"इस प्रसंग में यह भ्रम न होना चाहिए कि जिन भावों के सहारे इसका स्वाद मिलता है वे हमारे लोक के नहीं है। वे भाव सर्वथा हमारे तथा हमारे लोक के हैं। वे अतीन्द्रिय, पारलौकिक अथवा लोकबाह्य नहीं होते। वे अलौकिक केवल इसलिए कहे जाते हैं कि उनका अनुभव पर-प्रत्यक्ष के लोक में—चित्त की मधुमती भूमिका में—होता है। और इस अनुभव के कार्य-कारण साधारण और लौकिक नहीं होते। इसी से जो अंग्रेज़ी वाले अलौकिक का Supernatural अथवा Extraordinary शब्दों से अनुवाद करते हैं वे सत्य तक नहीं पहुंच पाते । अलौकिक का इस प्रसंग मे अर्थ होता है Supersensuous (पर-प्रत्यक्ष गम्य)।"

सीधे-सादे शब्दों में कह सकते हैं कि अलौकिक का यहां अर्थ है जो लौकिक नहीं अर्थात् अलोकसामान्य जो लौकिक वस्तु से विलक्षण हो ।

अब देखना यह है कि लोकानुभूति (प्रत्यक्षानुभूति) तथा काव्यानुभूति में क्या अन्तर है ?

वस्तु जगत् मे जब हम किसी कोढ़ी को सड़क के किनारे बैठा देखते हैं तो घृणा से हमारा मन भर जाता है और वहाँ एक क्षण ठहरने को भी हमारा मन नहीं चाहता। खून, माँस, वध आदि वस्तु जगत् मे हमारे लिये दुःखदायी तथा अवांछनीय प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार जब हम किसी उद्यान में किसी प्रेमी को अपनी प्रेमिका से चोरी से मिलते देखते हैं तो कोई आनन्दानुभूति हमें नहीं होती। हो सकता है कि ऐसे समय ईर्ष्या की भावना ही हमारे मन मे उदित हो और समाजविरोधी भावना होने के नाम पर हम उन प्रेमियों के प्रेम में विघ्न डालने का भी प्रयत्न करें। इसी प्रकार वस्तु जगत् में यदि हमारे देखते-देखते कोई व्यक्ति अपने शत्रु पर खड्ग से प्रहार करके उसका शिरश्छेदन कर दे तो हमसे देखा नहीं जायगा और क्रोधमिश्रित घृणा की भावना हमारे हृदय में पैदा होगी। लेकिन एक कथा का अंश बन कर जब ये ही सब बातें साहित्य में आती हैं तो हम उन्हे देखने-पढ़ने में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि अपने अस्तित्व की भावना भी कुछ देर हमें नहीं रहती। शकुंतला नाटक मे प्रेमातुर दुष्यत-शकुन्तला का प्रेम-मिलन किसे अभिभूत नहीं कर लेता। सुकुमार बालक भरत जब तोतले शब्दों में अपनी माता का नाम दुष्यंत को बताता है और दुष्यंत उसे गोद में ले लेता है तब कौन सामाजिक हर्षातिरेक तथा स्नेहातिरेक का अनुभव नहीं करता ? इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तु-जगत् की घटनाओं का हमारे हृदय पर दूसरा प्रभाव पड़ता है और उनका साहित्यिक रूपांतर हमारे हृदय पर दूसरा प्रभाव डालता है। एक लौकिक है किन्तु दूसरा लौकिक नहीं है उसे अलौकिक भी कह सकते हैं।

प्रश्न यह है कि यह सब कुछ होता क्यों हैं ?

उत्तर बहुत साधारण है। कवि किसी बात को जैसा देखता है वैसा ही नहीं कह देता। वह उसे सुन्दरम् के आवरण में आवेष्टित करके कहता है। इसीलिए तो कवि द्वारा प्रस्तुत चित्र में और Photography में बड़ा अन्तर है। फोटो वस्तु जगत् की यथार्थ प्रतिकृति है जब कि कवि द्वारा प्रस्तुत वस्तु जगत् की अनुकृति मात्र। कवि किसी बात को परिष्कृत रूप में रखता

है, अधिक प्रभावशाली रूप में रखता है। कवि वास्तव में जब किसी वस्तु या दृश्य को देखता है तो तुरन्त ही उसे अङ्कित नहीं कर देता। कर सकता भी नहीं। कारण उस समय उसकी चेतना उसके प्रभाव से अभिभूत रहती है और सृजन शक्ति मन्द हो जाती है। कलाकार अपने द्वारा देखी हुई वस्तु को निरीक्षण, स्मृति, तथा कल्पना के मिश्रण से पूर्ण करके रखता है और जो कुछ वह इस प्रकार रखता है वह सत्य वस्तु होती है और असत्य वस्तु भी होती है। अर्थ यही कि वह कितनी ही सुन्दर वस्तुओं को कल्पना द्वारा एक वस्तु में ही नियोजित कर देता है और इस प्रकार अपने द्वारा विभिन्न स्थानों पर देखी सुन्दरतम वस्तुओं का समन्वय एक चित्र में ही कर देता है। यही कारण है कि वस्तु जगत में जो वस्तु जैसी है वह उसे उससे भी अधिक आकर्षक और प्रभावशाली रूप में रखता है। वह प्रभाव को एक ही चित्र में केन्द्रित कर देता है जिससे कि वह चित्र अलौकिक अथवा अलोक-सामान्य बन जाता है। यों चित्र की प्रत्येक वस्तु का अलग-अलग अस्तित्व विश्व में है परन्तु कविकृति की भाँति एक ही स्थान पर वे नहीं भी हो सकतीं। इसीलिये तो कवि को स्रष्टा या अपनी सृष्टि का विधाता कहा गया है। यह ठीक भी है कि वह विधाता की सृष्टि की मक्खीमार अनुकृति न करके उसका यथेच्छया सृजन करता है। अलौकिक वस्तुओं के योग से एक अलौकिक—अलोकसामान्य—वस्तु का सृजन ही कवि की विशेषता है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। एक चित्रकार ने एक घना वन देखा, दूसरी बार मैदान में उसने कहीं कुछ हरिण देखे, तीसरी बार उसने एक झरना देखा। अब वह इन सबका अलग-अलग चित्र न बनाकर सबका समावेश एक चित्र में करता है। घना वन, उसमें एक मनुष्य, प्रपात के पास कुछ मृग—कुछ चौकन्ने खड़े हैं कुछ पानी पीने में व्यस्त हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि चित्रकार का यह सम्मिलित चित्र जितना प्रभावशाली होगा उतना यथार्थ चित्र नहीं अर्थात जैसा देखा वैसा ही चित्रित कर दे। जब वह इस प्रकार प्रभाव को एक स्थान पर केन्द्रित कर देता है तो स्वाभाविक है कि उसका प्रभाव लौकिक प्रभाव से भिन्न हो जाय, अलौकिक हो जाय। यही कविसत्य है। जो है, जो होता है,—कवि के लिये यही सत्य

नहीं है; अपितु क्या हो सकता है उसके लिये सबसे बड़ा सत्य यही है जहाँ कि उसे अपनी कल्पना के अबाध प्रयोग का अवसर मिलता है। अरस्तू का कथन इस विषय में द्रष्टव्य है–"It is not the function of the poet to relate what has happened but what may happen ...poetry transforms its fact into truths. The truth of poetry is not a copy of reality but higher reality, what to be, not what is."

स्पष्ट है कि काव्य का सत्य वस्तु जगत् के सत्य से भिन्न एवं महानतर होता है। 'वह क्या है' से बढकर 'क्या हो सकता है' से सम्बन्ध रखता है।

कवि वास्तव में टेलीफोन की भाँति का कोई यंत्र नहीं कि जो कुछ ग्रहण करे उसे ज्यों का त्यों व्यक्त कर दे। उसके हृदय होता है असाधारण रूप से भावुक। प्रत्येक बात जो वह ग्रहण करता है अपने मानस रस में सिक्त कर ही उसे अभिव्यक्त करता है। इसी कारण तो वह पाठक के हृदय में वैसे ही भावों का उद्रेक करा कर उसे रसमग्न कर देता है। अलौकिक आनन्द (अलोकसामान्य आनन्द) का अनुभव कराता है। पाठक उसकी कृति का परिचय उसकी दृष्टि से उसी के हृदय के माध्यम से पाता है और उसी की भाँति अलौकिक रस में कुछ काल के लिये मग्न हो जाता है।

यह कवि की ही सर्वमहान विशेषता है कि हम ऐसी वस्तुओं को बार-बार देखना चाहते हैं जिन्हें वस्तु जगत् में एक बार देखना भी पसंद नहीं करते। सत्य हरिश्चन्द्र नाटक में दर्शक रोहिताश्व की मृत्यु पर शैव्या की भाँति ही विलाप करता है। वह यह भूल जाता है कि अभिनेता स्वयं हरिश्चन्द्र और शैव्या नहीं है। दूसरी बात कि वह स्वयं उनसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता। अपने पड़ौस में ही मृत्यु हो जाती है किन्तु उस पड़ौसी के सम्बन्धियों के अतिरिक्त और कौन रोता है? कोई नहीं। किन्तु नाटकगृह में छद्मवेषी अभिनेतागण हम से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखते फिर भी वहाँ कौन नहीं रोता? सब रोते हैं। ऐसा क्यों? ऐसा लोक में नहीं होता किन्तु ऐसा वहाँ होता है इसीलिए काव्यानंद अलौकिक है अलोकसामान्य है। काव्य में बीभत्स से बीभत्स चित्र को पाठक पुनः पुनः पढ़ना चाहता है। भीषण रण

वर्णन में वह रसमग्न हो जाता है, वह लक्ष्मण के शक्ति लगने पर रोने लगता है जबकि लौकिक अर्थ में यह सब मिथ्या है । फिर यह अलौकिक बात क्यों हो जाती है ? स्पष्ट है कि काव्य में व्यक्त वस्तु वस्तु जगत् में उत्पन्न प्रभाव से एक भिन्न प्रभाव रखती है । शोक में वस्तुजगत् में कोई आनन्द नहीं ले सकता किन्तु काव्य में शोक से पूर्ण स्थल सर्वाधिक लोकप्रिय देखे जाते हैं । शैली ने ठीक कहा है "Our Sweetest songs are those which tell us sadest thought" (शोकतम अवस्थाओं के सूचक गीत मधुरतम होते हैं) ।

यही काव्य की अलौकिकता है जो लौकिकता से भिन्न है किन्तु पारलौकिता से जिसका कोई सम्बन्ध नहीं है ।

पं० रामदहिन मिश्र ने दर्पणकार द्वारा लिखे अलौकिकता के कुछ कारणों पर प्रकाश डाला है जो द्रष्टव्य है ।

(१) लौकिक पदार्थ ज्ञाप्य होते हैं अर्थात् दूसरी वस्तुओं के द्वारा उनका ज्ञान होता है पर रस ज्ञाप्य नहीं होता है क्योंकि अपनी सत्ता में कभी व्यभिचरित-प्रतीति के अयोग्य नहीं होता अर्थात् जब होता है अवश्य प्रतीत होता है । घटपट आदि लौकिक पदार्थ ज्ञापक से अर्थात् ज्ञान कराने वाले दीपक आदि से प्रकाशित होते हैं । वैसे ही उनके विद्यमान रहने पर भी कभी-कभी ज्ञान नहीं होता, ढके हुए पदार्थ को दीपक नहीं दिखा सकता । परन्तु रस ऐसा नहीं है इससे रस अलौकिक है ।

(२) लौकिक वस्तु नित्य होती है पर रस नित्य नहीं है क्योंकि विभाव आदि के ज्ञान से पूर्व रस-संवेदन होता ही नहीं और नित्य वस्तु असवेदन काल में अर्थात् जब वस्तु का ज्ञान नहीं रहता तब भी नष्ट नहीं होती । रस ज्ञान-काल में ही रहता है अन्य काल में नहीं । अतः उसे नित्य भी नहीं कह सकते । अतः रस लोकवस्तुभिन्नधर्मा है, अलौकिक है ।

(३) लौकिक पदार्थ कार्यरूप होते हैं पर रस कार्यरूप नहीं है क्योंकि रस विभावादि समूहालम्बनात्मक होता है अर्थात् विभाव आदि के साथ रस सामूहिक रूप से एक ही साथ प्रतीत होता है । यदि रस कार्य होता तो उसके कारण विभाव आदि का पृथक् ज्ञान होता । लौकिक कार्य में कारण और कार्य

एक साथ नहीं दीख पड़ते। अब यदि विभाव आदि को कारण मानें और रस को कार्य तो इसकी प्रतीति एक साथ नहीं होनी चाहिए। किन्तु रस प्रतीति के समय विभाव आदि की भी प्रतीति होती रहती है। अतः विभाव आदि का ज्ञान रस का कारण नहीं और इसके अतिरिक्त अन्य कारण सम्भव नहीं। अतः रस किसी का कार्य नहीं हो सकता। कहने का अभिप्राय यह कि रसास्वाद के समय विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के साथ ही स्थायीभाव रसरूप में व्यक्त होता है, जो लौकिक कार्य के विपरीत है। इससे रस अलौकिक है।

(४) लौकिक पदार्थ भूत, वर्तमान या भविष्यत् होते हैं। पर रस न तो भूत, न वर्तमान और न भविष्यत् ही होता है। यदि ऐसा होता तो जो वस्तु हो चुकी उसका साक्षात्कार आज कैसे हो सकता है? पर ऐसा होता है। ज्ञाप्य और कार्य न होने के कारण रस वर्तमान नहीं है क्योंकि वर्तमान में लौकिक वस्तुएं इन्हीं दो रूपों में होती हैं। भविष्यत् भी उसे कैसे कहें जबकि वह आनन्दघन और प्रकाशरूप साक्षात्कार-अनुभव का विषय होता है। भविष्यत् की वस्तु वर्तमान में नहीं देखी जाती। अतः रस अलौकिक है।

उपरोक्त बातों से स्पष्ट है कि रस यद्यपि स्वर्गीय या पारलौकिक तो नहीं किन्तु लौकिकता से भिन्न है अतः अलौकिक है।

प्रश्न १४—काव्य में अलंकारों का स्थान निर्धारित कीजिये।

उत्तर १४—काव्यकला ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। काव्यकला को सम्पूर्ण कलाओं से अधिक उत्कृष्ट तथा प्रभावशाली भी बताया गया है। अलौकिक आनन्द की प्राप्ति जिस कला से होती है उसमें कुछ अलौकिक तत्वों का समावेश हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

प्रत्येक कला प्रयत्नसाध्य होती है और निरन्तर अभ्यास उसे चरम उत्कर्ष पर पहुंचाता है परन्तु काव्य के विषय में अभ्यास को इतना महत्त्व नहीं दिया गया जितना अन्य कलाओं में। अन्य कलाओं में अभ्यास को प्राथमिक स्थान दिया गया है। काव्य में उसे गौण स्थान प्राप्त है। वहाँ पहला स्थान है प्रतिभा का, जिसे ईश्वरप्रदत्त शक्ति भी कहते हैं। यही काव्य की परिभाषा में भी अलौकिकता का समावेश है। आधुनिक युग में प्रतिभा की भी

इतने विश्लेषण करने का अभिप्राय केवल यह है कि साहित्य या काव्य की पार्श्वभूमि में अलंकार का स्थान स्पष्ट हो जाय । काव्यादर्श में अलंकारों के विषय मे कहा गया है "काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते" (काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म को अलंकार कहा जाता है।))।

यों तो संस्कृत साहित्य में ही कितने ही अलंकार सम्प्रदाय हैं जो काव्य का अस्तित्व ही अलंकारों के अभाव में मानने को तैयार नहीं किन्तु फिर भी मान्यता हमारे यहाँ रस सम्प्रदाय को ही मिली जिसमें काव्य में रस को पहला स्थान, गुण को दूसरा तथा अलंकारों को तीसरा स्थान दिया गया। अलंकारों के अभाव में भी काव्य की सत्ता ये मानते हैं । इस प्रसंग में संस्कृत साहित्य के उन प्रमुख साहित्यिक वादों का नाम जान लेना असंगत न होगा।

१. रस सम्प्रदाय—भरत मुनि इसके प्रधान आचार्य थे।
२. अलंकार सम्प्रदाय—भामह, दंडी, रुद्रट तथा केशव इसके प्रमुख समर्थक हैं।
३ रीति सम्प्रदाय—वामन इसके प्रवर्त्तक थे।
४. वक्रोक्ति सम्प्रदाय—कुंतल इसके प्रवर्त्तक थे । यह अलंकार सम्प्रदायके ही निकट है।
५. ध्वनि सम्प्रदाय—यह रससम्प्रदाय का व्यावहारिक रूप है ।

उपरोक्त वादों से स्पष्ट है कि काव्य में भाषापक्ष को अर्थात् अलंकार पक्ष को प्रधानता देने वालों की संख्या भी कम नहीं है । फिर भी यह तो माना ही गया है कि अलकार शोभा तो बढ़ाते हैं पर वे अनिवार्य नहीं। उनके अभाव में भी काव्य-काव्य रह सकता है। मम्मट इसके समर्थक हैं कि कहीं-कहीं बिना अलंकार के भी काव्य होता है "सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।" उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

ऐसे बिहाल बिवाइन सों पग कंटक जाल लगे पुनि जोए।
हाय महा दुख पायो सखा तुम आए इतै न कितै दिन खोए ।।
देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिकै करुनानिधि रोए।
पानी परात को हाथ छुऔ नहिं नैननि के जलसों पग धोए ।।

लोगों ने वैज्ञानिक परिभाषा की है और उसे ९० प्रतिशत से भी अधिक परिश्रम के तत्वों से—अभ्यास के तत्वों से निर्मित तथा लगभग १० प्रतिशत उद्रेक के तत्वों से निर्मित माना है (Ninety Per cent. perspiration and only ten per cent inspiration)

कहने का सारांश यह है कि काव्य-साधना में भाव-साधना और भाषा साधना एक साथ है। यह कहना कि बिना भाषा ज्ञान के कोई कवि सफल कवि बन सकता है युक्तियुक्त नहीं होगा। कवि की परिभाषा ही है कि जो मार्मिक भावों को चमत्कारपूर्ण भाषा में व्यक्त करे। साधारण बात को साधारण शब्दों मे कह देना कोई काव्य नहीं। चमत्कारपूर्ण भाषा क्या है? वास्तव में अलकारों की यही जननी है। सोचते-सोचते भाव मँज जाते हैं और कहते-कहते भाषा। कवि की भाषा में और जनसाधारण की भाषा में महान् अन्तर होता है। कवि भाषाशिल्पी भी होता है। अलकार यदि संक्षेप में कहें तो कह सकते हैं कि ये कथन की प्रणालियाँ विशेष हैं। ये कितनी हो सकती हैं इसकी कोई सीमा नहीं। सिद्ध कवियों की रचना मे ऐसे भाव और अलंकार मिल जायेंगे जिनका नामकरण तक नहीं हुआ। उदाहरण के लिये सूर में और तुलसी मे भावों का ऐसा प्रवाह है जो ८ स्थायी भावों तथा ३३ संचारियों के बंधन में नहीं बंधता। जगन्नाथदास रत्नाकर के उद्धव शतक में प्रत्येक कवित्त में कथन का कुछ ऐसा ढंग है कि वह निश्चित अलंकारों की परिभाषा में न बँधते हुए भी चमत्कारपूर्ण है—अलंकार है।

यह तो ठीक है कि कुछ भावसिद्ध कवि होते हैं, कुछ भाषासिद्ध कवि होते हैं और कुछ सर्वमहान कवि होते हैं जिनका भाव और भाषा दोनों पर समान अधिकार है। ऐसे ही कवियों के विषय में प्रसिद्ध है—"वचन के बस जासु सरस्वती करति काज मनौ निजभामिनी।"

उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायगी।

कबीर, जायसी आदि भावप्रधान कवि हैं। भाषाडम्बर उनमें नहीं।

केशव तथा अन्य प्रमुख रीतिकालीन कवि भाषा के चमत्कार पर ही अवलम्बित हैं।

सूर और तुलसी भाव-भाषा सिद्ध महान् कवि हैं।

इतने विश्लेषण करने का अभिप्राय केवल यह है कि साहित्य या काव्य की पार्श्वभूमि में अलंकार का स्थान स्पष्ट हो जाय। काव्यादर्श में अलंकारों के विषय में कहा गया है "काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते" (काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म को अलंकार कहा जाता है।)।

यों तो संस्कृत साहित्य में ही कितने ही अलंकार सम्प्रदाय हैं जो काव्य का अस्तित्व ही अलंकारों के अभाव में मानने को तैयार नहीं किन्तु फिर भी मान्यता हमारे यहाँ रस सम्प्रदाय को ही मिली जिसमें काव्य में रस को पहला स्थान, गुण को दूसरा तथा अलंकारों को तीसरा स्थान दिया गया। अलंकारों के अभाव में भी काव्य की सत्ता ये मानते हैं। इस प्रसंग में संस्कृत साहित्य के उन प्रमुख साहित्यिक वादों का नाम जान लेना असंगत न होगा।

१. रस सम्प्रदाय—भरत मुनि इसके प्रधान आचार्य थे।

२. अलंकार सम्प्रदाय—भामह, दंडी, रुद्रट तथा केशव इसके प्रमुख समर्थक हैं।

३ रीति सम्प्रदाय—वामन इसके प्रवर्त्तक थे।

४. वक्रोक्ति सम्प्रदाय—कुंतल इसके प्रवर्त्तक थे। यह अलंकार सम्प्रदायके ही निकट है।

५. ध्वनि सम्प्रदाय—यह रससम्प्रदाय का व्यावहारिक रूप है।

उपरोक्त वादों से स्पष्ट है कि काव्य में भावपक्ष को अर्थात् अलंकार पक्ष को प्रधानता देने वालों की संख्या भी कम नहीं है। फिर भी यह तो माना ही गया है कि अलकार शोभा तो बढ़ाते हैं पर वे अनिवार्य नहीं। उनके अभाव में भी काव्य-काव्य रह सकता है। मम्मट इसके समर्थक हैं कि कहीं-कहीं बिना अलंकार के भी काव्य होता है "सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।" उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

देखे बिहाल बिवाइन सों पग कंटक जाल लगे पुनि जोए।
हाय महा दुख पायो सखा तुम आए इतै न कितै दिन खोए॥
देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिकै करुनानिधि रोए।
पानी परात को हाथ छुओ नहिं नैननि के जलसों पग धोए॥

तथा

'माँ' फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कंठा दूनी
लुटरी खुली अलक रजधूसर बाहें आकर लिपट गई
निशा तापसी के जलने को धधक उठी बुझती धूनी।

उपरोक्त उदाहरण इस बात के उदाहरण हैं कि अलंकारों के बिना भी बात प्रभावशाली रूप में कही जा सकती है ।

अब प्रश्न यह है कि फिर काव्य मे अलंकारों की क्या स्थिति है । शुक्ल जी का कथन है कि 'भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति अलंकार है ।" अलकार की इससे उत्तम और क्या परिभाषा हो सकती है । अलंकारयुक्त उक्ति का प्रभाव केन्द्रित होकर पाठक पर पड़ता है । अतः अलंकार रस के साधक ही कहे जायेंगे क्योंकि वे किसी भी भाव का तीव्रतर अनुभव कराने में सहायक होते हैं ।

ध्वनिकार अलंकारों की काव्य में क्या स्थिति है—बताते हुए लिखते हैं "अंगाश्रिता स्त्वलंकाराः मन्तव्या. कटकादिवत् ।" (अग रूप मे वर्तमान अलंकारों को कटक आदि मानवीय अलंकारों की भाँति समझना चाहिए)

विश्वनाथ इन शब्दों में अलंकारविषयक अपना मत प्रकट कहते हैं "रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत्" (कटक-कुंडल की भाँति अलंकार रस के उत्कर्ष-विधायक माने जाते हैं) । अब प्रश्न यह रह जाता है कि अभिव्यक्ति से ये किस प्रकार सम्बद्ध रहते हैं ? क्या अभिव्यक्ति में वे बाहर से जोड़े जाते हैं ? यदि ऐसा माना जाय तो अलंकार सर्वथा बाहरी वस्तु रह जाते हैं। यदि कहा जाय कि वे तो काव्य के अतरंग है तो फिर उनके अलग अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता । वास्तव में अलंकार कोई स्थूल वस्तु नहीं हैं । उनका काव्य में आना भाषा साधना से ही अधिक सम्बद्ध है । प्रायः देखा यह जाता है कि गाँव के निरक्षर एवं अशिक्षित व्यक्ति भी आलंकारिक भाषा बोलते हैं । गाँव की सम्पूर्ण कहावतें इसका अच्छा निदर्शन हैं । इस प्रकार की कहावतों में गुण, अलंकार, शब्द शक्तियों का सहज ही समावेश रहता है ।

अलंकार कोई ऐसी वस्तु तो नहीं है कि प्रथम उसका अर्जन किया जाय और फिर प्रयोग। वास्तव में काव्य में या भाषा में कथन की वक्रतापूर्ण प्रणालियाँ भाषा-साधना या कहने की प्रवृत्ति का ही परिणाम हैं।

अलंकार आते सौंदर्य बढ़ाने के लिये ही हैं चाहे वह भाव का हो अथवा भाषा का। भाव का सौंदर्य बढ़ाने वाले अलंकार तो रस से अनिवार्य रूप से सम्बद्ध हैं। वे उसके अंतरग से सम्बन्ध रखते हैं तथा रसोद्बोध में सहायक होते हैं। शब्दालंकार जो भाषा का अलंकरण करते हैं निस्संदेह वे चमत्कारपूर्ण अनुरंजन मात्र करते हैं। भावोद्बोधन एवं चमत्कारपूर्ण अनुरंजन साहित्य के दो अनिवार्य लक्षण शुक्ल जी ने माने हैं।

कभी-कभी ऐसा होता है कि कवि के पास भावों का अभाव होता है किन्तु फिर भी वह काव्य सृजन में प्रवृत्त रहता है। डा० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में ऐसे काव्य में रूप की अधिकता एवं अनुभूति की कमी रहती है। अच्छे-अच्छे रस-सिद्ध कवि कभी-कभी शब्दों की खिलवाड़ में पड जाते हैं। चित्रकार भी कभी-कभी चित्र बनाना छोड़ कूची से ही खेलने लगता है। यहाँ कुछ ऐसे उदहारण देना असंगत न होगा जो भाषा की खिलवाड़ मात्र हैं।

नीकी मति लेह, रमनी की मति लेह मति,
सेनापति चेत कछु पाहन अचेत है।
करम करम करि करमन करि पाप
करम न कर मूढ सीस भयो सेत है।
आवे वनि जतन ज्यौं रहै वनि जतनन
पुत्र के वनिज तन मन किन देत है।
आवत विराम वैस बीती अभिराम तातें
करि विसराम भजि रामै किन लेत है।

सेनापति का ही एक उदाहरण और लीजिये जिसमें उन्होंने अनुप्रास तथा तुकांत यमक का चमत्कार दिखाया है। लेकिन उससे भाव को कोई तीव्रता नहीं मिलती।

अमल कमल जहाँ सीतल सलिल लागी
आस पास पाटिन सघनि त'ल जाति है।

तहाँ नव वारी पंचवान वैस वारी महा
मत्त प्रेम-रस आस वनि८ात जाति है।
सेनापति मानो रति नीकी निरखति अति
देखिकै जिनैं सुरेस वनिता लजाति है।

अलंकार अधिकतर सादृश्यमूलक होते हैं। साम्य तीन प्रकार का माना गया है। १—शब्द की समानता। २—रूप की समानता। ३—गुण की समानता।

काव्य के उपमान यदि केवल रूपसाम्य ही प्रकट करेंगे प्रभावसाम्य नहीं तो वे उच्चकोटि के काव्य सृजन में अधिक सहायक नहीं हो सकते। 'कमल के समान हाथ' में कितनी ही ध्वनि निकलती है—लम्बी और कोमल तथा उंगलियों वाला हाथ। किन्तु जायसी ने जैसा पद्मावत में लिखा है कि पद्मिनी की कटि भिड़ (वर्र) के सदृश है या सिंह के सदृश है या यह गज-गामिनी है। भिड के उपमान से कमर की सूक्ष्मता के आकार का ज्ञान तो हो जाता है परन्तु उसमें वह सुन्दरता नहीं जो पद्मिनी की कटि से अभिव्यंजित होती है। इसी प्रकार गज की चाल मंदता का चित्र तो खींचती है किन्तु हाथी का एक स्थूल चित्र भी लाती है जो सौंदर्यानुभूति में सहायक नहीं होता। इस विषय में पं० रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं :

"अप्रस्तुत भी उसी प्रकार के भाव के उत्तेजक हों प्रस्तुत जिस प्रकार के भाव का उत्तेजक हो। किसी पात्र के लिये जो उपमान लाया जाय वह उस भाव के अनुरूप हो जो कवि ने उस पात्र के सम्बन्ध में अपने हृदय में प्रतिष्ठित किया है और पाठक के हृदय में भी प्रतिष्ठित करना चाहता है। इस दृष्टि से वे गोस्वामीजी की इन पंक्तियों में दोष देखते हैं जो सर्वथा उचित भी है।

"सेवत लषन सियारघुवीरहिं, जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहिं।"

कहना न होगा कि अविवेकी पुरुष के द्वारा शरीर सेवा की तीव्रता एवं उसकी लगन तो अवश्य ही असाधारण होती है और उससे लक्ष्मणजी की लगन की समानता करने से उनकी लगन की तीव्रता भी व्यङ्ग्य है परन्तु उपमान वह प्रभाव नहीं छोड़ता जिससे लक्ष्मणजी की लगन का उदात्तीकरण हो सकता

अर्थात् अनजान में ही उपरोक्त पंक्ति से लक्ष्मणजी के लिये एक अश्रद्धा की भावना पैदा होती है जो कि कवि को भी अभीप्सित नहीं।

अब यहाँ हम कुछ ऐसे अलंकारों के उदाहरण देंगे जो भावों की तीव्रता का अनुभव कराकर रसानुभूति में सहायक होते हैं।

हरिऔध द्वारा लिखित निम्नांकित पंक्तियों में अलंकार भाव उत्कर्ष का कार्य ही कर रहे हैं।

प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है?
दुःख-जल-निधि डूबी का सहारा कहाँ है?
लख मुख जिसका मै आज लौं जी सकी हूँ,
वह हृदय हमारा नैन तारा कहाँ है?

इसमे आए उपमा और रूपक विकलता की भावना को तीव्रतर रूप में व्यक्त कर रहे हैं। इसी प्रकार महाकवि बिहारी का एक दोहा लीजिये।

दीठि वरत बाँधी अटनु चढ़ि धावत न डरात।
इतहिं उतहिं चित दुहुन के नट लौं आवत जात॥

भावार्थ यह है एक नायिका और एक नायक दोनों का घर आमने सामने है और खिडकी से वे एक दूसरे को देखने मे तल्लीन है। इसी बात को उपमा और रूपक के सहारे ने मूर्त रूप दे दिया है। दृष्टि रस्सी है यह कहते ही एक चित्र बनता है। मन नट के समान फिर उन रस्सियों पर चलते हैं। कितना कौशल है अप्रस्तुत का भी पूरा वर्णन प्रस्तुत का उसके द्वारा उत्कर्ष विधान भी। अलंकारों का ऐसा ही प्रयोग होना चाहिए। अलंकार अलंकार के लिये यह कोई बात नहीं।

कहीं-कहीं अलकार रूप का तीव्रतर अनुभव कराने में सहायक होते हैं। यहाँ हिन्दी संसार में प्रसिद्ध प्रसादजी के कुछ छंद कामायनी से उद्धृत किये जाते हैं :

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदु अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघबन बीच गुलाबी रंग।
घिर रहे थे घुंघराले बाल अंस अवलम्बित मुख के पास,
नील घन शावक से सुकुमार सुधा भरने को विधु के पास।

आह! वह मुख पश्चिम के व्योम बीच जब घिरते हों घनश्याम,
अरुण रवि मंडल उनको भेद दिखाई देता हो छवि धाम ॥

श्रद्धा के रूप को उपमा, उत्प्रेक्षा की सहायता से उन्होंने चरम सीमा पर पहुंचा दिया है। इसी प्रकार रूपक के द्वारा प्रसादजी ने चिन्ता की भीषणता का कैसा चित्र खींचा है :

ओ चिन्ता की पहली रेखा अरी विश्व वन की व्याली,
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कंप सी मतवाली।
हे अभाव की चपल बालिके री ललाट की खल लेखा,
हरी-भरी-सी दौड़-धूप ओ जलमाया की चल रेखा ॥

कहने का सारांश यह है कि जो अलंकार भाव, गुण, क्रिया को तीव्रतर नहीं करते वे रसोद्रेक में सहायक नहीं हो सकते अतः व्यर्थ हैं।

अलंकारों के विषय में पंतजी के विचार बड़े महत्त्व के हैं:—"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिये नहीं; वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिये, राग की परिपूर्णता के लिये, आवश्यक उपादान हैं; वे वाणी के आचार-व्यवहार और रीति-नीति हैं, पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। जैसे वाणी को झंकारें विशेष घटना से टकराकर जैसे फेनाकार हो गई हों, विशेष भावों के झोंके खाकर बाल लहरियाँ तरुण तरंगों में फूट गई हों, कल्पना के विशेष बहाव में पड आवर्तों में नृत्य करने लगी हों। वे वाणी के हास,अश्रु,स्वप्न,पुलक,हाव-भाव हैं। जहाँ भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटे में फिट करने के लिये बुनी जाती है वहाँ भावों की उदारता शब्दों की कृपण जडता में बँधकर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'उकसार' हो जाती है।" (पल्लव की भूमिका)।

लेकिन अलंकारप्रियता के आवेश में ऐसे-ऐसे अलंकार गढ़ लिये गए हैं जो कठिनता से अलंकार कहे जाने योग्य हैं जैसे,सम्भव, सम्भावना, भाविक, तद्‌गुण आदि। अतः अलंकारों का अनावश्यक विस्तार वांछनीय नहीं है। अलकार वे ही हैं जो भाषा में या काव्य में भारस्वरूप प्रतीत न हों जहाँ हों ... से हों। भावों को तीव्र कर रसोद्बोध में सहायक हों। उनके महत्त्व के प्रति

तो विवाद संभव ही नहीं। उनके महत्व को पंतजी ने अपने उपरोक्त कथन में बहुत कुछ स्पष्ट कर दिया है।

प्रश्न १५—काव्यदोष क्या हैं ? प्रधान काव्यदोषों का वर्णन कीजिये :—

उत्तर १५—विश्व में ऐसी कौन सी वस्तु है जो अपनी पूर्ण निर्दोषिता का गर्व कर सके। सत्व, रज, तम से बनी सृष्टि में गुण और दोष दोनों का आगार है। मनुष्य में भी अन्य प्राणियों की भांति अनेक दोष होते हैं। पन्तजी का कथन कितना सत्य है :—

'दीन दुर्बल है रे संसार, इसी से दया, क्षमा औ प्यार।'

दीनता, दुर्बलता सबसे बड़े दोष हैं लेकिन ये दोष ही मानवोचित गुणों के अस्तित्व के कारण हैं। दीनता और दुर्बलता की पूरक वृत्तियां हैं दया, क्षमा और प्यार।

जब मनुष्य में ही गुण दोष हैं तो उसकी कृतियां इनसे मुक्त कैसे रह सकती हैं। कवि मनुष्य है और सामाजिक प्राणी है अतः उसके द्वारा विरचित काव्य कृतियों में दोष होना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

यद्यपि आचार्यों ने साहित्य शास्त्र में दोष से बचने के अनेक उपाय तथा दोषों के अनेक नाम लिख रखे हैं किन्तु आज तक कौन कवि पूर्णतः उन से बच सका है, जितने आचार्यों ने काव्यकी परिभाषा की है उसमें निर्दोष काव्य काव्य का प्रथम लक्षण माना गया है, काव्यप्रकाशकार मम्मट ने काव्य की परिभाषा में ही इसका विवेचन किया है—"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" (वे ही शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं जो दोषों से रहित तथा गुणों से युक्त होते हैं, अलंकार चाहे कभी-कभी न भी हों)। शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्य की सृष्टि करते हैं। न तो अकेला शब्द काव्य है और न अकेला अर्थ। अतः दोनों सर्वथा काव्य में अभिन्न रहते हैं किन्तु ज्ञान या विश्लेषण के लिए उनकी सत्ता पृथक्-पृथक् मानी गई है। अतः काव्य संबन्धी गुण-दोष भी उनके पृथक्-पृथक् ही समझे जाते हैं। अतः वे दोष खंड में काव्यदोष और अर्थदोष के नाम से विभक्त कर दिए गए हैं। काव्य में वाक्य का अर्थ समझने के पूर्व ही जब कोई शब्द खटकने लगता है तो वह शब्द-दोष

कहलाता है और जब उन शब्दों के सम्मिलित अर्थ समझने पर कोई बात खटकती है तो वहां अर्थदोष माना जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि कोई वाक्यार्थ क्यों दूषित कहा जाता है? बात वास्तव में यह है कि कवि जो भाव जागृत करना चाहता है या स्वयं जो भाव व्यक्त करना चाहता है उसमें जो बाधा डालता है, उसमें देर लगाता है, उसे कम करता है अथवा उसके विपरीत प्रभाव उत्पन्न करता है—वही दोष कहलाता है। इस रूप में कभी शब्द और कभी अर्थ दोनों ही बाधक हो सकते हैं अतः क्रमशः शब्ददोष तथा अर्थदोष कहलाते हैं। कहीं-कहीं काव्य में जिन भावों और रसों की व्यंजना रहती है उसमें एक दूसरे का विरोध करने वाले भाव या रस जब उत्पन्न हो जाते हैं तो वहां रसदोष माना जाता है। वास्तव में रसदोष में भी शब्ददोष तथा अर्थदोष के कारण सन्निहित रहते हैं। एक और प्रकार का भी दोष माना जाता है जिसे वर्णनदोष कहते हैं। यह शब्द, अर्थ, रसदोष से भिन्न वर्णन की अव्यवस्था के कारण उत्पन्न होता है।

उपरोक्त दोषों का अभाव सुन्दर काव्य में होना चाहिए। आचार्यों का ऐसा कथन है। आचार्य दण्डी तिल के सदृश काव्यदोष को भी अक्षम्य समझते हैं क्योंकि वह कोढ़ के धब्बे के समान साहित्य सौंदर्य को नष्ट कर डालता है। वे कहते हैं :—

"तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥"

भामह तो कुकवित्वं को साक्षात मृत्यु ही मानते हैं।

"कुकवित्व पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः।"

अतः समीक्षकों ने दोषों पर इतना अधिक ध्यान दिया है कि दोष के अभाव को ही गुण मान लिया है।

अब संक्षेप में यहां दोषों का परिचय दिया जायगा और उन दोषों को छोड़ देना असंगत न होगा जिनका सम्बन्ध केवल संस्कृत से है। क्योंकि दोषों की संख्या वैसे बहुत है। मम्मट ने काव्यप्रकाश मे ७० प्रकार के दोषों की गणना की है जिनमें ३७ शब्द के २३ अर्थ के और १० रस के दोष हैं। अतः

यहां दोषों का उल्लेख हिंदी साहित्य को ध्यान में रखते हुए किया जायगा।

काव्यदोष के मुख्य रूप में तीन भेद होते हैं :—१. शब्ददोष २. अर्थदोष, ३. रसदोष। ये दोष भी तीन प्रकार से होते हैं। १. जो काव्य-स्वादरोधक हों २ जो काव्य के उत्कर्ष को नष्ट करते हों ३. जो काव्य स्वाद में विलम्ब उत्पन्न करते हों।

शब्द दोष

१. च्युत संस्कृति दोष—इस दोष के अन्तर्गत व्याकरण विरुद्ध प्रयोग आते हैं। व्याकरण की अवहेलना बड़े-बड़े कवि कभी-कभी कर जाते हैं। यह भी पांच प्रकार का माना गया है १. लिंगदोष २. वचनदोष ३. कारक दोष ४. सन्धिदोष ५. प्रत्यय दोष। इस प्रकार के दोष से शिष्टभाषा के अभ्यासी पाठक को चोट सी लगती है। भाव से उसका ध्यान हट कर भाषा की ओर चला जाता है और इस प्रकार उसके काव्यानंद में बाधा पडती है। उदाहरण :—

(१) मेरी प्राण रही थी मुझमें उनका दर्शन पाने को

(२) मर्म वचन जब सीता बोला,
हरि प्रेरित लछिमन मन डोला।

प्रथम उदाहरण मे प्राण शब्द स्त्री लिंग मे प्रयुक्त हुआ है तथा द्वितीय में 'सीता बोला' प्रयोग व्याकरण विरुद्ध है।

२. अक्रमत्व दोष :—जिस स्थान मे जो शब्द रखा जाना चाहिए उसे उस स्थान में न रखने से यह दोष होता है।

उदाहरण :—'विश्व में लीला निरन्तर कर रहे वे मानवी'

यहां लीला शब्द मानवी का विशेष्य है जो उस के निकट न रह कर बहुत दूर जा पडा है।

३. अप्रतीतत्व दोष :—कवि कभी-कभी ऐसे शब्दों का प्रयोग काव्य में कर देता है जिनका साधारण बोलचाल में तो कुछ अर्थ होता है और किसी शास्त्र विशेष में उनका पारिभाषिक अर्थ कुछ और ही होता है। जब साधारण रचना में वे शब्द अपने शास्त्रीय अर्थ में प्रयुक्त होते हैं तो साधारण पाठक-

के लिए वे बाधक सिद्ध होते हैं। अतः ऐसे स्थान पर अप्रतीतत्व दोष माना जाता है। उदाहरण:—

हैं प्रधान के तीनि गुण व्याप्त विश्व में जौन।
हो स्वतन्त्र इनते रहे अस जग जन्मा कौन॥

यहाँ प्रधान शब्द का अर्थ एक साधारण पाठक के लिए बोधगम्य नहीं हो सकता क्योंकि सांख्यशास्त्र का यह पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ प्रकृति है। हो सकता है जनता का शिक्षा-स्तर उठने पर यह दोष बराबर कम होता जाय।

४. न्यूनपदत्व दोष :—कभी-कभी रचना में शब्द की कमी के कारण अर्थ में बाधा उपस्थित हो जाती है। सारांश यह कि जहां अर्थ को पूर्ण रूपेण स्पष्ट करने के लिए जितने शब्दों की अपेक्षा हो उससे कम शब्दों का प्रयोग जहां किया गया हो वहां यह दोष होता है। तुलसी का एक दोहा इसका प्रसिद्ध उदाहरण है।

उत्तम मध्यम नीचगति पाहन सिकता पानि।
प्रीति परिच्छा तिहुंन की वैर व्यतिक्रम जानि॥

इसमें एक अत्यन्त आवश्यक शब्द रेखा छूट गया जिसके अभाव में अर्थपूर्ति असम्भव है।

५. अधिकपदत्व दोष :—जब किसी रचना में इतने अनावश्यक शब्द हों कि उनमें से कुछ को निकाल देने पर भी अर्थ निकल आएँ और भाव में किसी भी प्रकार का अतर भी न पड़े वहां यह दोष माना जाता है। उदाहरण लीजिए :—

लिपटी पुहुप-पराग-पट सनी स्वेद मकरन्द।

यहां पराग कहने से ही पुष्परज का बोध हो जाता है फिर पुहुप का प्रयोग अनावश्यक है। अतः यहां अधिकपदत्व दोष हुआ।

६. अश्लीलत्व दोष :—अश्लील शब्द का अर्थ है श्रीहीन, इसमें तीन भावों का समावेश होता है। १. जिससे लज्जा हो, २. जिससे घृणा हो, ३. जिससे अशुभ सूचना या अमंगल सूचित हो। यह दोष केवल शब्द में भी हो सकता है और वाक्यार्थ में भी अर्थात् यह शब्ददोष और अर्थदोष दोनों रूपों

में आ सकता है। लज्जाजनक उदाहरण प्रायः वे ही देखे जाते हैं जहां स्त्री-पुरुषों के गुप्तांगों का नाम निर्देश या विशेष वर्णन पाया जाता है। घृणा-जनक उदाहरणों में मलमूत्र, वमन, थूक, अधोवायु आदि का वर्णन रहता है। (बीभत्स रस जहां होगा वहां यह दोष नहीं माना जायगा)। जहां करुण रस का वर्णन न हो फिर भी जहां मरण एवं अमंगल सूचक शब्दों का प्रयोग हो जाय वहां यह दोष माना जाता है।

उदाहरण—(लज्जाजनक)

पर उपकार त्याग का सच्चा,
तरुवर पाठ पढ़ाते हैं।
दण्ड प्रहार चूत (आम) में करके,
सुन्दर फल सब पाते हैं।

घृणाजनक—मदिरा पीना आपने समझ लिया था पाप।
लगे थूक कर चाटने इतनी जल्दी आप॥

अमगल जनक—हत्यारी है चितवन प्यारी! तुम्हारी
इसी ने तो है मेरा खून किया।

७ निहितार्थ दोष :—जहाँ किसी शब्द का अप्रसिद्ध अर्थ मे प्रयोग हो। उदाहरण :—

विषमय यह गोदावरी अमृत के फल देति।
केसव जीवनहार के दुःख असेस हरि लेति॥

विष और जीवन का अर्थ पानी होता तो है पर वह अधिक प्रसिद्ध नहीं है। (जहाँ किसी बात को छिपाकर ही कहना हो वहां यह दोष गुण हो जायगा)।

८. संदिग्धत्व दोष:—जहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग हो जिससे वाँछित और अवाँछित दोनों प्रकार के अर्थों का बोध हो।

या गिरिपर सुग्रीव नृप ता सँग मन्त्री चारि।
वानर लई छिड़ाय तिय लीन्हों बालि निकारि॥

प्रतीत होता है किसी बन्दर ने स्त्री को छीन लिया तथा बाली को निकाल दिया।

९. क्लिष्टत्वदोष :—जहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ हो जिनका

कठिनता से अर्थ खुले वहाँ यह दोष माना जायगा। उदाहरणः—

वेद नखत गृह जोरि अरध करि सोई बनत अब खात (सूर)

वेद = ४ + नखत = २७ + ग्रह = ९ = ४० − $\frac{1}{2}$ = २० (बीस) = विष।

गोपियाँ कहना चाहती हैं कि अब विष खाते ही बनता है। कितना क्लिष्ट अर्थ है।

१०. ग्राम्यत्व दोषः—ऐसे शब्द का प्रयोग जिसे सुशिक्षित जन कभी व्यवहार में नहीं लाते। केवल अशिक्षित ग्रामवासियों में ही जिसका व्यवहार होता है ग्राम्य दोष कहलाता है। इसमें वे शब्द भी सम्मिलित किये जा सकते हैं जिन्हें पढ़े-लिखे भी घरू बोलचाल में कभी बोल लेते हैं पर लिखने में जिनका व्यवहार नहीं होता। ऐसे शब्द कम नहीं हैं। महान् कवि भी ऐसे शब्दों का प्रयोग कर जाते हैं। अधिक प्रयोग से इनका दोष धुल जाता है और ये साहित्यिक शब्द मान लिये जाते हैं। उदाहरण—

पड़े झटोले पै रहे नींद न आई राति।

रेखांकित शब्द ग्राम्य प्रयोग है जिसका अर्थ टूटी खाट है। इसी प्रकार गाल शब्द ग्राम्य है जिसका अर्थ कपोल होता है।

११. श्रुति कटुत्व दोष :—शृङ्गार और करुण आदि कोमल रसों में जहाँ कानों को अप्रिय लगने वाले शब्दों का प्रयोग हो। उदाहरण—

कवि के कठिनतर कर्म की करते नहीं हम धृष्टता।

पर क्या न विषयोत्कृष्टता लाती विचारोत्कृष्टता।

रेखांकित शब्द कर्ण कटु हैं। (रौद्र रस के वर्णन में या वीर रस के वर्णन में ऐसे शब्द दोष नहीं माने जायेंगे)।

१२. समाप्त पुनरात्तता :—वाक्य की समाप्ति में जहाँ पहले के छूटे हुए विशेषणादि रख दिए जायँ। उदाहरण :—

ब्रह्मादि देव जय विनय कीन्ह।
तट छीर सिन्धु के परम दीन॥

लगता है कि वाक्य 'तट छीर सिन्धु के' पर समाप्त हो गया है किन्तु '——ीन' द्वारा उसे फिर उठाया गया है।

अर्थ दोष

१. पुनरुक्ति दोष :—यह दोष अर्थगत है क्योंकि एक से दो शब्द देखकर ही हम पुनरुक्तिदोष नहीं कह सकते जब तक कि यह निश्चय न हो जाय कि दोनों स्थानों मे अर्थ भी एक ही है । इस प्रकार भिन्न-भिन्न शब्दों और वाक्यों द्वारा यदि एक ही अर्थ की प्रतीति हो तो उसमें पुनरुक्ति दोष माना जाता है । उदाहरण :—

जहँ सुमति तहँ संपति नाना ।
जहँ कुमति तहँ विपति निदाना ॥

पहली पंक्ति वास्तव मे दूसरी पंक्ति का भी अर्थ देती है अतः दूसरी पंक्ति व्यर्थ है ।

२. दुष्क्रमत्व :—सांसारिक व्यवहार में व्यापारों का जो क्रम होता है, अथवा शास्त्रीय नियमों के द्वारा कार्यों का जो क्रम माना जाता है, उस क्रम का ध्यान कवि को भी रखना चाहिए । यदि वह इसमें भूल करता है तो दुष्क्रमत्व दोष होता है । उदाहरणः—

"मारुत नंदन मारुत को मन को खगराज को वेग लजायो।" (तुलसी) यहाँ उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखाना अभीष्ट था परन्तु उसमें व्यतिक्रम हो गया है । ठीक क्रम होता—खगराज, मारुत, मन । इस व्यतिक्रम के कारण ही यहाँ दुष्क्रमत्व दोष है ।

३. व्याहत—जिसका महत्व दिखाया जाय उसी का तिरस्कार करना दोषपूर्ण है । तिरस्कृत का जहाँ महत्व दिखाया जाय वहाँ भी यह दोष होगा । उदाहरण :—

दानी दुनिया मे बड़े देत न धन जन हेत ।

यहाँ पहले दानियों का बड़प्पन दिखाया गया है फिर उनका तिरस्कार।

४. प्रसिद्धि विरुद्ध दोषः—जिस वस्तु के विषय मे जैसी प्रसिद्धि हो उसके विपरीत वर्णन करना इस दोष के अन्तर्गत है ।

उदाहरण :—हरि दौडे रण मे लिये कर मे धन्वा बाण ।
श्रीकृष्ण चक्र के साथ प्रसिद्ध हैं धनुर्बाण के साथ नहीं ।

रसदोष

१. स्वशब्दवाच्यत्व दोष :—भाव जहाँ व्यंग न होकर उल्लिखित हो वहाँ यह दोष होता है। उदाहरण:—

'कौशल्या क्या करती थीं, क्या कुछ धीरज धरती थीं।'

धीरज संचारिभाव व्यंग नहीं उल्लिखित है (नाम लिख दिया गया है)।

२. अकाण्ड प्रथन:—जहाँ प्रस्तुत को छोड़कर अप्रस्तुत रस का विस्तार किया जाय वहाँ यह दोष होता है।

३. अंग वर्णन :—ऐसे रस का वर्णन करना जिससे प्रधान रस को कुछ लाभ न हो।

(उपरोक्त दो दोष नं० २ व ३ प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत ही हो सकते हैं।)

प्रश्न १६—"शैली विचारों का परिधान है" इस बात से आप कहाँ तक सहमत हैं। शैली की परिभाषा देते हुए विचारों के साथ उसके सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर १६—परिधान का जो सम्बन्ध मानव शरीर से है वही सम्बन्ध शैली का विचारों से नहीं है। शैली भाषा का बाह्य रूप है या उसका व्यक्तिगत प्रयोग है। जिस प्रकार मानव शरीर पर वस्त्र बाहर से धारण किये जाते हैं और उन्हें उतार देने पर भी उनका अस्तित्व शरीर से बना रह सकता है उसी प्रकार हम शैली को विचारों से अलग नहीं कर सकते। वह विचारों को बाहर से दिया गया आवरण नहीं है। शैली तो विचारों का ही बाह्य रूप है। विचार जब तक व्यक्त नहीं होते विचार हैं, व्यक्त होते ही वे शैली बन जाते हैं।

व्यक्ति जो कुछ बोलता है वह सार्थक होता है। निरर्थक भाषा का मूल्य ही क्या? वाणी का अर्थ से क्या सम्बन्ध है? क्या वे आपस में भिन्न-भिन्न वस्तु हैं। क्या पहले शब्द गढ़े गए और फिर उन्हें अर्थ दिया गया? ऐसा तो प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार वाणी और अर्थ अनिवार्य रूप से सम्बद्ध हैं और अविभाज्य हैं उसी प्रकार विचार और शैली अनिवार्य रूपेण सम्बद्ध हैं एव अविभाज्य हैं। वाणी और अर्थ की अभिन्नता दिखाते हुए किसी ने कहा है:—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वंदे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

इसी भाव को हिंदी में यों व्यक्त किया गया है ।

गिरा अर्थ जल वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न ।

जल मे उठने वाली वीचियाँ क्या जल से भिन्न कोई तत्व है ? नहीं । जल के अभाव में वीचियों का अस्तित्व कहाँ रहेगा । उसी प्रकार विचारो के सागर में शैली लहरों के समान है जो विचारों के आंदोलन को मूर्त रूप दे देती है । विचारों के अभाव में या भाषा के अभाव में शैली की कल्पना ही नहीं की जा सकती ।

साहित्य के दो पक्ष माने गए है १. भावपक्ष २. कलापक्ष। भावपक्ष का सम्बन्ध मानव मन की गहराइयों में व्याप्त भाव समुद्र से है । शृंगार हास्य,करुण,रौद्र,वीर,भयानक आदि रसों के स्थायी भावों का सम्बन्ध भावपक्ष से है लेकिन जब उस अगाध भावसागर को व्यक्त करने का प्रश्न उठता है तो शैली का प्रश्न यहीं से आरम्भ हो जाता है । जो कुछ भावनायें हमारे मानस में घुमड़ रही हैं वे भाषा के आवरण में ही निकलेंगी। उनको किस प्रकार व्यक्त किया जाय ? अभिव्यक्त करने के ढंग को ही शैली कहा जायगा ।

भावपक्ष तथा कलापक्ष का विभाजन भी कोई विशेष तात्विक नहीं है । आत्मा का शरीर से जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध भावपक्ष का कलापक्ष से है । अगर शरीर निर्जीव है, आत्मा उसमें नहीं है तो फिर शरीर का क्या मूल्य ? विचाराधिक्य और उसे व्यवस्थित रूप देकर प्रकट करने को ही शैली कह सकते हैं । शैली शैलीकार के व्यक्तित्व का साहित्यिक रूप है । लेखक की शब्द योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट और उनकी ध्वनि आदि का नाम ही शैली है ।

जिस प्रकार हम अपने व्यक्तिगत जीवन में व्यक्तियों को उनकी आवाज़ से पहचान लेते हैं और बिना साक्षात्कार हुए ही कह देते हैं अमुक व्यक्ति है उसी प्रकार साहित्य में भी हम शैलीकार को उसकी शैली में खोज सकते हैं । हम एक विशेष प्रकार का सवैया पढ़कर चौंक उठते हैं और कह देते हैं कि यह तो रसखान का है, यह तो पद्माकर का है, यह दोहा तो बिहारी का है,

यह तुलसी का, यह दोहा रहीम का हो नहीं सकता। यह पद तो महादेवी वर्मा का प्रतीत होता है। ये पंक्तियाँ प्रसाद जी की प्रतीत होती हैं। ऐसा क्यों होता है? केवल इसलिये कि हम इस शैलीकार के विशिष्ट भाषा प्रयोग से परिचित हो जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपने में एक पूर्ण विश्व है। प्रत्येक मनुष्य की परिस्थितियाँ भिन्न होती हैं। मानसिक संघटन भिन्न होता है। उसी प्रकार किन्हीं दो व्यक्तियों की शैली एक नहीं हो सकती। शैली के पीछे लेखक का व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन आदि का पूरा इतिहास छिपा रहता है। किन्हीं दो व्यक्तियों की शैली में केवल इसलिए अन्तर नहीं होता कि दोनों के भाषाज्ञान के स्तर में अन्तर हो। अपितु इसलिए अन्तर होता है कि किन्हीं दो व्यक्तियों की जीवन की परिस्थितियाँ एक सी नहीं मिल सकतीं। जब परिस्थितियाँ एक सी नहीं मिल सकतीं तो मनन के ढंग में अन्तर होगा, जीवन की मान्यताओं में अन्तर होगा। शैली व्यक्ति से और उसके विचारों से इतनी घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है कि वह उसके जीवन का ही प्रतिबिंब है।

प्रेमचन्द की शैली की नकल करने की कितने ही व्यक्तियों ने कोशिश की। पर क्या वे सफल हो सके? उत्तर बहुत संक्षिप्त है, नहीं। केवल इस लिए नहीं कि भाषा की साधना से ही शैली नहीं बना करती जीवन संघर्ष का लम्बा इतिहास मनुष्य की शैली का निर्माण करता है। कितने ही व्यक्तियों की शैली उनकी व्यक्तिगत रुचि को स्पष्ट करने में सहायक होती है। उदाहरण के लिए कुछ लेखक रंगों का वर्णन अधिक विस्तार और सफलता से करते हैं। आशय यह कि किसी व्यक्ति में कोई विशेषता होती है किसी में कोई। और इस लिए उनके जीवन की विशेषतायें ही उनकी शैली की विशेषतायें बन जाती हैं।

साहित्य के अतिरिक्त विज्ञान, भूगोल, आयुर्वेद आदि में शैली का प्रश्न नहीं उठता। लेखक अपने व्यक्तिगत जीवन का अनुभव उनमें व्यक्त नहीं करता। इन विषयों में तो वह इन विषयों की ही बात कहता है। किन्तु साहित्य तो जीवन की अभिव्यक्ति है। हम साहित्य में सत्य के आंकड़े नहीं देते। अतः शैली में शैलीकार का व्यक्तित्व आ सकता है। वस्तुजगत् में जिसे

व्यक्ति का व्यक्तित्व कहते हैं साहित्य में उसे ही शैली कहते हैं। शैली एक ऐसा वैज्ञानिक तथ्य है कि वह शैलीकार के मानसिक जगत् का चित्र शब्दों में रख देती है। उनकी प्रवृत्तियां उनकी विचित्रतायें भी शैली से जानी जा सकती हैं। संक्षेप में कहें तो कह सकते हैं कि वास्तविक जीवन में जो बातें हम किसी व्यक्ति का मुख देखकर नहीं जान सकते वे बातें हम शैली से जान सकते हैं। लम्बे वाक्य लिखने वाला व्यक्ति एक विशेष प्रकार के स्वभाव का होगा। छोटे वाक्य लिखने वाला व्यक्ति और स्वभाव का।

हम जो कुछ सोचते हैं उसे व्यक्त कर देना चाहते हैं। कभी ऐसा होता है कि हम व्यक्त किये बिना रह ही नहीं सकते। हम अपने भावावेश को ही व्यक्त करते हैं और करते हैं भाषा में एक विशेष प्रकार से। वास्तविक जीवन में कुछ ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जो हमेशा अपनी बात को एक विशेष ढग से कहेंगे। उनके ढंग के पीछे बड़ा मनोवैज्ञानिक तथ्य रहता है। एक लम्बे अनुभव के पश्चात् वे जान पाते हैं कि किस प्रकार कहने से लोग अधिक प्रभावित होते हैं। उनकी अभिव्यक्ति में वही विशेषता आप सर्वत्र पायेंगे। इसी प्रकार साहित्य में भी लेखक जब जान जाता है कि इस प्रकार से कही बात अधिक प्रभावशाली होती है तो वह फिर अपनी बात एक विशेष ढंग से ही कहने लगता है। लोग, कभी-कभी देखा जाता है कि किसी बात को सुनकर चमत्कृत हो उठते हैं यद्यपि उसी बात को कई बार सुनने पर भी उन्हें कोई विशेष प्रसन्नता का अनुभव नहीं हुआ था। कारण यही है कि कहने की कला ही चमत्कार का कारण है।

शैली शैलीकार के मानसिक जगत् पर भी प्रभाव डालती है। शैलीकार ही शैली को प्रभावित नहीं करता, शैली स्वयं उसे प्रभावित करती है उसकी मनन की दशा निर्देश करती है। विचारों में श्रृंखला और व्यवस्था लाती है जिससे कि अभिव्यक्त विचार अधिक प्रभावशाली रूप धारण कर आते हैं।

शैली विचारों का प्रतिबिम्ब होती है। और कभी-कभी युग भी उसमें प्रतिबिम्बित होने लगता है। बात यह है कि कलाकार भी सामाजिक प्राणी होता है। सामाजिक आंदोलनों तथा परिवर्तनों से न तो वह निरपेक्ष है और न

तटस्थ रह सकता है। अतः कभी-कभी उसकी वाणी युगवाणी की प्रतिनिधि हो जाती है। ऐसी दशा में शैली शैलीकार के साथ-साथ युग का प्रतिनिधित्व करने लगती है। भारतेन्दु काल के लेखकों की शैली में एक भाव-समानता पाई जाती है। हिन्दी भाषा के प्रति उत्कट एवं उद्दाम प्रेम, विदेशी सत्ता के प्रति तीव्र व्यंग्य एवं उस समय की राजनैतिक एवं सामाजिक स्थिति का एक स्पष्ट चित्र उस समय की प्रत्येक लेखक की शैली में मिलेगा।

शैली भी दो प्रकार की कही जा सकती है—१-अर्जित, २-स्वाभाविक।

अर्जित शैली उसे कहते हैं जहाँ लेखक अपने गम्भीर अध्ययन से विशेष प्रभावित हो कर के लिखे, उसके व्यक्ति से अधिक जहाँ उसमें उसका कलाकार आए। अनवरत अध्यवसाय और परिश्रम से कुछ लेखक अपनी एक निश्चित शैली बना लेते हैं।

दूसरी होती है स्वाभाविक, जहाँ शैलीकार की मानसिक प्रवृत्तियाँ ही उसकी शैली में प्रकाश पाती हैं और जिसकी शैली अपने स्रष्टा के व्यक्तिगत जीवन की ओर ही विशेष रूप से इंगित करती है।

पहली प्रकार की शैली में शैलीकार का नवनिर्मित व्यक्तित्व, विद्वत्ता, विद्या आदि प्रकाश में आती हैं दूसरे प्रकार की शैली में शैलीकार का स्वभाव और व्यक्तिगत जीवन की विशिष्टतायें प्रकाश में आती हैं। उदाहरण के लिए भारतेन्दुकाल में श्री प्रतापनरायण मिश्र की शैली में मिश्रजी का व्यक्तिगत स्वभाव और जीवन ही अधिक स्पष्टता से उभर कर आता दिखाई देता है जब कि पण्डित बालकृष्ण भट्ट की शैली में उनका अर्जित रूप, विद्वत्ता तथा अध्ययन सम्बन्धी ज्ञान ही अधिक प्रकाश में आता है।

किन्तु यह कहने का अभिप्राय यह कभी नहीं है कि अर्जित शैली में शैलीकार का व्यक्तित्व छिप जाता है और केवल उसका ज्ञान ही प्रकाश में आता है। शैली तो विचारों का बाह्य रूप है। शैलीकार अपने अन्तर को शैली से भिन्न कैसे रख सकता है?

इस प्रकार हम देखते हैं कि शैली का विचारों से वह सम्बन्ध अर्थात् दूर का सम्बन्ध कभी नहीं है जो कि शरीर का वस्त्रों के साथ है। शैली तो विचारों का ही मूर्तरूप है। भाव यदि आत्मा है तो शैली उसका शरीर है।

प्रश्न १७—नाटक के तत्वों का स्पष्ट विवेचन कीजिये और इस दृष्टि से नाटक के पौर्वात्य तथा पाश्चात्य रूपविधान में साम्य तथा अन्तर स्पष्ट कीजिये।

उत्तर १७—श्रव्य काव्य का आनन्द मनुष्य घर में बैठकर एकांत में भी ले सकता है किन्तु नाटकों (दृश्य काव्य) का पूर्ण आनन्द उसके अभिनय के बिना संभव नहीं। नाटक वास्तव में अभिनय की दृष्टि से ही लिखा जाता है।

उपन्यास के रूप-विधान के भारतीय ढंग तथा पाश्चात्य ढंग में कुछ अन्तर है फिर भी कुछ साम्य है। सक्षेप में हम पाश्चात्य एवं पौर्वात्य दोनों प्रकार के नाटक तत्वों का विश्लेषण कर उसमें साम्य और भेद देखेंगे।

यह हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि नाटक शब्द में ही नट् धातु है। अवस्थाओं का अनुकरण करना ही नाट्य है। "अवस्थानुकृति नाट्यम्"। अतः अनुकरण का तत्व ही नाटकों में प्रधान है।

भारतीय नाट्य शास्त्र के अनुकूल नाटक के चार तत्व माने गये हैं—१. वस्तु, २. नेता या पात्र, ३. रस, ४. अभिनय। योरुपीय नाट्य शास्त्र के अनुकूल नाटक के ६ तत्व माने गए हैं—१. कथावस्तु, २. पात्र, ३ कथोपकथन ४ देशकाल, ५. उद्देश्य, ६. शैली।

वस्तुः—नाटक में आई हुई कथा को ही वस्तु कहते हैं और अंग्रेजी में इसी को Plot कहते हैं। वस्तु दो प्रकार की मानी गई है—१. आधिकारिक २. प्रासंगिक। आधिकारिक कथा वस्तु वह है जिसका सम्बन्ध सीधा नायक से होता है और कथा का मुख्य विषय इस में रहता है। प्रासंगिक कथावस्तु को गौण कथावस्तु भी कहते हैं। इसका सम्बन्ध नायक के अतिरिक्त अन्य अप्रधान पात्रों से होता है। इसके दो कार्य हैं—१. नायक के चरित्र या उसके उद्देश्य को स्पष्ट करना, २. कथा में उचित परिवर्तन करना या मोड़ देना।

उदाहरण के लिए रामायण में सुग्रीव की कथा प्रासंगिक कथा है। इसी प्रकार राधाकृष्णदास जी के महाराणा प्रताप नाटक में गुलाबसिंह तथा मालती की कथा प्रासंगिक कथा है। यह भी दो प्रकार की होती है—

१. पताका—एक बार आरम्भ होकर जब प्रासंगिक कथा अन्त तक आधिकारिक कथा के साथ चलती है।

२. प्रकरी—जहाँ प्रासंगिक कथा प्रारम्भ होकर कहीं बीच में ही समाप्त हो जाय।

कथा की ऐतिहासिकता के आधार पर भी उसके तीन भेद किये गए हैं :—

१. प्रख्यात —जो कथा इतिहास, पुराण या जनप्रसिद्ध हो।

२. उत्पाद्य—जो कथा लेखक की कल्पना प्रसूत हो।

३. मिश्र—जहाँ कल्पना और ऐतिहासिकता का मिश्रण हो।

भारतीय नाटक किसी समस्या को लेकर नहीं लिखे जाते थे। उनके उद्देश्य निश्चित होते थे, और धर्म, अर्थ, काम, तथा मोक्ष की प्राप्ति इनके उद्देश्यों में होती थी। पाश्चात्य नाटकों की भाँति संघर्ष का आरंभ तथा विकास और चरम सीमा दिखाकर केवल संघर्ष की समाप्ति ही उद्देश्य प्राप्ति के रूप में उनमें नहीं दिखाई जाती थी। इसीलिए कार्य व्यापार की दृष्टि से दोनों प्रकार के नाटकों में कार्य अवस्थाओं के भिन्न-भिन्न नाम हैं। भारतीय नाटक का मुख्य उद्देश्य फल होता है जो धर्म, अर्थ, काम,मोक्ष में से एक होता है। भारतीय नाट्यशास्त्र की दृष्टि से कार्य व्यापार की निम्नांकित अवस्थायें हैं :—

१. प्रारम्भ—यह कथा का आरम्भ है। इसमें निश्चित फल को प्राप्त करने की इच्छा दिखाई जाती है।

२. यत्न—इच्छा को पूर्ण करने के लिये जो यत्न किया जाता है वह इसके अन्तर्गत आता है।

३ प्राप्त्याशा—इसमें विघ्नों की समाप्ति के साथ-साथ फल की प्राप्ति की आशा हो उठती है।

४. नियताप्ति—यहाँ तक आते-आते फल-प्राप्ति की आशा या संभावना निश्चितता में बदल जाती है अर्थात् फल प्राप्ति का निश्चय हो जाता है।

५. फलागम—इसमें सम्पूर्ण बाधाओं का नाश होकर फल प्राप्त हो जाता था। पाँचवीं दशा फलागम हमारे नाट्यशास्त्र की एक विचित्र बात स्पष्ट करती है कि नाटक में फल की प्राप्ति आवश्यक मानी गई थी अर्थात् ऐसा कभी संभव नहीं था कि फलप्राप्त न भी हो। और इस प्रकार नाटक का

अंत दुःखद वातावरण में कभी नहीं होता था अर्थात् हमारे यहाँ दुःखांत नाटक होते ही नहीं थे। स्पष्ट है कि संघर्ष जैसी वस्तु को प्रधानता देकर पाश्चात्य लोगों ने अपना विषय सीमित कर लिया। भारतीय नाट्य साहित्य की समीक्षा में उनकी मान्यतायें एवं समीक्षा सहज ही समाहित हो सकती है। कारण, भारतीय नाट्यशास्त्र की समीक्षा बड़ी व्यापक है।

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में पाँच अवस्थाओं के नाम इस प्रकार हैं:—

१ आरम्भ (Exposition)

१. प्रारम्भिक संघर्षमय घटना (Incident)

३. चरम की ओर कार्य की गति (Rising action)

४. चरम सीमा (Climax)

५. समाप्ति (Denouement या Catastrophe)। Catastrophe सामान्यतः बुरे अन्तिम परिणाम (end) को कहते हैं।

इसके अतिरिक्त भारतीय नाट्यशात्र में वस्तु के और अनेक भेद हैं जो बिल्कुल वैज्ञानिक हैं।

अर्थप्रकृतियाँ—कथावस्तु के चमत्कारपूर्ण अंग जो उसे कार्य की ओर ले जाते हैं। ये पाँच हैं।

१. बीज, २. बिन्दु, ३. पताका, ४. प्रकरी, ५. कार्य।

संधियां—इसका अर्थ ही है मेल। इनमें कार्यावस्थाओं तथा अर्थ प्रकृतियों की संधि रहती है। ये भी संख्या में पाँच हैं। १. मुख २. प्रतिमुख ३. गर्भ ४. विमर्ष ५. निर्वहण।

अर्थोपक्षेपक—कथा वस्तु में दो प्रकार की सामग्री रहती है।

१. दृश्यश्रव्य—वह जो मंच पर घटित दिखाई जाती है।

२. सूच्य—जिसकी सूचना मात्र पात्रों द्वारा दी जाती है।

भारतीय नाटकों में कथोपकथन कोई स्वतंत्र तत्व नहीं माना गया। वहाँ उसे कथावस्तु का ही एक भाग समझा गया है। अतः हमारे यहाँ ३ प्रकार का कथोपकथन माना गया है—१. श्राव्य, २. अश्राव्य, ३. नियत श्राव्य।

१. श्राव्य—जो सब दर्शकों के सुनने के लिए हो।

१. अश्राव्य—जो दूसरे पात्रों के सुनने के लिए न हो। इसी को सस्वर विचार या Loud thinking भी कहा जाता है।

२. नियत श्राव्य—जो कुछ निश्चित पात्रों के लिए ही हो।

आकाश भाषित भी कथोपकथन का ही एक भाग है।

पात्र

भारतीय नाटकों में पाश्चात्य देशों की भाँति प्रत्येक व्यक्ति नाटक का नायक नहीं हो सकता। इसका एक मात्र कारण यही है कि वे नायक में असाधारण गुणों का उत्कर्ष दिखाते हैं जिससे समाज उससे कुछ सीख सके। दूसरी बात यह कि जब नाटक हमेशा सुखांत ही होते हैं तो नायक की विजय दिखाना आवश्यक है। विजय जिसके लिए एक आवश्यक वस्तु हो वह असाधारण एवं प्रतापी तो होगा ही। पाश्चात्य और भारतीय दृष्टि में यहाँ एक अन्तर यह भी है कि पश्चिम में नायक परिस्थितियों के भवर में पड़ा एक साधारण प्राणी होता है। परन्तु हमारे यहाँ घटनाओं, कार्यों आदि का विकास उसी के लिये होता है क्योंकि यही फल का भोक्ता होता है। नायक ४ प्रकार के माने गए हैं:—

१. धीरोदात्त—उदार चरित होता है। शक्ति, क्षमा तथा आत्मगौरव के साथ विनयी होता है।

२. धीरललित नायक—कोमल स्वभाव का विलासी नायक होता है।

३. धीरप्रशान्त—शान्त स्वभाव का नायक जो ब्राह्मण या वैश्य ही होता है।

४. धीरोद्धतनायक—यह मायावी, आत्मश्लाघी, स्वभाव से प्रचंड तथा चपल होता है।

इसके अनुसार स्वभाव के अनुसार नायक के और भेद होते हैं। पाश्चात्य नाट्य मीमांसा में नायक के ऐसे भेद नहीं होते।

रस

अंग्रेजी मीमांसा शास्त्र में यही उद्देश्य है। भारतीय नाट्यशास्त्र

में जो रस है वही अंग्रेजी मे उद्देश्य। संस्कृत नाट्यशास्त्र में उद्देश्य होता था किसी रस का उद्बोधन करना। वही काव्य का चरम लक्ष्य समझा जाता था। हमारे यहाँ काव्य केवल चरित्र प्रस्तुत नहीं करता था अपितु इससे उपर उठकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि ही उसका उद्देश्य थी और वह आनन्द प्राप्ति के द्वारा ही संभव थी। अतः रस ही भारतीय शास्त्र में चरम-लक्ष्य माना जाता है। लेकिन पाश्चात्य नाट्यशास्त्र मे, संघर्ष जिसकी मूल चेतना होती है, वे अपना लक्ष्य सामाजिक अथवा राजनैतिक अधिकांश मे रखते हैं।

वृत्तियाँ

भारतीय नाट्यशास्त्र में वृतियाँ ही शैली के स्थान पर मानी गई हैं। अंग्रेजी की शैली इसके अंतर्गत आ सकती है। ये चार हैं—

१. कौशिकी वृत्ति—यह वही कोमल वृत्ति है जिसका सम्बन्ध कोमल रसों शृँगार तथा हास्य से है। इसमे नृत्य गीत का बाहुल्य रहता है।

२ सात्वती वृत्तिः—इसमें वीरोचित कार्य रहते हैं अतः यह दया, दाक्षिण्य, शौर्य तथा दान आदि से सम्बद्ध है। इसमे रौद्र तथा अद्भुत रस का भी समावेश रहता है।

३. आरभटी वृत्ति—यह रौद्र रस के उपयुक्त है। इसमें संग्राम, संघर्ष, क्रोध, माया, इन्द्रजाल आदि का प्रदर्शन होता है।

४. भारती वृत्ति—भरत मुनि इसका सम्बन्ध करुण रस तथा अद्भुत रस से मानते हैं। स्त्रियाँ इसमें वर्जित रहती हैं। केवल पुरुष नटों से ही इसका सम्बन्ध है।

देशकाल

देश-काल का तत्व कोई अनिवार्य तत्व नहीं है। वह तो सामान्यरूप से अन्य तत्वों में ही व्याप्त है। हमारे यहाँ उपरूपक के १८ भेद किये गए हैं। प्रत्येक में नायक संख्या आदि दी गई हैं। कितने समय का किस विषय का नाटक कौन सा होता है इसका स्पष्ट विवेचन है।

सारांश यही कि हमारा नाट्यशास्त्र बहुत ही विकसित रूप में हमें

प्राप्त है। उसमें नाटक से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु का पूर्ण वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। अंग्रेजी नाट्यशास्त्र के तत्व कोई नये नहीं हैं वे पहले से ही उसमें मिल जाते हैं और हमारे अपने वर्गीकरण में सहज ही समा जाते हैं।

प्रश्न १८—कुछ विद्वानों का मत है कि "भारतीय अभिनय कला पाश्चात्य रंग मच की ऋणी है"। अपना मत प्रकट कीजिये।

उत्तर १८—कुछ दिन ऐसा फ़ैशन रहा कि हम अपनी वस्तुओं को भी पाश्चात्य सभ्यता का ऋण मानकर परम सन्तोष का अनुभव करते थे। भारतीयता और भारतीय वस्तु तब तक सम्मानित कैसे हो सकते थे जब तक कि उनकी व्याख्या पाश्चात्य देशवासी न करें। इससे अधिक आश्चर्य की और क्या बात होगी कि हमारे भारतीय कवि वाल्मीकि, कालिदास आदि की प्रशंसा जब योरुपीय विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से की तब हमें विश्वास हुआ कि महानता अपने सुन्दर रूप में न सही विकृत रूप में ही सही भारत में भी है अवश्य। वे हमारे मानसिक पतन के दिन थे। ऐसी दशा में यदि कुछ वाक्य ऐसे प्रसिद्ध हो गये हों जो योरुपीय ऋण के सजीव ऋणपत्र के सदृश लगते हों तो आश्चर्य क्या? ऐसे ही हास्यास्पद वाक्यों में से एक वाक्य था—'भारतीय अभिनयकला पाश्चात्य रंग मंच की ऋणी है"।

इतिहास ही इस बात को तो बता देगा कि जब भारत में नाटकों का स्वर्णयुग था उस समय योरुप के निरावरण श्वेतांग महाप्रभु वाक्यों के समुचित उपयोग एवं प्रयोग तक से परिचित न थे। यदि उनके अश्लील और अभद्र उछल-कूद को नाट्य और अपरिष्कृत ऊबड़खाबड़ काष्ठपटों को रंग-मच कहा जाय तो इससे बड़ा व्यंग नाट्य और रग-मच पर क्या होगा? ऐसे ही ज्ञानविहीन कुछ प्रकांड विद्वान कहते होंगे कि अभिनय और रंगमंच भारत ने पश्चिम से उधार लिये। लेकिन मद्यप का प्रलाप, ध्यान देने योग्य नहीं होता केवल हास्यास्पद होता है। यह कथन भी किसी ऐसे ही विवेकशील मद्यप की सुमधुर स्वरलहरी है!

इससे पूर्व कि यह प्रमाणित किया जाय कि भारत का अपना रगमंच था और उसके अपने सिद्धांत थे भारत के नाट्य साहित्य की प्राचीनता पर दृष्टि डालना अप्रासंगिक न होगा।

भारत की यह एक सांस्कृतिक विशेषता रही है कि यहाँ प्रत्येक वस्तु का अन्त आनन्दमय माना जाता है। काव्य में भी हमारे यहाँ दुःखांत काव्य लिखना निषिद्ध माना गया है । यही वह मौलिक अन्तर है जोकि भारतीय नाटकों को पश्चिम से बिल्कुल भिन्न एवं अप्रभावित सिद्ध करता है। इसके अतिरिक्त एक दूसरी सांस्कृतिक भावना यहाँ रही है, यश से बचने की। अधिकांश कवियों ने अपने विषय में कुछ नहीं लिखा और न इसलिए दिन, तिथि एवं सन् देकर अपनी खोज का उन्होंने कोई पथ ही छोड़ा। जिसे यशःकांक्षा नहीं उन्हें इन सब लौकिक आडम्बरों में क्या रुचि होगी । यही बात हिंदी नाट्य साहित्य के साथ है कि नाटकों की निश्चित तिथियों का सर्वथा अभाव है। बहिःसाक्ष्य के अभाव में अन्तःसाक्ष्य से ही सन्तोष करना पड़ता है । फिर भी जितना कम से कम प्राप्त है उससे भारतीय नाटकों की प्राचीनता सिद्धि में विशेष बाधा नहीं पड़ती ।

यह तो लगभग निश्चित सा ही है कि पाणिनि ईसा से लगभग ४०० वर्ष पूर्व हुए थे। उस समय भी जब व्याकरण जैसे शास्त्र का निर्माण किया जा सकता था, भाषा की शक्ति और उसके विकास का वैज्ञानिक विवेचन हो सकता था तो उस समय नाटकों का न लिखा जाना ही आश्चर्य का विषय होगा। पाणिनि के सूत्रों में कृशाश्व तथा शिलालिन् नाम के दो नटों के नाम मिलते हैं। इसके अतिरिक्त पातंजल महाभाष्य में भी कंसवध तथा बलिबन्धन दो नाटकों का उल्लेख आता है।

विनय—पिटक नाम प्राचीन ग्रन्थ में भी रंगशाला तथा नाटक का उल्लेख आता है।

इसी प्रकार ईसा से प्रायः २०० वर्ष पूर्व जैन कल्प-सूत्रों में नटों तथा नटियों का उल्लेख है।

भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में भी प्राचीन आचार्यों का उल्लेख है जिन्होंने नाट्य शास्त्र पर कुछ लिखा । लक्षण ग्रन्थ तब बनते है जब बहुत पहले लक्ष्य ग्रन्थ बन चुके होते हैं।

संस्कृत भाषा के प्रसिद्धतम नाटककार कालिदास की प्राचीनता ही अभी निश्चित नहीं। कोई उन्हे चौथी ईसवी सदी का मानते हैं और कोई ईसा

पूर्व तक का। डा० पेटर्सन का कथन है—'Kalidas stands near the beginning of Christian era indeed, he does not over-top it." (हो सकता है कालिदास निकट ईस्वी पूर्व में हुए हों याद के तो वे नहीं हैं।)

इसके अतिरिक्त सरगुजा रियासत की रामगढ़ पहाड़ी में दो गुफायें हैं उसमें लिखे लेखों से स्पष्ट है कि वे नटों के विश्राम गृह के रूप में प्रयुक्त होती थीं। ये गुफायें ३२० ई० पू० की कही जाती हैं। सच तो यह है कि नाट्य-कला हमारे यहाँ भगवान बुद्ध से पूर्व भी अस्तित्व में थी।

इसके विरुद्ध योरुप का नाट्य-साहित्य तिथियों में स्पष्ट किया जाय तो पता लगेगा कि जब हमारे यहाँ रंगमंच अपने पूर्ण वैभव में था उस समय तक योरुप के अधिकांश देश अभिनय की कला तक से अपरिचित थे। इसमें सन्देह नहीं कि अरस्तू योरुप का आदि व्यक्ति है जिसने नाटक, महाकाव्य तथा गीतिकाव्य में अन्तर समझा। किन्तु उसके दो हज़ार वर्ष बाद तक योरुप में कोई ऐसा प्रतिभाशाली व्यक्ति न हुआ जो इस विषय को आगे बढ़ाता। भारतीय नाट्य इतिहास की तुलना में योरुपीय नाट्य साहित्य तथा उसकी दशा को स्पष्ट करने वाले डा० श्यामसुन्दर दास जी के कुछ वाक्य यहाँ अविकल उद्धृत करना असंगत न होगा।

"उस पुरातन काल की बात जाने दीजिये जब यूनानी अभिनेता बैल व गाड़ियों में बैठकर अभिनय करने निकलते थे अथवा जुलूस निकाल कर अश्लील दृश्यों का प्रदर्शन करते थे। अभी तीन सौ वर्ष पहले तक—शेक्सपीयर के समय तक—नकाबपोश पात्र रंगमंच पर आकर अपना बेढंग रूप दिखाया करते थे। परदे गिराने और चढ़ाने का इतना भद्दा ढंग प्रचलित था कि अभिनय में स्वाभाविकता आ ही नहीं सकती थी। आदमियों को लगकर इधर से उधर पर्दा खींचना पड़ता था। थियेटर इतना बड़ा और विशालकाय होता था कि रंगमंच में प्रवेश करते ही अभिनेता खिल्ली बन जाता था। उसकी स्वाभाविक गति में वहीं से विक्षेप पड़ने लगता था और वह स्वयं ही एक कृत्रिम वातावरण का अनुभव करने लगता था। परन्तु दर्शकों के लिये तो अभिनय का सम्पूर्ण व्यापार और भी मिथ्या रूप धारण कर लेता था। यदि कोई पात्र

रंगमंच में प्रवेश कर किसी कमरे में आता है जिसमें पुरानी रीति के अनुसार एक खिड़की और कुछ कुर्सियाँ पड़ी हैं और फिर वह इस कमरे (जिससे बाहर निकलने का रास्ता परदे पर दिखाया नहीं जा सका) के आगे बढ़कर स्टेज के किनारे तक पहुंच जाता है जहाँ रोशनी हो रही है और जहाँ से आगे के दर्शक उसकी पीठ मजे में देख सकते हैं तो यह अस्वाभाविकता की हद हो गई। इसके उपरान्त तो यदि वह पात्र अपने मन में कुछ बड़बड़ाए—स्वगत का बहाना करके अपने चरित्र, विचारों और इच्छाओं का परिचय देने लगे तो भी दर्शकों को अधिक नहीं खटक सकता क्योंकि वे तो इसके पहले ही सब से अधिक अस्वाभाविक और खटकने वाली बात का सामना कर चुके हैं। वह जितना चाहे बके-झके अब तो उसके लिए सब कुछ क्षन्तव्य है। ये सब विचित्रताएं उस समय योरुप में प्रचलित थीं जिस समय शेक्सपीयर जो संसार साहित्य का शिरोमणि कहलाता है अपने नाटकों की रचना कर रहा था।"

यह एक शब्द चित्र है योरुप के सबसे उन्नत कहे जाने वाले देश के सब से श्रेष्ठ कलाकार के समय का। जिनके पास स्वयं कुछ नहीं वह क्या दूसरों को ऋण देंगे। शेक्सपीयर के समय भी पात्रों के संवाद पद्य में होते थे जो घोर अस्वाभाविक हैं। उन्हें न तो यह ज्ञान था कि रंगमंच कैसा हो, नाटक कैसा हो, पात्र कैसे हों, नाटकघर कैसा हो। फिर भी क्या वे भारत को ऋण दे सकते हैं ? जहाँ नाटक का, रंगमंच का, नाटक घर का, पात्रों का पूर्ण वैज्ञानिक विभाजन, विश्लेषण एवं वर्गीकरण है। भारतीय नाट्यशाला और नाट्यकला का तो योरपीय नाट्यकला चरणस्पर्श भी करने योग्य नहीं थी। डा० श्यामसुन्दर दास कहते हैं :—

"रंगमंच में कौन से दृश्य चित्र की सहायता से दिखाए जाने चाहियें, कौन दृश्य वास्तविक वस्तुओं द्वारा दिखाए जा सकते हैं और किन दृश्यों की सूचना केवल परदा गिराकर दे देनी चाहिए—यह अब से दो सौ वर्ष पहले इंगलैंड को विदित नहीं था।"

भारत में नाटक सम्बन्धी वस्तुओं का कितना गंभीर विश्लेषण, विभाजन और वर्गीकरण हुआ है—देखकर दंग रह जाना पड़ता है ; लेखक, दर्शक, अभिनेता सभी की दृष्टि से।

भारतीय नाट्यशास्त्र एवं रंग मंच के विषय में कुछ लिखा जाय।

हमारे यहाँ प्रेक्षागृह (रंगशाला) ३ प्रकार की होती थी।

१. विकृष्ट—यह १०८ हाथ लम्बी होती थी और सर्वोत्कृष्ट मानी गई है।

२. चतुरस्र—यह ६४ हाथ लम्बी तथा ३२ हाथ चौड़ी होती थी और मध्यम कोटि में इसकी गणना थी।

३. त्र्यस्र—यह साधारण कोटि की औरों से भिन्न त्रिभुजाकार होती थी। इसमें थोड़े से व्यक्ति ही आते थे। रंगशाला का आधा स्थान दर्शकों के लिये और आधा रंग-मंच के लिये होता था। नेपथ्यगृह तथा रंगशीर्ष होते थे।

इसी प्रकार अभिनय कितने प्रकार का हो, वस्तु कैसे विभाजित हो, पात्र कैसे हों आदि सबका वैज्ञानिक वर्गीकरण यहाँ किया गया था जिसे पढ़कर आज भी लोग आश्चर्य चकित रह जाते हैं।

विद्वानों का कहना है कि पश्चिम के नाम पर यूनान का ही प्रभाव यहाँ की प्रत्येक वस्तु पर पड़ा है, नाटकों पर भी। यों तो संस्कृतियाँ एक दूसरे को प्रभावित करती हैं किन्तु एक को ऋणी दूसरे को दाता बताना एक की हँसी उड़ाना है। कुछ बातों में प्रभाव पड़ा हो किन्तु अधिकांश बातों में तो हमारा रंग मंच अछूता है। सब कुछ उसका अपना है उधार का तो कुछ भी नहीं।

हमारे यहाँ नाटक अंकों में विभाजित होते थे परन्तु यूनानी नाटकों में अंक का कार्य सम्मिलित कोरस से लिया जाता था। वही एक अंक की समाप्ति तथा दूसरे के आरम्भ का प्रतीक था।

स्वगत कथन आदि की जो समानता है उसे किसी देश-विशेष से हम सम्बद्ध नहीं कर सकते। वे तो स्वाभाविक हैं जो सर्वत्र पाई जाती हैं।

ट्रेजेडी जो यूनानी विशेषता है हमारे यहाँ कभी नहीं रही। हमारे यहाँ नाटक अधिकांश में सुखांत होते थे।

यवनिका शब्द को लेकर ही भारत को ऋणी सिद्ध करने का प्रयास हास्यास्पद तक है। जब हमारे यहाँ 'जवनिका' शब्द ही मिल जाता है।

कुछ विद्वान् पात्र साम्य के आधार पर यह ऋण सिद्ध करते हैं कि शकुन्तला पर उसकी छाया है और रत्नावली पर अमुक की। विश्व का भाव-

जगत् ही सृष्टि का एक विचित्र साम्य है अतः ऐसा भाव-साम्य साहित्य में नया नहीं।

अतः यह स्पष्ट है कि अभिनय कला सम्बन्धी भारत पर पाश्चात्य ऋण एक गम्भीर भ्रम है।

यह भ्रम फैला क्यों और वास्तविता क्या है? इस विषय में डा० श्यामसुन्दर ने बहुत ही सुन्दर लिखा है जो अविकल उद्धृत किया जाता है।

"दुःख है कि अभिनय की प्राचीन उन्नत कला हमें विस्मरण हो गई है और हम नए सिरे से जो शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं वह पश्चिम की कह कर हमें दी जा रही है। इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक भारतीय रंग-मंच पश्चिम की शैली पर ही गठित हो रहा है और अभिनय का प्रकार भी अधिकतर पाश्चात्य ही है, परन्तु यह तो मानना ही पडेगा कि इन दिनों हम पश्चिम से जो कुछ ग्रहण कर रहे हैं, वह सर्वथा नवीन और नवाविष्कृत नहीं है। इसका बहुत कुछ अंश किसी न किसी रूप में पूर्व की देन है। यदि अपने साहित्य और इतिहास का अध्ययन अधिक मनोनिवेश के साथ किया जाय तो निस्संदेह बहुत सी कलायें और विद्यायें जिन्हें हम पश्चिमीय समझ रहे हैं, अपने ही देश की सिद्ध होंगी। आज हम एक शताब्दी पूर्व के योरुप के रंग-मंच की नक़ल करके अपने को बहुत अधिक विकास प्राप्त और उन्नत मानते हैं परन्तु यदि हम बीस शताब्दी पूर्व के भारतीय रंगमंच के नक़ल करने की योग्यता प्राप्त कर सकें तो हम देखेंगे कि आज की अपेक्षा हम पिछडे हुए नहीं हैं, पर कठिनाई यह है कि वह योग्यता प्राप्त करने की न तो हमें सुविधा ही प्राप्त है, न हमारे अंतःकरण में इस विषय मे कोई दृढ़ प्रेरणा प्राप्त होती है। हमारी चेतना मंद हो रही है और जो कुछ हमे सुगमता से मिल जाता है उसे ही हम आँख मूँदकर अपना लेते हैं।"

डा० श्यामसुन्दरदास ने उपरोक्त शब्दों में वस्तुस्थिति का वास्तविक चित्र खींच दिया है। हमारी मानसिक दासता ने हमारा ध्यान अपनी कलाओं की ओर से हटाकर विदेशी वस्तुओं की ओर लगा दिया है। पश्चिम ने पूर्व से ही सब कुछ लिया। उसे ज्ञान यहीं से प्राप्त हुआ। बाइबिल इस सत्यता को स्वीकार करती है "Light was brought from the east.' अब

वही अर्थी योरुप राजनैतिक पराभव के दिनों में अपने गुनों पर अपना अस्य सिद्ध करने चला है।

यदि आज भी हम अपने साहित्य का उचित अध्ययन करें तो सब कुछ स्पष्ट हो जायगा।

सत्यता यह है कि अन्य विषयों की भाँति रंग-मंच भी भारत का अपना है। यद्यपि आधुनिक काल के अनुसार उसमें सुधार करने की बात किसी ने नहीं सोची फिर भी अपने प्राचीन रूप में ही वह पश्चिम के नवीन रंग-मंच से कहीं अच्छा है।

प्रश्न १६—भारतीय नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो भिन्न-भिन्न मत हैं उनका प्रमाणों सहित उल्लेख कीजिये।

उत्तर १६—काव्य के मुख्य रूप से दो भेद किये गये हैं—१. श्रव्य काव्य, २. दृश्य काव्य। श्रव्य काव्य में पाठक पूर्ण आनन्द ग्रन्थ पढ़ कर या सुन कर ही ले सकता है। किन्तु दृश्य काव्य में वही आनन्द देख कर प्राप्त किया जाता है। श्रव्य काव्य में तो केवलमात्र वर्णन होता है किन्तु दृश्य काव्य में शब्दों के अतिरिक्त वाणी, नृत्य, वेशभूषा, अंग-संचालन आदि अभिनय-क्रिया से दर्शक को रसमग्न किया जाता है।

अरस्तू काव्य को जीवन की अनुकृति मानता है। वास्तव में अनुकरण करने की मनुष्य की प्रवृत्ति अनादि काल से चली आ रही है। किसी वस्तु का अनुकरण करने में मनुष्य को एक आनन्द प्राप्त होता है। नाटक इसी मानवीय भावना के फलस्वरूप प्रतीत होते हैं।

जब दृश्य काव्य में अभिनय, वाणी, वेशभूषा तथा अन्य किसी पात्र का रूप धारण कर जब नट दर्शकों को प्रभावित करता है तो उसे रूपक कहते हैं। 'रूपारोपात्तु रूपकम्' (एक व्यक्ति का दूसरे में आरोप करने को रूपक कहते हैं)। रूपक के २ भेद माने गये हैं। १. रूपक, २. उपरूपक। रूपक के दस भेद हैं जिनमें से नाटक मुख्य है। नाटक का सम्बन्ध नट से है। 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' दशरूपक—(अवस्थाओं की अनुकृति को नाट्य कहते हैं)। यद्यपि नाटक रूपक का एक भेद है किन्तु अधिक लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध होने के कारण रूपक का पर्यायवाची ही बन गया है।

नाटक की उत्पत्ति कैसे हुई, इसके विषय में दो दृष्टिकोण हैं—१. भारतीय दृष्टिकोण, २ पाश्चात्य दृष्टिकोण।

पहले पाश्चात्य दृष्टिकोण को समझ लिया जाय। पश्चिम के विद्वान् योरुप के सर्वप्राचीन नाटकों के देश यूनान में नाटकों की उत्पत्ति 'मेपोल' नामक उत्सव में होने वाले नृत्य से मानते हैं और उनका कथन है कि भारतीय नाटकों की उत्पत्ति भी इसी प्रकार के इन्द्रध्वज नामक महोत्सव से माननी चाहिए। इसके लिए भरत मुनि के नाट्य शास्त्र से ही प्रमाण दिया गया है जहाँ कि 'इन्द्रध्वज' का उल्लेख मिलता है।

"अयं ध्वजमहः श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवर्त्तते।
अत्रेदानीमय वेदो नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम् ॥"

यह उत्सव नैपाल में आज भी मनाया जाता है। परन्तु एक बात विचारणीय है कि नाटक केवलमात्र नृत्य नहीं है, केवल उछल-कूद को, भद्दे गानों के प्रदर्शन को नाटक नहीं कहा जा सकता। नाटक के मूल में तो अनुकरण की प्रवृत्ति होनी चाहिये। नृत्य, अभिनय एवं अनुकरण के मिश्रण से नाटक का रूप बनता है। 'मेपोल' या 'इन्द्रध्वज' उत्सव केवल उत्सव हैं। उनमें अनुकरण का तत्व नहीं, अतः उनसे नाटकों की उत्पत्ति मान लेना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

डा० रिजवे का कथन है कि यूनानी प्रासद (ट्रेजडी) का मूल वीर पूजा है। वीरों के शव सुरक्षित रखे जाते थे और प्रतिवर्ष उनकी स्मृति तथा सम्मान में उन्हीं की जीवन घटनाओं का अनुकरण किया जाता था। डा० रिजवे ने इसी सिद्धांत का प्रयोग भारतीय नाटकों पर भी करना चाहा और उन्होंने वीरपूजा की ओर इंगित करते हुए कृष्णलीला, रामलीला आदि को भारतीय नाटकों का मूल माना।

डा० कथी की इस विषय में एक विचित्र ही धारणा थी। वे ऋतु-परिवर्तन को ही नाटकों का मूल मानते हैं। इसका कारण है, वास्तव में विश्व के प्रत्येक देश में ऋतु परिवर्तन के समय समाज में सामूहिक नृत्य-गीत आदि का आयोजन होता है। उनके विचार से यही नृत्य-गीत आदि नाटकों के जनक हैं। उन्होंने इस विषय में प्रमाणस्वरूप 'कंसवध' नामक नाटक का

उल्लेख किया है जिसका वर्णन कि पतंजलि के महाभाष्य में आता है। इसमें वर्णित कंस और उसके अनुयायियों को नीले वस्त्र धारण किये हुए बताया गया है तथा कृष्ण और उनके अनुयायियों को लाल वस्त्र धारण किये हुए बताया गया है। इसका अर्थ डा० कीथ ने लिया कि यह शिशिर ऋतु पर ग्रीष्म ऋतु की विजय का रूपक प्रस्तुत करता है। किन्तु डा० कीथ का मत वास्तविक से अधिक काल्पनिक-सा प्रतीत होता है।

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् पिशेल नाटकों का मूल रूप कठपुतलियों के नाच को मानते हैं। आपका कथन है कि कठपुतलियों के उस नाच का ही आज के नाटक विकसित रूप हैं। उन्होंने प्रमाण के लिए दो शब्दों को विशेष रूप से उद्धृत किया है। पहला शब्द है सूत्रधार दूसरा स्थापक। होता यह था कि कठपुतलियां सूत्रों (धागों) के द्वारा नचाई जाती थीं और एक व्यक्ति पर्दे के अन्दर से उन सूत्रों का संचालन करता था; उसी को सूत्रधार कहते थे। जो सूत्रों को धारण करे वह सूत्रधार। जो कठपुतलियों को यथास्थान रखे वह स्थापक। ये दोनों शब्द संस्कृत नाटकों के विकसिततम युग में भी ज्यों के त्यों प्रयोग में आते रहे। पिशेल का कथन है कि दोनों शब्द उसी काल के हैं जब कठपुतलियाँ नचाई जाती थीं और भाव-साम्य के कारण ये संस्कृत के नाटकों में भी प्रयुक्त होते रहे। उन्होंने इसके लिए संस्कृत-साहित्य के बहुत से उद्धरण दिये हैं जहाँ कठपुतली नृत्य का वर्णन आता है। गुणाढ्य की बृहत्कथा, राजशेखर की बाल रामायण तथा महाभारत का इस विषय में नाम लिया जाता है। बृहत्कथा में लिखा है कि मयासुर की कन्या के पास ऐसी कठपुतली थी जो नाचती-गाती थी और हवा में उड़ भी सकती थी। महाभारत में लिखा है कि उत्तरा ने अर्जुन से एक पुत्तलिका लाने के लिए कहा था।

पिशेल साहब के पास प्रमाण तथा तर्कस्वरूप सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है 'सूत्र शब्द'। किन्तु इसके तो अनेक अर्थ हैं। मकान नापने के सूत्र को कारीगर लोग (राज लोग) सूत्र ही कहते हैं। मकान नापने के इसी सूत्र से 'सूत्रपात' शब्द का उद्भव हुआ है। व्याकरण तथा दर्शन आदि के भी सूत्र होते हैं। इस विषय में स्वर्गीय महाकवि प्रसाद का मत उद्धृत करना असंगत न होगा।

"कठपुतलियों से नाटक प्रारम्भ होने की कल्पना का आधार सूत्रधार शब्द है। किन्तु सूत्र के लाक्षणिक अर्थ का ही प्रयोग सूत्रधार और सूत्रात्मा जैसे शब्दों से मानना चाहिये। जिसमें अनेक वस्तु ग्रथित हों और जो सूक्ष्मता से सब मे व्याप्त हो, उसे सूत्र कहते हैं। कथावस्तु और नाटकीय प्रयोजन के सब उपादानों को जो ठीक-ठीक संचालित करता हो। वह सूत्रधार आजकल के डाइरेक्टर की तरह ही होता था। संभव है कि पटाक्षेप और जवनिका आदि के सूत्र भी उसके हाथों में रहते हों।"

प्रसाद जी कठपुतलियों के सूत्र से भिन्न सूत्र शब्द का लक्षणार्थ लेते हैं।

सारांश यह कि यह मत भी विद्वानों में अधिक मान्य नहीं हुआ।

डा० ल्यूडर्स छाया-नाटकों से भारतीय नाटकों की उत्पत्ति मानते हैं और प्रमाण स्वरूप दूतांगद नामक एक संस्कृत-छाया-नाटक का नाम लेते हैं।

कुछ विद्वान् भारतीय नाट्य कला को भारत पर यूनानी ऋण मानते हैं। उनके विश्वास और प्रमाण का दुर्बल आधार है यवनिका शब्द। नाटक में यवनिका सबसे आरंभ का पर्दा होता है जो नाटक आरम्भ होने से पूर्व या समाप्ति पर गिरा दिया जाता है। वास्तव में संस्कृत नाटकों में जवनिका शब्द का प्रयोग होता है जिसका अर्थ होता है ढँकने वाला पर्दा। इसलिये यवनिका शब्द को अटकल से यवन से जोड़ना कोई संगत नहीं प्रतीत होता। यदि यवनिका का सम्बन्ध यवन से जोड़ना आवश्यक हो तो इतना समझ लेना पर्याप्त होगा कि यवनिका पट यूनानी कपड़े से बनाया जाता रहा होगा। फिर भारतीय नाटकों को यूनानी नाटकों का ऋणी कहना हास्यापद तो है ही साथ ही ऐतिहासिक ज्ञान का अभाव भी प्रकट करता है। विक्रम से ४०० वर्ष पूर्व पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में कृशाश्व तथा शिलालिन् नामक नट सूत्रकारों का उल्लेख किया है। दूसरा मौलिक अंतर यह है कि यूनान में ट्रेजेडी और कोमेडी इस प्रकार से नाटकों के दो भेद किये गए हैं और भारत में इस प्रकार का कोई विभाजन नहीं मिलता। भारतीय आचार्यों ने तो भारतीय सस्कृति एवं भारतीय दर्शन के आधार पर दुःखांत नाटक लिखने का निषेध तक किया है।

अब विद्वान् प्रायः इस विषय में एकमत होते जा रहे हैं कि वेद ही

नाटकों का मूल है। कहते हैं कि महेन्द्र आदि देवताओं के प्रार्थना करने पर ब्रह्मा ने नाट्य वेद को पाँचवे वेद के रूप में बनाया। ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस लेकर नाटक का सृजन किया गया।

"जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।"

शिवजी ने इसके लिए ताण्डव नृत्य दिया और पार्वती ने लास्य (कोमल नृत्य)। अभिनय का कार्य सौंपा गया भरतमुनि को जिसको कि उन्होंने अपने सौ पुत्रों को तद्विषयक शिक्षा दे पूर्ण किया।

आज विद्वान् इस विषय में यह भी मत रखते हैं कि भारत में नाटकों का आरम्भ धार्मिक कृत्यों से हुआ है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि लौकिक तथा सामाजिक कृत्य भी इसके मूल में हैं।

प्रोफेसर मैक्समूलर, लेवी, डा० हर्टेल नाटक का उदय वैदिक ऋचाओं के गान से मानते हैं। उनका कथन है कि ऋचाओं में जहाँ सवाद आते थे वहाँ उसे स्पष्टता देने के लिये दो पक्ष उन्हे उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में पढ़ते थे। उन्होंने इस विषय में इन्द्र और मारुतों के संवाद तथा सोम-विक्रय-सम्बन्धी घटनाओं का उल्लेख किया है। पीछे कृष्णपूजा सम्बन्धी यात्राओं में इसका रूप और भी स्पष्ट हो गया। धार्मिक अवसरों पर रात्रि जागरण कर गीत नाट्य करने का उल्लेख धार्मिक ग्रंथों में आता है।

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञान के अगाध भंडार वेद ही नाटक के उदय के मूल में हैं। सारा भारतीय वाङ्मय ही वेदों को अपने जनक के रूप में जानता है। जहाँ विश्व के ज्ञान की सम्पूर्ण दिशाओं के अंकुर वेदों में प्राप्य हैं फिर नाटक ही कहाँ रह जायगा।

प्रश्न २०—'नाटक तथा उपन्यास में कुछ साम्य होते हुए भी बहुत बड़ा अन्तर है।' इस साम्य तथा अन्तर को स्पष्ट कीजिये।

उत्तर २०—उपन्यास, नाटक तथा कहानी में रूपविधान की दृष्टि से एक ही प्रकार के तत्व हैं। वे छ: हैं :—

१. कथावस्तु। २. पात्र। ३. चरित्रचित्रण। ४. कथोपकथन। ५. उद्देश्य। ६. शैली।

तत्वतः साहित्य शास्त्र की दृष्टि से अभेद होते हुए भी उनमें भेद है। भेद यही है कि उपरोक्त छः तत्वों का दोनों साहित्यिक कृतियों में अनुपात भिन्न-भिन्न होता है। तत्वों का यही न्यूनाधिक मिश्रण इस साहित्यिक रूप-भेद का कारण है। यहाँ हम प्रत्येक तत्व को लेकर दोनों में अन्तर देखेंगे।

कथावस्तु—नाटक की कथावस्तु का निर्णायक रंगशाला का प्रतिबन्ध होता है अर्थात् नाटक लिखते समय यह बात ध्यान में रखी जाती है कि जो कुछ लिखा जारहा है वह अभिनीत हो सकता है कि नहीं। नाटक कभी सफल नहीं होगा यदि उसकी वस्तु में रंग मंच की दृष्टि से सभी गुण न हुए। उदाहरणार्थ अरूप वस्तुओं का प्रदर्शन, भारी भरकम वस्तुओ का समावेश नाटक में नहीं होना चाहिए क्योंकि रंग-मंच पर ये दिखाई कैसे जायंगी।

इसके अतिरिक्त नाटक कुछ विशेष नियमों में आबद्ध रहता है। उसमे वर्जित दृश्यों का ध्यान रखना पड़ता है। भोजन, नगरावरोध, भीड़, युद्ध, विप्लव आदि के दृश्य वर्जनीय हैं। वे नाटक में कम से कम लिखे जाने चाहिएं।

नाटक दृश्य काव्य है अतः उसमें प्रत्यक्षानुभवता अधिक रहती है। दर्शक को किसी बात की कल्पना अपनी ओर से नहीं करनी पड़ती। वह तो प्रत्येक बात को दृश्य रूप में ही देखता है।

नाटक का पूर्ण सौन्दर्य अभिनय में होता है अतः उसके वाक्य केवल पढ़ने से इतना आनन्द नहीं दे सकते। वाक्य भी उच्चारण सुविधा की दृष्टि से लिखे जाते हैं। क्लिष्ट भाषा यदि पात्र बोल नहीं पाया तो नाटक असफल हो जायगा।

नाटककार कथावस्तु में अपना मत कहीं व्यक्त नहीं कर सकता। वह आलोचक के रूप में 'मैं' की भाषा में बात नहीं कर सकता। उसे जो कुछ भी कहना है उसे वह पात्रों के द्वारा ही कहलवायेगा।

कथा का विस्तार नाटककार मनमाना नहीं कर सकता। कथा सीमित तथा संक्षिप्त होगी। अंक और दृश्य का प्रतिबन्ध नाटक को कथावस्तु पर नियंत्रण रखेगा।

नाटक का कथानक अर्थप्रकृतियों, संधियों और कार्यावस्थाओं में बँटा रहता है।

उपन्यास केवल पढ़ने के लिये होता है। अतः उसका पूर्ण आनन्द पढ़ने में ही आता है। अतः उसकी कथा इसी दृष्टि से लिखी जाती है।

उपन्यास की रंगशाला उसी में रहती है। अतः रंग मंच का प्रतिबंध उसकी कथा पर कोई प्रभाव नहीं डालता। उसमें कथा का रूप-विधान अभिनय की दृष्टि से नहीं होता।

उपन्यासकार कहने में पूर्ण स्वतन्त्र होता है। वह कोई बात 'मैं' की भाषा में कहने में स्वतन्त्र है। वह अपने विचार स्वयं प्रकट कर सकता है। उपन्यास की कथावस्तु मे इस बात से कुरूपता नहीं आती।

कथावस्तु के सीमित या संक्षिप्त होने का कोई प्रतिबन्ध उपन्यासकार पर नहीं होता। नाटक की भाँति उसे संधियों, अर्थप्रकृतियों, कार्यव्यापारों आदि का बन्धन नहीं रहता।

उपन्यास का कथानक नियमबद्ध नहीं होता। चाहे जैसे भयावह दृश्य, प्रलय, बाढ़, अदृश्य वस्तुओं आदि का वर्णन करने में उपन्यासकार स्वतन्त्र है। अंक, दृश्य आदि का भी बन्धन उस पर नहीं। प्राकृतिक वर्णन तथा अन्य प्रकार के वर्णन भी वह उपन्यास में कर सकता है। उपन्यास के परिच्छेदों की कोई संख्या नियत नहीं।

संक्षेप में नाटककार कथा के विषय मे बहुत से बन्धनों में बँधा रहता है, उपन्यासकार इस विषय में स्वतंत्र है।

पात्र—नाटक में पात्रों का आधिक्य वांछनीय नहीं होता। नाटक में पात्रों की विशिष्टतायें ऐसी होनी चाहिएं जो रंगमंच से सामंजस्य रखती हों।

नाटककार पात्र के बारे में स्वयं कुछ नहीं कहेगा।

उपन्यास में चाहे जितने पात्र रखे जा सकते हैं उसमें कोई बंधन नहीं। उपन्यास में कितने ही विचित्र प्रकार के पात्रों का समावेश किया जा सकता है। रंग-मंच का कोई प्रतिबंध उसमें नहीं होता। पात्रों के विषय मे उपन्यासकार स्वयं भी चाहे जो कुछ कह सकता है।

चरित्रचित्रण:—नाटक का चरित्रचित्रण सांकेतिक तथा व्यंगात्मक होता है। नाटककार 'यह पात्र बुरा है', 'वह अच्छा है' आदि जैसे आलोचनात्मक वाक्य नहीं कह सकता। वह पात्रों का चरित्रचित्रण तीन प्रकार से कर सकता है। १—अन्य पात्रों के मुख से किसी पात्र के विषय में कहलवाना। २—आपसी वार्तालाप द्वारा चरित्रचित्रण। ३—स्वयं पात्र के कथन द्वारा अर्थात् स्वगत कथन द्वारा।

चरित्रचित्रण मे पात्र के चरित्र का निष्कर्ष नाटककार अपनी भाषा में नहीं कह सकता क्योंकि वह पात्रों में से एक नही है।

संक्षेप में कहे तो कह सकते हैं कि नाटक में चरित्रचित्रण केवल कथोपकथन के बल पर होता है।

उपन्यास में लेखक पात्रों के विषय में उनके चरित्र के निर्णायक वाक्य 'मैं' की भाषा में आलोचनात्मक रूप में कह सकता है।

उपन्यासकार स्वयं भी पात्रों में से एक हो सकता है (आत्मचरित प्रणाली द्वारा लिखे गए उपन्यास में तो नायक लेखक ही होता है)।

उपन्यासकार को चरित्रचित्रण की वे सुविधायें तो प्राप्त हैं ही जो नाटककार को हैं इसके अतिरिक्त भी उसे कुछ सुविधायें प्राप्त हैं।

उपन्यास किसी पात्र के चरित्र का विश्लेषण कर सकता है। उपन्यास वातावरण के द्वारा भी सांकेतिक रूप मे चरित्रचित्रण कर सकता है।

कथोपकथन:—नाटक की सर्वप्रधान विशेषता जो उसे अन्य साहित्यिक कृतियों से अलग करती है और भिन्न नाम प्रदान करती है वह है कथोपकथन। कथोपकथन नाटक का प्राणतत्त्व है जिसके बिना उसका कोई अस्तित्व नहीं। उपन्यासकार यदि चाहे तो कथोपकथन बिलकुल भी उडा सकता है और केवल किसी कथा को वर्णनात्मक ढग में ही रख सकता है। उपन्यास की जो विशेषतायें हैं वे सब नाटककार इसी तत्व के द्वारा लाने का प्रयत्न करता है।

नाटक के कथोपकथन पर भी प्रतिबन्ध होता है और वह तीन प्रकार का होता है—१. श्राव्य, २. अश्राव्य, ३. नियत श्राव्य। उपन्यास का कुछ कथोपकथन तो समानरूप से सबके लिये होता है किन्तु कुछ ऐसा होता है जो सुना

नहीं जाता। पात्र उसे बोलता अवश्य है परन्तु निकटस्थ पात्र उसे न सुनने का बहाना करता है और दिखाता है कि उसने कुछ नहीं सुना। कुछ ऐसा होता है जो कुछ निश्चित व्यक्तियों के सुनने के लिये ही होता है।

नाटक के कथोपकथन पर इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। उसका कथोपकथन तो केवल पढ़ने के लिये होता है।

नाटक में कथोपकथन ही नाटककार की परीक्षा है। उपन्यास यह काम वर्णनों से पूरा कर लेता है अतः कथोपकथन उसके लिये इतने आवश्यक नहीं जितने नाटककार के लिये।

सच तो यह है कि कथोपकथन साहित्य के किसी रूप-भेद में इतने आवश्यक नहीं जितने नाटक में, न उपन्यास में, न कविता में, न कहानी में।

उद्देश्य.—नाटककार जीवन की व्याख्या केवल प्रत्यक्ष रूप मे कर सकता है। नाटक मे जीवन को चित्र रूप में उपस्थित किया जाता है जो एक कठिन साधना है। नाटक मे जीवन दृश्य के रूप में आता है जो पूर्ण होना चाहिए। दर्शक उस दृश्य रूप को देखकर ही जीवन और उसकी व्याख्या को हृदयंगम कर लें।

किन्तु उपन्यासकार जीवन की व्याख्या प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में कर सकता है। नाटक में उद्देश्य व्यंग्य होता है और उपन्यास में वर्णित। उदाहरणार्थ, यदि सत्य हरिश्चन्द्र नाटक दिखाया जायगा तो उसमें लेखक कभी यह नहीं कह सकता कि सत्य बोलना चाहिए। 'सत्य बोलना चाहिए', के लिए ही उसे पात्र कल्पित करने होंगे और तब घटनाओं के उचित परिणामों के रूप में यह बात व्यंग्य होगी। किन्तु उपन्यास में नीति वाक्य कहे जा सकते हैं—कहे जाते हैं।

शैली—नाटक मे ४ शैलियाँ मानी गई हैं जो रस के अनुसार हैं अर्थात् जिस रस का नाटक हो भाषा उसी के अनुसार होनी चाहिए। बीभत्स रस का नाटक हो तो भाषा ओज पूर्ण होनी चाहिए, सात्वती वृत्ति होनी चाहिए।

इसी प्रकार जब शृङ्गार रस का नाटक हो तो भाषा मधुर, कोमल होनी चाहिए अतः कौशिकी वृत्ति होनी चाहिए।

कौशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती चार वृत्तियाँ होती हैं।

उपन्यास में शैलियाँ भाषा के ओज और माधुर्यगुण के अनुसार नहीं अपितु कथन के भेद के अनुसार होती हैं।

१. आत्मचरित—जब उपन्यास 'मैं' की प्रणाली में लिखा जाय अर्थात् लेखक स्वयं प्रधान पात्र हो।

२. अन्यचरित—जहाँ उपन्यास 'वह' की भाषा में लिखा जाय और लेखक तटस्थ होकर वर्णन करे।

३. पत्र प्रणाली—जहाँ पत्रों के उत्तर-प्रत्युत्तर स्वरूप उपन्यास रचना हो।

इस प्रकार हम देखते हैं उपन्यास और नाटक में तत्व तो समान हैं परन्तु नाटक या उपन्यास लिखते समय वे तत्व न्यूनाधिक रूप से एक दूसरे में व्यवहृत होते हैं और इस प्रकार तत्व साम्य होते हुए भी एक बड़ा अन्तर उत्पन्न हो जाता है।

प्रश्न २१—उपन्यास के प्रधान तत्वों पर प्रकाश डालिये।

उत्तर २१—जब किसी महान व्यक्ति का चरित्र अंकित करना होता है जिसमें भावों की प्रबलता हो तथा जिसमें मार्मिक स्थल पर्याप्त हों; ऐसा चरित्र या कथानक जो मानव समाज को महान संदेश देता हो, तो ऐसी दशा में महाकाव्य का प्रणयन होता है। ठीक इसी प्रकार जब समाज की कोई समस्या ज्वलन्त रूप में उभर आती है, किसी राजनैतिक, सामाजिक या धार्मिक आन्दोलन को साहित्यिक रूप देना होता है, ऐसा कथानक जो विश्लेषण प्रधान समस्यात्मक हो, दिन प्रतिदिन के जीवन का जिससे निकट सम्बन्ध हो यदि गद्य में साहित्यिक रूप प्राप्त करता है तो उपन्यास का निर्माण होता है। गत कुछ वर्षों में उपन्यास समाज में अत्यधिक लोकप्रिय तथा प्रभावशाली सिद्ध हुए हैं। आज विषमता का युग है, आर्थिक एवं राजनैतिक संघर्ष अपनी चरम सीमा पर हैं। संक्षेप में विश्व में कोमल भावनाओं का अभाव है। शांति कुरूप हो उठी है। समस्याओं ने मानव जीवन को कटु तथा शुष्क बना दिया है। यह समय महाकाव्यों के प्रणयन के अनुकूल नहीं हैं अतः उपन्यासों ने उनका स्थान ले लिया है क्योंकि आज की विषमता की वे ही स्पष्ट साक्षी दे सकते हैं।

भारत में उपन्यासों का इतिहास अधिक पुराना नहीं है। साहित्य की और कितनी ही वस्तुओं की भान्ति ही इसका भी आरम्भ भारतेन्दु काल में हुआ लेकिन तब से उपन्यास अन्य साहित्यिक रचनाओं—नाटक, कहानी, निबन्ध—से अधिक लोकप्रिय हुआ है।

उपन्यास का रूप निर्माण किन तत्वों से होता है? तत्व बिलकुल वही हैं जो कहानी, नाटक आदि मे हैं किन्तु उनके प्रयोग वैशिष्ट्य, तथा तत्व के न्यूनाधिक्य के कारण उसका रूप उपरोक्त दोनों वस्तुओं (नाटक, कहानी) से भिन्न है। उपन्यास के सात तत्व होते हैं :—

१—कथावस्तु, २—पात्र, ३—चरित्र चित्रण, ४—कथोपकथन, ५—देश काल, ६—शैली और ७—उद्देश्य।

कथा-साहित्य की किसी भी रचना में वस्तु सर्व प्रधान वस्तु है। महान् साहित्य का उद्देश्य होता है—मनोरञ्जन के साथ शिक्षण। जिस साहित्य में यह गुण नहीं होता वह उच्च कोटि का साहित्य नहीं है। मानव की पाशविक वृत्तियों को उद्दीप्त करना भर तो अच्छे साहित्य का उद्देश्य हो नहीं सकता। उपन्यास का कार्य मुख्य रूप से समाज का मनोरञ्जन करना है किन्तु श्रेष्ठ उपन्यास वही कहलायगा जिसमें मनोरञ्जन के साथ-साथ समाज का उचित शिक्षण भी हो। कथा वस्तु की दृष्टि से उपन्यास दो प्रकार के कहे जा सकते हैं—१. भाव प्रधान २. घटना प्रधान। भावप्रधान कहने का अर्थ यह नहीं है कि उसमें कथा होती ही नहीं। अभिप्राय यही है कि उसमें घटना घटना के लिए नहीं लाई जाती अपितु किसी उद्देश्य या चरित्र को स्पष्ट करने के लिये घटनाओं की कल्पना की जाती है। कथा के अभाव में तो उपन्यास का निर्माण सम्भव नहीं।

घटना—प्रधान उपन्यास वह होता है जहाँ घटनाओं का वर्णन इस रूप में रहता है कि बहुत सी विचित्र घटनाएँ एक सूत्र में आबद्ध रहती हैं। उसका उद्देश्य कुछ नहीं होता केवल पाठक को आश्चर्य में डालकर उपन्यास के प्रति रुचि बनाए रखना ही उसका लक्ष्य प्रतीत होता है। चन्द्रकान्ता संतति, भूतनाथ, रक्तमण्डल आदि उपन्यास इसी प्रकार के घटना-प्रधान उपन्यासों के निदर्शन हैं। अंग्रेजी उपन्यासों से अनूदित जासूस सीरीज़ के उपन्यास भी इसी कोटि

के हैं। पाठक को पढ़ने के पश्चात् कुछ प्राप्त नहीं होता, कुछ सन्देश नहीं मिलता।

वस्तु के गठन के लिये लेखक को सतर्क रहने की आवश्यकता होती है। वस्तु का असन्तुलन उपन्यास को कुरूप एवं अरोचक बना सकता है। व्यर्थ के वर्णनों से लेखक को बचना चाहिए। अनुभव की गम्भीरता एवं सूक्ष्म निरीक्षण के अभाव में सफल उपन्यास लिखा नहीं जा सकता। लेखक को जिस विषय का ज्ञान न हो उसका प्रसंग उपन्यास में नहीं उठाना चाहिए। वर्णनों में यथार्थता तथा सत्यता लाने के लिए योरुप के कितने ही उपन्यासकारों ने एक ही उपन्यास लिखने मे कभी-कभी अपना जीवन ही समाप्त कर दिया।

घटनाओं का समुचित नियोजन ही उपन्यास लेखन साफल्य की कुञ्जी है। घटनायें जोड़ी हुई प्रतीत न हों अपितु स्वाभाविक लगें जैसी जीवन से होती हैं। अलौकिक अंश की कमी जितनी होगी उपन्यास उतना ही सफल होगा।

पात्र

लेखक उपन्यास में पात्र जितने जीवन के निकट से चुनेगा उपन्यास उतना ही सफल होगा। ऐसे पात्रों की कल्पना करना जिनका अस्तित्व इस पृथ्वी पर नहीं देखा जाता उपन्यास की स्वाभाविकता तथा रोचकता में विक्षेप डालते हैं। लेखक की सबसे बड़ी सफलता यही है कि उसके प्रत्येक पात्र को पाठक जानता हो। पाठक कभी-कभी चौंक उठता है कि लेखक मेरा ही वर्णन कर रहा है; यही लेखक की सफलता है। प्रेमचन्द्र जी के पात्र इतने ही सजीव और इसी पृथ्वी के होते हैं। पात्रों के यथावत् चित्रण के लिए अनुभूति एवं सूक्ष्म निरीक्षण की अतीव आवश्यकता है। पात्रों की संख्या भी व्यर्थ में अधिक नहीं होनी चाहिए कि जिनका अन्त में जबरदस्ती गला घोटना पड़े। उपन्यासकार मरे पात्रों को जीवित करने में बड़े पटु होते हैं यह भी एक अस्वाभाविकता है।

चरित्र-चित्रण

आज के युग में चरित्र-चित्रण उपन्यास या कहानी का सबसे प्रमुख

तत्व है। कितने ही उपन्यास तथा कहानी चरित्र-चित्रण प्रधान होती हैं। उसका स्पष्टतया यही अर्थ है कि कभी-कभी उपन्यास किसी उद्देश्य विशेष या समस्या को लेकर लिखा जाता है और उसके लिए पात्र स्थापित किए जाते हैं। कभी कोई पात्र ऐसा विशिष्ट होता है कि लेखक के मस्तिष्क में घर कर जाता है। तब लेखक उस विशिष्ट व्यक्ति को ध्यान में रखकर भी उपन्यास रचना करता है और उसके लिए घटनाओं की कल्पना करता है जो उसकी चारित्रिक विशेषताओं को प्रकाश में लाती हैं।

प्राचीन प्रकार के कथा-साहित्य में यह देखा जाता है कि कथा-विस्तार की धुन में लेखक पात्रों का कोई ध्यान नहीं रखते थे। यदि कोई व्यक्ति बुरा है तो यावज्जीवन बुरा ही रहा। यदि कोई अच्छा है तो जीवन भर अच्छा ही रहा। यह अस्वाभाविक है। मानव जीवन में कमियाँ भी होती हैं और गुण भी। एक ही जीवन में मनुष्य कभी कुकृत्य करता है कभी सुकृत्य। आज उपन्यास अधिकांश में चरित्र-चित्रण प्रधान ही होते हैं जहाँ वे एक व्यक्ति के अन्तर्बाह्य को पूर्णतः स्पष्ट कर देते हैं।

आज तो मनोवैज्ञानिक उपन्यास भी आ रहे हैं जिनमें कथा नाम मात्र को होती है और उन मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण ही अधिक रहता है जो मानव के विचित्र कार्य-व्यापारों की कुञ्जियां हैं।

चरित्र चित्रण दो प्रकार का होता है—१. साक्षात् २ परोक्ष। एक प्रकार के चरित्र का लेखक स्वयं विश्लेषण करता है यह साक्षात् चरित्र-चित्रण है। एक में वह पात्रों के संलाप द्वारा चरित्र-चित्रण करता है यह परोक्ष या अभिनयात्मक ढंग है।

कथोपकथन

कथोपकथन उपन्यास का सबसे रोचक तत्व है जिससे उपन्यास में नाटक का आनन्द भी आता है। कथोपकथन द्वारा लेखक परोक्ष प्रकार के चरित्र-चित्रण का कार्य भी लेता है। कथोपकथन संक्षिप्त, सारगर्भित तथा रोचक होना चाहिए। व्यर्थ का विस्तार ठीक नहीं। स्वाभाविकता तब अधिक रहती है जब भाषा का प्रयोग पात्रानुसार कराया जाय। प्रेमचन्द्रजी ने इसका उचित उपयोग किया है। कथोपकथन पात्र के मानसिक पक्ष का स्पष्टीकरण करता

है। कथोपकथन स्वाभाविकता लिये हुए होने चाहिएं। वे कृत्रिम नहीं लगने चाहिएं। वस्तु विकास और चरित्रचित्रण का गम्भीर भार बहुत कुछ कथोपकथनों पर है जिनके ऊपर उपन्यासों का ढाँचा ही खड़ा होता है। इसलिए कथोपकथन विशेष रूप से उपयुक्त होने चाहिएं।

देशकाल

उपन्यासकार जिस काल का अथवा जिस देश का वृत्तांत अपने उपन्यास मे कह रहा है वह उसके अनुकूल ही होना चाहिए। उदाहरणार्थ यदि उपन्यासकार बौद्ध काल पर उपन्यास लिख रहा है तो उसे तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। नहीं तो वह वैसा उचित वातावरण उपस्थित करने में पूर्ण सफल नहीं हो सकेगा और प्रकारांतर से उपन्यास ही असफल हो जायेगा। उस समय की वेशभूषा, समाज-संगठन तथा रीति-रिवाजों का पूर्ण ज्ञान अपेक्षित है। एक मुसलमान को धोती-कुर्ते मे चित्रित करना, उसी प्रकार एक हिंदू को तुर्की टोपी, अचकन, पजामा में चित्रित करना देशकाल सम्बन्धी दोष उत्पन्न करेगा। देश का ऐतिहासिक ज्ञान अत्यंत अपेक्षित है क्योंकि उस समय की घटनाओं का ज्ञान भी आवश्यक है। नहीं तो अज्ञान द्वारा कभी-कभी बड़ी भद्दी भूलें हो जाती हैं।

शैली

शैली का सम्बंध है उपन्यास के लिखे जाने की प्रणाली से। प्रायः ३ शैलियाँ प्रचलित हैं:—१ आत्मचरित प्रणाली २. अन्य चरित (ऐतिहासिक) प्रणाली ३. पत्रात्मक प्रणाली।

आत्म-चरित प्रणाली के उपन्यास आत्माभिव्यंजक होते हैं। वे अधिक अनुभूत तथा स्वाभाविक लगते है क्योंकि लेखक व्यक्तिगत अनुभव का रूप देकर उपन्यास को लिखता है।

अन्यचरित प्रणाली में लेखक को वर्णन करने की अधिक सुविधा रहती है। वह तटस्थ रहता है।

पत्रात्मक शैली पत्रों के उत्तर-प्रत्युत्तर स्वरूप होती है। उसमें घटना

का उचित संकलन नहीं हो पाता । ऐसे उपन्यासों की संख्या हिंदी में नगण्य है ।

उद्देश्य

प्रत्येक साहित्यिक कृति का कुछ न कुछ उद्देश्य अवश्य होता है । उसी प्रकार उपन्यासकार का भी कुछ उद्देश्य होता है जिससे वह उपन्यास लिखता है ।

वास्तव में उद्देश्य में ही लेखक का रूप स्पष्ट होता है कि वह किस दृष्टिकोण का है । लिखने से पूर्व लेखक का भी कुछ न कुछ उद्देश्य होता है जिसे वह घटना के आवरण में उपस्थित करता है ।

आज यथार्थवादी उपन्यास और आदर्शवादी दो प्रकार के उपन्यास विचारों की दृष्टि से हैं । कुछ लेखकों का दृष्टिकोण किसी वस्तु को उसी रूप में रख देने का होता है । कुछ का उद्देश्य उसे बिलकुल परिष्कृत रूप में रखने का होता है । किंतु प्रेमचन्द ने जिस मार्ग का अनुसरण किया वह अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । वह है आदर्शोन्मुख यथार्थवाद अर्थात् किसी वस्तु का ज्यों का त्यों चित्र रखना और उसको सुन्दर बनाने के सुझाव रखना । वे 'यह होता है' के साथ 'यह होना चाहिए' लिखने के भी पक्षपाती थे ।

प्रश्न २२—शैली के अन्तर्गत कितने प्रधान अंग माने जाते हैं ? इन अंगों का आलोचनात्मक परिचय दीजिये ।

उत्तर २२—यही पर्याप्त नहीं है कि मनुष्य क्या जानता है ? यदि वह अपने ज्ञान को प्रकट नहीं कर सकता तो फिर उसके ज्ञान से क्या लाभ और उसका क्या महत्व । रस को काव्य की आत्मा अवश्य माना जाता है लेकिन शरीर के अभाव में आत्मा का अस्तित्व भी तो सम्भव नहीं है । इसी प्रकार शैली हमारी भावनाओं का शरीर है जहाँ वह मूर्त हो जाती है । सच तो यह है कि शैली के अभाव में साहित्य के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती । हमारे हृदय में भावों का जो ज्वार उठता है उससे हम दूसरे व्यक्ति को तब तक आंदोलित नहीं कर सकते जब तक कि हम उन भावों को उचित भाषा (शैली) में व्यक्त न कर दें । शैली ही भाषा में प्रेषणीयता का

गुण लाती है और वस्तुतः यही प्रेषणीयता कला का मूल है अर्थात् "अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही है कला।"

साहित्य के दो पक्ष माने गए हैं—१. भावपक्ष, २. कलापक्ष। एक वस्तु है और दूसरी प्रणाली। दोनों का सम्बन्ध अत्यन्त ही घनिष्ठ है। वस्तु कितनी ही उत्कृष्ट हो यदि उसे अभिव्यक्ति नहीं दी जायगी तो साहित्य-सृजन का कार्य ही संभव नहीं। संक्षेप में भावपूर्ण साहित्य की रचना के लिये जहाँ भाव प्राचुर्य की आवश्यकता है वहाँ उससे भी अधिक आवश्यकता है उन भावों को समुचित रूप में व्यक्त करने की प्रणालो की। यही प्रणाली शैली है। वाणी में जिस प्रकार अर्थ स्वतः ही रहता है उसी प्रकार भाव में अभिव्यक्त होने का गुण है। उसमें स्वत: प्रेषणीयता रहती है।

शैली दो प्रकार की होती है—१. समास शैली, २. व्यास शैली।

१. समास शैली—इसमें लेखक अपनी बात सूक्ष्म रूप में कह देता है और फिर उसका विश्लेषण करता है। उदाहरण के लिये रामचन्द्र शुक्ल की शैली समास शैली है। वे "वैर क्रोध का मुरब्बा है" आदि सूक्तियाँ कह कर फिर उसका विश्लेषण करते हैं।

व्यास शैली में विश्लेषण करने के पश्चात् पूरी बात को सूक्ति में बाँध दिया जाता है। हिन्दी में डाक्टर श्यामसुन्दरदास की शैली इसी प्रकार की है।

शैली के मुख्य आधार शब्द हैं। शब्द ही वाक्य में सार्थक रूप धारण कर भावाभिव्यक्ति करते हैं। अतः शब्दों का उचित ज्ञान लेखक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। शब्दों से घनिष्ठ परिचय यद्यपि बड़ी कडी साधना का विषय है किन्तु शब्द सिद्धि हो जाने पर शब्द लेखक से बोलने लगते हैं। आरम्भिक अवस्था में देखा जाता है कि एक ही भाव को व्यक्त करने के लिये लेखक अनेक शब्दों का प्रयोग करता है किन्तु फिर भी उसे आत्मसंतोष नहीं होता। शब्द उचित व्यवहृत होने पर स्वयं कह देता है कि अब और चिन्ता की आवश्यकता नहीं। यही एक मनोवैज्ञानिक तत्व है जिसका सब लेखकों पर परीक्षण किया जा सकता है। आरम्भ में लेखक में भाषाडम्बर अधिक होता है भाव कम। आरम्भिक अवस्था में वह अनेक शब्दों का एक ही भाव के लिए प्रयोग करता है धीरे-धीरे भावों के लिए शब्द निश्चित-से हो जाते

हैं। फिर लेखक जिस भाव का व्यक्त करता है तो ऐसे शब्दों में जिसमें से एक भी शब्द निकाल लिया जाय तो पूरी रचना अस्पष्ट हो जाय।

पल्लव की भूमिका में पंत जी ने शब्दों की शक्ति का एवं उनके दार्शनिक रूप का बहुत सुन्दर विश्लेषण किया है। उद्धरण देना अप्रासंगिक न होगा।

"जिस प्रकार शब्द एक ओर व्याकरण के कठिन नियमों से बंधे होते हैं उसी प्रकार दूसरी ओर ज्ञान के आकाश में पक्षियों की तरह स्वतन्त्र भी होते हैं।"

भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द प्रायः संगति-भेद के कारण एक ही पदार्थ के भिन्न भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं। जैसेः—'भ्रू' से क्रोध की वक्रता, भृकुटि से कटाक्ष की चंचलता, भौंह से प्रसन्नता व्यक्त होती है। हिलोर में उठान, लहर में सलिल वक्ष का कोमल कम्पन, तरंग में सलिलावेग तथा सामूहिक प्रगति, वीचि में हंसमुख लहरियाँ तथा ऊर्मि में हुलसित, मुखरित, उत्पात पूर्ण तरंगों का चित्र सामने आता है। इसी प्रकार अनिल शीतलता का बोधक, वायु निर्मलता तथा लचीलापन से युक्त, प्रभंजन सशब्द आँधी की व्यंजना करता है। इसी प्रकार श्वसन, पवन, समीर अलग-अलग भाव-चित्र रखते हैं।

पंत जी आगे लिखते हैं :—"शब्द झंकार में चित्र और चित्र में झंकार हैं। भाव और भाषा का सामंजस्य उनका स्वरैक्य ही चित्र राग है। भाव और भाषा में रागात्मक सम्बन्ध है, भावना सदैव शब्द के भुज पाश में बंधने के लिए व्यग्र रहती है।"

उपरोक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि शब्द स्वयं भी निर्जीव नहीं होते अपितु किसी न किसी भाव के प्रतीक होते हैं।

जब शब्द में इतनी शक्ति होती है तो फिर वाक्य तो सार्थक शब्दों का समूह है। चतुर और अनुभवी लेखक बड़े परिश्रम के पश्चात् इस तथ्य का भेद जानने में समर्थ होते हैं कि वाक्य किस प्रकार कहा जाय कि वह सबसे अधिक अर्थ व्यक्त करे। कभी-कभी 'भी' 'सी' आदि जैसे छोटे-छोटे शब्द भी वाक्य के अर्थ में विशेष स्थल पर रखने से अर्थ में बड़ा अन्तर उपस्थित कर देते हैं। इस लिए वाक्यों की साधना भी शैली को प्रभविष्णु बनाने में महत्व-पूर्ण स्थान रखती है।

वाक्य से ही अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना नाम शब्द-शक्तियाँ अभिन्न रूप से सम्बद्ध हैं। कभी शब्द का कोषार्थ लिया जाता है, कहीं लक्षणार्थ और कहीं व्यंग्यार्थ। इन शक्तियों के द्वारा शब्दों का महत्व बहुत कुछ स्पष्ट होता है और शैली में ये शक्तियाँ महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। हमारे साहित्य में व्यंग्यार्थ को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है क्योंकि शब्दशक्ति का वह विकसित-तम रूप है। शब्द वहाँ कोष आदि का बंधन तोड़ कर अपनी शक्ति अनन्त कर लेता है।

इसके अतिरिक्त गुण, रीति तथा वृत्ति भी शैली के अंग माने गये हैं।

गुण ३ होते हैं—१. माधुर्य, २. ओज, ३. प्रसाद।

रीतियाँ ३ होती हैं—१. वैदर्भी, २. गौड़ी, ३. पांचाली।

वृत्तियाँ ३ होती हैं—१. मधुरा, २. परुषा, ३. प्रौढा।

माधुर्य गुण के लिए वैदर्भी रीति तथा मधुरा वृत्ति आवश्यक मानी गई है।

ओज गुण के लिए गौडी रीति तथा परुषा वृत्ति आवश्यक मानी जाती है। तथा

प्रसाद गुण के लिए पांचाली रीति तथा प्रौढा वृत्ति आवश्यक मानी गई है।

इसके अतिरिक्त फिर और सूक्ष्म विश्लेषण है कि किस गुण, रीति तथा वृत्ति में कैसे शब्द हों क्योंकि इनका सम्बन्ध अन्ततः साहित्य के प्राण रस से होता है।

शैली में अलंकारों का स्थान भी महत्त्व का है। कथन की वक्रतापूर्ण शैली ही अलंकार है। अलंकार कथन की विचित्रता के कारण भाव की तीव्रता बढ़ा देते हैं।

अलंकार—शब्दालंकार, अर्थालकार तथा उभयालंकार नाम से ३ प्रकार के माने गये हैं। अलंकार भाषा के परिच्छद हैं जो उसका सौंदर्य बढ़ाते हैं। अलंकार के विषय में पंत जी के विचार द्रष्टव्य हैं :—

"अलंकार वाणी के आचार-व्यवहार, रीति-नीति हैं। पृथक्-पृथक् स्थितियों के पृथक्-पृ थक्स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के वे भिन्न चित्र हैं। वे वाणी

के हास, अश्रु, पलक, स्वप्न, हाव-भाव हैं। संगीत में जो स्थान राग का है— भावों में वही स्थान अलंकारों का है। दोष वहाँ आ जाता है जहाँ वे वर्ण्य के माध्यम न रह कर वर्ण्य विषय बन जाते हैं।"

इससे सुन्दर व्याख्या अलंकारों की और क्या होगी? उनका स्थान और कार्य पन्त जी ने स्पष्ट कर दिया है।

शैली में अनुच्छेदों, पदों, तथा वाक्यांशों का उचित ध्यान रखना चाहिये। विराम चिह्न आदि भी उसके आवश्यक अंग हैं। एक अनुच्छेद (पैराग्राफ) में एक विचार होना चाहिये। विराम चिह्नों का उचित प्रयोग होना चाहिये।

अब केवल छन्द और रह जाते हैं जिनका सम्बन्ध शैली से है और जो केवल काव्य में व्यवहृत होते हैं। पंत जी ने छन्द पर भी सहृदयतापूर्ण विचार किया है और उसके उचित कार्य तथा महत्व का निर्देश किया है। उनके कुछ वाक्य पठनीय हैं :—

"कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन। छन्द कविता का स्वभाव ही है। स्वयं प्रकृति एक अखण्ड संगीत है। छन्द का भाषा के उच्चारण, उसके संगीत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।"

भाषा में एक संगीत स्वतः ही रहता है। छन्द उस संगीत की परिभाषा तथा मूर्त रूप है। संख्या में ये अलंकार की भांति ही असंख्य हैं। छन्द कितने ही हो सकते हैं। भाषा और भावों के अनुकूल छन्द होना आवश्यक है। अंग्रेज़ी के छन्दों में हिन्दी के प्राण नहीं रखे जा सकते और हिन्दी छन्दों में अंग्रेज़ी की प्राण-प्रतिष्ठा संभव नहीं है। अतः छन्द भी जातीय, देशीय और सबसे अधिक भाषा से घनिष्ठ सम्बद्ध होते हैं।

ये ही शैली के शास्त्रीय आधार हैं जो भाषा को उसके व्यवस्थिततम तथा सुन्दरतम रूप में रख कर भाषा की प्रेषणीयता बढ़ाते हैं जो रसानुभूति में सहायक होती है। शैली और भावपक्ष अनन्य रूप से घनिष्ठ हैं।

प्रश्न २३—छोटी कहानी या गल्प की विशेषताओं का निर्देश करते हुए उपन्यास से उसका साम्य एवं अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर २३—जहाँ तक तत्वों का सम्बन्ध है नाटक, उपन्यास तथा

कहानी में एक ही तत्व है। पर उन तत्वों का न्यूनाधिक रूप ही उनका प्रधान अन्तर है। उदाहरणार्थ उपन्यास वस्तु-प्रधान है, नाटक कथोपकथन प्रधान तथा कहानी चरित्रचित्रण प्रधान या उद्देश्य प्रधान। तत्व ये हैं :—

१. उद्देश्य। २ कथावस्तु। ३. पात्र। ४. चरित्रचित्रण। ५. कथोपकथन। ६. शैली।

कहानी मे सर्वप्रधान तत्व वास्तव में उद्देश्य होता है। लेखक किसी समस्या अथवा किसी एक भावना को लक्ष्य करके ही कहानी लिखता है। उपन्यास भी यद्यपि समस्या-प्रधान हो सकते हैं तथापि वे कथा के अभाव में नहीं चल सकते। फिर समस्यायें भी उपन्यास में कितनी ही होती हैं।

अब तक उपन्यास और कहानी का अन्तर केवल आकार का समझा जाता था किन्तु अब कहानी ने अपने आपको उपन्यास से बिलकुल पृथक् एक नवीन साहित्यिक रूप में प्रतिष्ठित होने का गौरव प्राप्त कर लिया है।

आज के व्यस्त जीवन में किसी भी व्यक्ति के पास इतना समय नहीं है कि वह उपन्यास पढ़ने का धैर्य ला सके। कहानी एक बैठक में ही पढ़े जाने योग्य वस्तु है और वह अपने आप में पूर्ण भी है अतः आज निरन्तर उसका विकास हो रहा है, उसकी माँग हो रही है।

केवल आकार का ही नहीं अपितु प्रकार का भी अन्तर उपन्यास और कहानी में है। उपन्यास जीवन का सर्वाङ्गीण चित्र सामने रखता है किन्तु कहानी जीवन के कुछ क्षणों में घनीभूत हुए भावों की ही अभिव्यक्ति है। वह एक समस्या पर प्रकाश डालेगी या जीवन के एक अंग पर। उपन्यास सम्पूर्ण जीवन को प्रकाश में लाता है, कहानी उसके किसी एक अंग को फोकस (Focus) में लाती है और उसे अधिक उभरे हुए रूप में रखती है। जीवन की खंडशः अभिव्यक्ति ही कहानी में होती है।

उपन्यास और कहानी मे सबसे बड़ा अन्तर यह भी है कि कहानी व्यंजना-प्रधान होती है तथा उपन्यास घटना-प्रधान। कुछ व्यक्ति कहानी पढ़ना चाहते हैं और कुछ उपन्यास; यह इस बात का पूर्ण प्रमाण है कि ये दो रुचियों को संतुष्ट करने वाली दो प्रकार की साहित्यिक कृतियाँ हैं।

अब हम प्रत्येक तत्व को लेकर उसमें साम्य तथा अन्तर देखेंगे।

१. उद्देश्य :—यह कहानी की वह सर्वप्रथम विशेषता है जो उसे उपन्यास से भिन्न प्रकार की वस्तु प्रमाणित करती है। कहानी हमारी समस्याओं, चिन्तन, तथा भावों को मूर्त रूप देती है। उपन्यास की भांति कहानी हल नहीं देगी केवल मार्गदर्शन कर देगी अर्थात् दिशा का इंगित कर देगी। जैनेन्द्रजी इस विषय में लिखते हैं—"हमारे अपने सवाल होते हैं, शंकायें होती हैं, चितायें होती हैं, और हम ही उनका उत्तर, उनका समाधान खोजने का सतत प्रयत्न करते हैं। हमारे प्रयोग होते रहते हैं। कहानी एक खोज के प्रयत्न का उदाहरण है। उदाहरणों और मिसालों की खोज होती रहती है; वह एक उत्तर ही नहीं देती अपितु कहती है कि उत्तर शायद इस दिशा से मिले। वह सूचक होती है, कुछ सुझा देती है और पाठक अपनी चिंतन क्रिया के द्वारा इस सूझ को ले लेते हैं।" कहानीकार का उद्देश्य उत्तर देना नहीं होता केवल सुझाना होता है।

उपन्यास चूंकि महाकाय होता है अतः उसमें लम्बे विश्लेषण, नीति वाक्य तथा उत्तर भी रहते हैं। कथा विस्तार की सुविधा के कारण उपन्यास में विश्लेषण, नीति वाक्यों आदि का अवकाश रहता है।

कहानी में लेखक का एक निश्चित उद्देश्य रहता है जिसकी ओर कहानी का प्रत्येक शब्द, प्रत्येक वाक्य निरन्तर दौड़ता रहता है। संक्षेप में कहानी उद्देश्यप्रधान और उपन्यास कथाप्रधान होता है।

कथावस्तु :—कथावस्तु के अभाव में उपन्यास की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती परन्तु कथा के अभाव में भी कहानी के अस्तित्व की कल्पना कठिन नहीं है। उपन्यास में वस्तु विस्तार का बहुत अवकाश रहता है, उसमें प्रासंगिक कथायें जोड़ी जा सकती हैं, प्राकृतिक वर्णन दिये जा सकते हैं और राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक समस्याओं पर विश्लेषण भी। परन्तु कहानी में इतना अवकाश नहीं होता। कहानी की कथा का प्रत्येक शब्द बिना एक दूसरे से बोले, बिना रुके लक्ष्य की ओर अबाध दौड़ता रहता है। कहानी में प्रासंगिक कथायें लाने का अवकाश नहीं होता। नाटकीयता का आनन्द लेने के लिए कहानी में भी लोगों ने, घटना, घटना का विकास, चरमसीमा, उपसंहार आदि कहानी के मोड़ बनाने की चेष्टा की है जैसाकि नाटक या उपन्यास में

होता है। उपन्यास की कथावस्तु जिस प्रकार जीवन की किसी भी दिशा से ली जा सकती है उसी प्रकार कहानी की भी। ऐसा कोई विषय नहीं जिस पर कहानी न लिखी जा सके। जिस प्रकार उपन्यास के दो भेद होते हैं १—घटनाप्रधान, २—भावप्रधान, उसी प्रकार कहानियों के भी किये जा सकते हैं। फिर भी कहानी इतनी घटनाप्रधान नहीं होती जितना उपन्यास हो सकता है। कारण, अधिक घटनाओं का आयोजन तथा नियोजन उसके छोटे कलेवर में संभव नहीं। कहानी तो एक भाव, एक समस्या को उभार कर रखती है। जिस प्रकार उसका विस्तार-क्षेत्र सीमित है उसी प्रकार उसका प्रभाव अत्यंत गहरा होता है। (प्रेमचंदजी की शांति नामक कहानी को पढ़कर बहुत लोगों ने अपनी पत्नियों को अंग्रेज़ी पढ़ाना बंद कर दिया था)। कहानी सम्भवतः तीन ही प्रकार से लिखी जा सकती है :—

१—या तो किसी कथानक को लेकर उसमें पात्र फिट किए जा सकते हैं।

२—या किसी पात्र को लेकर चरित्र विकास के लिये परिस्थितियों तथा घटनाओं की कल्पना की जा सकती है।

३—या किसी वातावरण विशेष की प्रभावप्रेषणीयता के लिये घटना तथा पात्र एकत्रित किये जा सकते हैं। ठीक यही बात उपन्यासों के विषय में कही जा सकती है। उपन्यास में उपदेश आदि नैतिक बातों के लिये स्थान रहता है पर कहानी को नीतिप्रधान नहीं बनाया जा सकता। उसकी तो चरम सार्थकता उसके व्यंजना-प्रधान होने में है। उपन्यास के लिए कथावस्तु जिस प्रकार पुराण, इतिहास, समाज आदि किसी से भी ली जा सकती है उसी प्रकार कहानी के लिए भी। कहानी को जहां तक कथावस्तु का प्रश्न है, उपन्यास का संक्षिप्त रूप नहीं कहा जा सकता, न उपन्यास को सागर और कहानी को गागर कहना ही ठीक है। पिता और पुत्री का सम्बन्ध भी ठीक नहीं बैठता। कारण कहानी का कथावस्तु-विधान अपने आप में पूर्ण होता है, इतना पूर्ण कि जिसका विस्तार ही सम्भव न हो। अनंत शोभा एवं प्रभावशालिनी कहानी को आज किसी के रिश्ते या सहायता की आवश्यकता नहीं। आज समाज में सबसे अधिक उसी का परिचय है।

पात्र :—उपन्यास में पात्रों की सख्या अधिक से अधिक हो सकती है क्योंकि उसमें सबके चरित्र पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त जगह होती है। विभिन्न प्रकार के चरित्र उपन्यास में रखे जा सकते हैं परन्तु कहानी में पात्रों की संख्या बहुत सीमित होती है या होनी चाहिए क्योंकि उसके छोटे कलेवर मे सबका क्रमिक विकास दिखाया नहीं जा सकता।

उपन्यास के पात्र चाहे जितने विशिष्ट हों, विचित्र हों परन्तु कहानी के पात्र सामान्य हों तो अच्छा क्योंकि चारित्रिक विशेषताओं का पूर्ण निर्वाह कहानी मे संभव नहीं है।

चरित्रचित्रण :—चरित्रचित्रण प्रधान उपन्यास भी होते हैं और कहानियाँ भी, परन्तु उपन्यास में पात्र के चरित्र को स्पष्ट करने के लिये घटनाओं का यथेच्छ आयोजन किया जा सकता है परन्तु कहानी मे यह सुविधा नहीं होगी। कह सकते हैं कि उपन्यासों में चरित्रचित्रण वर्णित होता है कहानी में व्यंग्य होता है।

उपन्यास में चरित्रचित्रण दो प्रकार से सम्भव है—प्रत्यक्षरूप से या अभिनयात्मक अर्थात् परोक्षरूप से। लेखक स्वयं जहाँ पात्र का विश्लेषण करने लगता है वहाँ प्रत्यक्ष चरित्रचित्रण समझना चाहिए। जहाँ पात्रों के आपस के संलाप द्वारा चरित्र-चित्रण हो रहा हो या पात्र के स्वगत कथन द्वारा चरित्र-चित्रण हो रहा हो वहाँ अभिनयात्मक या परोक्ष चरित्रचित्रण समझना चाहिए।

उपन्यास और कहानी दोनों में ये प्रकार समान रुप से होते हैं। कहानी में निस्सदेह प्रत्यक्ष चरित्रचित्रण अर्थात् स्वयं लेखक द्वारा चरित्र विश्लेषण का कम अवकाश रहता है।

कथोपकथन :—कथोपकथन का तत्व उपन्यास और कहानी दोनों मे ही होता है जो कि उनमें नाटकीयता के आनन्द का विधायक होता है। यों उपन्यास या कहानी केवल वर्णनात्मक भी लिखे जा सकते हैं किन्तु उससे स्वाभाविकता तथा रोचकता कम हो जाती है। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि उपन्यास से अधिक कथोपकथन की आवश्यकता कहानी में है। कथोपकथन चरित्रचित्रण के लिए सबसे उत्तम मार्ग समझा जाता है। कहानी के कथो-

पकथन यदि सक्षिप्त, सशक्त और व्यंजनापूर्ण नहीं होंगे तो कहानी-लेखक अपनी कला में सफल नहीं होगा।

शैली :—जितने प्रकार से उपन्यास लिखा जाता है उतनी ही प्रकार से कहानियाँ लिखी जाती हैं। आत्मचरित प्रणाली द्वारा, अन्यचरित या ऐतिहासिक प्रणाली द्वारा तथा पात्रों के रूप में। कुछ कहानियाँ वातावरणप्रधान तथा काव्यमय होती हैं जैसे चंडीप्रसाद हृदयेश की कहानियाँ।

कहानी में चूंकि स्थान का अभाव रहता है अतः उसकी शैली अधिक संक्षिप्त, सशक्त तथा प्रभविष्णु होनी चाहिए।

इसमें संदेह नहीं कि उपन्यास तथा कहानी का रूपविधान लगभग एक से तत्वों से ही होता है किन्तु फिर भी वे आपस में पूरक नहीं हैं अपितु दो स्वतंत्र वस्तुएं हैं। किसी को कहानी पसंद होती है, किसी को उपन्यास।

प्रश्न २४—उपन्यास तथा कहानी में चरित्रचित्रण का क्या स्थान है ? स्पष्ट रूप मे लिखिए।

उत्तर २४—कहानी या उपन्यास में मानव जीवन के गंभीर अध्ययन की प्रवृत्ति होती है। मानव जीवन तथा इसकी प्रवृत्तियों को कहानी या उपन्यास के द्वारा जितने स्वाभाविक, रोचक एवं सुन्दर रूप में स्पष्ट किया जा सकता है उतना और किसी माध्यम से नहीं। मानव मन की गहराइयों में लेखक या कवि के अतिरिक्त और किसकी पैठ हो सकती है ? हमारे चेतन या अचेतन मन का कोई कोना कवि या लेखक की दृष्टि से छिपा नहीं रहता। लेखक वही है जो मानव मन तथा मस्तिष्क की गहराइयों में पैठकर उनका रहस्योद्घाटन कर सके। पंतजी ने लिखा है "कवि से रे किसका क्या दुराव"। उपन्यास या कहानी कथा-प्रधान होते हैं। वे मानव जीवन के सत्य, आदर्शों एवं उच्चाकांक्षाओं की अभिव्यक्ति कथा के आवरण में—सुन्दरम् के परिच्छद में—करते हैं। वे मिथ्या नहीं हैं; कारण प्रत्येक मनुष्य उनको पढ़कर आंदोलित हो उठता है। मानव-मानव के हृदय की एकरसता का यही सूक्ष्म किन्तु पुष्ट सूत्र है। उपन्यास की इसी विशेषता के कारण किसी विद्वान् ने कहा था—"उपन्यास और इतिहास में केवल इतना ही अंतर है कि उपन्यास में नाम तथा तिथि के अतिरिक्त सब सत्य होता है किन्तु इतिहास में केवल नाम एवं

तिथियाँ ही सत्य होती हैं।" इससे उपन्यास का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। कहानी के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात है। उपन्यास या कहानी में लेखक सत्य का अतीत रूप ही नहीं रखता, उसका संभाव्य रूप भी रखता है। उसके लिए इतिहासकार की भांति केवल जो हो चुका है वही सच नहीं है अपितु जो हो सकता है वह भी सच है। इसलिए उपन्यास और कहानियाँ यद्यपि कल्पना-प्रधान कृतियाँ हैं किन्तु मानव-जीवन का यथार्थ और भव्य चित्रण वे करती हैं।

जब तक हमारे यहाँ उपन्यास या कहानी साहित्य का समुचित विकास नहीं हुआ था तब तक उपन्यास या कहानी का अर्थ ऐसी 'गप्प' से लिया जाता था जो अपनी असम्भाव्यता में चमत्कारपूर्ण हो। सारांश यह कि उपन्यास और कहानी मानव जीवन से दूर की वस्तु समझे जाते थे क्योंकि यथार्थ रूप में मानवजीवन को चित्रित करने की उनकी प्रवृत्ति नहीं थी। किन्तु आज युग बदल गया है। उपन्यास और कहानी आज असंभाव्यता तथा अलौकिकता का आगार नहीं समझे जाते अपितु आज उनमें सजीव पात्र होते हैं जो जीवन की यथार्थ ऊष्मा का हमें दुःखद-सुखद अनुभव कराते हैं। चन्द्रकान्ता संतति की चन्द्रकान्ता, चपला और कुमार जैसे एक विचित्र सृष्टि हैं जिनका इस लोक से कोई सम्बन्ध नहीं। आश्चर्यपूर्ण, अस्वाभाविक कार्य ही उनके जीवन की दिनचर्या है। किन्तु आज प्रेमचद के गोबर, होरी, सूरदास आज वस्तुजगत् में जीवित व्यक्तियों के प्रतिनिधि बनकर आते हैं। इसका प्रधान कारण यही है कि आज कथा-साहित्य कथा-प्रधान न होकर चरित्रचित्रण-प्रधान हो रहा है। पात्रों की कल्पना कथा के सूत्र में पिरोने के लिए अब नहीं की जाती अपितु पात्रों के लिए घटनायें कल्पित की जाती हैं। वे अस्वाभाविक नहीं, अलौकिक नहीं अपितु ऐसी जो उनके जीवन के प्रत्येक अंग को यथार्थता एवं स्वाभाविकता के प्रकाश में यथावत् प्रकट कर दें। आज उपन्यास-कहानियों के पात्र लेखक के हाथ की कठपुतली नहीं होते। चरित्र-चित्रण प्रधान उपन्यास-कहानियों की यह सर्व महान् विशेषता है कि उनके पात्र सजीव होते हैं, उनका स्वतंत्र अस्तित्व होता है। कभी-कभी तो वे लेखक से वह लिखवा लेते हैं जो लेखक लिखना नहीं चाहता। उनके स्वतंत्र अस्तित्व

की घोषणा का यह स्पष्टतम निदर्शन है। थैकरे ने एक बार कहा था—"मैं अपने पात्रों को अपने अधिकार में नहीं रख सकता। मै तो उनके हाथों में हूँ और जहाँ वे चाहते हैं मुझे ले जाते हैं।" इससे स्पष्ट है कि आज के कथा-साहित्य का पात्र जीवन के कितने निकट है।

चरित्रचित्रण आज के उपन्यासो तथा कहानियों का प्राणतत्व कहा जा सकता है। आज चरित्रचित्रण प्रधान उपन्यास और कहानी सर्वाधिक लोकप्रिय प्रमाणित हो रहे हैं। लेकिन चरित्रचित्रण-प्रधान कथा-साहित्य का सृजन कठिन अवश्य है। कथा-प्रधान साहित्य में लेखक को स्वतंत्रता रहती है कि चाहे जिस पात्र का गला घोट दे, चाहे जिस मरे हुए व्यक्ति को पुनर्जीवित कर दे तथा किसी अबला की रक्षा के लिए तत्त्वण कोई अलौकिक विधान कर दे। किन्तु चरित्रचित्रण-प्रधान कथा-साहित्य में यह अस्वाभाविकता तो पास भी नहीं फटक पाती। क्योंकि आज पाठक प्रत्येक घटना पात्र के प्रत्येक कार्य को बुद्धि की तुला पर तोलता है; मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से उस पर विचार करता है कि जिन परिस्थितियों में लेखक ने अमुक पात्र के द्वारा अमुक कार्य कराया वह कहाँ तक स्वाभाविक है। अलौकिकता के प्रति जो विरक्ति पाठकों के हृदय में कविता के लिए आज है वह उपन्यास और कहानियों के लिए भी है।

चरित्रचित्रण-प्रधान कथा-सृजन में लेखक का सबसे बड़ा कर्तव्य है आत्मनिरीक्षण। उसे संसार की सम्पूर्ण घटनायें पहले दर्शक या साक्षी के रूप में देखनी होंगी फिर उन पर वह न्यायाधीश की भांति विचार भी करेगा। सूक्ष्म निरीक्षण के अभाव में चरित्रचित्रण सफल हो नहीं सकता। निरीक्षण इतना सत्य होना चाहिए कि पात्र सजीव-सा लगने लगे। प्रेमचंदजी के उपन्यास तथा कहानियों में यह बात बराबर मिलेगी। इक्के वाले पर, पण्डितजी पर, वकील साहब पर, मास्टर साहब पर कहानी लिखते समय प्रेमचन्द उसे इतना स्वाभाविक बना देते हैं, उनका सूक्ष्म निरीक्षण उस कहानी के पात्रों को इतना सजीव बना देता है कि पाठक कहने लगता है कि प्रेमचन्द ने अपने व्यक्तिगत जीवन में इक्का हाँका होगा, पण्डिताई की होगी, वकालत की होगी और अध्यापकी भी। यही लेखक की सर्वमहान् विशेषता है। फिर

मानव मनोविज्ञान का गंभीर ज्ञान भी चरित्रचित्रण-प्रधान कथा-साहित्य में नितात अपेक्षित है। उसके अभाव में तो चरित्र निर्जीव लगने लगेंगे। मनुष्य किन परिस्थितियों में क्या करने के लिये विवश हो जाता है ? कभी-कभी परिस्थितियाँ उससे ऐसे कार्य करा लेती हैं जिनसे उसे घृणा है। एक व्यक्ति चुराई हुई वस्तु वापस करना चाहता है पर समाज में हुई उसकी प्रतिक्रिया की कल्पना कर ऐसा कर नहीं पाता। इन सब बातों की मनोविज्ञानपूर्ण विवेचना आज बहुत आवश्यक है। चरित्रचित्रण से मनोविज्ञान का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि दोनों पृथक् नहीं किए जा सकते। सच तो यह है कि एक व्यक्ति का अपना मनोविज्ञान ही उसका चरित्र है। इलाचन्द्र जोशी आज मनोविज्ञान-प्रधान उपन्यास-कहानी लेखकों में अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। चरित्र-चित्रण-प्रधान कथासाहित्य मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि पर इतना यथार्थ और स्वाभाविक हो जाता है कि कभी-कभी तो पाठक सोचने लगता है कि नाम-परिवर्तन कर लेखक ने उसी का चित्रण कर दिया है। पेशे के विचार से, जाति के विचार से, परिस्थितियों के विचार से व्यक्तियों की विशिष्टता वस्तुजगत् में देखी जा सकती है। अध्यापकवर्ग में प्राय. अधिकांश आदतें सामान्य होती हैं इसी प्रकार अन्य वर्ग के लोगों में भी। अब यह सफल कहानीकार या उपन्यासकार का ही काम है कि सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक निरीक्षण की पृष्ठभूमि पर इन वर्गगत विशेषताओं को वह एक पात्र में सजीवता के साथ रख दे।

चरित्रचित्रण प्रधान रूप से दो प्रकार से होता है—पहला वह जहाँ लेखक दर्शक के रूप में तटस्थ होकर पात्रों का चरित्रचित्रण करता है। यहाँ वह विश्लेषण भी करता है और न्यायाधीश की भाँति निर्णय भी दे सकता है उदाहरण लीजिये :—

"सुमित्रा विधवा है। ऐसी विधवा जिसे अभी अपने वैधव्य का पूरा ज्ञान भी नहीं। उसकी उम्र अभी केवल १६-१७ वर्ष की है। पति की मृत्यु से उसने केवल यह अनुभव किया कि उसकी कोई ऐसी वस्तु खो गई है जिसे वह अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक प्यार करने लगी थी। क्यों प्यार करने लगी थी ? इसलिए कि वह भी सुमित्रा को हृदय से चाहते थे। बस अपने

वैधव्य के विषय में सुमित्रा को केवल इतना ही ज्ञात था। कोई बड़ी प्यारी वस्तु खो जाने से जिस प्रकार मनुष्य उदास रहता है, उसकी याद आने पर जिस प्रकार ठण्डी साँस भरकर रह जाता है और कभी अपनी इस उदासीनता से स्वयं ऊबकर उस वस्तु के भुलाने की चेष्टा करता है और इस भूलने की चेष्टा में सफल हो जाने पर भी जब उस वस्तु का स्मरण कराने वाली किसी अन्य चीज़ को देखता है तब उसके हृदय में एक धक्का लगता है, एक हूक उठती है और उसकी उदासीनता पुनः पूर्ववत् हो जाती है। यही दशा सुमित्रा की भी है।" (करुणा की मूर्ति—कौशिकजी)।

इस प्रकार के चित्रण में लेखक को पात्रों के हृदयगत भावों को स्पष्ट-रूप से प्रकट करने या विश्लेषण करने का पूर्ण अवकाश मिलता है।

दूसरे प्रकार के चरित्रचित्रण में पाठक चुप रहता है और पात्र पारस्परिक कथोपकथन के द्वारा एक दूसरे का चरित्रचित्रण करते हैं। उदाहरण लीजिये :—

"शीतला ने नागिनी की तरह बल खाकर कहा—मर्यादा इतनी प्यारी है ?

सारंधा—हाँ।

शीतला—अपना पति होता तो छाती में छिपा लेती।

सारंधा—ना, छाती में छुरी चुभा देती।

शीतला ने ऐंठकर कहा—झोली में छिपाती फिरोगी। मेरी बात गिरह में बाँध लो।

सारंधा-जिस दिन ऐसा होगा मैं अपना वचन पूरा कर दिखलाऊँगी।"

(रानी सारंधा—प्रेमचन्दजी)।

इस प्रकार के चरित्रचित्रण द्वारा पाठक यदि वह विद्वान् है तो कम कथा में अधिक समझ जाता है। और चरित्रचित्रण का यह प्रकार है भी अधिक सरस, स्वाभाविक तथा रोचक।

आज हिन्दी का ही नहीं, विश्व की सभी भाषाओं का कथासाहित्य

चरित्रचित्रण-प्रधान हो रहा है। इसमें संदेह नहीं कि इसके द्वारा पाठक पात्र को अपने समीप पाता है और जीवन भी यथार्थता के निकट से दर्शन कर पाता है। चरित्रचित्रण आज के कथा-साहित्य का सर्वप्रधान अंग है जिसके बिना कथा-साहित्य निष्प्राण, निर्जीव और प्रभावरहित हो जाय ।।

हिन्दी साहित्य का इतिहास

प्रश्न १—हिन्दी में समालोचना का इतिहास प्रस्तुत कीजिये और किसी एक सर्वश्रेष्ठ समालोचक की विशेषताओं का निर्देश भी कीजिये।

उत्तर १—साहित्य के और कितने ही अंगों की भांति समालोचना का सूत्रपात भी भारतेन्दु युग में ही हुआ। समालोचना का अर्थ है सद्-असद् का विवेचन। सामान्य जन-समाज भी किसी वस्तु के विषय में अपनी रुचि-अरुचि प्रकट करता है। प्राचीन काल में समालोचना आज जैसी नहीं मिलती। वह सूत्रबद्ध रूप में मिलती है। जैसे—

सूर सूर तुलसी शशी, उडुगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहं तहं करें प्रकास॥

इसमें सूर तुलसी और केशव के साथ-साथ अप्रत्यक्ष रूप से अन्य कवियों की आलोचना भी सम्मिलित है। इसी प्रकार

"और कवि गढ़िया नंददास जड़िया" में नन्ददास के कलापक्ष की प्रशंसा स्पष्ट रूप से व्यक्त है। तथा

"तुलसी गंग दुवौ भए सुकविनु के सरदार" भी तुलसी तथा गंग की कवित्व शक्ति की उचित आलोचना है। कहने का अभिप्राय यह है कि आलोचना-प्रवृत्ति मानव की अत्यन्त प्रमुख एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति है। कुछ वस्तुओं से मनुष्य घृणा करता है कुछ का वह प्रशंसक होता है। आलोचना की प्रवृत्ति का यही मूल है।

हिंदी में आधुनिक समालोचना के जन्मदाता पं० बालकृष्ण भट्ट तथा पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' माने जाते हैं। सर्वप्रथम पं० बालकृष्ण भट्ट ने लाला श्रीनिवास दास के "संयोगिता स्वयंवर" की सच्ची समालोचना की। इससे पूर्व आलोचना का अर्थ लिया जाता था केवल प्रशंसा। किन्तु पं० बालकृष्ण भट्ट ने उपयुक्त नाटक के दोषों पर भी प्रकाश डाला।

यों आलोचना का कार्य भारतेन्दु युग से ही प्रारम्भ हो गया था किन्तु

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उसे बहुत उत्कर्ष पर पहुंचा दिया। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी की आलोचनायें अधिकतर निर्णयात्मक होती थीं। महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के सम्पादक थे वे उसी में पुस्तकों की तथा हिंदी-संस्कृत कवियों की आलोचना किया करते थे। द्विवेदी जी द्वारा पुस्तक समालोचना (Book review) का आरम्भ हुआ जो अब तक प्रचलित है। आलोचना के इतिहास में महावीर प्रसाद द्विवेदी का नाम अविस्मरणीय रहेगा। शायद ही ऐसा कोई समर्थ समालोचक किसी साहित्य में हुआ होगा जो काव्य-धारा को अपने मनोवांछित रूप में परिवर्तित कर ले। महावीर प्रसाद द्विवेदी की आलोचना के भय से शृङ्गार सम्बन्धी काव्य का सृजन तो प्रायः बन्द ही हो गया। चाहे महावीर प्रसाद द्विवेदी से अधिक साहित्यिक मूल्य रखने वाली आलोचनाओं के लेखक हिंदी में हों परन्तु इसमें तो कोई संदेह नहीं कि पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी का जितना ऐतिहासिक महत्त्व है उतना अन्य किसी समालोचक का नहीं। हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ समालोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल भी उस काव्यधारा को नहीं रोक सके जिसके वे विरोधी थे। परन्तु द्विवेदी जी को यह गौरव प्राप्त है। इसके अतिरिक्त एक और महान् कार्य जो द्विवेदी जी ने किया वह है भाषा का परिष्कार। उनसे पहले भाषा बड़ी अव्यवस्थित थी और व्याकरण सम्मत नहीं होती थी। द्विवेदी जी की कटु आलोचना ने लेखकों को भाषा के प्रति सचेत किया और इस प्रकार भाषा का बड़ा उपकार हुआ।

इसके पश्चात् मिश्रबन्धु आलोचना क्षेत्र में आए और उन्होंने 'हिन्दी-नवरत्न' नामक एक बड़ा आलोचनात्मक ग्रंथ लिखा। इसमें उन्होंने कवियों का श्रेणी विभाजन किया और नौ कवियों को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया। उन नौ कवियों को भी उन्होंने उनके महत्त्व के अनुसार प्रथम-द्वितीय के क्रम में रखा। मिश्र बन्धुओं ने देव को बिहारी से श्रेष्ठ कवि घोषित किया। इस प्रकार की निर्णयात्मक आलोचना ने साहित्यिक विवाद को जन्म दिया। पं० पद्मसिंह शर्मा साहित्य क्षेत्र में आए और उन्होंने बिहारी पर एक आलोचनात्मक पुस्तक लिखी जिसमें उन्हें देव की तुलना में श्रेष्ठतर प्रमाणित किया गया था। हिंदी में तुलनात्मक आलोचना का आरम्भ भी यहीं से मानना चाहिए। पं० पद्मसिंह शर्मा ने विभिन्न भाषाओं के अनेक कवियों के उद्धरण देकर बिहारी से उनकी

तुलना कर यह प्रमाणित किया कि बिहारी उनमें सर्वश्रेष्ठ हैं। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी के साथ पर्याप्त पक्षपात किया है फिर भी उनकी आलोचना का साहित्यिक मूल्य है।

पं० पद्मसिंह शर्मा की पुस्तक के उत्तर स्वरूप पं० कृष्णविहारी मिश्र अपनी 'देव बिहारी' पुस्तक लेकर आलोचना क्षेत्र में आए। इस पुस्तक में लेखक ने अत्यन्त संयत तथा साहित्यिक भाषा में देव का पक्ष ही प्रतिपादित किया है। मिश्र जी के तर्क उचित तथा साहित्यिक हैं। पं० पद्मसिंह शर्मा की पुस्तक की भांति 'वाह वाह !', 'शाबाश' आदि की झड़ी इसमें नहीं है। मिश्र जी ने अपने तर्क का आधार साहित्यिक तत्वों को ही बनाया है। आलोचना की दृष्टि से देखा जाय तो पं० कृष्णबिहारी मिश्र की यह पुस्तक मिश्रबन्धुओं की पुस्तक से भी उच्च कोटि की ठहरती है।

तारतम्य यहीं समाप्त नहीं हुआ। लाला भगवानदीन ने इस पुस्तक के उत्तर में 'बिहारी देव' नामक आलोचनात्मक पुस्तक लिखी और उसमें उन्होंने बिहारी को महानतर कवि सिद्ध करने का प्रयास किया। ऐसी आलोचनाओं में पक्षपात तो रहता ही था यह तो निर्विवाद है, इसके अतिरिक्त अपनी विद्वत्ता-प्रदर्शन की भावना भी रहती थी। इस प्रकार की आलोचना के कोई निश्चित मान पहले से नहीं थे जिनके आधार पर इस प्रकार की आलोचना की जाती—केवल व्यक्तिगत रुचि के आधार पर कवियों को 'बड़ा-छोटा' बनाने का यह साहित्यिक झगड़ा था।

आलोचना अपने पूर्ण उत्कर्ष को पं० रामचन्द्र शुक्ल के हाथों पहुँची। शुक्ल जी ने तुलसी, सूर तथा जायसी पर विस्तृत समीक्षायें लिखीं। इससे पूर्व कवियों पर इतनी विस्तृत आलोचना नहीं की गई थी। अपनी आलोचना के बल पर ही पं० रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी जैसे अप्रसिद्ध कवि को प्रकाश में लाकर ऊपर कर दिया और तुलसी को न केवल हिन्दी का ही अपितु विश्व के सर्वश्रेष्ठ कवि के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय शुक्ल जी को ही है। शुक्ल जी आलोचना के क्षेत्र में कितनी ही नई बातें प्रकाश में लाए। शुक्ल जी ने अपनी व्यक्तिगत धारणाओं और मान्यताओं के माध्यम से साहित्य को देखा।

इसमें सन्देह नहीं कि शुक्ल जी हिंदी के सर्वमहान आलोचक हैं। अतः उनकी कुछ विशेषताओं को विस्तार में समझना असंगत न होगा।

१—शुक्ल जी लोकधर्म के सबसे बड़े समर्थक थे। रामचन्द्र जी द्वारा लोकधर्म की प्रतिष्ठापना तथा रक्षा हुई थी इसलिये शुक्ल जी रामचन्द्र जी के पूर्ण व्यक्तित्व को कवि कल्पना की चरमसीमा समझते हैं और चरम सार्थकता। शील, शक्ति, सौंदर्य समन्वित रूप ही उन्हें लोककल्याणकारी दिखाई देता है। शुक्ल जी के पूरे आलोचना साहित्य को दो तीन शब्दों में बांधा जा सकता है। लोकधर्म, शील, शक्ति, सौंदर्य, लोकसंग्रही तथा लोकसामान्य भावनायें। शुक्ल जी का पूरा आलोचना साहित्य इसी कसौटी पर कसा जा सकता है या कह सकते हैं कि उनके आलोचना साहित्य की यही कसौटी है।

२—शुक्ल जी ने अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं एवं धारणाओं के माध्यम से साहित्य को देखा और इसी के आधार पर साहित्यिक कृतियों का महत्व प्रतिपादित किया या कटु आलोचना की।

३. उन्होंने स्वयं साहित्यिक सिद्धांत स्थिर किए और व्यावहारिक आलोचनायें भी प्रस्तुत कीं। उदाहरणार्थ साधारणीकरण आदि के विषय में शुक्लजी का अपना मत था। उसी प्रकार रहस्यवाद के विषय में उनकी अपनी धारणा थी। उनका विश्वास था कि अज्ञात के प्रति उत्सुकता तो हो सकती है किन्तु प्रणय अनुभूति नहीं। जो प्रणय अनुभूति की बात कहते हैं वे ढोंग करते हैं। यही कारण है कि उन्होंने रहस्यवाद, छायावाद की कविता को अविश्वास की दृष्टि से देखा। उसमें लोक-सामान्य एवं लोकसंग्रही भावनाओं का अभाव पाया। अतः उसे निम्नस्तर की कविता घोषित करने में उन्हें देर नहीं लगी।

४. सर्वत्र ही शुक्लजी की आलोचना में बुद्धि और हृदय का समन्वय मिलेगा। इसलिए जहाँ उनकी आलोचना पर्याप्त सरस है वहाँ वह स्तुतिमात्र होने से भी बच गई है। शुक्लजी बुद्धि और हृदय का समन्वय साहित्य में सर्वत्र चाहते हैं। कारण हृदयपक्ष साहित्य को भाव देता है बुद्धिपक्ष उसे संयत रखता है। अपनी निबन्ध पुस्तक 'चिन्तामणि' की भूमिका में उन्होंने यह बात स्पष्ट कर दी है।

५. शुक्लजी की आलोचना की एक बड़ी विशेषता है उसका व्यवस्थित होना। वे आलोच्य वस्तु को भागों में बाँट लेते हैं और तब क्रमशः प्रत्येक भाग की विवेचना करते चलते है। विवेचन में इससे व्यवस्था तथा स्पष्टता आ जाती है। उदाहरण के लिये यदि शुक्लजी को किसी काव्यग्रन्थ की आलोचना करनी है तो वे उसे दो पक्षों में बाँट लेंगे। १. विभाव पक्ष २. भाव पक्ष। 'भ्रमरगीतसार'—के प्रारम्भ में दी गई विस्तृत आलोचना में उन्होंने विषय को दो भागों में बाँट लिया है १. कलापक्ष २. भावपक्ष। ऐसा करने से आलोचना व्यवस्थित और स्पष्ट रहती है। शुक्लजी का यह स्वभाव है कि वे पहले आलोच्य के विषय में सामान्य बातें कह लेते हैं तब विशिष्ट पर विचार करते हैं। ऐसा करने से विशिष्ट बात सरल तथा बोधगम्य बन जाती है। उदाहरणार्थ, उन्होंने 'पद्मावत' की भूमिका में प्रेम का विवेचन करते हुए पहले तो प्रेम-पद्धतियों का उल्लेख किया है फिर मसनवी शैली को स्पष्ट किया है। तत्पश्चात् उन्होंने नागमती या पद्मिनी के विशिष्ट प्रेम पर प्रकाश डाला है।

६. शुक्लजी जैसी पैनी दृष्टि (insight) बहुत कम आलोचकों को प्राप्त है। शुक्ल जी का जीवन का अपना मनन है अतः वे किसी भी विषय की तह में तुरंत पहुंच जाते हैं। किसी बात का विश्लेषण करते समय शुक्लजी उसके प्रत्येक अंग का विश्लेषण करते है और तब निष्कर्ष पर पहुंचते हैं।

७. अन्य शास्त्रों का विवेचन भी प्रसंग आने पर वे करते हैं। जैसे—दर्शन शास्त्र, मनोविज्ञान शास्त्र, संगीत शास्त्र आदि। हिंदी साहित्य के इतिहास में शुक्लजी ने दर्शन शास्त्र का बड़ा ही विस्तृत और सूक्ष्म विश्लेषण किया है। इससे शुक्लजी का अध्ययन और उनकी बहुज्ञता स्पष्ट हो जाती है।

८ शुक्लजी कभी भी कवि के माध्यम से कृति तक नहीं पहुँचते अपितु कृति के माध्यम से कवि तक पहुंचते हैं। फलस्वरूप शुक्लजी की आलोचना विश्लेषण-प्रधान होती है और उसमें गुणदोषों का निष्पक्ष रूप से विवेचन होता है। शुक्लजी किसी की स्तुतिभर करना आलोचक के कर्त्तव्य के बाहर की बात समझते हैं। यदि आलोचक हंस की भाँति नीर-क्षीर विवेक का परिचय नहीं दे पाया तो उसका आलोचक होना ही व्यर्थ है।

९. ऐतिहासिक आधार पर शुक्लजी की आलोचना होती है। वे दो भिन्न समय के भिन्न परिस्थिति के कवियों की तुलना के पक्ष में नहीं हैं। शुक्लजी सर्वत्र कृति की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि का ध्यान रखते हैं। इतना ही नहीं वे यह भी देखते हैं कि इन कृतियों क कर्ता एकसो परिस्थिति में रहते थे या नहीं, उनका स्वभाव कैसा था ? कारण स्वभाव का सम्बन्ध कृति से बड़ा घनिष्ठ रहता है।

१०. शुक्लजी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे गंभीर आलोचनाओं में भी हास्य या व्यंग्य की सामग्री ढूंढ लेते हैं । गायकों के आलाप पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डालते हुए वे कहते हैं—"जब वे अपना मुख वृत्ताकार फाड़कर आ-आ करके विकल होते हैं तो बड़े-बड़े आलसियों का भी धैर्य विचलित हो जाता है।" इसी प्रकार एक स्थान पर 'मतवालों' शब्द का शिलष्ट प्रयोग करके एक चमत्कार उत्पन्न कर दिया है।

कहने का अभिप्राय यह है कि एक आलोचक में जितने गुणों की अपेक्षा होती है वे सब शुक्लजी मे हैं। शुक्लजी की विषय मे पैठ और उसका विश्लेषण असाधारण होता है।

डा० श्यामसुन्दरदास का नाम भी आलोचना-क्षेत्र में शुक्लजी के साथ ही आता है। इन्होंने सैद्धान्तिक आलोचना की एक पुस्तक लक्षणग्रंथ के रूप में 'साहित्यालोचन' लिखी। इसके अतिरिक्त कबीर पर, सूर-तुलसी पर इन्होंने भी विस्तृत समीक्षायें लिखीं। डा० श्यामसुन्दर का कितनी ही बातों में आचार्य शुक्ल से मतभेद है, यथा साधारणीकरण के प्रश्न पर। डा० श्यामसुन्दरदास की विवेचन पद्धति सरल और स्पष्ट होती है। आचार्य शुक्ल तथा डा० श्यामसुन्दरदास दोनों ही आलोचना के भारतीय मानों के समर्थक हैं।

पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय ने भी कबीर के सम्बन्ध में एक विस्तृत आलोचनात्मक समीक्षा लिखी। इसके पश्चात् कई नवीन आलोचक इस क्षेत्र में आए और कई नवीन पुस्तकें भी लिखी गईं। मुख्य हैं :—

१—केशव की काव्यकला—ले० कृष्ण शंकर शुक्ल

२—गुप्त जी की कला—प्रो० सत्येन्द्र

३—प्रेमचन्द की उपन्यास-कला—पं० जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज'

४—प्रसाद की काव्यस-ाधना—श्री रामनाथ लाल सुमन, आदि।

अंग्रेजी साहित्य के गम्भीर अनुशीलन के कारण आज के अधिकांश समालोचक उससे प्रभावित हैं। आचार्य शुक्ल तथा डा० श्यामसुन्दरदास ने भी अंग्रेजी का अध्ययन किया और प्राचीन विषयों को नवीन ढग से रखा। 'छायावाद' युग के आने के साथ-साथ आलोचना साहित्य अबाध गति से बढ़ता चला जा रहा है। आज मुख्य रूप से तीन प्रकार के समालोचक हमें दिखाई देते हैं :—

१. प्राचीनतावादी अर्थात् वे आलोचक जो आलोचनों के प्राचीन भारतीय मानों में आस्था रखते हैं किन्तु कुछ आधुनिक तत्वों का समावेश भी वे कर लेते हैं। इनमें बाबू गुलाब राय एम ए०, रामदहिन मिश्र तथा विश्वनाथ प्रसाद आदि प्रमुख हैं।

बाबू गुलाब राय एम. ए. ने 'सिद्धान्त और अध्ययन', 'काव्य के रूप' आदि आलोचना शास्त्र की पुस्तकें लिखी हैं जैसे साहित्यालोचन। इसमें गुलाब राय जी ने आधुनिक और प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है।

पं० रामदहिन मिश्र ने लक्षण ग्रन्थ के रूप में 'काव्य दर्पण' की रचना की है। इसमें उन्होंने प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों का औचित्य प्रमाणित किया है। इस वर्ग के लोग आज के छायावादी साहित्य के घोर शत्रु रहे। ये उसे निराली अनुभूतियों से पूर्ण, जीवन से दूर, केवल काल्पनिक काव्य ही मानते हैं। छायावादी साहित्य की भाषा की लाक्षणिकता की प्रशंसा शुक्ल जी ने अवश्य मुक्तकंठ से की और उन्होंने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में पन्त, प्रसाद, निराला आदि पर विस्तार से लिखा।

२ दूसरी प्रकार के समालोचक वे हैं जो छायावाद के प्रशंसक और प्रबल समर्थक हैं। इनमें नन्द दुलारे वाजपेयी, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, शान्ति प्रिय द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, गंगाप्रसाद पाण्डेय तथा विश्वम्भर मानव प्रमुख हैं। प्रसिद्ध छायावादी कवि पन्त ने तो अपनी विभिन्न भूमिकाओं में आलोचनात्मक समीक्षा के द्वारा छायावाद का महत्व प्रतिपादित किया है। एक विचित्र बात यह रही कि इस युग के प्रधान कवि प्रसाद, पन्त, निराला,

महादेवी प्रमुख आलोचक भी रहे । इन सब ने छायावादी साहित्य का महत्त्व प्रतिपादित किया।

३ तीसरे प्रकार के आलोचक हैं मार्क्सवादी आलोचक जिनकी आलोचना का आधार मार्क्सवादी सिद्धान्त है और अर्थ मार्क्सवादी सिद्धान्त का मूल है। इस दिशा के प्रमुख आलोचक हैं—डा० रामविलास शर्मा, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवदानसिंह चौहान आदि। डा० रामविलास शर्मा ने निराला पर एक आलोचनात्मक पुस्तक लिखी। पुस्तक निराला जी के घनिष्ठ सम्पर्क में रहकर लिखी गई है। लेखक निराला जी के व्यक्तित्व से प्रभावित हैं अतः आलोचना का स्वर (Tone) प्रशंसात्मक है। इसके अतिरिक्त डा० शर्मा ने साहित्यिक वाद, समस्याओं आदि पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखे। पन्त जी की कड़ी आलोचना उन्होंने की।

आज आलोचना की धारा बहुमुखी हो रही है फिर भी इतना कहना ही होगा कि शुक्ल जी जैसे समर्थ आलोचकों का आज अभाव सा है। फिर भी आलोचना साहित्य प्रगति के पथ पर है। उसका भविष्य उज्ज्वल है और यही आशा है कि हिन्दी का आलोचना-साहित्य सम्पन्न होकर रहेगा।

प्रश्न २—हिंदी नाटक के विकास पर एक आलोचनात्मक प्रबंध लिखिए।

उत्तर २—हिंदी में नाटकों का इतिहास बहुत प्राचीन नहीं है। नाटकों का वास्तविक आरम्भ हिंदी में भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र से ही समझना चाहिए। यों तो भारतेन्दु से पूर्व भी कुछ नाटक मिलते हैं पर उनमें नाटकत्व का अभाव है। भारतेंदु बाबू से पूर्व ब्रज भाषा में लिखा गया महाराज विश्वनाथ सिंह का 'आनंद रघुनंदन' नाटक विशेष उल्लेखनीय है। भारतेंदु बाबू इसी नाटक को हिंदी का सर्वप्रथम नाटक मानते हैं। इसके अतिरिक्त भारतेंदु बाबू के पिता श्री गिरधर दास (बाबू गोपाल चन्द्र जी) ने भी नहुष नाटक ब्रज भाषा में लिखा जो मौलिक कहा जाता है तथा जिसमें नाटकीय नियमों का उचित पालन हुआ है। इसके पश्चात् राजा लक्ष्मणसिंह जी का नाम आता है। उन्होंने 'शकुन्तला नाटक' का संस्कृत से अनुवाद किया। राजा लक्ष्मण सिंह ने इसे खड़ी बोली गद्य में लिखा था जो संस्कृत गर्भित थी तथा जिसमें उर्दू-फारसी

शब्दों का अभाव था। इस नाटक में कालीदास के भावों की पूर्ण रक्षा की गई है। सारांश यह कि अनुवाद के रूप में यह नाटक बहुत सफल रहा। भारतेंदु बाबू से पूर्व लिखे गए नाटक प्रायः अनुवाद थे तथा व्रज भाषा पद्य में लिखे गये थे।

भारतेंदु बाबू के समय तक भारतवर्ष में अंग्रेज़ी नाटकों का प्रभाव पड़ने लगा था और बंगाली भाषा में अंग्रेज़ी से प्रभावित नाटक लिखे जाने लगे थे। भारतेंदु बाबू ने बंगाली नाटकों का अध्ययन किया तथा उनसे प्रभावित भी हुए। भारतेंदु बाबू ने 'विद्या सुन्दर' नामक बंगाली नाटक का हिंदी में अनुवाद भी किया। भारतेंदु जी ने अनुवादित तथा मौलिक कितने ही नाटक लिखे। भारतेंदु जी ने अपने नाटकों में प्रस्तावना आदि प्राचीन चीज़ें तो रखी थीं परन्तु कथावस्तु के सन्धि आदि अंगों पर उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया। भारतेंदु बाबू के कितने ही नाटकों में भरत-वाक्य भी मिलेगा। जैसे हरिश्चन्द्र में :

खलगन सों सज्जन दुखी मत होंइ, हरिपद रत रहैं,
उपधर्म छूटै, सत्व निज भारत गहै, कर दुख बहै।
बुध तजहिं मत्सर नारी नर सम होंइ सब जग सुख लहैं,
तजि ग्राम कविता सु कवि जन की अमृत वानी सब कहैं॥

भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र ने मौलिक और अनुवादित कितने ही नाटक लिखे। (१) विद्यासुन्दर (२) रत्नावली (३) पाखण्ड विडम्बन (४) वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (५) धनंजय विजय (६) प्रेम योगिनी (७) सत्य हरिश्चन्द्र (८) मुद्रा राक्षस (९) कर्पूर मंजरी (१०) विषस्यविषमौषधम् (११) चन्द्रावली (१२) भारत दुर्दशा (१३) भारत जननी (१४) नीलदेवी (१५) अंधेर नगरी (१६) सती प्रताप।

भारतेंदु बाबू ने अपने नाटकों में समाज का सच्चा चित्र खींचा है यद्यपि वे आदर्शवादी दृष्टिकोण के थे। देश प्रेम की भावना भी उनके कुछ नाटकों से स्पष्ट है "आवहु सब मिलकर रोवहु भाई, हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।" तथा "पै धन विदेश चलि जात यही दुख भारी।" आदि से उनकी देश प्रेम की भावनायें अभिव्यंजित हैं। भारतेंदु जी हिंदी के सजग प्रहरी थे। वे स्वयं ही नहीं अपितु अपने मित्रों से भी लिखवाते थे। भारतेंदु जी के

मित्रों में श्रीनिवासदास का नाम आता है जिन्होंने कई नाटक लिखे 'तपतीसंवरण', प्रह्लाद चरित, संयोगिता स्वयंवर और रणधीर प्रेम मोहिनी आदि । 'रणधीर प्रेम मोहिनी' श्रीनिवासदास जी का दुःखांत नाटक था और भारतीय सिद्धान्त के अनुसार प्रस्तावना भी उसमे नहीं थी । स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग से ही प्राचीन नियमों का पालन करने में शिथिलता आ गई थी ।

इनके पश्चात् बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन का नाम आता है । इन्होंने 'भारत सौभाग्य' नामक नाटक लिखा । कला की कसौटी पर कसने से वह अधिक उच्च कोटि का नहीं ठहरता । तोताराम जी ने 'केटो कृतान्त' लिखा तथा पं० गदाधर भट्ट ने 'रेल का विकट खेल', 'बाल विवाह' तथा 'चन्द्रसेन' नामक नाटक लिखे । इस प्रकार सामाजिक नाटक लिखने का भी प्रचलन धीरे-धीरे हो रहा था ।

प्रताप नारायण मिश्र भारतेन्दु को छोड़ कर अपने साथियों में अधिक प्रतिभाशाली नाटक लेखक थे । उन्होंने कितने ही प्रहसन लिखे जो बड़े लोकप्रिय हुए । इन्होंने चार नाटक भी लिखे—'गोसंकट नाटक', 'कलिप्रभाव', 'जुआरी खुआरी', 'हठी हमीर' ।

राधाकृष्णदास जी भारतेन्दु जी के फुफेरे भाई भी इस युग के प्रख्यात नाटक लेखक समझे जाते हैं । उन्होंने कई नाटक लिखे—दुःखिनी बाला—यह सामाजिक नाटक है । इसमें प्रचलित वैवाहिक कुप्रथाओं का दुष्परिणाम दिखाया गया है । महारानी पद्मावती तथा महाराणा प्रताप—ये ऐतिहासिक नाटक हैं । 'महाराणा प्रताप' इनका बहुत प्रसिद्ध नाटक है और कितनी ही बार सफलतापूर्वक अभिनीत किया जा चुका है । इस नाटक में महाराणा प्रताप की आधिकारिक कथावस्तु के साथ-साथ एक प्रासंगिक कथावस्तु गुलाब और मालती की चलती है जिससे नाटक की रोचकता बढ़ गई है ।

श्री केशवराम भट्ट ने 'सज्जाद संबुल' और 'शमशाद सौसन' नामक दो नाटक लिखे । पात्र मुसलमान होने से उर्दू-फारसी शब्दों का आधिक्य हो गया है ।

इसके पश्चात् नाटकों मे भी अनुवाद का युग आता है । इस समय

में अनेक दूसरी भाषाओं से नाटकों के अनुवाद हिंदी में हुए । द्विजेन्द्र लाल राय बंगाली भाषा के सर्वमहान् नाटककार समझे जाते हैं। उनके लगभग सभी नाटकों का अनुवाद हिन्दी में हुआ। इनमें 'शाहजहाँ' तथा 'मेवाड़ पतन' मुख्य हैं। राय महोदय के नाटक कथाप्रधान होते थे तथा उनमे घटना-बाहुल्य रहता था। रवीन्द्र नाथ ठाकुर के नाटकों का भी हिदी में अनुवाद हुआ। रवीन्द्र बाबू के नाटक अपेक्षाकृत भावपूर्ण तथा भावावेश युक्त होते थे अतः प्रायः वे रूपक प्रतीत होते थे । अंग्रेज़ी से शेक्सपीयर के नाटकों का भी अनुवाद हुआ तथा फ्रेंच आदि भाषाओं से भी नाटकों का हिदी में अनुवाद हुआ।

इसके अतिरिक्त कुछ और मौलिक नाटक भी लिखे गये। प्रधान नाटक हैं—मिश्र बन्धुओं का 'नेत्रोन्मीलन', प० बद्रीनाथ भट्ट के 'दुर्गावती','चन्द्रगुप्त' तथा 'वेन चरित्र' आदि नाटक। भट्ट जी ने एक प्रहसन भी लिखा 'चुंगी की उम्मेदवारी'। राय देवीप्रसाद पूर्ण ने 'चन्द्रकला भानुकुमार' नामक नाटक लिखा और बाबू मैथिली शरण गुप्त ने 'चन्द्रहास' नामक नाटक लिखा। पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने 'मधुर मिलन' नामक सामाजिक नाटक लिखा जो सफलता-पूर्वक अभिनीत भी किया गया । इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी लेखक थे जो पारसी नाटक कम्पनियों के लिए नाटक लिखते थे। नारायण प्रसाद बेताब, पं० राधेश्याम कथावाचक, प० हरिकृष्ण जौहर तथा आगा हश्र इनमे प्रधान हैं । भाषा में उर्दू का मिश्रण तथा तुकवदी का प्राधान्य ऐसे नाटकों में स्वाभाविक था। राधेश्याम कथावाचक ने रंगमंच की दृष्टि से बहुत से नाटक लिखे और उन्हें इसमें सर्वाधिक सफलता मिली। उनका 'अभिमन्यु' अत्यधिक लोकप्रिय नाटकों में से एक है। रुचि को देखते हुए ऐसे सभी नाटकों में आधि-कारिक कथावस्तु के अतिरिक्त एक प्रासगिक कथावस्तु और रख दी जाती थी। इसमें तो संदेह नहीं कि इन पारसी नाटक कम्पनियों के लिए लिखे गए नाटकों का साहित्यिक मूल्य तो कुछ नहीं है फिर भी उनमें से अधिकांश लोकप्रिय हैं।

संस्कृत नाटकों का इसी समय पर्याप्त अनुवाद हुआ। इस दिशा में राय बहादुर लाला सीताराम जी ने सबसे अधिक कार्य किया । कविरत्न सत्य नारायण ने भी भवभूति के दो नाटकों—'उत्तररामचरित' और 'मालती माधव'

का हिंदी में अनुवाद किया। । कविरत्न जी के ये दोनों नाटक बहुत लोकप्रिय रहे । अनुवाद में लेखक को बहुत सफलता मिली है ।

इसके पश्चात् नाटकों में प्रसाद युग का प्रारम्भ होता है । जयशंकर प्रसाद ने नाटक क्षेत्र में प्रवेश किया और उसे उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुंचा दिया । प्रसादजी हिन्दी के द्विजेन्द्र लाल राय कहे जाते हैं । वे भारतेंदु के पश्चात् महानतम नाटककार हैं। प्रसाद जी जिस युग में हुए थे उसमें पर्याप्त अच्छे नाटक लिखे जा रहे थे। प्रसाद जी ने अपने पूर्व के नाटकों को देखते हुए अपने मौलिक नाटकों का सृजन किया। हिन्दी में उन्होंने सर्वश्रेष्ठ नाटककार का स्थान प्राप्त किया।

प्रसाद जी के नाटकों को पढ़ने के पश्चात् यह कहना कठिन है कि प्रसाद जी नाटककार पहले थे या कवि । प्रसाद जी ने अधिकांश नाटक ऐतिहासिक लिखे । प्रसाद जी की यह सर्व महान विशेषता है कि उन्होंने वर्तमान समस्याओं का हल भी अतीत में ढूंढा । प्रसाद जी इस गुरुतर कार्य को इसलिए सफलतापूर्वक पूर्ण कर सके कि उन्हें इतिहास का गम्भीर ज्ञान था । प्रसाद जी के इतिहास-ज्ञान का अनुमान उनके नाटकों से लगाया जा सकता है । ऐतिहासिक नाटक लिखने का कार्य इसलिये कठिनतम है कि तत्कालीन वातावरण को आज के युग में प्रस्तुत करना पड़ता है जो सरल नहीं है । इसके लिये इतिहास एवं तत्कालीन परिस्थितियों के गम्भीर ज्ञान की आवश्यकता है । प्रसाद जी अपने प्रत्येक ऐतिहासिक नाटकद्वारा तत्कालीन वातावरण को अपने नाटक में मूर्तरूप दे देते हैं । संक्षेप में प्रसाद के नाटकों के मुंह से स्वयं अतीत बोलने लगता है । प्रसाद जी ने एक-दो नहीं, लगभग, १२ नाटक लिखे । कालक्रमानुसार उनके नाम इस प्रकार हैं :—

१. सज्जन २. कल्याणी परिणय ३. करुणालय ४. प्रायश्चित्त ५. राज्यश्री ६. विशाख ७. अजातशत्रु ८. कामना ९. जनमेजय का नागयज्ञ १०. स्कन्दगुप्त ११. एक घूँट १२. चन्द्रगुप्त १३. ध्रुवस्वामिनी

प्रसाद जी के नाटकों को पढ़ने से विदित होता है कि प्रसाद जी को बौद्धकाल का सबसे अधिक गम्भीर ज्ञान है । बौद्धकालीन वातावरण को प्रसाद जी ही हिन्दी में प्रस्तुत कर सकते थे । ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध

के चरित्र ने प्रसाद जी को अत्यधिक प्रभावित किया था और बौद्ध सिद्धान्तों के प्रति प्रसाद जी को विशेष आस्था थी। बुद्ध की करुणा प्रसाद जी के काव्य की आधारशिला रही यह कहना अनुचित न होगा। प्रसाद जी के हृदय में अपने अतीत के प्रति मोह था। वे ऐतिहासिक नाटक ही लिखना क्यों पसन्द करते थे इसे उन्होंने स्वयं स्पष्ट किया है :—

"इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिये अत्यन्त लाभदायक होता है।............क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिये हमारी जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है उससे बढ़कर और कोई आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें मुझे पूर्ण सन्देह है।............मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने कि हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।"

प्रसाद जी ने महाभारत काल से लेकर हर्ष वर्धन तक के इतिहास को अपने नाटकों में बांध लिया और इसमे सन्देह नहीं कि आज का दरिद्र भारत अपने उस स्वर्ण युग से क्या नहीं सीख सकता ? प्रसाद को एक बड़ी कठिनाई यह भी थी कि वे इतिहास-प्रसिद्ध पात्रों की चारित्रिक विशिष्टताओं को बदल नहीं सकते थे। प्रसाद जी ने अधिक से अधिक उनके मूल-चरित्र की रक्षा करते हुए अपनी कल्पना का उचित रंग उनमें दिया है। कल्पना का प्रयोग प्रसादजी ने दो रूप में किया है—एक तो इतस्ततः बिखरे ऐतिहासिक वृत्तों को एक सूत्र में पिरोने में तथा कुछ अनैतिहासिक (काल्पनिक) पात्रों को जन्म देने में। प्रसाद जी ने जहाँ उचित समझा है अपनी कल्पना के द्वारा चरित्रों को चमकाने का काम लिया है। उनकी कल्पना ऐतिहासिक तथ्यों में कभी बाधक नहीं हुई। कितनी ही प्रासंगिक कथायें उनके नाटकों में आई हैं जो विशुद्ध कल्पनाप्रसूत हैं परन्तु प्रसाद जी उन्हें आधिकारिक कथावस्तु के स्पष्ट करने लिए लाये हैं। प्रसाद जी ने नाटकों के पुराने बन्धनों को नहीं माना है। प्रस्तावना, भरतवाक्य आदि उनके नाटकों में नहीं मिलेंगे। जहाँ प्रसाद जी ने कथावस्तु के नियन्त्रणकर्ता भारतीय तत्वों का विस्मरण नहीं किया है वहाँ कथा व्यवस्थित रही है। जैसे चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त तथा ध्रुव स्वामिनी में।

प्रसाद जी के सम्पूर्ण नाटकों में कथासूत्र स्त्रीपात्रों के हाथ में रहता है तथा पुरुषपात्र उनके हाथ के क्रीड़ाकन्दुक रहते हैं। प्रतीत होता है कि यह प्रसाद जी के हृदय में नारी का ऊंचा स्थान होने के कारण ही है। सामाजिक समस्यायें भी प्रसाद जी ने यत्र-तत्र रख दी हैं। जैसे अजात शत्रु में स्त्री-पुरुष अधिकार मीमांसा और उस पर अपना निर्णय भी वह दीर्घकारायण के मुख से रख देते हैं। वे स्त्री-महत्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं :—

"स्त्रियों के सगठन में, उनके शारीरिक और प्राकृतिक विकास में ही एक परिवर्तन होता है जो स्पष्ट बताता है कि वे शासन कर सकती हैं किन्तु अपने हृदय पर। वे अधिकार जमा सकती हैं उन मनुष्यों पर जिन्होंने समस्त विश्व पर अधिकार किया है।"

इसके अतिरिक्त बौद्ध-ब्राह्मणों के झगड़े में वे हिन्दू मुसलमान संघर्ष का रूपक रख देते हैं और बताते हैं कि "विदेशी ब्राह्मण और बौद्ध का विचार नहीं करेंगे।" इसके अतिरिक्त और भी कितनी समस्याओं का समाधान उन्होंने अपने नाटकों में किया है। प्रसाद जी ने पौर्वात्य एवं पाश्चात्य नाटक-कला का अद्भुत सम्मिश्रण कर दिया है।

प्रसाद जी में कुछ खटकने वाली बात भी हैं। उनकी भाषा इतनी साहित्यिक, काव्यमय, क्लिष्ट एवं अव्यावहारिक है कि उनका कोई भी नाटक अपने मूल रूप में अभिनीत नहीं है। प्रसाद जी की दार्शनिकता उसे और भी क्लिष्ट बना देती है। प्रसाद जी ने एक नए प्रकार के नाटकों का सृजन किया जो अपने विचित्र अंत के कारण न तो दुःखांत, न सुखान्त अपितु प्रसादान्त कहलाते हैं। इसमें फिर भी सदेह नहीं कि प्रसाद हिन्दी के अमर कलाकार और सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं।

सभ्यता के साथ-साथ जीवन की संकुलता बढ़ती गई और अनेकानेक समस्यायें आती गईं। इन समस्याओं को नवीन लेखकों ने नाटकों में व्यक्त किया। आधुनिक नाटककारों पर इब्सन तथा जार्ज बरनार्ड शा का प्रभाव अधिक है। आज के प्रमुख नाटक लेखक हैं :—

माखनलाल चतुर्वेदी, गोविन्द वल्लभ पन्त, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अश्क, पं० उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र,

हरिकृष्ण प्रेमी, चतुरसेन शास्त्री, जी० पी० श्रीवास्तव, रामवृक्ष बेनीपुरी, रागेयराघव, वृन्दावन लाल वर्मा आदि। ये लेखक विभिन्न प्रकार के कथानक लेकर नाटक रचना में तल्लीन हैं। सेठ गोविन्ददास, मिश्र जी, अश्क जी, आदि सामाजिक नाटककार हैं। प्रेमी तथा भट्ट में से एक ने तो मुगल काल और दूसरे ने पौराणिक काल ले लिया है। अभी अचानक वृन्दावन लाल वर्मा ने कितने ही नाटकों की रचना कर डाली है जिसमे सामाजिक, ऐतिहासिक सभी तरह के नाटक हैं।

समयाभाव के कारण तथा 'रंग-मंच के अभाव के कारण अंग्रेजी के 'One act play' के आधार पर एकांकी नाटकों का उद्यम भी हिन्दी में हुआ है। इसके प्रधान लेखक हैं—रामकुमार वर्मा, विष्णुप्रभाकर, अश्क जी, उदयशंकर भट्ट, भुवनेश्वर प्रसाद, जगदीशचन्द्र माथुर, रावी जी, सत्येन्द्र शरद्, सुदर्शन, यशपाल आदि। इन लेखकों ने जीवन में कुछ क्षणों की भावनाओं को इन नाटकों में बाँधने का प्रयत्न किया है। सामाजिक समस्याओं पर यथार्थवादी दृष्टिकोण इन नाटकों में मिलता है। रावी जी आजकल कहानी और नाटकों के बीच का प्रयोग अपने एकांकियों में कर रहे हैं। हिन्दी के नाट्य-साहित्य का भविष्य उज्ज्वल है इसमें सन्देह नहीं।

प्रश्न ३—कहानी के इतिहास तथा उनके क्रमिक विकास पर प्रकाश डालिये ?

उत्तर ३—मनुष्य की कहानी सुनने की प्रवृत्ति अनादि काल से रही होगी। कहानी साहित्य अपने प्राचीनतम रूप में बौद्धकालीन जातक-कथाओं में मिलता है। वे ही कहानियाँ दूसरे रूप में पचतंत्र तथा हितोपदेश में मिलती हैं। इनमें कहानियों का उद्देश्य उपदेश देना प्रतीत होता है। यों और भी ध्यान दिया जाय तो वेदों मे भी कुछ कहानियाँ मिल जाती हैं। परन्तु हिन्दी में जिन कहानियों से हमारा अभिप्राय है वे तो आकार-प्रकार में प्राचीन कहानियों से बिलकुल भिन्न हैं। प्राचीन कहानियाँ कथाप्रधान होती थीं किन्तु आज की कहानियाँ या तो चरित्रचित्रण-प्रधान होती हैं या समस्या-मूलक। आज की छोटी-छोटी कहानियों ने मानव जीवन के प्रत्येक अंग पर बहुत अच्छा प्रकाश डालना आरंभ किया है।

हिन्दी में कहानियों का आरम्भ किससे माना जाय ? यह एक विवाद-पूर्ण विषय है। इंशा अल्ला ने सर्वप्रथम रानी केतकी की कहानी लिखी थी। कहानी शब्द से यह आभास मिलता है कि अर्थ में भी सम्भवतः वह कहानी हो परन्तु बात ऐसी नहीं है। इंशा की रानी केतकी की कहानी तथा राजा शिवप्रसाद का राजा भोज का सपना तथा वीरसिंह वृत्तांत आजकी कहानी की परिभाषा के अनुसार ठीक नहीं बैठ सकते। उनमें कथोपकथन का नितांत अभाव है तथा चरित्रचित्रण की पद्धति के स्थान पर कथा कहने मात्र की प्रवृत्ति है।

अंग्रेजी में छोटी-छोटी कहानियां लिखी जाती थीं। बंगला भाषा में उनसे प्रभावित होकर 'गल्प' का प्रचलन हुआ और इन्हीं गल्पों से प्रभावित होकर हिंदी में छोटी कहानी का आरंभ हुआ। हिंदी साहित्य में आधुनिक छोटी कहानियों का वास्तविक आरंभ 'सरस्वती' तथा 'इंदु' नामक पत्रिकाओं के प्रकाशन के समय से मानना चाहिए। सरस्वती के प्रथम वर्ष (सं० १९५७) में ही पं० किशोरीलाल गोस्वामी की एक मौलिक कहानी 'इंदुमती' प्रकाशित हुई। फिर तो कहानियाँ निरन्तर प्रकाशित होने लगीं, कुछ मौलिक कुछ बंगला से अनूदित। अनुवादकों में प्रमुख थे गिरजा कुमार घोष नामक सज्जन जो कहानियों मे अपना नाम पार्वतीनंदन रखते थे। उन्होंने अनुवाद के अतिरिक्त मौलिक कहानियाँ भी लिखीं। कुछ विद्वान् इन्हें ही प्रथम हिंदी कहानी लेखक होने का गौरव देते हैं। इसी काल में 'बंगमहिला' नामक एक स्त्री कहानी लेखिका का नाम आता है। उन्होंने कितनी ही कहानियों का बंगला से अनुवाद किया और कई मौलिक कहानियाँ भी लिखीं। इनकी 'दुलाई वाली' कहानी बहुत प्रसिद्ध है। पं रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि 'इंदुमती' यदि किसी बंगला कहानी की छाया नहीं है तो हिंदी की यह पहली मौलिक कहानी ठहरती है। इसके पश्चात् 'ग्यारह वर्ष का समय' (ले० राम-चन्द्र शुक्ल) तथा दुलाई वाली का नम्बर आता है।

कहानी का आरंभ तो हो चुका था परन्तु कोई प्रतिभाशाली व्यक्ति इस क्षेत्र में अभी नहीं आया था। प्रसादजी के आगमन से यह कमी भी पूरी हो गई और जयशंकर 'प्रसाद' के हाथों कहानी-कला परम उत्कर्ष को पहुंच गई।

सं० १९३८ में उनकी 'ग्राम' नामक कहानी उन्हीं के पत्र इंदु में निकली और फिर तो उनकी कितनी ही कहानियाँ निकलीं—'आकाशदीप', 'बिसाती', 'प्रतिध्वनि', 'स्वर्ग के खंडहर', 'चित्रमदिर' इत्यादि। 'प्रसाद' जी की सबसे बड़ी विशेषता है कि उनकी कहानियों की प्रकृति पार्श्वभूमि है और मानव-हृदय के द्वन्द्व को उनकी कहानियाँ सफलतापूर्वक चित्रित कर सकी हैं। आकाशदीप कहानी में उन्होंने इसी मानसिक-द्वंद्व को मूर्त रूप दिया है कि किस प्रकार एक रमणी एक व्यक्ति को प्रेम भी करती है और घृणा भी। प्रेम इसलिये कि वह व्यक्ति युवक है, सुन्दर है, प्रेमपूर्ण है और घृणा इसलिये कि वह उसके पिता का हत्यारा है। ये दोनों विरोधी भावनायें मानव के अंतस्तल मे किस प्रकार द्वंद्व मचाया करती हैं इसका बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन उन्होंने दिया है। कहानी, यदि उसका गठन ठीक नहीं तो प्रभावशाली नहीं हो सकती। प्रसाद जी की कहानियों की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि उनका गठन निर्दोष होता है, आरम्भ कौतूहलपूर्ण तथा समाप्ति विस्मयजनक। कौतूहल का तत्व प्रसाद जी की कहानियों में आद्यत तक व्याप्त रहता है। प्रसादजी ने चरित्रचित्रण-प्रधान कहानियाँ भी लिखी हैं जिनमें उन्हे बड़ी सफलता मिली है। परन्तु फिर भी प्रसादजी द्वंद्व-प्रधान कहानियो के लिये प्रसिद्ध हैं। उनकी यह विशेषता उनके नाटकों में भी मिलेगी। प्रकृति से प्रसाद जी जीवन को इतना सम्बद्ध करके देखते हैं कि वह प्रकृति से पृथक् हो ही नहीं सकता।

प्रसिद्ध हास्यरस के लेखक श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने भी इसी समय लिखना आरम्भ किया। उनकी पहली कहानी इंदु में सं० १९६८ मे निकली थी। इसमें संदेह नहीं कि श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने सफल हास्यरस की कृतियों का प्रणयन कर हिंदी साहित्य के एक अभाव की पूर्ति की। हिंदी साहित्य में हम आज भी नहीं कह सकते कि हमारे यहाँ हास्य-सम्बन्धी साहित्य पर्याप्त है। हास्य कई प्रकार से उत्पन्न किया जाता है। विरोध तो उसके मूल में रहता ही है। इसके अतिरिक्त स्वयं मूर्ख बनकर भी हास्य उत्पन्न किया जाता है तथा अगसंचालन, मुखविकृति तथा परिस्थितियों द्वारा भी हास्य पैदा किया जाता है। परिस्थितिजन्य हास्य उच्चकोटि का नहीं माना जाता। श्री जी० पी० श्रीवास्तव का हास्य अधिकांश परिस्थितिजन्य हास्य ही है।

किन्तु फिर भी समय को देखते हुए उनका प्रयास स्तुत्य था और सफलता आश्चर्यजनक ।

विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक ने इसी समय के आसपास हिंदी साहित्य में प्रवेश किया । कहना न होगा कि कौशिक जी का अपने से पूर्व के कहानी लेखकों में तथा अपने समसामयिक लेखकों मे विशिष्ट स्थान था। अभी तक किसी कहानी लेखक ने पारिवारिक समस्याओं को कहानी में उचित महत्व नहीं दिया था। कौशिक जी ने इस आवश्यकता को अनुभव किया और पारिवारिक समस्याओं के चित्रण को ही अपनी कहानियों का प्रमुख विषय बनाया और उसके चित्रण में आशातीत सफलता प्राप्त की । कौशिकजी की 'ताई' कहानी उनकी प्रतिनिधि कहानी है। उसमें उन्होंने दिखाया है कि रामजीलाल अपने भतीजे को बहुत प्यार करते हैं उनकी पत्नी रामेश्वरी इस बात से ईर्ष्या करती है। कारण, वह पुत्रहीना है। बच्चा एक बार जब पतंग लूटने के लिए दौड़ रहा था उसका पैर मुण्डेर पर से फिसल गया,पर मुंडेर उसके हाथ में आ गई। उसके ताई-ताई पुकारने पर भी निष्ठुरहृदया ताई ने उसकी रक्षा नहीं की और उसे गिर जाने दिया। अंत में 'ताई' के हृदय ने ही उसे बहुत धिक्कारा और फिर वह उस बच्चे को पुत्रवत् स्नेह करने लगी । हृदय-परिवर्तन के तथ्य पर व्यापक रूप से उस युग में विश्वास किया गया। अतः इस समय का कहानी साहित्य आदर्शोन्मुख है। कौशिक जी की एक सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि वे जिस समय के लेखक थे उसे देखते हुए वे हमेशा समय के साथ रहे। संक्षेप मे कौशिक जी एक रूढ़िवादी तथा प्रतिक्रियावादी लेखक नहीं थे। युग की पुकार को उन्होंने सजग होकर सुना और उसे जागरूक होकर व्यक्त किया।

उसी समय एक और बहुत सुन्दर एवं मौलिक कहानी प्रकाशित हुई— 'कानों में कंगना'। इसके लेखक थे राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह जी। इसी समय कुछ और सिद्धहस्त लेखक इस क्षेत्र मे आए। ज्वालादत्त शर्मा तथा चतुरसेन शास्त्री उनमें प्रमुख हैं।

हिंदी कहानी साहित्य के इतिहास में एक व्यक्ति का नाम सदा स्मरणीय रहेगा। केवल एक कहानी 'उसने कहा था' लिखकर चन्द्रधर शर्मा

गुलेरी अमर होगए। 'उसने कहा था' आधुनिक कहानी कला की कसौटी पर बिलकुल खरी उतरती है। 'उसने कहा था' से पूर्व लिखी गई कहानियों में तो वह निश्चितरूप से सर्वश्रेष्ठ थी ही किन्तु आज भी उससे प्रतिद्वंद्विता करने योग्य बहुत कहानियाँ हिंदी में नहीं है। इस कहानी में कौतूहल, सुन्दर चरित्र-चित्रण, सुन्दर वातावरण, सब कुछ मिल जायेंगे। सबसे अधिक आकर्षक है कहानी का शीर्षक। अबतक कहानी के शीर्षक प्रायः पात्रों के नामों पर रखे जाते थे अर्थात् अधिकांश में वे संज्ञामूलक होते थे परन्तु 'उसने कहा था' शीर्षक विशेष कौतूहल उत्पन्न करता है। पाठक जानना चाहता है किसने कहा था? क्या कहा था? इसके अतिरिक्त कहानी में जिस वस्तु का भी वर्णन किया है लेखक ने उसका चित्र खींच दिया है। विशेष रूप से युद्धक्षेत्र का इतना सजीव तथा निर्दोष वर्णन हिंदी की शायद ही किसी कहानी में मिले। ऐसा प्रतीत होता है मानो लेखक वर्षों सेना में सैनिक के रूप में रहा है। स्थान-स्थान पर अंग्रेजों के प्रति व्यंग लेखक के अन्तस्तल में छिपी देशप्रेम की भावना को व्यक्त करते हैं। गुलेरी जी हिंदी-संस्कृत के प्रकांड विद्वान् थे, अतः भाषा पर उनका अधिकार होना स्वाभाविक ही है। 'उसने कहा था' कहानी उस समय लिखी गई थी जिस समय कहानी कला अपने अविकसित रूप मे थी अतः 'उसने कहा था' से तत्कालीन कहानी-कला के स्तर का उचित अनुमान नहीं लगाया जा सकता। 'उसने कहा था' कहानी के विषय में पं० रामचन्द्र शुक्ल का मत द्रष्टव्य है :—

"इसमें यथार्थवाद के बीच सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यन्त निपुणता के साथ सपुटित है। घटना उसकी ऐसी है जैसी बराबर हुआ करती है पर उसके भीतर से प्रेम का एक स्वर्गीय स्वरूप झांक रहा है—केवल झांक रहा है, निर्लज्जता के साथ पुकार या कराह नहीं रहा है। कहानी भर में कहीं प्रेम की निर्लज्ज प्रगल्भता, वेदना की बीभत्स विवृति नहीं है। सुरुचि के सुकुमार से सुकुमार स्वरूप पर कहीं आघात नहीं पहुंचता। इसकी घटनायें ही बोल रही हैं, पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं।"

इसी समय हिंदी के भाग्य जागे। प्रेमचन्द जी ने उर्दू से हिंदी में प्रवेश किया। प्रेमचन्दजी अपनी लेखनी की धाक उर्दू पर जमाकर अब हिंदी-

दिग्विजय को निकले और मृत्युपर्यंत उन्होंने हिंदी कहानी-उपन्यास के सिंहासन पर एक दम राज्य किया। वास्तव में कहानी अपने आधुनिकतम रूप में प्रेमचन्दजी द्वारा लाई गई। कुछ लोगों का यह मत है कि प्रेमचन्द जी उपन्यासकार से भी महान् कहानीकार हैं। प्रेमचन्दजी की कहानी में घटना का प्रमुख स्थान होता है। वे भावों को घटना के माध्यम से व्यक्त करते थे। डा० श्यामसुन्दरदास का कथन है—"प्रेमचन्द जी के भाव घटनाओं के आश्रित रहते हैं और जयशंकरप्रसाद जी की घटनाएं भावों के आश्रित रहती हैं।"

प्रेमचन्दजी की कहानियां या तो घटना-प्रधान होती हैं या चरित्र-चित्रण-प्रधान। प्रेमचन्द के प्रत्येक उपन्यास, प्रत्येक कहानी के मूल में कोई न कोई समस्या अवश्य रहती है। वर्णन का जहाँ तक सम्बन्ध है अलौकिकता का अस्वाभाविक तत्व उनकी कहानियों में नहीं मिलता। कहानियों का विषय इतना सामान्य होता है कि प्रत्येक पाठक अनुभव करने लगता है कि लेखक मेरा चित्रण कर रहा है। उपन्यासों की भाँति कहानियों में भी प्रेमचन्दजी आदर्शवादी रहे हैं। परन्तु आश्चर्य का विषय यह है कि आदर्शवाद कहीं भी उनके साहित्य में कुरूपता या अस्वाभाविकता नहीं लाता। यथार्थ की पृष्ठभूमि पर उन्होंने आदर्श की जो सुनहली रेखायें खींची हैं यथार्थ की घोर कालिमा उन्हें अधिक उज्ज्वलता ही प्रदान करती है। जीवन का कोई ऐसा कोना नहीं बचा जिस पर प्रेमचन्दजी ने कहानियाँ न लिखी हों। राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक सब समस्याओं पर उन्होंने अपनी लेखनी चलायी है और उन्हें इसमें महान् सफलता मिली है। साहित्य का उद्देश्य होता है पाठक के हृदय को आन्दोलित कर देना। इस परिभाषा के अनुसार हिंदी का कोई भी कहानी-लेखक प्रेमचन्द जी के समक्ष टिकने का साहस नहीं कर सकता।

'शांति' नामक कहानी का इतना व्यापक प्रभाव समाज पर पड़ा था कि लोगों ने लड़कियों को अंग्रेज़ी पढ़ाना बन्द कर दिया था। प्रेमचन्दजी ने पण्डों, पुजारियों आदि की पोल जहां स्थान-स्थान पर खोली हैं वहां सेठों और जमींदारों के अत्याचारों का भी लोमहर्षक वर्णन किया है। विदेशी जुए के नीचे लगी हुई भारतीय गर्दन से जुआ उतार फेंकने का जितना प्रयत्न साहित्य द्वारा संभव हो सकता था उन्होंने किया। इसके लिए व्यक्तिगत जीवन में उन्हें

कितने ही कष्ट उठाने पड़े। उन्हें सरकारी नौकरी छोड़नी पड़ी। लेकिन इस सच्चे कलाकार ने सब कुछ सहा परन्तु अपनी कला को चांदी के टुकड़ों के लिये बेचा कभी नहीं। प्रेमचन्द की कोई भी एक लाइन शोषकों का या शोषक मनोवृत्ति का समर्थन करती हुई नहीं मिलेगी। गरीबों की दशा का मार्मिक चित्रण उन्होंने अपनी 'माघ की रात' नामक कहानी में किया है। प्रेमचन्द जी का तो सारा साहित्य ही शोषकों के विरुद्ध मुखरित शोषित की आक्रोशपूर्ण वाणी है। 'बड़े घर की बेटी','दो सखियाँ' आदि कहानियाँ सामाजिक समस्या पर सीधा प्रकाश फेंकती हैं। दो सखियों के समान सशक्त और कलापूर्ण कहानी किसी भी साहित्य के लिए गौरव की वस्तु है। उसके अतिरिक्त चरित्र-चित्रण की दृष्टि से लिखी गई एक से एक सुन्दर कहानी हमें मिलेगी। 'आत्माराम', 'बूढ़ी काकी' आदि कहानियाँ इसका सुन्दरतम निदर्शन हैं। इसके अतिरिक्त मन में उठती हुई भावनाओं पर भी उन्होंने सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं। उनकी 'दो बैल' नामक कहानी तो विश्व की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में भी सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त करने की अधिकारिणी है। इससे सुन्दर, मनोरञ्जक, शिक्षाप्रद और सजीव कहानी की कल्पना नहीं की जा सकती। ऊंचे वर्ग द्वारा निम्नवर्ग की स्त्रियों पर हुए अत्याचार पर भी उनकी लेखनी मौन नहीं रही; 'घास वाली' कहानी इस विषय में ली जा सकती है।

कहने का अभिप्राय यह है कि प्रेमचन्दजी हिंदी कहानी संसार के लिए एक वरदान रूप में आए थे। आज इनकी कहानियाँ मानसरोवर के विभिन्न भागों में संकलित हैं और तुलसी रामायण की भांति ही वे पाठक के हृदय को बल देती हैं। प्रेमचन्दजी कहानी के सम्पूर्ण सुन्दर तत्वों का समुचित समावेश अपनी कहानियों में इतने कलापूर्ण ढङ्ग से कैसे कर सके यह आश्चर्य का विषय है। यह तो निर्विवाद है कि प्रेमचन्द जी कृषकों के लेखक थे। लेकिन उन्होंने किस पर नहीं लिखा ? और किस पर अच्छा नहीं लिखा ? खोमचे वाला, तांगे वाला, विद्यार्थी, डाक्टर, वकील, दुकानदार, बालक, वृद्ध, युवा,—कोई भी तो अपने हृदय के रहस्यों को प्रेमचन्द जी के सामने नहीं छिपा सका। प्रेमचन्दजी ने जिसका भी चित्रण किया, इतना सजीव किया मानो स्वयं प्रेमचन्दजी उस दशा में अपने जीवन में वर्षों रह चुके हैं। गरीब, मध्यम श्रेणी तथा पूंजीपति

वर्ग, सबका उन्होंने निर्भीकता तथा महान सफलतापूर्वक चित्रण किया। प्रेमचन्दजी का सूक्ष्म निरीक्षण, उनकी कल्पना कितनी यथार्थ और सजीव होगी!

इसमें संदेह नहीं कि प्रेमचंदजी ने कहानियों को जहाँ छोड़ा वहाँ से उन्होंने कोई संतोषजनक उन्नति उसके बाद नहीं की। फिर भी हिन्दी में कुछ और अच्छे कहानीकारों के नाम लिये जा सकते हैं। इनमें से कुछ लेखक मनोविज्ञान-प्रधान कहानियाँ लिखते हैं, कुछ चरित्र-चित्रण-प्रधान तथा कुछ लेखक मार्क्सवाद के पक्षपाती हैं और साम्यवादी सिद्धान्त उनकी कहानियों की पार्श्वभूमि होती है।

मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अनुकूल लिखने वाले लेखकों में प्रमुख हैं—यशपाल, राहुल जी, रांगेयराघव, कृष्णदास, गिरीश अस्थाना आदि। इन लेखकों की कहानी प्रायः शोषक और शोषित वर्ग से सम्बन्ध रखती हुई होती है। यशपाल इनमें सबसे अधिक सफल कहानीलेखक हैं। यशपाल की कहानी का गठन आज सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है। उनकी कहानी का आरम्भ तथा अन्त भी बड़ा कलापूर्ण होता है। यही बात उनके उपन्यासों के सम्बन्ध में भी है।

मनोवैज्ञानिक कहानियाँ लिखने वालों में प्रधान हैं—इलाचन्द्र जोशी तथा अज्ञेय।

इस प्रकार की कहानियों में कथा का भार तो कम होता है, अधिक होता है मनोवैज्ञानिक विश्लेषण। जोशीजी को इस विषय में सर्वाधिक सफलता मिली है।

चरित्रचित्रण-प्रधान कहानियाँ आज मनोविज्ञान-प्रधान तो होती ही हैं क्योंकि किसी व्यक्ति के चरित्र का नियन्त्रण उसकी भावनायें ही करती हैं, अतः चरित्रचित्रण-प्रधान कहानियां आज की सर्वोत्तम कहानियाँ हैं। उचित घटना मिश्रण, मनोविज्ञान तथा चरित्रचित्रण के मिश्रण से वे अधिक रोचक, अधिक सजीव तथा जीवन के निकट की कहानियाँ बन जाती हैं। इस प्रकार की कहानियों के प्रमुख लेखक हैं—सियारामशरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा,

अंचल, धर्मवीर भारती, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', श्रीमती ऋषभचरण जैन, राजेन्द्र यादव, 'रानी' जी आदि।

इसमें सन्देह नहीं कि आज कहानी साहित्य की प्रगति आशाजनक है और गत वर्षों से अधिक संख्या में कहानियां लिखी जा रही हैं—नवीन प्रतिभाशाली लेखक इस दिशा की ओर आ रहे हैं। ज्यों-ज्यों समाज की जटिलतायें बढ़ती जायंगी, जीवन में संकुलता आती जायगी, छोटी कहानियों के लिए उतना ही मार्ग प्रशस्त होता जायगा। आज छोटी कहानियों का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। वे साहित्य की स्वस्थ दशा की प्रतीक हैं।

प्रश्न ४—हिन्दी में निबन्ध साहित्य के विकास पर प्रकाश डालिये और एक प्रमुख निबन्धकार की विशेषतायें स्पष्ट कीजिये।

उत्तर ४—हिन्दी में निबन्ध का आरम्भ भारतेन्दु युग में ही हुआ। उनसे पूर्व राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द द्वारा लिखे गए 'राजा भोज के सपने' को हम निबन्ध नहीं कह सकते; वह निबन्ध से अधिक कहानी है। भारतेन्दु बाबू ने लेखकों का एक अच्छा मण्डल तैयार किया था। उस मंडल में उनके अधिकांश मित्र ही थे। उपाध्याय प० बद्री नारायण चौधरी, पं० प्रतापनारायण मिश्र, बाबू तोताराम, ठाकुर जगमोहनसिंह, लाला श्रीनिवासदास, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० केशवराम भट्ट, पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० राधाचरण गोस्वामी, बालमुकुन्द गुप्त आदि इस मण्डल में थे और यह मंडल ही आधुनिक निबन्धों का जनक माना जाना चाहिए।

प्रतापनारायण मिश्र ने कुछ लेख लिखे। अपना ब्राह्मण-पत्र ही उन्होंने लेख लिखने के लिए निकाला था। प्रतापनारायण जी विनोदप्रिय थे। यह विनोदप्रियता उनके लेखों में भी प्रत्यक्ष रूप से उभर आई है। व्यंग तो जैसे उनकी वाणी का अभिन्न मित्र है। व्यंग से रहित बात ही क्या! इन सब बातों के कारण प्रतापनारायण जी मिश्र की भाषा में पूर्वीपन का पुट स्वभावतः रहता ही था। कितना ही गम्भीर विषय हो, मिश्र जी की यह विशेषता थी कि वे उसमें मनोरंजन की सामग्री ढूंढ ही लेते थे। मिश्र जी सब प्रकार के निबन्ध लिखते थे—देश दशा, समाज सुधार, नागरी हिन्दी प्रचार आदि के विषय में। उनके लेखों के शीर्षक ही इनकी

विनोदप्रियता के परिचायक हैं। जैसे—"घूरेक लत्ता यिनैं क़ानतनक डोल बाँधे", "समझदार की मौत है", "मनोयोग", "वृद्ध", "भौं" आदि।

पं० बालकृष्ण भट्ट भारतेन्दु युग के दूसरे महान् निबन्धकार हैं। व्यंग और वक्रता तो जैसे भट्ट जी की अपनी सम्पत्ति है। भट्ट जी अंग्रेज़ी के शब्दों का खूब प्रयोग करते हैं, जैसे—Education, Society, National vigour and Strength, Standard आदि। इसी प्रकार उर्दू और फारसी शब्दों का ही नहीं बड़े-बड़े वाक्य-खंडों का भी निस्संकोच प्रयोग करते थे। लेखों में कहावतों का बहुत प्रयोग मिलेगा। भट्ट जी ने प्रायः "आंख, कान, नाक" जैसे विषयों पर लेख लिखे हैं। भाषा की सजीवता जैसी भट्ट जी में है या अन्य भारतेन्दुकालीन लेखकों में है वैसी आजकल के लेखकों में भी नहीं मिलेगी। मिश्र जी और भट्ट जी को हम हिन्दी का एडीसन और स्टील कह सकते हैं।

बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन भारतेन्दु युग के तीसरे प्रमुख लेखक हैं। भाषा की सजावट और परिष्कार की ओर आपकी विशेष रुचि रहती थी। जो कुछ लिखते थे उसे कितनी ही बार पढ़ते थे और उसमें संशोधन करते थे। प० रामचन्द्र शुक्ल आपके विषय में लिखते हैं—"लखनऊ की उर्दू का जो आदर्श था वही उनकी हिन्दी का था।" भट्ट जी की लेख लिखने में बड़ी रुचि थी अतः आपने अपनी एक पत्रिका निकाली 'आनन्द कादम्बिनी' जिसमें अधिकांश आपके ही लेख रहते थे। इसमें सन्देह नहीं कि भारतेन्दु युग में निबन्धों की आशाजनक प्रगति को देखकर अच्छे भविष्य की आशा की जा सकती थी। किन्तु बहुत दिनों तक कोई अच्छे लेखक इस क्षेत्र में नहीं आए।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस क्षेत्र में प्रवेश किया और निबन्ध कला को उन्होंने बड़ा ही उत्कर्ष प्रदान किया। द्विवेदी जी ने पर्याप्त लेख लिखे जिन्होंने नवीन निबन्ध-लेखकों का मार्ग प्रदर्शन किया। सबसे प्रथम द्विवेदीजी ने अंग्रेज़ी के प्राचीन निबन्धलेखक लार्ड बेकन के निबन्धों का अनुवाद 'बेकन विचार रत्नावली' के नाम से किया। द्विवेदी जी के कई निबन्ध स्थायी

महत्व के हैं। जैसे—"कवि और कविता" तथा "प्रतिभा" आदि। द्विवेदी जी के अधिकांश लेख सुझाव के रूप में लिखे गए हैं, जैसे 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' आदि। द्विवेदी जी के अधिकाश लेख विचारात्मक हैं। द्विवेदी जी का अधिकांश साहित्यिक जीवन लोगों के दिशा दर्शन करने में ही बीता, इस लिए स्वतन्त्र विषयों पर गम्भीर लेख यह कम ही लिख पाए। द्विवेदीजी के निबन्धों की भाषा संयत, संस्कृतनिष्ठ एवं सशक्त तथा व्याकरणसम्मत होती थी।

पं० माधवप्रसाद मिश्र बड़े उत्साही लेखक थे। ये सुन्दर निबन्ध लिखते थे लेकिन तभी जब इन्हें कोई छेड़ दे। इनके विषय में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने एक बार लिखा था—"मिश्र जी बिना किसी अभिनिवेश के नहीं लिख सकते। यदि हमें उनसे लेख पाने हैं तो सदा एक न एक टंटा उनसे छेड़ ही रखा करें।" सनातन धर्म के विरुद्ध कोई बात सुनना ये पसन्द न करते थे। जो उनके विरुद्ध लिखते थे उसके विरुद्ध ये लिखते थे। मिश्र जी गम्भीर स्वभाव के पण्डित आदमी थे। इनके लेख प्रायः 'सुदर्शन' नामक पत्र में निकलते रहते थे। जैसे—"पर्व त्यौहार", "उत्सव", "तीर्थस्थान" आदि विषयों पर। केवल दो लेख मिश्र जी के भावनाओं के ऊपर मिलते हैं, जैसे 'धृति' और 'क्षमा'। आचार्य शुक्ल इनके विषय में लिखते हैं—

"पं० माधवप्रसाद मिश्र के मार्मिक और ओजस्वी लेखों को जिन्होंने पढ़ा होगा उनके हृदय में उनकी मधुर स्मृति अवश्य बनी होगी। उनके निबन्ध अधिकतर भावात्मक होते थे और धारा शैली पर चलते थे। उनमें बहुत सुन्दर मर्मपथ का अनुसरण करती हुई स्निग्ध वाग्धारा लगातार चलती थी।"

बाबू गोपालराम गहमरी भी कभी-कभी लेख लिखते थे। इनकी भाषा चंचल, चटपटी तथा प्रगल्भ होती थी। इनके निबन्ध विलक्षण रूप खड़ा करने में बड़े सफल हुए हैं। "ऋद्धि-सिद्धि" आदि कितने ही लेख इन्होंने लिखे हैं।

बाबू बालमुकन्द गुप्त सुप्रसिद्ध सम्पादक और निबन्धलेखक थे।

द्विवेदी जी से "अनस्थिरता" शब्द पर इनका प्रसिद्ध विवाद चला था। ये द्विवेदी जी की भी भाषा की चुहलपूर्ण आलोचना करते रहते थे । गुप्त जी का 'शिवशम्भु का चिट्ठा' बहुत प्रसिद्ध है । गुप्त जी प्रायः इसमें राजनैतिक परिस्थितियों में व्यंग युक्त लेख लिखते थे । गुप्त जी की भाषा इसमें सजीव चलती हुई तथा व्यंग्यपूर्ण होती थी।

इसके पश्चात श्यामसुन्दर दास का नाम आता है । इन्होंने अपने अधिकाश लेख हिन्दी के कवियों पर ही लिखे हैं। भाषा इनकी गम्भीर, संस्कृतगर्भित तथा सशक्त होती है । डा० श्यामसुन्दर दास जी का हिन्दी के निबन्ध लेखकों में बड़े महत्व का स्थान है।

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का स्थान भी निबन्ध साहित्य में बड़े महत्व का है। ये बड़े गम्भीर विद्वान् तथा प्रकाण्ड पण्डित थे। शुक्ल जी इनके विषय में लिखते हैं—"यह बेधड़क कहा जा सकता है कि शैली की जो विशिष्टता और अर्थगर्भित वक्रता गुलेरी जी में मिलती है वह और किसी लेखक में नहीं। इनके स्मितहास की सामग्री ज्ञान के विविध क्षेत्रों से ली गई है अतः इनके लेखों का पूरा आनन्द उन्हीं को मिल सकता है जो बहुश्रुत हैं।" गुलेरी जी के 'कछु आघरय' तथा 'मारेसि मोहि कुठाँव' लेख बहुत प्रसिद्ध हैं।

कम लिख कर भी अधिक प्रसिद्ध होने वालों में दो लेखक प्रसिद्ध हैं। गुलेरी जी और सरदार पूर्णसिंह। सरदार पूर्णसिंह का निबन्ध साहित्य में अच्छा स्थान है । सरदार पूर्णसिंह की हार्दिक भावुकता उनके लेखों से स्पष्ट हो जाती है । सरदार पूर्णसिंह के अधिक लेख प्राप्त नहीं हैं। "आचरण की सभ्यता", "मजदूर और प्रेम" तथा "सच्ची वीरता" उनके तीन निबन्ध प्राप्त हैं। मजदूरी और प्रेम से एक उदाहरण लीजिए जो इनकी शैली का प्रतिनिधित्व करता है—"जब तक जीवन के अरण्य में पादरी, मौलवी, पण्डित और साधु संन्यासी हल, कुदाल और खुरपा लेकर मजदूरी न करेंगे तब तक उनका मन और उनकी बुद्धि अनन्त काल बीत जाने तक मलिन मानसिक जुआ खेलती रहेगी। उनका चिन्तन बासी, उनका

ध्यान बासी, उनकी पुस्तक बासी, उनका विश्वास बासी और उनका तो खुदा भी बासी हो गया है।"

इसके पश्चात् पं० रामचन्द्र शुक्ल का निबन्ध-क्षेत्र में आगमन हुआ। शुक्ल जी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार और आलोचक माने जाते हैं। हिन्दी की आत्मा से ये पूर्ण परिचित हैं। शब्द-शक्तियों पर उनका पूर्ण अधिकार है। शुक्ल जी ने करुणा, क्रोध, उत्साह आदि मानसिक मनोवेगों पर बहुत सुन्दर विश्लेषण-प्रधान निबन्ध लिखे हैं। इसके अतिरिक्त साहित्यिक व्यक्तियों पर लिखे गए उनके निबन्धों की भी संख्या कम नहीं है। यहाँ संक्षेप में शुक्ल जी की निबन्ध सम्बन्धी विशेषताओं पर प्रकाश डाला जायगा।

शुक्ल जी के द्वारा लिखे गए लेखों को इतने प्रकारों में बाँटा जा सकता है—विचारात्मक, आत्मव्यंजक, वर्णनात्मक, कथात्मक निबन्ध दो प्रकार के माने जाते हैं—१. विषय प्रधान, २. व्यक्ति प्रधान। शुक्ल जी के निबन्ध विचार प्रधान होने के कारण विषय प्रधान तो हैं पर साथ ही इनमें उनके व्यक्तित्व की भी पूरी छाप है। वैयक्तिक निबन्ध का अर्थ यह नहीं होता कि विषय उसमें बिल्कुल ही छिप जाय और केवल व्यक्ति ही उभर कर बोले। इसमें सन्देह नहीं कि भावुकतावश शुक्ल जी कभी-कभी विषयान्तर कर जाते हैं, जैसा श्रद्धा नामक निबन्ध में चित्रकारी और कारीगरी पर विचार। शुक्ल जी चाहे कुछ भी लिखें, चाहे निबन्ध या समालोचना, लोक-वाद उनकी मूल साहित्यिक चेतना है। यही कसौटी है जिस पर शुक्लजी प्रत्येक वस्तु की अच्छाई-बुराई जानने के लिए उसे कसते हैं। शुक्ल जी अगर विषय प्रधान निबन्ध भी लिख रहे होते हैं तब भी कहीं-कहीं उनका 'व्यक्ति' बीच में सजग एवं प्रबल हो आता है और वे व्यक्तिप्रधान शैली लिखने लगते हैं। जैसे—"रात्रि में विशेषतः वर्षा की रात्रि में झींगुरों और झिल्लियों के झंकार मिश्रित सीत्कार का बँधा तार सुनकर मैं यही समझता था कि रात बोल रही है।" इसी प्रकार एक लेख में उन्होंने अपने एक मित्र की बात लिखी है कि भडुआ शब्द की जानकारी किस प्रकार उनकी

सभ्यता के मार्ग में बाधक हो रही थी । लेकिन शुक्ल जी अहंवश अपने 'व्यक्ति' की बात नहीं लिखने लगते अपितु उचित प्रसंग आने पर उसकी योजना रहती है ।

शुक्ल जी की एक बड़ी विशेषता है उनकी गम्भीर विवेचनात्मक शैली में भी हास्य और व्यंग का पुट । शुक्ल जी का व्यंग भी सार्थक रहता है । वे दो प्रकार से इसका प्रयोग करते हैं—कहीं तो विशुद्ध हास्य के लिए और कहीं अपने विरोधी को नीचा दिखाने के लिए । शुक्ल जी हास्य-व्यंग की शैली में उर्दू फारसी के शब्दों का निस्संकोच प्रयोग करते हैं । इस विषय में उनका विचार है—"हंसी मज़ाक के लिए कुछ अरबी फारसी के चलते शब्द कभी-कभी कितना अच्छा काम देते हैं यह हम लोग बराबर देखते हैं ।" शुक्ल जी ने लिखा है कि तुलसी रामविवाह के अवसर पर मिठाइयों की एक लम्बी सूची देते हैं । उसका अभिप्राय क्या हो सकता है ? "इन नामों को सुनकर अधिक से अधिक यही हो सकता है कि श्रोताओं के मुँह में पानी आ जाय ।"

शुक्ल जी पक्के गाने वाले व्यक्ति का एक शब्द-चित्र उपस्थित करते हुए हास्य की सृष्टि करते हैं—"जब वृत्ताकार मुँह फाड़ कर आ . आ.. करके वे विफल होते हैं तो अच्छे-अच्छे आलसियों का भी धैर्य विचलित हो जाता है ।" कहीं-कहीं विनोद का पुट शुक्ल जी के निबंधों मे बहुत सुन्दर लगता है । अपने इन्दौर के भाषण मे उन्होंने कहा था—"अपने भाषण के आरम्भ में ही मैंने अपनी अयोग्यता प्रमाणित करने का वचन दिया था । कम से कम मैंने इतना तो अवश्य सिद्ध कर दिया कि मेरा इस परिषद् का सभापति चुना जाना कला की दृष्टि से अनुपयुक्त हुआ ।" एक स्थान पर शुक्ल जी आज के वीरों के विषय में हास्य का पुट देते हुए लिखते हैं—"ये वाग्वीर आजकल बड़ी-बड़ी सभाओं के मंचों पर से लेकर स्त्रियों के उठाए हुए पारिवारिक प्रपंचों तक में पाए जाते हैं और काफी तादाद मे ।"

इतने व्यंग और इतनी गंभीरता के साथ-साथ शुक्ल जी में एक और विचित्र गुण है, वह है उनकी भावुकता । कभी-कभी शुक्ल जी बड़े भावुक हो उठते हैं ।

किन्तु ऐसा नहीं कि भावुकता में वे बुद्धि से दूर जा पड़ें । हृदय और बुद्धि का संयोग शुक्ल जी में सर्वत्र मिलेगा । भावुकता का एक उदाहरण लीजिये जो शुक्ल जी की संयत भावुकता का प्रतिनिधि है ।

"मोटे आदमियो ! तुम जरा सा दुबला हो जाते—अपने अँदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता।"

शुक्ल जी की शैली निगमन शैली है । वे पहले सूत्र रूप में कोई बात कह देते हैं और फिर विस्तार में उसका विश्लेषण कर स्पष्टीकरण करते हैं । इसमें संदेह नहीं कि विश्लेषण के लिये लिखे गये प्रत्येक वाक्य का भावार्थ लगभग एक ही होता है किन्तु शुक्ल जी की यह विशेषता है कि वे पाठक को ऐसा अनुभव नहीं होने देते । पाठक प्रत्येक वाक्य के साथ संतोष का अनुभव करता चलता है और सूत्ररूप वाक्य उसकी समझ में आता चला जाता है । शुक्ल जी जो कुछ कह चुकते हैं उसको 'सारांश यह' कह कर स्पष्ट कर देते हैं । सरलता और रोचकता के लिये कथाओं का भी समावेश अपने लेखों में वे करते हैं । प्रभाव डालने के लिये शुक्ल जी भाषा का चमत्कारपूर्ण प्रयोग भी करते हैं । विरोधाभास का एक उदाहरण देखिए—"वात्सल्य और शृंगार का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया उतना किसी अन्य कवि ने नहीं ।" इसी प्रकार श्लेष योजना द्वारा चमत्कार सृष्टि—"जो कोई यह कहे कि अव्यक्त और अनन्त की अनुभूति से हम मतवाले हो रहे हैं उसे काव्य क्षेत्र से निकल कर मतवालों (साम्प्रदायिकों) के बीच अपना हाव-भाव और नृत्य दिखलाना चाहिए ।" कहीं-कहीं तुकदार वाक्य भी शुक्ल जी अपने निबंधों में लिखते हैं—' इधर हम हाथ जोड़ेंगे उधर वे हाथ छोड़ेंगे ।" सारांश यह कि शुक्ल जी ने जितने भी निबंध लिखे हैं वे सारगर्भित हैं और चमत्कारपूर्ण भाषा में लिखे हैं । भाव और भाषा,बुद्धि और हृदय का यह विचित्र समन्वय शुक्ल जी को सर्वश्रेष्ठ निबंध-लेखकों में स्थान देता है ।

बाबू गुलाबराय का भी निबंध क्षेत्र में अच्छा स्थान है । आपने दार्शनिक लेख अधिक लिखे हैं । कुछ लेख आपने 'साहित्य संदेश' में साहित्य के विविध विषयों पर लिखे हैं पर आपके सुन्दरतम निबंध वे हैं जो आपने हास्य

शैली में लिखे हैं। जैसे 'कमौली' यह पूरा निबंध गंभीर साहित्यिक हास्य से पूर्ण है और इसका आनंद लेने के लिए पाठक का अच्छा साहित्यिक होना अपेक्षित है। प्रबंध प्रभाकर के नाम से आपके लेखों का संग्रह प्रकाशित हुआ है।

यों आज हिंदी में निबंधलेखकों की कमी नहीं है। किन्तु पं० रामचन्द्र शुक्ल के लेखों में जो साहित्यिक प्रतिभा पाई जाती है या भारतेंदुकालीन लेखकों में जो सजीव व्यंग और जिंदादिली पाई जाती है आज उसके दर्शन नहीं होते।

प्रसादजी ने "काव्य कला तथा अन्य निबंध" नामक पुस्तक लिखी जो एक विशिष्ट निबंध कृति है। निराला जी की "प्रबंध प्रतिमा" का स्थान भी निबंध संसार में ऊँचा है। हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा शान्तिप्रिय द्विवेदी ने बहुत सुन्दर निबंध लिखे हैं। डा० रामरतन भटनागर तथा डा० सत्येन्द्र भी अच्छे निबंधलेखक हैं। आज के निबंधकारों में डा० रामविलास शर्मा का एक विशिष्ट स्थान है। "समाज और संस्कृति", "संस्कृति और परम्परा" आदि पुस्तकें डा० शर्मा के निबंधों का संग्रह हैं। डा० शर्मा की भाषा सजीव, व्यंग युक्त एवं प्रभावशाली होती है। निबंधों के उज्ज्वल भविष्य की कल्पना आज की जा सकती है।

प्रश्न ५—हिन्दी में उपन्यास साहित्य के इतिहास पर प्रकाश डालिये।

उत्तर ५—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पश्चात् हिन्दी में साहित्य के कई नवीन अंगों का विकास हुआ। उनसे पूर्व उन विषयों अथवा साहित्यांगों का समुचित अथवा सन्तोषजनक विकास नहीं मिलता। उपन्यास, नाटक, निबन्ध, आलोचना, कहानी आदि का प्रारम्भ आधुनिक अर्थ में भारतेन्दु जी के समय से ही समझना चाहिए।

संस्कृत काल से लेकर भारतेन्दु युग तक आधुनिक परिभाषा के अनुसार कोई भी उपन्यास नहीं मिलता। इसमें सन्देह नहीं कि कादम्बरी में उपन्यास के कुछ तत्व हैं किन्तु भाषा का चमत्कार उसमें प्रधान है और उपन्यास पूर्ण रूप से हम उसे नहीं कह सकते। इसमें तो संदेह नहीं कि भार-

तेन्दु काल में लिखे गए उपन्यास, उपन्यास की कसौटी पर खरे नहीं उतर सकते फिर भी उस समय के लेखकों के तद्विषयक प्रयत्न को स्तुत्य ही कहा जायगा।

भारतेन्दु युग में 'परीक्षा गुरु' नामक लाला श्रीनिवासदास द्वारा लिखा गया उपन्यास हिंदी का सर्वप्रथम उपन्यास है । यह उपदेश प्रधान उपन्यास है जिसकी भाषा यद्यपि सजीव है तथापि,उसमें आधुनिक गद्य-सौष्ठव का अभाव है । श्रीनिवासदास जी नाटक भी लिखते थे और निश्चित रूप से उन्हें नाटक लिखने में अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली।

इसके पश्चात् 'भारतेन्दु' बाबू के फुफेरे भाई श्री राधाकृष्ण दास ने निस्सहाय 'हिन्दू' नामक उपन्यास लिखा। इसके अतिरिक्त कई उपन्यासों का बंगला से हिन्दी में अनुवाद भी किया, 'जैसे' 'स्वर्ण लता', 'मरता क्या न करता' । राधाकृष्ण दास को भी नाटक लिखने में अधिक सफलता मिली, उपन्यास लिखने में कम।

इसके पश्चात् हिन्दी मे एक अनुवाद युग आता है। इसमें विश्व की विभिन्न भाषाओं के अनुवाद हिन्दी में हुए । भारत के विभिन्न प्रान्तों की भाषाओं से भी हिन्दी में अनुवाद हुए, विशेष रूप से बंगला भाषा से। बाबू रामकृष्ण वर्मा ने हिन्दी में उर्दू तथा अंग्रेजी के कुछ उपन्यासों का अनुवाद किया। जैसे, ठग वृत्तांत माला (सं० १९४६), पुलिस वृत्तांत माला (१९४७), अकबर (१९४८), अमला वृत्तांत माला (१९५१)। उन्होंने स० १९५२ में बंगला भाषा की 'चित्तौर चातकी' का अनुवाद हिन्दी में किया । इस पुस्तक के विरोध में तो एक आन्दोलन ही खडा हो गया। कारण यह था कि उसके कुछ वर्णन चित्तौर की राजवंश मर्यादा के विरुद्ध पडते थे। फलतः सब प्रतियां गंगा में फैंक दी गईं । तत्पश्चात् बाबू कार्तिकाप्रसाद खत्री ने चार उपन्यासों का अनुवाद हिन्दी में किया नाम हैं:—इला, प्रमीला, जया तथा मधुमालती।

बंगला से हिन्दी में अनूदित उपन्यासों के सम्बन्ध में गोपालराम गहमरी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने कितने ही उपन्यासों का अनुवाद किया । अनूदित उपन्यास अधिकांश मे गार्हस्थिक उपन्यास थे, जैसे :—बड़ा भाई, देवरानी जिठानी, दो बहिन, तीन पतोहू, सास पतोहू

आदि। गहमरी जी की भाषा बड़ी आकर्षक, सरस तथा चटपटी है। इस काल में विशेष रूप से बंगाली लेखकों में से बंकिमचन्द्र, चंडीचरण सेन, शरत् बाबू, चारुचन्द्र आदि के उपन्यासों का अनुवाद ही अधिक हुआ। रवीन्द्र बाबू की 'आँख की किरकिरी का अनुवाद भी इसी समय हुआ।

बाबू रामचन्द्र वर्मा ने मराठी के 'छत्रमाल' नामक उपन्यास का बहुत सुन्दर अनुवाद हिन्दी में किया। कुछ उपन्यासों का उर्दू से भी अनुवाद हुआ। अंग्रेजी से अनूदित कुछ उपन्यास भी दृष्टिगोचर होते हैं, टाम काका की कुटिया, लैला तथा लंदन रहस्य। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी उपन्यासों का यह अनुवाद-युग था जिसमें हिन्दी साहित्य अपना भिक्षापात्र लेकर अन्य सम्पन्न भाषाओं से याचना करने निकल पड़ा था। इस युग में अनूदित उपन्यासों से ही हिन्दी साहित्य का भण्डार भर गया। लेकिन इस में संदेह नहीं कि ये अनूदित उपन्यास बहुत लोकप्रिय हुए और इन्होंने समाज में मौलिक उपन्यासों के लिये पृष्ठभूमि तैयार की, जनता के हृदय में उपन्यासों के प्रति रुचि उत्पन्न की और यह तो निश्चित है कि इसमें इन्हें पूर्ण सफलता मिली। इसी कारण से हिंदी के उपन्यासकारों को मौलिक उपन्यास लिखने का प्रोत्साहन मिला। किन्तु अभी हिन्दी उपन्यास साहित्य अधिक उत्कर्ष को नहीं पहुंचा था अतः उपन्यास साहित्य के आरम्भिक काल में मौलिक उपन्यास के रूप में जो उपन्यास लिखे गए उनमें से अधिकांश जासूसी या ऐयारी के उपन्यास थे।

बाबू देवकीनन्दन खत्री हिन्दी उपन्यास साहित्य के प्रथम मौलिक लेखक कहे जायेंगे। इनके उपन्यासों की जितनी धूम हिन्दी-पाठक जगत् में रही शायद ही और किसी उपन्यास की इतनी धूम रही हो। लोक-प्रियता में तो महान उपन्यासकार प्रेमचन्द भी इनकी समता कठिनता से कर सकेंगे। बाबू देवकीनन्दन खत्री के लोकप्रिय होने का इससे बड़ा और प्रमाण क्या होगा कि उनके चन्द्रकान्तासंतति नामक उपन्यास ने लोगों को हिन्दी सीखने के लिये प्रेरित किया तथा अहिन्दीभाषाभाषियों तक ने इस उपन्यास के लिये हिन्दी सीखी। 'चन्द्रकान्ता' तथा 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के अतिरिक्त और भी कई घटना-प्रधान उपन्यास इन्होंने लिखे। यथा नरेन्द्रमोहिनी, कुसुम

कुमारी, वीरेन्द्र वीर आदि । खत्री जी के उपन्यासों के विषय में आचार्य शुक्ल लिखते हैं:—"इन उपन्यासों का लक्ष्य केवल घटनावैचित्र्य रहा, रससचार, भावविभूति या चरित्रचित्रण नहीं । ये वास्तव में घटनाप्रधान कथानक या किस्से हैं जिनमें जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं, इससे ये साहित्य कोटि में नहीं आते । पर हिन्दी साहित्य के इतिहास में बाबू देवकीनन्दन का स्मरण इस बात के लिये सदैव बना रहेगा कि जितने पाठक उन्होंने उत्पन्न किये उतने और किसी ग्रन्थकार ने नहीं। चन्द्रकान्ता पढ़ने के लिये ही न जाने कितने लोगों ने हिन्दी सीखी।" ऐयारी और जासूसी के उपन्यासों के खत्री जी जनक कहे जाते हैं किन्तु उनका प्रभाव उनके बाद के लेखकों पर भी पड़ा और बड़ी मात्रा में इस प्रकार के उपन्यास लिखे गये । इस प्रकार के सभी उपन्यास 'हिन्दुस्तानी' में लिखे गये थे । इनकी भाषा न तो हिन्दी होती थी और न उर्दू । सामान्य बोल-चाल की भाषा में ही ये उपन्यास लिखे जाते थे । उनकी भाषा न तो राजा शिवप्रसाद की उर्दू प्रधान भाषा थी न राजा लक्ष्मणसिंह की शुद्ध हिन्दी।

खत्री जी के पश्चात् दूसरे मौलिक उपन्यासकार हुए किशोरीलाल गोस्वामी (१९२२—१९८९) । सम्भवतः संख्या में तो इतने अधिक उपन्यास आज तक तक हिन्दी में कोई नहीं लिख सका । इनके द्वारा लिखे गए उपन्यासों की संख्या ७५ मानी जाती है । लेकिन सम्भवतः अधिक-परिमाण में लिखने की ओर रुचि होने से गोस्वामी जी अधिक अच्छे उपन्यास नहीं लिख सके । उनका साहित्य आकार मे जैसा अधिक है प्रकार में उतना अच्छा नहीं । दो बातों की कमी स्पष्ट है । एक तो गोस्वामी जी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के गम्भीर अध्ययन का परिचय नहीं दिया। दूसरी बात गोस्वामी जी भाषा के चमत्कार के फेर में पड़े रहे जिसके मूल में अपने ज्ञान का प्रदर्शन ही रहा होगा । कहीं यदि संस्कृतशब्दबहुल भाषा लिखेंगे तो कहीं उर्दू-ए-मुअल्ला (फारसीप्रधान) । उनके कुछ उपन्यासों के नाम हैं:—तारा, चपला,

तरुण तपस्विनी, रजिया बेगम, लीलावती, राजकुमारी, लवंगलता, हृदय-हारिणी, हीराबाई, लखनऊ की कब्र आदि ।

इनके पश्चात् अयोध्यासिंह उपाध्याय का नाम आता है । हरिऔध जी हिंदी साहित्य में 'कवि' के नाते तो प्रसिद्ध हैं किन्तु वे उपन्यासकार भी हैं यह बात बहुत कम लोग जानते हैं । इसमें तो सन्देह नहीं कि हरिऔध जी एक लोकप्रिय तथा सफल उपन्यासकार नहीं माने जाते । भाषा चमत्कार की ओर इनकी भी रुचि अधिक है । कहीं संस्कृतगर्भित भाषा लिखते हैं और कहीं हिन्दुस्तानी । इन्होंने दो उपन्यास लिखे—ठेठ हिन्दी का ठाठ तथा अधखिला फूल । इन उपन्यासों के विषय में शुक्ल जी का कथन है—"ये दोनों पुस्तकें भाषा के नमूने की दृष्टि से लिखी गई', औपन्यासिक कौशल की दृष्टि से नहीं । इनके साथ ही लज्जाराम मेहता का नाम आता है जिन्होंने कई उपन्यास लिखे हैं । धूर्त रसिकलाल, बिगड़े का सुधार तथा आदर्श सिंह आदि । इन दोनों के विषय में शुक्ल जी का कथन द्रष्टव्य है—"ये दोनों महाशय वास्तव में उपन्यासकार नहीं । उपाध्याय जी कवि हैं और मेहता जी पुराने अखबारनवीस ।"

बाबू ब्रजनदन्न सहाय बी. ए. ने दो भाव-प्रधान उपन्यास लिखे जो काव्य कोटि में आते हैं—१. सौंदर्योपासक, २. राधाकांत ।

इनके पश्चात् प्रेमचंदजी का नाम आता है । प्रेमचंदजी के आते ही इस दिशा में युगान्तरकारी परिवर्तन हुए । प्रेमचंद के प्रथम मौलिक उपन्यास सेवासदन की धूम मची । लोगों ने उसको इतना अधिक पसंद किया कि वह अब तक के लिखे गए हिंदी उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ घोषित कर दिया गया । इससे सुन्दर उपन्यास की तो लोग कल्पना भी नहीं कर सकते थे । वे कहते थे कि इससे अच्छा उपन्यास तो अब प्रेमचंदजी नहीं लिख सकेंगे । परन्तु प्रेमचंदजी ने उनकी धारणा को भ्रमपूर्ण सिद्ध कर दिया और एक से एक अच्छे उपन्यास उन्होंने लोगों के समक्ष रखे—प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि, कायाकल्प, गबन, प्रतिज्ञा, निर्मला, गोदान आदि । प्रेमचंद जी से पूर्व के उपन्यासों को उपन्यास नहीं कह सकते । वे काल्पनिक सृष्टि मात्र थे, जीवन से दूर । प्रेमचंदजी प्रथम उपन्यासलेखक थे जिन्होंने उपन्यासों को जीवन के निकट

रखा अथवा उपन्यासों में जीवन का विश्लेषण किया। प्रेमचदजी के अधिकांश उपन्यास समस्यामूलक हैं। कोई वेश्या वृत्ति को लेकर, कोई विधवा को लेकर, कोई छूआछूत को लेकर, कोई आभूपणप्रियता को लेकर, कोई किसान और मजदूरों की समस्या को लेकर तथा कोई देशप्रेम तथा राजनैतिक चेतना को लेकर लिखा गया है। प्रेमचंदजी से पूर्व उपन्यासों की कोई टेकनिक हिंदी में न थी। उन्होंने स्वयं टेकनिक का निर्माण किया और स्वयं ही उपन्यासों का सृजन। प्रेमचंद जी ने स्वयं ही हिंदी के उपन्यास साहित्य को विकास की चोटी पर पहुँचा दिया। विश्व में शायद ही किसी एक व्यक्ति ने किसी एक अविकसित दिशा को इतनी पूर्णता तक पहुँचाया हो। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रेमचंदजी के बाद आज भी उपन्यासों की दिशा मे कोई नवीन प्रगति नही हुई। प्रेमचंदजी की भाषा संक्षिप्त, पात्रानुकूल, भावपूर्ण तथा सशक्त होती थी। हिंदी में शायद ही किसी अन्य उपन्यासलेखक की भाषा इतनी हृदयस्पर्शी हो। यह तो प्रसिद्ध ही है कि प्रेमचंद आदर्शवादी थे, लेकिन कोरे आदर्शवादी नहीं। वे किसी भी वस्तु का याथातथ्य वर्णन करते थे किन्तु अंत में उसमें आदर्श का मिश्रण कर देते थे। गुप्त जी (मैथिलीशरण) की भाँति वे भी इस बात के समर्थक थे—जो है, जैसा है, यदि वही कहा तो क्या कहा? कलाकार को तो 'जो होना चाहिए' वह भी कहना चाहिए। इसलिए प्रेमचंदजी का यथार्थवाद आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहलाता है। प्रेमचंदजी ने उपन्यासों में विशेष रूप से किसान और जमींदार समस्या को रखा। शोषित और शोषक वर्ग का ठीक रूप उन्होंने समाज के समक्ष स्पष्ट किया। सारांश यह कि प्रेमचंद सर्वप्रथम उपन्यासलेखक थे जिन्होंने उपन्यासों को तिलस्मी तथा ऐयारी के दलदल से बाहर निकाला और वास्तविक जीवन को भूमि पर प्रतिष्ठित किया। प्रेमचंद जी का सुधारवादी या उपदेशक रूप उनके सब उपन्यासों में अत्यंत स्पष्ट है, केवल गोदान को छोड़ कर। गोदान में प्रेमचंदजी की उपन्यास टेकनिक मानो एक झटका खाकर बदल गई हो। आलोचकों का कथन है कि 'गोदान प्रेमाश्रम का प्रायश्चित्त है' अर्थात् प्रेमाश्रम में प्रेमचंदजी के जो विश्वास थे, जो मान्यतायें थीं, वे गोदान तक आते-आते लड़खड़ा चुकी थीं। यहाँ तक आते-आते अपना उपदेशक का चोला उन्होंने उतार फेंका था और वे घोर यथार्थवादी बन गए

थे। गोदान में सुधार का—पुनर्निर्माण का स्वर नहीं है। विध्वंस तथा नवनिर्माण का विवाद है । प्रेमचंदजी गोदान में क्रान्तिकारी हो चुके हैं; वे समाज के चरमराते चौखटे को मरम्मत का विचार छोड़ कर स्वयं उसमें पदाघात करते हैं । प्रेमचंद ने जिस भाव-भूमि पर उपन्यास लिखे वह बहुत विस्तृत है। हमारे समाज का सर्वांगीण चित्र प्रेमचंद जी ने अपने उपन्यासों में रखा है। प्रेमचंदजी अपने व्यक्तिगत जीवन में गांधी जी से बहुत अधिक प्रभावित थे और वह प्रभाव उनके विचारों की पार्श्वभूमि बनकर रहा है। लेकिन प्रेमचंदजी पर से यह प्रभाव धीरे-धीरे इसी प्रकार उठ रहा था जैसे शुक्ल जी धीरे-धीरे छायावाद का विरोध छोड़ रहे थे । कहते हैं कि प्रेमचंदजी जो अपना अंतिम उपन्यास लिख रहे थे वह घोर क्रान्तिकारी राजनैतिक विचारों से युक्त होता।

प्रेमचन्दजी के पश्चात् एक ओर प्रतिभा का विकास जयशंकर प्रसाद के रूप में हिंदी में हुआ। उपन्यास, नाटक, कविता, निबंध, आलोचना, कहानी सब कुछ उन्होंने लिखा और अद्भुत ! जहाँ तक प्रतिभा का प्रश्न है प्रसाद जी को शायद ही कोई अन्य कलाकार छू सके । पर प्रसाद पहले कवि थे बाद में कुछ और। उपन्यासकार के रूप में वे हिंदी जगत् में इतने प्रसिद्ध नहीं जितने कवि के रूप में। उन्होंने कंकाल, तितली तथा इरावती (अपूर्ण) नामक तीन उपन्यास लिखे। 'कंकाल' वास्तव में समाज का नग्न रूप ही है। इसमें मंगल-देव और तारा का चरित्रचित्रण लेखक ने बड़े कौशल से किया है। पाठक एक के प्रति घृणा और दूसरे के प्रति सहानुभूति करता है। प्रसाद जी शरद् की भाँति समस्याओं का विश्लेषण देना पसंद करते हैं किन्तु शरद् की भाँति वे उसे कथा में सुनियोजित नहीं कर पाते। अतः उनके विश्लेषण घटना से असम्बद्ध, स्वतंत्र तथा एकांगी लगते हैं । उपन्यास के विषय में प्रसाद जी की यही असफलता है। प्रसाद जी की भाषा सदैव संस्कृतगर्भित होती है, उर्दू शब्दों के बहिष्कार की प्रवृत्ति स्पष्टतः दिखाई देती है । किन्तु उनकी भाषा में एक ऐसा मार्दव—ऐसा ओज है जो अन्य सामान्य लेखकों में नहीं दिखाई देता।

इसके अतिरिक्त पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, बाबू प्रतापनारायण, श्रीवास्तव, जैनेन्द्रकुमार, वृंदावनलाल शर्मा, आचार्य चतुरसेन, सुदर्शन, उग्र आदि का नाम आता है।

इस काल के सब उपन्यासों में सामाजिक तथा राजनैतिक विषमता का एक स्पष्ट चित्र है। मजदूरों की और किसानों की क्या हालत है? मिलमालिक और जमींदार उन्हें कैसे चूसते हैं? इन सब बातों का नग्न चित्रण इस काल के उपन्यासों में मिलेगा। जाति-पाँति, छुआछूत, वर्ण व्यवस्था, जाति विद्वेष आदि के विरुद्ध एक कड़ा स्वर इन उपन्यासों की विशेषता है। मानवधर्म का प्रतिष्ठापन तथा राजनैतिक स्वतंत्रता इन उपन्यासों का लक्ष्य है। समाज में बढ़ती हुई विषमताओं का ये उपन्यास नग्न चित्र सामने रखते हैं।

इसके पश्चात् उपन्यासों में एक और युग आता है। इसमें दो प्रवृत्तियाँ मुख्य हैं—१. मानव के मन-मस्तिष्क का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, २. मार्क्सवाद का उपन्यास-साहित्य पर प्रभाव।

योरप के नवीन मनोविज्ञानप्रधान उपन्यासों का हिंदी-साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा है और फलस्वरूप कुछ लेखक हिंदी में भी मानव मन के उन सूक्ष्म तंतुओं की खोज और विश्लेषण कर रहे हैं जिनसे मनुष्य अपने कार्य-व्यापारों में प्रेरित होता है। अंग्रेज़ी का 'यूलिसीज़' उपन्यास इस दिशा में चरम माना जाता है जहाँ उपन्यास घटना से मुक्त हो कर केवल मानवीय भावनाओं का वैज्ञानिक विश्लेषण करता है। हिंदी में इलाचन्द्र जोशी तथा अज्ञेय ये दो प्रधान मनोविज्ञानवादी लेखक हैं। प्रेत और छाया जोशी जी का तथा शेखर एक जीवनी अज्ञेयजी के सुन्दर उपन्यास हैं।

मार्क्सवाद से प्रभावित होकर जो लेखक उपन्यास रचना कर रहे हैं उनमें प्रमुख हैं—यशपाल, राहुलजी, रांगेय राघव, कृष्णदास, गुरुदत्त आदि। मार्क्सवादी लेखक अर्थ को समाज का मूल मान कर चलते हैं और वे वर्गहीन समाज के समर्थक होते हैं। व्यक्तिगत लाभ (Personal profit) की प्रवृत्ति पूंजीवादी प्रवृत्ति है। रूस का आदर्श उनके समक्ष है जिसने एक क्रान्ति के पश्चात् आश्चर्यजनक उन्नति की है। ये साहित्य को न केवल जीवन के लिए आवश्यक अपितु उसे अपने विरोधियों के विरुद्ध एक सशक्त हथियार के रूप में मानते हैं।

चरित्रचित्रण-प्रधान उपन्यास लिखने वाले उपन्यासकार भी इस युग में हैं। उनमें से मुख्य हैं—सियारामशरण गुप्त, निराला, भगवतीचरण

वर्मा, अंचल आदि। इसमें संदेह नहीं कि उपन्यास साहित्य की हिंदी में कभी इतनी प्रगति नहीं रही जितनी इस युग में है। उपेन्द्रनाथ अश्क तथा धर्मवीर भारती का नाम भी इधर उल्लेखनीय है। उपन्यास साहित्य के अच्छे भविष्य की कल्पना की जा सकती है। कारण यह है कि मानव जीवन जितना ही व्यस्त होता जाता है, समस्याएं जितनी ही अधिक और जटिल होती जाती हैं उन्हें केवल उपन्यासों में ही वाणी दी जा सकती है। अतः उपन्यास ही आज युग की अभिव्यक्ति के सर्वोत्तम साधन हैं।

प्रश्न ६—"खड़ी बोली भी उतनी ही प्राचीन है जितनी ब्रज भाषा" इस कथन की समीक्षा कीजिये।

उत्तर ६—कुछ ही समय पूर्व ब्रजभाषा हिंदी साहित्य की एकछत्र साम्राज्ञी थी। अचानक एक चंचल और उद्धत बालिका ने उसे सिंहासन से उतार कर उसपर अधिकार कर लिया और फिर कभी ब्रजभाषा उसे हस्तगत न कर सकी। ब्रजभाषा के प्रेमियों को इससे बड़ा दुःख हुआ, खड़ी बोली के समर्थकों को बड़ी प्रसन्नता। लेकिन प्रश्न यह है कि यह खड़ी बोली अचानक आ कहाँ से गई? उसका पालन-पोषण अबतक कहाँ हो रहा था? उसके लिए हमें हिंदी-साहित्य की ओर दृष्टिपात करना पड़ेगा। उसका रहस्य वहीं मिलेगा।

आज प्रायः विद्वान् इस विषय में एकमत हैं कि खड़ी बोली ब्रजभाषा की भाँति ही एक भारतीय भाषा थी। वह कहीं बाहर से नहीं लाई गई। वह ब्रजभाषा की बहन है। पुत्री नहीं है। खड़ी बोली इतनी जल्दी इतनी प्रसिद्ध नहीं हुई जितनी जल्दी ब्रजभाषा। वास्तव में खड़ी बोली उतनी ही प्राचीन प्रतीत होती है जितनी खड़ी बोली। इसके प्रमाण अपभ्रंश एवं प्राकृत भाषा तक में मिलते हैं। अपभ्रंश काल की कविता के उदाहरण से एक बात स्पष्ट हो जायगी कि किस प्रकार उसमें से खड़ी बोली निकलने के लिए प्रयत्नशील दिखाई देती है :—

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि म्हारा कंत।
लज्जेजं तु वंयसि अहि जय भग्गा घर अंतु॥

इसमें 'भल्ला', 'हुआ', 'मारिया' आदि शब्द इस बात की सूचना देते

हैं कि खड़ी बोली के मूल भारतीय भाषाओं में बहुत गहरे हैं। इसी प्रकार—

"अडविहि पत्ती, नहहि जसु, तो विन वूड़ा हत्थ,

× × × ×

सोउ जुहिट्ठिर संकट पाआ, देवक लेखिअ कोण मिटावा।

तथा महाकवि चंद ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ के आरम्भ में लिखा है :—

"लघुम् चंद-कव्वी गुरुम् सव्य कव्वी"

इससे स्पष्ट हो जाता है कि खड़ी बोली धीरे-धीरे अपने स्पष्टतर रूप में आती जा रही थी। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि मुसलमानों के आक्रमण पृथ्वीराज चौहान से भी पूर्व से होने लगे थे और मुसलमानों का कुछ न कुछ प्रभाव भी पड़ने ही लगा था किन्तु इतना तो विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि इस समय तक मुसलमान विजेता नहीं थे अतः वे कोई भाषा यहाँ थोप सकते थे यह असम्भव था। भाषा का प्रचार-प्रसार केवल विजयी जाति कर सकती है। मुसलमान उस समय तक विजयी नहीं थे। अतः खड़ी बोली को मुसलमानों का उपहार कहना अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना है।

खुसरो नाम के कवि वीरगाथा काल में ही हुए थे। खुसरो एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। उनके सामने कितने ही राजमुकट बदले थे। पृथ्वीराज की मृत्यु के लगभग ६० वर्ष पश्चात् खुसरो का रचनाकाल आरम्भ होता है। किन्तु खुसरो मे जिस प्रौढ, स्पष्ट एवं चलती हुई खड़ी बोली के दर्शन होते हैं उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह कोई केवल १००,२०० वर्ष की बनी भाषा नहीं हैं। प्रतीत होता है कि खड़ी बोली बोल-चाल के रूप मे तो बहुत दिनों से प्रचलित थी केवल साहित्यिक रूप उसे प्राप्त नहीं हुआ था। आज कहा जा सकता है कि खुसरो की भाषा प्रामाणिक नहीं है किन्तु इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वह नितांत प्रक्षिप्त नहीं है। हो सकता है उनमें थोड़ा-बहुत अंश इधर-उधर से मिल गया हो। खुसरो की भाषा से कुछ उदाहरण लीजिए और उसकी प्राचीनता को ध्यान में रखते हुए आधुनिक खड़ी बोली से उसकी तुलना कीजिए, कोई आकाश-पाताल का अंतर आपको नहीं लगेगा।

एक थाल मोती से भरा। सब के सिर पर औंधा धरा ॥
चारों ओर वह थाली फिरे। मोती उससे एक न गिरे ॥

× × × ×

एक नार ने अचरज किया। साँप मार पिंजरे में दिया ॥
जों-जों साँप ताल को खाए। सूखे ताल साँप मर जाए ॥

× × × ×

एक नार दो को ले बैठी। टेढ़ी होके बिल में बैठी ॥
जिसके बैठे उसे सुहाए। खुसरो उसके बल-बल जाए ॥

इसके अतिरिक्त खुसरो की मुकरियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं जिनमें खड़ी बोली का आश्चर्यजनक रूप से निखरा हुआ रूप मिलता है :—

टाटी तोड़ कर घर में आया। अरतन-बर्तन सब सरकाया ॥
खा गया पी गया हो गया बुत्ता। क्यों सखी साजन नहिं सखि कुत्ता ॥

तथा

ऐनक दिए डटे रहते हैं अपने मन साहब बनते हैं।
उनका मन औरों के काबू, क्यों सखि साजन ? नहीं सखि बाबू।

खुसरो ने आश्चर्यजनक रूप से आधुनिक खड़ी बोली लिखी है। खुसरो संस्कृत, फारसी, अरबी आदि के प्रकांड विद्वान् थे। वे कविता में कितनी ही भाषाओं के मिश्रण के शौकीन थे। उनकी यह प्रवृत्ति निम्नांकित छंद से स्पष्ट हो जायगी।

जेहाल मिसकीं मकुन तग़ाफुल दुराय नैना, बनाय बतियाँ।
कि ताबे हिज्रा न दारम ए जाँ! न लेहु काहे लगाइ छतियाँ ॥
शबाने हिजां चूं जुल्फ व रोज़े वसलत चूं उम्र कोतह।
सखी पिया को जो मैं न देखूं तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ ॥

यहाँ खुसरो की विनोदी प्रकृति तो स्पष्ट हो ही जाती है साथ ही इस बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि फारसी तथा ब्रज भाषा की भाँति खड़ी बोली भी कोई भाषा अवश्य थी। यदि यह कोई निश्चित भाषा न होकर केवल खुसरो के मस्तिष्क की उपज होती तो परवर्ती कवियों में इसका प्रयोग न पाया जाता। परन्तु कबीर आदि निर्गुणपंथी कवियों में खड़ी बोली का अच्छा

प्रयोग मिलता है। मीरा की भाषा में खड़ी बोली का अच्छा पुट है। कबीर घूम फिर कर उपदेश देने वाले साधु थे अतः अनेक प्रान्तों की भाषाओं के शब्दों का उनकी वाणी में मिश्रण हो गया था। खड़ी बोली का मिश्रण अन्य बोलियों से अधिक है। कुछ उदाहरण लीजिये :—

"मोको कहाँ ढूंढ़े बन्दे मैं तो तेरे पास में।"

तथा

अपनी देखि करत नहीं अहमक, कहत हमारे बड़न किया।
उसका खून तुम्हारी गर्दन जिन तुम को उपदेस दिया॥

और भी

कबीर कहता जात हूँ, सुनता है सब कोइ।
राम कहे भला होयगा, नहितर भला न होइ॥

तथा

'आऊंगा न जाउंगा, मरूंगा न जिऊंगा, गुरु के सबद रमा दूँगा"

इस प्रकार कबीर के बाद के कवियों पर भी खड़ी बोली का प्रभाव ढूंढ निकालना कठिन नहीं है। पद्य के अतिरिक्त खडी बोली धीरे-धीरे गद्य में भी प्रवेश पाने लगी। विद्वानों का कथन है कि अकबर के समय के गंग कवि की "चंद छुंद बरनन की महिमा" इस प्रकार की पहली पुस्तक है। उस पुस्तक की खड़ी बोली के गद्य का नमूना देखिए :—

"सिद्धि श्री १०८ श्री श्री पातसाहिजी, श्री दलपति जी आमखास में तखत ऊपर विराजमान हो रहे। और आमखास भरने लगा है, जिसमें तमाम उमराव आइ आइ कुर्निश बजाइ जुहार करके अपनी-अपनी बैठक पर बैठ जाया करें अपनी-अपनी मिसल से। जिनको बैठक नहीं सो रेसम के रस्से में रेसम की लूं में पकड़-पकड के खड़े ताजीम में रहें। इतना सुनि के पातसाह जी श्री अकबर साहजी आद सेर सोना नहरदास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया। रास बंचना पूरन भया। आमखास बरखास हुआ।"

इस गद्यांश मे यह स्पष्ट दिखाई देता है कि खड़ी बोली में उर्दू के शब्द अधिक आने लगे थे। व्रजभाषा की वाक्य-रचना का भी इसपर प्रभाव है। उर्दू शब्दों का आधिक्य इस बात के लिए पर्याप्त कारण नहीं है

कि इस भाषा को मुसलमान अपने साथ लाए थे । विदेशी लोग दूसरे देशों में जाने पर वहाँ की एक भाषा को अपने माध्यम के लिए चुन लेते हैं जिसमें स्वभावतः उनके अपनी भाषा के शब्दों का बाहुल्य रहता है । यह तो इस बात का और प्रमाण है कि मुसलमानों से पूर्व भी भारत में खड़ी बोली थी जिसको मुसलमानों ने यहा आने पर सुविधाजनक पाया, फिर ईसाइयों ने भी इसी को अधिक प्रश्रय दिया ।

इसके पश्चात् संवत १७६८ में लिखी रामप्रसाद निरञ्जनी की 'भाषा योगवाशिष्ठ' पुस्तक मिलती है । ये पहले लेखक हैं जिनका खड़ी बोली का गद्य इतना आरम्भिक होने पर भी आश्चर्यजनक रूप से मधुर, स्वच्छ, सरल तथा प्रवाहपूर्ण है । ऐसी सुन्दर भाषा फिर बहुत दिनों तक नहीं मिलती । उद्धरण देना अप्रासंगिक तथा असंगत न होगा ।

"प्रथम परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है जिससे सब भासते हैं और जिसमें सब लीन और स्थित होते हैं, × × × जिस आनन्द के समुद्र के कण से सम्पूर्ण विश्व आनन्दमय है, जिस आनन्द से सब जीते हैं। अगस्त जी के शिष्य सुतीक्ष्ण के मन में एक सन्देह पैदा हुआ तब वह उसके दूर करने के कारण अगस्त मुनि के आश्रम को जा विधिसहित प्रणाम करके बैठे और विनती कर प्रश्न किया कि हे भगवान ! आप सब तत्त्वों और शास्त्रों के जाननहारे हो, मेरे एक सन्देह को दूर करो । मोक्ष का कारण कर्म है कि ज्ञान है अथवा दोनों हैं समझाइ के कहो । इतना सुनि अगस्त मुनि बोले कि हे ब्रह्मण्य ! केवल कर्म से मोक्ष नहीं होता और न केवल ज्ञान से मोक्ष होता है, मोक्ष दोनों से प्राप्त होता है । कर्म से अंतःकरण शुद्ध होता है, मोक्ष नहीं होता और अंत.करण की शुद्धि बिना केवल ज्ञान से मुक्ति नहीं होती ।"

यह नहीं भूल जाना चाहिए कि यह १७६८ का गद्य है, बिलकुल आज जैसा लगता है सरल, सुबोध, सुस्पष्ट । बीच में कहीं एक दो ब्रजभाषा के रूप आगए हैं । यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि गद्य का जैसा सुन्दर उदाहरण श्री रामप्रसाद निरञ्जनी ने रखा है उतना सुन्दर हिंदी के आदि आचार्य कहे जाने वालों में से भी कोई नहीं रख पाया ।

पं० दौलतराम ने इसके पश्चात् सन् १८१८ में हरिषेणाचार्य कृत जैन

पद्मपुराण का भाषानुवाद लगभग ७०० पृष्ठों मे किया। अनुवाद की भाषा रामप्रसाद निरञ्जनी की भाँति परिमार्जित नहीं है फिर भी वह उर्दू से दूर है और हिन्दुस्तानी का एक अच्छा रूप सामने रखती है। इस पुस्तक मे खडी बोली अपने प्राकृत रूप मे आई है, मुसलमानो द्वारा गृहीत तथा प्रचारित रूप में नहीं। खडी बोली को मुसलमानों ने बनाया नहीं अपितु अपनाया था। पद्मपुराण की भाषा का उदाहरण लीजिए :—

"जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र विषै मगधनामा देश अति सुन्दर है, जहाँ पुण्याधिकारी बसे हैं, इन्द्र के लोक समान सदा भोगोपभोग करे हैं और भूमि विषै साँठेन के वाड़े शोभायमान हैं। जहाँ नाना प्रकार के अन्नों के समूह पर्वत समान ढेर हो रहे हैं।"

खड़ी बोली का सुन्दर निदर्शन होते हुए भी उपर्युक्त गद्यांश मे ब्रजभाषा का वाक्य-विन्यास कहीं-कहीं पाया जाता है।

खडी बोली वास्तव में बोलचाल की भाषा तो बहुत दिन से थी। उसे साहित्यिक भाषा होने का गौरव देर से प्राप्त हुआ। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि खडी बोली मुसलमानों की भाषा थी। विजेता होने पर जब मुसलमानों ने खड़ी बोली में अरबी फारसी के शब्द कहना प्रारम्भ कर दिया तो हिंदू उसे मुसलमानी भाषा कहने लगे। पं० शुक्ल इसके विषय में लिखते हैं :—"धीरे धीरे यही खड़ी बोली व्यवहार की सामान्य शिष्ट भाषा हो गई। जिस समय अंग्रेजी राज्य भारत में प्रतिष्ठित हुआ, उस समय सारे उत्तरी भारत में खड़ी बोली व्यवहार की शिष्ट भाषा हो चुकी थी। जिस प्रकार उसके उर्दू कहलाने वाले कृत्रिम रूप का व्यवहार मौलवी, मुन्शी आदि फारसी तालीम पाए हुए कुछ लोग करते थे उसी प्रकार उसके असली स्वाभाविक रूप का व्यवहार हिंदू साधु, पण्डित, महाजन आदि अपने शिष्ट भाषण में करते थे। जो संस्कृत पढ़े-लिखे या विद्वान् होते थे, उनकी बोली मे संस्कृत के शब्द भी मिले रहते थे।"

अंग्रेजों ने भारत मे आते ही यह बात समझ ली कि मुसलमानों, मुल्लाओं द्वारा गृहीत खडी बोली का रूप स्वाभाविक तथा विकासयोग्य नहीं है अतः उन्होने अपने धर्म-प्रचार के लिए खडी बोली के उसी स्वाभाविक रूप

को लिया जो समाज में प्रचलित था। इस प्रकार मिशनरियों द्वारा जहाँ हमारे देश के सहस्रों सीधे-साधे व्यक्ति लोभ के आकर्षण में पथभ्रष्ट कर दिए गए, वहाँ एक लाभ भी हुआ कि ईसाइयों ने अपने धर्म प्रचार के लिए हिंदी को चुना और इस प्रकार खड़ी बोली के गद्य की पर्याप्त उन्नति हुई। अंग्रेज़ों ने स्वयं ही नहीं यहाँ के विद्वानों को भी हिंदी में पुस्तक लिखने के लिए प्रेरित किया। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में चार महानुभाव हिन्दी के प्रथम आचार्य माने जाते हैं जिन्होंने खड़ी बोली गद्य का एक व्यवस्थित रूप सामने रखा। उनके नाम हैं :—सदासुखलाल, इंशा अल्लाखाँ, लल्लूलाल, सदल मिश्र।

सदासुखलाल—इन्होंने बिना किसी के कहे ही हिंदी लिखना आरम्भ किया। ये भक्त पुरुष थे। सच पूछा जाय तो चारों आचार्यों में इनका गद्य सर्वश्रेष्ठ है। देखिए :—"इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं आरोपित उपाधि है। क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चाण्डाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरन्त ही ब्राह्मण से चाण्डाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से लोग हमें नास्तिक कहेंगे। पर जो बात सत्य होइ उसे कहना चाहिए कोई बुरा माने कि भला।" हिन्दी का सुन्दर रूप इसमें मिलता है।

इंशा अल्लाखाँ—इनकी 'रानी केतकी की कहानी' बहुत प्रसिद्ध है। इनका जीवन बड़ा संकटापन्न रहा। अपनी कहानी लिखने का ये कारण बताते हैं :—"एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिन्दी की छुट और किसी बोली का पुट न मिले। तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो।" इंशा 'भाखा' तो संस्कृतगर्भित हिन्दी को कहते थे और उर्दू फारसी मिश्रित हिन्दी को। असली हिन्दी को वे इससे दूर मानते थे। उन्होंने जो लिखा उसका उदाहरण लीजिए :—

"जब दोनों महाराजों में लड़ाई होने लगी, रानी केतकी सावन-भादों के रूप रोने लगी, और दोनों के जी में यह आ गई—यह कैसी चाहत जिसमें लहू बरसने लगा और अच्छी बातों को जी तरसने लगा।"

लल्लूलाल जी—आगरा निवासी थे, इन्होंने कलकत्ता के फोर्ट विलि-

यम कालेज के अध्यापक जान गिल क्राइस्ट के आदेश से प्रेमसागर लिखा जिसमें भागवत के १० वें अध्याय की कथा कही गई है। इन्होंने यद्यपि प्रतिज्ञा तो नहीं की थी कि उर्दू-फारसी के शब्द न आने दूंगा फिर भी वे इनसे बचे हैं। ये उर्दू और संस्कृत के पण्डित थे अतः साधारण उर्दू शब्दों का भी बहिष्कार इनमें मिलता है। इनकी भाषा में व्रजभाषा का पुट अधिक मिलता है। इनकी रचना से एक उदाहरण लीजिये—

"इतना कह महादेव जी गिरिजा को साथ ले गंगा तीर पर जाय, नीर में न्हाय न्हिलाय अति लाड प्यार से लगे पार्वती जी को वस्त्र आभूषण पहिराने। निदान अति आनन्द में मग्न हो डमरू बजाइ-बजाइ, ताण्डव नाच-नाच संगीत शास्त्र की रीति से गाय-गाय लगे रिझाने।"

सदल मिश्र—इन्होंने खड़ी बोली के गद्य में नासिकेतोपाख्यान लिखा। फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों की प्रेरणा से ही यह कार्य इन्होंने आरम्भ किया था। व्रजभाषा का पुट इनकी भाषा में अधिक नहीं। इनकी खड़ी बोली अधिक व्यवहारोपयोगी है। इनकी भाषा में पूर्वी भाषा के शब्दों का बाहुल्य है। इनके गद्य का एक उदाहरण लीजिये—

"इस प्रकार से नासिकेत मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन-जौन कर्म किए से जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे कि गौ, ब्राह्मण, माता-पिता, मित्र, बालक, स्त्री, स्वामी, वृद्ध, गुरु, इनका जो बध करते हैं वो झूठी साक्षी भरते झूठ ही कर्म में दिन रात लगे रहते हैं।"

इसके पश्चात् ईसाइयों ने अपने स्वार्थ के लिये यद्यपि हिन्दी का प्रयोग किया तथापि इससे हिन्दी के विकास में पर्याप्त सहायता मिली। कालान्तर में राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द तत्कालीन शिक्षा विभाग के इंस्पेक्टर तथा राजा लक्ष्मणसिंह ने हिन्दी की सेवा की। राजा शिवप्रसाद ने राजा भोज का सपना, कंजूस का घोड़ा, आदि रचनायें लिखीं। राजा शिवप्रसाद 'आम फहम' भाषा पसन्द करते थे। इनके द्वारा लिखे गए इतिहास में इनकी प्रवृत्ति उर्दू की ओर ही चली थी। पता नहीं क्यों? राजा लक्ष्मणसिंह शुद्ध हिन्दी लिखने के पक्षपाती थे—शकुन्तला नाटक के अनुवाद के रूप में इन्होंने आदर्श हिन्दी का रूप रखा। तत्पश्चात् भारतेन्दु बाबू का हिन्दी खड़ी बोली के

क्षेत्र में प्रवेश हुआ। ये कविता ब्रजभाषा में करते थे और गद्य खड़ी बोली में लिखने के पक्षपाती थे। उन्होंने खड़ी बोली के गद्य का भण्डार अपनी कृतियों से भरा। फिर द्विवेदी काल और प्रसाद युग तो हिन्दी के स्वर्णकाल हैं। खड़ी बोली आज अपने चरम रूप को पहुंच रही है।

प्रश्न ७—हिन्दी साहित्य में गद्य के विकास का इतिहास प्रस्तुत कीजिये।

उत्तर ७—इसमें सन्देह है कि मनुष्य कभी भी विचारों का आदान-प्रदान पद्य में करता होगा फिर भी यह आश्चर्यजनक है कि विश्व की सभी भाषाओं का प्राचीनतम साहित्य गद्य में न होकर पद्य में है। इसके कारण कुछ भी रहे हों—चाहे मुखस्थ करने की छन्द विषयक सुविधा, चाहे संगीत की मधुरता जो कण्ठस्थ करने में सहायक होती है। परन्तु इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि मनुष्य विचार-विनिमय गद्य में ही करता होगा। पद्य दिन प्रति दिन की भावनाओं को व्यक्त करने का उचित माध्यम प्रतीत नहीं होता। अन्य साहित्यों की भांति न तो संस्कृत साहित्य और न हिन्दी साहित्य ही उपर्युक्त सत्य के अपवाद हैं। संस्कृत, हिन्दी दोनों में आरम्भिक साहित्य पद्य में ही मिलता है।

फिर भी खोज करने पर कुछ गद्य ग्रन्थ मिल ही जाते हैं जो प्राचीन भी हैं। कुछ ऐसे ग्रन्थों का पता चला है जो हठयोग या ब्रह्म ज्ञान सम्बधी हैं तथा गद्य में लिखे गए हैं। ये ग्रन्थ गोरखपन्थी कहे जा सकते हैं। एक पुस्तक का गद्य तो बहुत प्राचीन है और उसके १४ वीं शताब्दी के होने में भी अधिक सन्देह नहीं है। उसकी भाषा का कुछ अंश उद्धृत करना उचित होगा—"श्री गुरु परमानन्द तिनको दण्डवत है। हैं कैसे परमानन्द आनन्द स्वरूप हैं सरीर जिन्ह को, जिन्ह के नित्य गाए तें सरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है। मैं जु हौं गोरिष सो मछन्दरनाथ को दण्डवत करत हौं। हैं कैसे वे मछन्दरनाथ? आत्म जोति निश्चल है अँतहकरन जिनके अरु मूलद्वार तें छह चक्र जिनि नीकी तरह जानें।" निश्चित रूप से ब्रज-भाषा का यह बहुत प्राचीन रूप है जो १४ वीं शताब्दी के लगभग का प्रतीत होता है। इसके पश्चात् कुछ गद्य साहित्य कृष्णभक्ति शाखा के

अन्तर्गत लिखे गए कुछ ग्रन्थों में मिलता है। कहते हैं स्वामी विट्ठल नाथ जी ने, जो श्री वल्लभाचार्य के पुत्र थे, शृंगाररस मंडन नामक एक ग्रन्थ लिखा। उसकी भाषा का एक उद्धरण लीजिये—"प्रथम की सखी कहतु हैं। जो गोपीजन के चरणविषैं सेवक की दासी करि जो इनकी प्रेमामृत में डूबिकैं इनके मन्द हास्य ने जीते हैं। अमृत समूह ता करि निकुञ्ज विषै शृंगाररस श्रेष्ठ रसना कीनो सो पूर्ण होत भई।" इसमें सन्देह नहीं कि प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा अधिक व्यवस्थित नहीं है। किन्तु वल्लभ सम्प्रदाय ही में दो बड़े ग्रन्थ मिलते हैं जिनकी भाषा अपेक्षाकृत अधिक परिमार्जित तथा व्यवस्थित है। पहले ग्रन्थ का नाम है 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' जो स्वामी गोकुलनाथ जी की लिखी हुई बताई जाती है। गोकुलनाथ जी स्वामी विट्ठलनाथ जी के पुत्र तथा श्री वल्लभाचार्य जी के पौत्र थे। लेकिन इस बात के निश्चित प्रमाण नहीं हैं कि इसे स्वामी गोकुलनाथ जी ने ही लिखा था। कारण यह है कि इसमें स्वामी गोकुलनाथ जी का वर्णन बड़े सम्मान पूर्ण शब्दों में तथा भक्ति के साथ किया गया है। यह सम्भव तथा उचित नहीं जान पड़ता कि किसी पुस्तक का लेखक स्वयं अपने विषय में इतने सम्मानपूर्ण ढंग से लिखे। ऐसा जान पड़ता है कि प्रस्तुत पुस्तक स्वामी गोकुलनाथ जी के किसी सामयिक शिष्य ने लिखी होगी और इसीलिये उनका (गोकुल-नाथ का) वर्णन उसने श्रद्धा और सम्मान के साथ किया होगा। कहा जाता है कि यह पुस्तक १७ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में किसी समय लिखी गई होगी।

दूसरी पुस्तक 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' है। यह पुस्तक कुछ बाद में लिखी गई प्रतीत होती है। कारण, इसमें उर्दू-फारसी शब्दों का पर्याप्त प्रयोग मिलता है। ये सब पुस्तकें ब्रजभाषा गद्य में लिखी गई हैं। गद्य में पण्डिताऊपन स्पष्ट झलकता है। किसी भी बात के विश्लेषण करने योग्य शक्ति भाषा में दिखाई नहीं देती। दूसरी बात यह है कि धार्मिक बातों के अतिरिक्त और किसी भी विषय का प्रतिपादन गद्य में नहीं मिलता। इससे स्पष्ट लगता है कि गद्य में ग्रन्थों की रचना को कभी प्रोत्साहन नहीं मिला, इसके कारण चाहे जो भी रहे हों। 'दो सौ बावन वैष्णवों की

वार्ता' से एक उद्धरण लीजिये जिससे यह स्पष्ट होजायगा कि गद्य में पूर्व गद्य ग्रन्थों की भाषा की अपेक्षा कुछ उन्नति हो रही थी या नहीं—

"सो नन्द ग्राम में रहतो हतो सो खण्डन ब्राह्मण शास्त्र पढ्यो हुतो। सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सब को खंडन करवो ऐसो वाको नेन हतो। याही ते सब लोगन ने वाको नाम खंडन पारयो हतो। सो एक दिन श्री महाप्रभु जी के सेवक वैष्णवन की मंडली में आयो। सो खंडन करन लाग्यो। वैष्णवन ने कही 'जो तेरो शास्त्रार्थ करनो होवै तो पण्डितन के पास जा, हमारी मंडली में तेरे आयवे को काम नहीं। इहाँ खंडन मंडन नहीं है। भगवद्वार्त्ता को काम है। भगवद्यश सुननो होवै तो इहाँ आवो।"

इस गद्य खण्ड से यह स्पष्ट है कि ब्रजभाषा का गद्य कुछ उन्नति कर चला था। कम से कम उसमें अब इतनी शक्ति आ चली थी कि जो लेखक कहना चाहता है वह बिना अधिक कठिनाई के कह सका है। भाषा सरल है, वाक्य छोटे-छोटे हैं, द्वित्व वर्ण भी नहीं हैं। इस गद्य से यह आशा की जा सकती थी कि उसका भविष्य उज्ज्वल है। पर जैसा हम आगे देखेंगे यह आशा व्यर्थ थी कारण आगे चलकर गद्य ने कोई विशेष उन्नति नहीं की अपितु उसकी अवनति ही एक प्रकार से हुई। इसके पश्चात् नाभादास कृत 'अष्टयाम' नामक पुस्तक मिलती है। यह भी धार्मिक पुस्तक है और इसमें राम की दिनचर्या का ही सविस्तार वर्णन है। उद्धरण लीजिये—

"तब श्री महाराज कुमार प्रथम वशिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिर श्री राजाधिराजजू को जुहार करिकै श्री महेन्द्र नाथ दशरथजू के निकट बैठत भए।"

यह बिल्कुल पण्डिताऊ भाषा है जो आज भी कथा-वाचक पण्डितों के यहाँ परम्परा रूप से गृहीत है। इसमें सन्देह नहीं कि रामायण या कथा-वाचक पण्डितों की जो भाषा है वास्तव में वह इसी भाषा का व्यावहारिक रूप है। साहित्य में लोकप्रिय न होने के कारण वह अधिक चल तो नहीं सकी लेकिन इस प्रकार के पण्डितों की जिह्वा उसकी आज भी क्रीड़ाभूमि है। इस भाषा के साहित्यिक रूप में मर जाने का एक सबसे बड़ा कारण यह भी है कि जिस वर्ग की यह भाषा थी वह वर्ग केवल धर्म की आड़ में ही अपनी

जीविका चला रहा था अन्य विषयों का न उसे ज्ञान था न वह इसे हितकर ही समझता था। इस प्रकार एक तरह से धार्मिक मानों ने गद्य के ऊपर निरंकुश अधिकार कर रखा था। जनता अधिकांश में अशिक्षित थी और वह भगवान के पारलौकिक एवं अलौकिक गुणों की कहानियों को अन्ध श्रद्धा से सुनती थी। आज इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं रह गया है कि यदि ब्राह्मण लोग जनता को सब विषयों में ज्ञान देने का प्रयत्न करते और विशेष रूप से ब्रजभाषा गद्य के माध्यम से तो कोई कारण न था कि गद्य की उस समय यथेष्ट उन्नति न हुई होती। गद्य के विकास में हमारी धार्मिक रूढ़ियाँ एक सीमा तक बाधक रहीं और एक सीमा तक एक वर्ग विशेष के स्वार्थ जिन पर उनकी जीविका आश्रित थी।

किन्हीं वैकुण्ठ मणि शुक्ल ने ब्रजभाषा गद्य में दो पुस्तकें लिखीं—'अगहन माहात्म्य' तथा 'वैशाख माहात्म्य'। ये शुक्ल जी ओरछा के तत्कालीन (१६८०) राजा जसवन्त सिंह के यहाँ रहते थे। भाषा का उदाहरण (द्वितीय से) लीजिए—

"सब देवतन की कृपा तें वैंकुठमनि सुकुल श्री रानी चन्द्रावती के धरम पढ़िवे के अरथ यह जसरुप ग्रन्थ वैशाख महातम भाषा करते भए। एक समय नारदजू ब्रह्मा की सभा से उठि कै सुमेर पर्वत को गए।"

एक नासिकेतोपाख्यान ग्रन्थ ब्रजभाषा में लिखा और मिलता है जिसके लेखक का नाम अज्ञात है। इसमें तो सन्देह नहीं कि इसकी भाषा अपेक्षाकृत व्यवस्थित है। इसका रचना काल १७६० के आसपास मानना चाहिए। इसकी भाषा का उदाहरण लीजिए—

"हे ऋषीश्वरो! और सुनो, मैं देख्यो है सो कहूँ। कालै वर्ण महा-दुख के रूप जम किंकर देखे। सर्प बीछू, रीछ व्याघ्र सिंह बड़े-बड़े ग्रध्र देखे। पन्थ में पापकर्मी कौं जमदूत चलाइ कैं मुदगर अरु लोह के दंडकर मारि देत हैं। आगे और जीवन को त्रास देते देखे हैं। सु मेरी रोम-रोम खरो होत है।"

एक पुस्तक ब्रजभाषा गद्य की 'वैताल पंच्चीसी' मिलती है जिसके लेखक हैं सूरत मिश्र और इसका रचना काल है सं० १७६७। 'आईन अकबरी की

भाषा वचनिका' नामक पुस्तक गद्य में किन्हीं लाला हीरालाल ने लिखी। उसकी भाषा का नमूना देखिए :—"अब शेख अवलफजल ग्रन्थ को कर्त्ता प्रभु को निमस्कार करके अकबर बादशाह की तारीफ लिखने को कसत करै है—या की बडाई अरु चेष्टा अरु चिमस्कार कहाँ तक लिखूँ । कही जात नहीं। तातें याके पराक्रम भाँति भाँति के दस्तूर वा मनसूबा दुनिया में प्रकट भए, ताकौं संखेप लिखत हौं।"

'निमस्कार', 'चिमत्कार' आदि शब्द बताते हैं कि लेखक को संस्कृत का ज्ञान नहीं है । कारण अत्यन्त प्रारम्भिक कृष्ण भक्तिशाखा के व्रजभाषा गद्य लेखक भी तत्सम संस्कृत शब्दों का प्रयोग करते देखे जाते हैं । उर्दू शब्द 'मनसूबा', 'दस्तूर' आदि का बाहुल्य इस बात को भी प्रकट करता है कि इस भाषा का उद्देश्य भाषा की उन्नति या स्वान्तः सुखाय जैसी कोई बात न होकर केवल तत्कालीन बादशाह की प्रशंसा भर है। उर्दू शब्दो का अधिकाधिक मिश्रण इस बात को स्पष्ट करता है कि लेखक मुसलमानी बादशाहों की खुशामद मे विश्वास रखने लगे थे और अपनी प्राचीन भाषा की रूपरक्षा का आदर्शयुक्त प्रश्न उनके लिये महत्त्वपूर्ण नहीं रह गया था । अब वह समय आ गया था जब कि साधक साहित्यिकों का नितांत अभाव था और साहित्य एवं भाषा से अनभिज्ञ व्यक्ति केवल खुशामद के बल पर साहित्य सृजन का दम भरने लगे थे ।

व्रजभाषा काव्य के इतने उपयुक्त हो गई थी कि सम्भवतः गद्य के नीरस, शुष्क एवं कड़े क्षेत्र में आते उसके कोमल 'पाँइ में कांकरी चुभने' का डर रहता था । व्रजभाषा का पद्य में जितना श्रृङ्गार किया गया था, जितना परिष्कार किया गया था उतना शायद ही विश्व की किसी भाषा का हुआ हो। लेखक व्रजभाषा का सुन्दरतम रूप पद्य में ही रख सके। गद्य की यथार्थता में उसके सौंदर्य को क्षतविक्षत होते देख वे उससे पलायन कर गए। व्रजभाषा गद्य का विकास कुछ हुआ तो सही किन्तु आशाजनक रूप में तो कभी भी नहीं । कृष्ण भक्ति शाखा का व्रजभाषा गद्य का साहित्य बहुत कुछ आशाजनक था परन्तु बाद में चल कर तो वह कुरूप ही होता गया और अंत में खड़ी बोली के द्वारा व्रजभाषा गद्य साहित्य क्षेत्र से उठाकर बाहर ही फेंक दिया गया ।

१८ वीं शताब्दी में कुछ टीकायें व्रजभाषा गद्य में लिखी मिलती हैं परतु वे इतनी उलझी हुई और अस्पष्ट भाषा मे हैं कि मूल चाहे समझ में आ भी जाय पर टीका के समझने की चेष्टा व्यर्थ ही जायगी ।। ऐसी एक टीका का उदाहरण लीजिये । निम्नांकित पंक्तियाँ श्रृङ्गार शतक से उद्‌धृत हैं :—

उन्मत्तप्रेमसंरंभादालभन्ते यदंगनाः ।
तत्र प्रत्यूहमाधातुं ब्रह्मापि खलु कातरः ॥

इसकी टीका देखिए :—"अंगना जु है स्त्री सु । प्रेमके अति आवेश करि । जु कार्य करना चहति है ता कार्य विषै । ब्रह्माऊ । प्रत्यूहं आधातुं । अन्तराउ कीवे कँह कातर काइरु है । काइरु कहावै असमर्थ । जु कछु स्त्री कर्यौ चाहैं सु अवस्य करहि । ताको अन्तराउ ब्रह्मा पँह न कर्यो जाइ और की कितीक बात ।" स्पष्ट है कि टीका मूल से भी अधिक क्लिष्ट तथा अस्पष्ट लगती है । इसी प्रकार का एक और उदाहरण लीजिये—

"राघव शर लाघव गति छत्र मुकुट यों हयो ।
हंस सबल अंसु सहित मानहु उड़ि कै गयो ।।

इसकी टीका देखिए :—सबल कहैं अनेक रंग मिश्रित हैं, अंसु कहैं किरण जाके ऐसे जे सूर्य हैं तिन सहित मानों कालिंदगिरि श्रृङ्ग तें हंस कहैं हँस समूह उडि गयौ है । यहां जाति विषै एक वचन है । हंसन के सदृश श्वेत छत्र है और सूर्यन के सदृश अनेक रंग नग जटित मुकुट है।" उपरोक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि व्रजभापा गद्य निरन्तर विकासमान होने के स्थान पर आरंभ से ही ह्रासोन्मुख रहा । व्रजभापा गद्य के इस गिरे हुए रूप से खड़ी बोली ने बड़ा लाभ उठाया। उसने शीघ्र ही गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में अपना प्रभाव बढ़ा लिया और फिर व्रजभापा को इन दोनों क्षेत्रों स निकाल बाहर किया । खड़ी बोली की उन्नति का एक मुख्य कारण यह भी था कि तत्कालीन मुसलमान राजा उसे अपनी ही भाषा समझते थे अतः उसके प्रचार-प्रसार के लिये उन्होंने भरसक प्रयत्न किया । मुसलमान बादशाहों के उत्तराधिकारी अंग्रेज़ों ने भी इस भाषा में विकास के गुण देखे और इसे अपना लिया । उन्होंने स्वयं प्रेरणा देकर इस भाषा में पुस्तकें लिखाईं । आरम्भ मे इसके चार आचार्य हुए—मुन्शी सदासुख लाल, इंशा अल्ला खाँ, लल्लू लाल तथा सदल मिश्र । तत्पश्चात् दो और

व्यक्तियों का नाम खड़ा बोली गद्य के विकास में महत्व का है—राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद तथा राजा लक्ष्मणसिंह। तत्पश्चात् भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र ने खड़ी बोली गद्य में रचना करके उसकी नींव को और भी पुष्ट कर दिया। उसी का फल है कि आज खड़ी बोली गद्य का इतना विशाल भवन उस पर अडिग खड़ा है। ईसाई मिशनरियों एवं स्वामी दयानंद को भी हिंदी खड़ी बोली गद्य के विकास के साथ भूलना नहीं चाहिए। खड़ी बोली के प्रचार-प्रसार एवं परिष्कार में इन्होंने प्रशंसनीय सहायता की।

भारतेंदु हिंदी खड़ी बोली के सबसे बड़े पोषक कहे जायेंगे। उन्होंने खड़ी बोली गद्य को अपने पैरों पर खड़े होने योग्य बना दिया था। तत्पश्चात् महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा डा० श्यामसुन्दरदास ने उसका विशेष शृंगार कर उसे आकर्षक रूप प्रदान किया। आज हिंदी गद्य अपने तरुण रूप में अपने रूप तेज से किसी भी भाषा की आँखों में चकाचौंध पैदा कर सकता है। आज उसका क्षेत्र असीम हो गया है। उपन्यास, नाटक, कहानी, निबन्ध, समालोचना—किसी का भी आज हिंदी में अभाव नहीं। आज का हिंदी गद्य समृद्ध तथा विकासोन्मुख है।

प्रश्न ८—हिन्दी साहित्य के इतिहास की आधारभूत सामग्री की परीक्षा कीजिये। क्या यह सामग्री प्रामाणिक साहित्य के इतिहास की रचना के लिये पर्याप्त है? कारण सहित उत्तर दीजिये।

उत्तर ८—वीरगाथा काल से लेकर आधुनिक काल तक हमारे इतने विस्तृत हिन्दी साहित्य के इतिहास पर उचित प्रकाश डालने वाली सामग्री का सर्वथा अभाव है। फिर भी अधिकांश जो पता लगाया जाता है वह अन्तःसाक्ष्य के बल पर। जैसे जायसी ने अपने पूर्व की प्रेम परम्परा का तथा तत्सम्बन्धी कवियों का उल्लेख किया है, इसी प्रकार नाभादास ने भक्त कवियों का उल्लेख अपने भक्तमाल में किया है। गोकुलनाथ जी की 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' भी कुछ कवियों को प्रकाश में लाती है। किन्तु इतिहास के अध्ययन के लिये यह पर्याप्त प्रामाणिक सामग्री नहीं है। हमें हिन्दी साहित्य की क्रमिक प्रगति से परिचित कराने वाला तथा मुख्य

प्रवृत्तियों का निर्देशन करने वाला कोई इतिहास १६ वीं शताब्दी से पूर्व नहीं मिलता।

हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम इतिहास लिखा गया, परन्तु पहले हिन्दी में नहीं अपितु फ्रेंच भाषा में। इस इतिहास का नाम है "इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐंदुई ऐ ऐंदुस्तानी" और इसके लेखक का नाम है गर्सि द तासी। इसमें हिन्दू-मुसलमान कवि तथा कवयित्रियों का वर्णन दिया गया है। प्रथम तो उनका जीवन चरित्र दिया गया है तत्पश्चात् उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों की सूची और अन्त में उनकी रचनाओं के उद्धरण भी दिए गए हैं।

हिन्दी में सर्वप्रथम इतिहास लिखा गया "भाषा काव्य संग्रह" महेशदत्त शुक्ल द्वारा। इस इतिहास में भी कवि का जीवन चरित्र, काव्य तथा अन्त में कठिन शब्दों का कोष भी दिया हुआ है। यह इतिहास नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से १६३० संवत् में प्रकाशित हुआ।

'शिवसिंह सरोज' तीसरा ग्रन्थ है जिसमें कवियों एवं उनके काव्य के विषय में विवरण मिलता है। इसके लेखक हैं शिवसिंह सेंगर। यह इतिहास सं० १६४० में लिखा गया। 'शिवसिंह सरोज' में लगभग १००० (एक हजार) हिन्दी कवियों का परिचय उनकी कविता के उद्धरण सहित दिया हुआ है।

'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ़ हिन्दोस्तान' नामक इतिहास-ग्रन्थ जार्ज ग्रियर्सन ने 'शिवसिंह सरोज' के आधार पर लिखा। प्रस्तुत ग्रन्थ में एक विशेषता अवश्य है कि इसमें सामयिक साहित्यिक प्रवृत्तियों का उचित निर्देशन एवं विश्लेषण किया गया है। वर्णित कवियों की संख्या इसमें ६५२ है।

मिश्रबन्धु-विनोद भी इस दिशा में एक महत्वपूर्ण पुस्तक है। इतिहास का इतिवृत्तात्मक वर्णन सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में मिलता है। मिश्र-बन्धु-विनोद चार भाग में लिखा गया है और इसमे लगभग २२५० पृष्ठ हैं। लेखकों ने कितने अध्ययन के पश्चात् इसे लिखा है यह उसके पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है। इस पुस्तक में कुछ तो सर्वथा अज्ञात कवियों का

वर्णन है। इसके अतिरिक्त साहित्य के विविध अंगों पर समुचित प्रकाश भी डाला गया है। कवियों का श्रेणी विभाजन हमें इसमें मिलता है और उनका साहित्यिक मूल्यांकन भी। मिश्रबन्धुओं ने पांच हजार से भी अधिक कवियों का वृत्तान्त एवं उनकी साहित्यिक सेवा इसमें दी है।

'नव-रत्न' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ भी मिश्रबन्धुओं ने लिखा। इसमें नौ कवियों का विस्तृत आलोचनात्मक परिचय है तथा उनका स्थान-निर्धारण है।

"कविता कौमुदी" के लेखक हैं पं० रामनरेश त्रिपाठी। इस ग्रन्थ में त्रिपाठी जी ने भारतेन्दु बाबू के पूर्ववर्ती ८६ कवियों का जीवन विवरण उनकी कविता के साथ दिया है। कविता कौमुदी के दूसरे भाग में ४६ कवियों का विवरण है। इस प्रकार दोनों भागों में कुल मिलाकर १३८ कवियों का विवरण है। इसमें कवियों की आलोचना नहीं है अपितु परिचय-मात्र है।

संवत् १९७५ में 'ए स्केच आफ दी हिन्दी लिटरेचर' नामक हिन्दी साहित्य का इतिहास एडविन ग्रीव्स ने लिखा। नई बात यह है कि इन्होंने भक्तिकाल को दो भागों में विभाजित कर दिया है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के इतिहास को उन्होंने ९ भागों में बाँट दिया है।

संवत् १९७७ में किन्हीं एफ० ई० ने 'ए हिस्ट्री आफ हिन्दी लिट्रेचर' लिखा। यह ग्रीव्स की पुस्तक से अधिक वैज्ञानिक है। इसमे साहित्य-परिचय मात्र है।

संवत् १९८६ में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखा। इसमें उन्होंने कवियों की संख्या पर इतना ध्यान नहीं दिया जितना उनके महत्त्व पर। इस इतिहास को इससे पूर्व लिखे गए इतिहासों में सर्व-श्रेष्ठ कह सकते हैं। इसमें कवियों एवं उनकी कृतियों की युक्तियुक्त विवेचना भी मिलती है। काव्य प्रवृत्तियों का तो इस इतिहास मे जितना सुन्दर विवेचन है वैसा अन्यत्र नहीं मिलेगा।

सं० १९८७ में डा० श्यामसुन्दरदास ने "हिन्दी भाषा और साहित्य" नामक पुस्तक लिखी। इसके भाषा भाग में तो भाषा विज्ञान

सम्बन्धी तथ्य हैं तथा साहित्य भाग में उन्होंने हिन्दी साहित्य पर एक दृष्टि डाली है और उन्होंने मुख्य-मुख्य साहित्यिक प्रवृत्तियों का अच्छा विश्लेषण किया है।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने पटना विश्वविद्यालय में "हिन्दी भाषा और उसके साहित्य के विकास" पर विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान दिए। ७१६ पृष्ठ की इस व्याख्यान-माला में हरिऔध जी ने हिन्दी भाषा और साहित्य की पाण्डित्यपूर्ण आलोचना की है। इससे हिन्दी साहित्य की रूप रेखा स्पष्ट हो जाती है।

इसके पश्चात् डा० रामकुमार वर्मा ने हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास लिखा। डा० रसाल द्वारा लिखित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' तथा कृष्ण शंकर शुक्ल द्वारा लिखित 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' दो इतिहास और हैं जो हिन्दी साहित्य के अध्ययन की सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

दो ही मार्ग हैं जिनसे हम हिन्दी साहित्य का अध्ययन कर सकते हैं। अंतः साक्ष्य तथा बहिःसाक्ष्य। डा० रामकुमार वर्मा का कथन है—"बहिःसाक्ष्य की अपेक्षा अंतःसाक्ष्य अधिक विश्वसनीय होता है।" डा० रामकुमार वर्मा ने निम्नांकित प्रामाणिक ग्रन्थों का उल्लेख किया है जो हिन्दी साहित्य के अध्ययन की अच्छी सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

१—"चौरासी और दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता" इसके लेखक गोकुलनाथ हैं जो वल्लभाचार्य जी के पौत्र थे। इसका रचना काल सं० १६२५ है। इसमें पुष्टिमार्ग में दीक्षित वैष्णवों की जीवनी पर गद्य में प्रकाश डाला गया है, जिनमें अनेक कवि भी हैं। अष्टछाप के कवि भी इसी में परिगणित हैं।

२—'भक्तमाल' के लेखक नाभादास हैं। इसका रचनाकाल १६४२ है। १०८ छप्पय छन्दों में भक्तों का विवरण है। इनमें अनेक भक्त कवि भी हैं। साधारणतया प्रत्येक भक्त के लिए एक छप्पय है जिसमें उसकी विशेषताओं का उल्लेख है।

३—"गोसाईं चरित" के लेखक बेनीमाधव दास हैं। इसका रचना-

काल है सं० १६८७। इसमें चौपाई, दोहा और तोटक छन्दों में गोस्वामी तुलसीदास जी का जीवन चरित्र लिखा है। इसमें अनेक अलौकिक घटनाओं का भी समावेश किया गया है।

४—"भक्तनामावली" के लेखक ध्रुवदास हैं। इस ग्रन्थ का रचना काल है सं० १६९८। इसमें ११६ भक्तों का संक्षिप्त चरित्र वर्णन है। अंतिम नाम नाभादास जी का है।

५—"कविमाला" के लेखक तुलसी हैं (ये मानस रचयिता महाकवि तुलसी से भिन्न हैं)। इसका रचना-काल सं० १७१२ है। ७५ कवियों की कविताओं का इसमें संग्रह है। इन कवियों का कविता काल स १५०० से १७०० तक है।

६—"कालिदास हजारा" इसके लेखक हैं कालिदास त्रिवेदी और रचना काल सं० १५७५ हैं। इसमें २१२ कवियों की १००० कविताओं का संग्रह है। इन कवियों का कविता-काल सं० १४८० से लेकर १५७५ तक है। इसी के आधार पर शिवसिंह ने अपना सरोज लिखा है।

७—"काव्यनिर्णय" इसके लेखक भिखारीदास हैं। इसका रचना काल सं० १७८२ के लगभग है। इस ग्रन्थ में काव्य के आदर्शों के साथ अनेक कवियों का भी निर्देश किया गया है। किन्तु यह निर्देश संक्षिप्त है।

८—"सत्कवि गिरा विलास" के लेखक बलदेव हैं। इसका रचना काल सं० १८०३ हैं। इसमें सत्रह कवियों का काव्य संग्रह है जिनमें केशव, चिन्तामणि, मतिराम, बिहारी आदि मुख्य हैं।

९—"कवि नामावली" इसके लेखक सूदन हैं। और रचनाकाल सं० १८१० है। इसमें सूदन ने दस कवित्तों में कवियों के नाम गिनाकर उन्हें प्रणाम किया है।

१०—"विद्वान मोदतरंगिणी" इसके लेखक सुब्बासिंह हैं और इसका रचनाकाल १८७४ है। इसमे ४५ कवियों का काव्य संग्रह है जिसमें षटऋतु, नखशिख, दूती आदि का वर्णन है।

११. "रागसागरोद्भवरागकल्पद्रुम"—कृष्णानन्द व्यासदेव इसके लेखक हैं। रचना काल स. १९०० है। इसमें कृष्णोपासकों दो सौ से अधिक कवियों का

काव्य सग्रह उनके ग्रन्थों की नामावली सहित दिया गया है। यह ग्रन्थ ३ भागों में है। इसमें हिन्दी के अतिरिक्त मराठी, तेलगू, गुजराती, बंगाली, उड़िया, अंग्रेजी, अरबी, आदि में लिखे गए ग्रन्थों का भी उल्लेख है।

इनके अतिरिक्त और भी कितने ही ग्रन्थ मिलते हैं। संक्षेप में उनके नाम हैं—श्रृङ्गार सग्रह, रसचन्द्रोदय, दिग्विजयभूषण, सुन्दरी तिलक, कवि रत्नमाला, हफीजुल्लाखां हजारा, संतवानी संग्रह, सूक्ति सरोवर, व्रजमाधुरीसार आदि।

कुछ ऐसी पुस्तकें भी है जो बहि-साक्ष्य के अन्तर्गत आती हैं और जो हिन्दसाहित्य के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करती हैं।

१. आदिग्रथ—इसके लेखक नानक हैं और रचनाकाल स० १६६१ है। इसमे कबीर, रैदास आदि के पदो का संग्रह मिलता है।

२. राजस्थान—टाड इसके लेखक हैं और सं० १८८६ इसका रचना काल है। इसमे राजस्थान के चारणों के निर्देश हैं।

३. हिन्दूइज्म एण्ड ब्राह्मणइज्म—इसके लेखक हैं मानियर विलियम्स तथा रचनाकाल सं० १६४० है। इसमें हिन्दूधर्म के सिद्धान्तों के निरूपण में हिन्दी कवियों और आचार्यों के विचारों की आलोचना है।

४. नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट—यह डा० श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु तथा हीरालाल के संपादकत्व मे निकली। सं. १६५७ से इसका आरम्भ होता है। इससें अनेक अज्ञात कवियों और लेखकों का परिचय है तथा उनकी रचनाओं के उदाहरण है।

५. कबीर एण्ड दी कबीर पन्थ—इसके लेखक हैं श्री वेसकट और यह सं० १६६४ में लिखी गई। इस पुस्तक मे कबीर और कबीर पन्थ के आदर्शों का स्पष्टीकरण है।

६. हिस्ट्री आफ़ दी सिख रिलीजन—मैकालिक इसके लेखक हैं। सं० १६६५ इसका रचनाकाल है। इसमें सिख धर्म का आविर्भाव तथा उसके अन्तर्गत हिन्दी कवियों का भी उल्लेख है।

७. इण्डियन थीइज्म—मैकनिकाल इसके लेखक हैं। यह पुस्तक सं०

१६७२ में लिखी गई। इसमें हिन्दू दार्शनिक सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण है तथा इस सम्बन्ध मे कवियों का उल्लेख भी है।

८ ए डिसक्रिप्टिव केटलाग आफ़ वार्डिक ऐण्ड हिस्टरीकल मैन्यूस्क्रिप्ट—डा० एल० पी टेसीरस्टी इसके लेखक हैं। संवत् १६७४ इसका रचना काल है। इसमें राजस्थानी डिंगल काव्य के अंतर्गत अनेक ग्रन्थों के विवरण और उदाहरण हैं।

६. एन आउट लाइन आफ़ दी रिलीजियस लिट्रेचर आफ इण्डिया—फर्कंदार इसके लेखक हैं और इसका रचना काल सवत् १६७७ है। इसमें धार्मिक सिद्धान्तो के प्रकाश में कवियों की आलोचना है।

साहित्य केवल कविताओं का सग्रह ही नहीं होता उसमें तत्कालीन राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति प्रतिबिम्बित रहती है। हमारा हिंदी साहित्य इतिहास की कितनी ही घटनाओं को प्रकाश में लाता है। साहित्य के अतिरिक्त राजनीति, भूगोल, ज्योतिष आदि विषयों पर भी इससे अप्रत्यक्ष रूप में प्रकाश पड़ता है। परन्तु एक बात ध्यान देने की है कि हमारे यहाँ के साहित्यिकों ने कभी भी अपनी पुस्तक पर अपना नाम अथवा परिचय देना आवश्यक नहीं समझा। कारण, भारत की दार्शनिकता ने उन्हे यशःकांक्षा से सदैव विरत रखा। इससे एक हानि भी हुई कि आज साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करने के लिए हमारे पास प्रामाणिक सामग्री का बड़ा अभाव है। कितने ही प्रसिद्ध कवि एवं उनकी प्रसिद्धतम रचनाओं का काल तक निश्चित नहीं है। जैसे, गोरखनाथ का समय, सूर, तुलसी, कबीर आदि की जन्मतिथि एवं-जीवन वृत्तांत। यहाँ तक कि कितने ही बिलकुल आधुनिक कवियों का वृत्तांत भी काल कवलित हो गया। इसका प्रधान कारण एक तो यह है कि हमारे यहाँ इतिहास लेखन का शौक नहीं था। दूसरी बात यहाँ के लोगों का दृष्टिकोण पारमार्थिक अधिक रहा।

वीरगाथा काल की सम्पूर्ण सामग्री तो अब तक निश्चित नहीं हो पाई है। कोई भी इस काल का ऐसा कवि या रचना नहीं जिसका जन्म या रचना-संवत् सदिग्ध न हो। भक्तिकाल के अधिकांश कवि एवं उनकी रचनायें पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नहीं। तुलसी की रामायण तक में प्रक्षिप्त अंशों का

होना इसका प्रमाण है। उनके द्वारा लिखे गये ग्रन्थों की संख्या आज तक निश्चित नहीं है। सूरदास ने कितने पद लिखे इसे कोई नहीं जानता। उनका जन्म और निवास स्थान तक सन्दिग्ध है। उनके द्वारा लिखी अन्य पुस्तकों की न तो निश्चित संख्या ज्ञात है और न प्राप्त पुस्तकें निर्विवाद रूप से प्रामाणिक हैं।

रीतिकाल में बिहारी, देव आदि का जीवन वृत्त अन्धकाराच्छन्न है। देव ने कितने ग्रंथ लिखे कोई नहीं जानता। बिहारी ने सतसई के अतिरिक्त भी कुछ लिखा या नहीं? कुछ का विचार है लिखा कुछ का विचार है नहीं लिखा। भूषण का वास्तविक नाम तक ज्ञात नहीं। यही बात प्रसिद्ध कवि सेनापति के विषय में भी है।

कहने का साराश यह है कि साहित्य के इतिहास के अध्ययन में सहायक आधारभूत सामग्री का नितांत अभाव तो हिन्दी में नहीं है परन्तु जो कुछ सामग्री उपलब्ध है वह पूर्ण प्रामाणिक नहीं है। आल्हाखंड की मूल प्रति तक प्राप्त नहीं। पृथ्वीराज रासो जैसा ग्रन्थ भी निश्चित रूप से प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार मीरा के पदों की भाषा भी अस्थिर है और प्रामाणिक नहीं। हमारे पास ग्रन्थ तो हैं पर वे प्रामाणिक कम हैं। उनके लेखकों के नाम तक प्रामाणिक नहीं है। ऐसी दशा में यह कहने में संकोच नहीं कि हिन्दी साहित्य के इतिहास की आधारभूत सामग्री की प्रामाणिकता संदिग्ध है अतः उसके उचित अध्ययन की सामग्री का अभाव ही समझना चाहिए। इस सन्दिग्ध सामग्री के आधार पर एक प्रामाणिक इतिहास की रचना सम्भव नहीं। अतः विद्वानों का कर्तव्य है कि वे अनुमान के स्थान पर अन्वेषण से काम लें और जनश्रुतियों को ऐतिहासिक सत्य का रूप न दें; केवल तभी एक प्रामाणिक साहित्य के इतिहास की रचना सम्भव है।

प्रश्न ६—वीरगाथा-काल को वीरगाथा-काल क्यों कहते हैं? उसकी विशेषताओं को स्पष्ट कीजिये।

उत्तर ६—हिंदी साहित्य का प्रारम्भिक काल वीरगाथा-काल कहलाता है क्योंकि जब हिंदी साहित्य का प्रथमतः सृजन हुआ उस समय तक मुसलमानों के भारतवर्ष पर केवल आक्रमण ही नहीं होने लगे थे अपितु पंजाब और

सिंध प्रान्तों में उन्होंने कुछ भूमि भी हस्तगत कर ली थी । विदेशियों के ये आक्रमण एक-बाद-दूसरा होते ही रहते थे और आक्रमण का सिंधु अब राजस्थान के तट से टकराने लगा था। अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए मुसलमानों से लोहा लेने की आवश्यकता थी और लोहा लेने के लिए जब तक समाज को ही तैयार नहीं किया जाय तब तक युद्ध में कुछ व्यक्ति तो सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। युद्ध-प्रियता सामाजिक स्तर पर बढ़ाने के लिए यह आवश्यक था कि कविगण युद्ध के गाने ही गायें और समाज के मन-मस्तिष्क में युद्ध के संस्कार बना दें।

अतः वीरगाथा-काल के कवि का उत्तरदायित्व असाधारण था। एक ओर तो उसे समाज में वीरता की भावनाओं का प्रचार-प्रसार करना था दूसरी ओर युद्ध क्षेत्र में सब से आगे रहकर असि ग्रहण का कठिन कार्य भी उसे करना होता था। अतः उस समय के साहित्य में दो विशेषताएं मुख्य रूप से आ गईं—एक तो युद्धों का अधिकतर वर्णन दूसरा उस वर्णन में स्वाभाविकता की मात्रा का प्रामुख्य। कारण, उस समय के कवि युद्ध के प्रत्यक्षदर्शी थे। घर गद्दी पर बैठ कर काल्पनिक उड़ान भरने का अवसर उस समय नहीं था। यही कारण है कि वीरगाथा-काल के साहित्य में घोड़ों की टाप, पैदलों की भगदड़, हाथियों की चिंघाड़, वीरों के सिंहनाद तथा तलवारों की झनझनाहट का शब्द अत्यत स्पष्ट है जो बाद के किसी काल में नहीं मिलता। वीरगाथा काल के कवियों ने देश की संस्कृति ही बदल दी थी। स्त्रियों के लिए 'सौभाग्यवती हो' यह शब्द आशीर्वाद नहीं अपितु अभिशाप समझे जाते थे। कवियों ने ऐसी संस्कृति का निर्माण कर लिया था जिससे युद्ध क्षेत्र में सैनिकों की कमी न पड़े। अंतिम रक्त की बूंद रहते देश का अंतिम व्यक्ति युद्ध के लिए तैयार था। मातायें अपने पुत्रों को, पत्नियाँ अपने पतियों को स्वय ही युद्ध अभिषेक कर उन्हें विदा करती थीं और उनसे वचन लेती थीं कि वे जीवित रहते हार कर लौटेंगे नहीं। वीरगाथा-काल की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि उस समय की नवीन सामयिक संस्कृति तत्कालीन साहित्य में प्रतिबिम्बित है। यह कवियों का कितना महान् कार्य था कि उन्होंने सारे देश को ही सैनिक बनाने का सफल प्रयत्न किया। भजन के समय, ब्याह के समय, उत्सवों में जो भी गाने

गाए जाते थे वे युद्ध के गाने थे जिनमें केवल यही संदेश था कि विदेशी हमें दास बना लेगा, हमारी स्त्रियों का अपमान करेगा अतः अंतिम श्वास तक हमारे व्यक्ति को लड़ना चाहिए। इतना ही नहीं हार कर भागे हुए व्यक्ति को न तो घर में शरण ही मिलती थी और न उससे कोई किसी प्रकार का व्यवहार ही रखता था। सारांश यह कि उसका पूर्ण सामाजिक बहिष्कार कर दिया जाता था। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि घर का, स्त्री-बच्चों का प्रेम ही मनुष्य को जीवित बनाए रखने का लोभ देता है जब वही नहीं रहेगा तो जीने में किसे आनंद आएगा। उस समय के सैनिक जानते थे कि घर हारकर भागने से उन पर जितने व्यंग कसे जायँगे, समाज में जितना असम्मान होगा, उनकी स्वयं की पत्नियाँ उन्हें नपुंसक तथा कायर समझेंगी; उससे अच्छा तो यही है कि रणक्षेत्र में वीर-गति प्राप्त की जाय। अत. यह स्पष्ट है कि वीरगाथा-काल के कवियों के सामने एक ऐसा आंदोलन था जो देश के भाग्य का निबटारा करने वाला था और उन्हें इसमें सहयोग देना था। कवियों ने विरोधी शक्तियों का प्रतिरोध कविता से किया। कविता में कितनी शक्ति थी यह पूर्व विवेचन से स्पष्ट है। अतः यह एक सामयिक आवश्यकता थी कि हिंदी का आदिकाल वीरगाथा-काल होता। कवियों ने इतने मनोवैज्ञानिक कौशल से अपना यह कार्य किया था कि आश्चर्य होता है। एक स्त्री के एक नाइन महावर लगाने आई है। स्त्री नाइन से कहती है कि एक दिन और ठहर, मैं इकट्ठा ही महावर लगाऊँगी। कल मेरा पति युद्ध में वीरगति प्राप्त करेगा तब खूब महावर लगाना। इसमें व्यंग्य है कि मुसलमानों की शक्ति अपरिमित है और हमारी परिमित, अतः हारना अवश्यम्भावी है किन्तु मैं जानती हूं मेरा पति कायर नहीं जो घर भाग कर आए। वह वीर है अतः पराजय को पीठ न टेकर उसे छाती पर सहन करेगा और वीरगति को प्राप्त होगा।

नायण आजु न माण्डि पग कालि सुणींजै जंग।
धारा लागैगो धणीं तब दीजो घण 'रंग॥

कवियों ने अपने आंदोलन के द्वारा स्त्रियों के दैनिक जीवन में शृंगार वर्जित कर दिया था। वे केवल चितारोहण के अवसर पर सोलह शृंगार कर सकती थीं और आश्चर्य है कि स्त्रियाँ सोलह शृंगार करने के लिए उत्सुक

रहती थीं। वे उस पति को पसंद नहीं करती थीं जो उनके सोलह शृंगार करने में बाधक बने या विलम्ब लगाए। उस समय का नारा था—"बरस अठारह छत्री जीए आगे जीने को धिक्कार।"

इसी प्रकार एक नववधू अपनी माँ से कहती है कि "माँ पाणिग्रहण के अवसर मैंने अनुभव किया कि निरन्तर युद्ध व्यवसाय के कारण उनके बहुत ठेठें पड़ गई हैं। वे शीघ्र ही कभी वीरगति को प्राप्त करेंगे और मुझे चितारोहण का अलौकिक सौभाग्य प्राप्त होगा।"

वीरगाथा काल के कवियों की ही यह कठिन साधना थी जिसने युद्धक्षेत्र में बलि वीरों की कभी भी कमी नहीं होने दी। यदि वीर कवियों या वीर काव्य का अभाव होता तो राजपूताना शायद बिना युद्ध के ही हस्तगत कर लिया गया होता जो मुसलमान राजाओं का जीवन भर आँख का काँटा बना रहा। चंद, जगनिक आदि घर बैठकर कविता करने वाले कवि नहीं थे, अपितु स्वयं सेना के अग्र भाग में रहकर असि धारण करने वाले कवि थे। कभी-कभी पराजय की आशंका होने पर ये आशु कविता द्वारा वीरों के रक्त को उत्तेजित करते थे और इस प्रकार कितनी ही बार हारते-हारते जीत जाते थे। संक्षेप में कहें तो कह सकते हैं कि वीरगाथा काल के पूरे साहित्य में एक युद्ध आह्वान है।

किन्तु यह कहना अधिक ठीक न होगा कि वीर रस के अतिरिक्त और कोई रस ही इस काल की कविता में नहीं है। विद्वानों का कथन है कि यदि हिसाब लगाया जाय तो शृंगारपरक कविता परिमाण में वीर काव्य से अधिक होगी। बात यह है कि उस समय (वीरगाथा काल में) उत्तरी भारत खंड राज्यों में विभाजित था। प्रत्येक खंड राजा अपने को सार्वभौम शासक समझता था। उस समय युद्ध का उन्माद था, युद्ध एक विज्ञान नहीं था। उस समय राजा आपस में लड़ते रहते थे। उन पारस्परिक युद्धों के मूल में कोई न कोई राजकुमारी अवश्य रहती थी। आल्हा की यह पंक्ति उस समय की भावना को स्पष्ट कर देगी—"जिहि की बिटिया सुन्दर देखी तिहिं पर जाई धरे हथियार।" युद्ध उस समय एक शौक हो गया था। कवि लोग अपने आश्रय-दाता को युद्धोन्मुख बनाए रखने के लिए जहाँ उसका अतिशयोक्तिपूर्ण यश वर्णन करते थे, वीरता का बखान करते थे वहाँ किसी राजकुमारी पर उसे

आसक्त कराने के लिए उसका रूप वर्णन—अतिशयोक्तिपूर्ण रूप वर्णन आवश्यक रहता था। इसके साथ-साथ यह दिखाना और भी आवश्यक था कि वह राजकुमारी तो स्वयं इस राजा पर आसक्त है परन्तु उसका पिता पाणि-ग्रहण में बाधक है। बाधा तलवार से हटानी चाहिए और प्रेम की रक्षा करनी चाहिए। उनकी कविता के यही भाव रहते थे। प्रेम दोनों ओर से होने के कारण उसका विस्तार में वर्णन आवश्यक हो गया। संक्षेप में वीर रस के आवरण में वीरगाथा काल में शृंगार रस का शरीर छिपाया गया है। डा० श्यामसुन्दर दास इस काल की कविताओं की शृंगार प्रवृत्ति के विषय में लिखते हुए कहते हैं :—

"वीरों को युद्ध के उपरांत विश्राम काल में मन-बहलाव के लिए प्रेम की आवश्यकता होती है और काव्यों में भी रसराज शृंगार के बिना काम नहीं चल सकता। इसी विचार से अन्य देशों में ऐसे वीर काव्यों में युद्ध और प्रेम की परम्परा प्रतिष्ठित हुई थी। पृथ्वीराज रासो आदि वीर काव्यों में भी बीच-बीच में शृंगार की आयोजना की गई है और वीरों के आमोद काल में शृंगार मूर्तिमती रमणियों का उपयोग किया गया है। कभी-कभी तो पारस्परिक विद्वेष की वृद्धि तथा तत्संभव युद्ध के कारणस्वरूप राजकुमारियों के स्वयंवर कराए गए हैं और इस प्रकार वीरता के प्रदर्शन के अवसर निकाले गए हैं। सारांश यह कि यहाँ की वीरगाथाओं में शृंगार कभी-कभी वीरता का सहकारी और कभी-कभी उसका उत्पादक बन कर आया है और बराबर गौण स्थान का अधिकारी रहा है।'

कहने का अभिप्राय यह कि यद्यपि वीरगाथा काल में शृंगार काव्य प्रचुरता से मिलता है परन्तु वह लाया गया वीर रस के लिए ही है।

वीरगाथा काल के कवियों के भाव कुछ अधिक ऊंचे नहीं थे। उनके समक्ष अन्तर्राष्ट्रीय आदर्श नहीं था। वे सकीर्ण आदर्शों को अपना लक्ष्य बनाए हुए थे। डा०श्यामसुन्दरदास इस विषय में लिखते हैं—"हिंदी के आदि-युग में अधिकांश ऐसे ही कवि हुए जिन्हें समाज को संघटित तथा सुव्यवस्थित कर उसे विदेशी आक्रमणों से रक्षा करने में समर्थ बनाने की उतनी चिंता नहीं थी जितनी अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा द्वारा स्वार्थसाधन करने की थी।" कवि वीरता

का भाव अपने राजा की सेना में तो भरते थे परन्तु उनके आदर्श सीमित थे, अतः सारे देश में यह काम न हो सका। यद्यपि इन कवियों ने प्रकारान्तर से समाज के प्रत्येक व्यक्ति को युद्धलिप्सु बना दिया था, पर टुकड़ियों में, एक साथ नहीं। यदि तत्कालीन सभी कवि एक साथ समाज के सभी व्यक्तियों को युद्ध के लिए प्रेरित करते तो आज भारतवर्ष का इतिहास कुछ और होता।

वीरगाथा काल में काव्य प्रबन्ध तथा वीरगीतों के रूप में मिलता है। उस समय के विलास का चित्र भी वीरता की उस पृष्ठभूमि पर अनजाने में ही अंकित हो गया है। भाषा समय के अनुसार ही रूक्ष और कर्कश है। अधिकांश कवि राज्याश्रित थे अतः वे समाज के प्रतिनिधि नहीं थे, राजाओं के चाकर थे। हो सकता है उनमें से कुछ स्वाभिमानी भी रहे हों जिन्हें शिवाजी के समान किसी आदर्श व्यक्ति का आश्रय मिला हो। ग्रंथों में क्षेपक इतने अधिक हैं कि मूल का पता लगाना कठिन हो जाता है। इसीलिए वीरगाथा-कालीन काव्यों में से ऐतिहासिक तथ्य संचित करना कठिन है। युद्धवर्णन जितना इस काल की कविता में सजीव मिलता है उतना फिर कभी नहीं। कारण भी स्पष्ट है। कवि स्वयं सेनापति भी थे। इसीलिए उनकी भाषा में वीर काव्योचित ओज तथा प्रवाह है। श्यामसुन्दर दास लिखते हैं—"इतना सब कुछ होते हुए भी भावों के सरल अकृत्रिम उद्वेग तथा भाषा के स्वच्छन्द प्रवाह के कारण तत्कालीन वीरगीतों में एक अद्भुत ओज तथा तीव्रता सी आगई है। न तो इन वीरगीतों में दार्शनिक तत्वों का समावेश ही है और न इनमें प्राकृतिक दृश्यों का ही मनोरम चित्रण है। इनके कथानकों में भी अनेकरूपता तथा विचित्रता नहीं है और न इनकी भाषा में ही किसी प्रकार का बनाव-सिंगार है। इनके छंदों में एक मुक्त प्रवाह मिलता है, वे तुकांत आदि के बंधनों से जकड़े हुए नहीं हैं। प्रायः किसी वीर को बाह्याडम्बर पसंद नहीं होते और उसके आचार-विचार में एक प्रकार की सरलता तथा स्वच्छंदता होती है, साथ ही यह गंभीर तत्वों के समझने में असमर्थ तथा वीरकृत्य करने में तत्पर रहता है। लगभग ऐसी ही अवस्था हमारे उस युग के वीर गीतों की थी।" यही कारण है कि वीरगाथा काल में मुक्तक वीर गीत जितने लोकप्रिय रहे उतने प्रबन्ध काव्य नहीं। इस काल के

काव्य ग्रंथों में दोहा सबसे प्रसिद्ध छन्द रहा है । दोहा राजस्थानी काव्य में या डिंगल में कई प्रकार का होता है । हिंदी में तो उसका केवल एक भेद और होता है सोरठा । यों पृथ्वीराज रासो में कितने ही छन्दों का प्रयोग मिलता है—सोरठा, छप्पय, कवित्त, पद्धरी, साटक, शार्दूलविक्रीडित आदि किन्तु प्रधान और लोकप्रिय छन्द दोहा ही था । इस काल के काव्यों की भाषा द्वित्ववर्णबहुला है जो वीर रस के लिए उपयुक्त है । यों वीरगाथाकाल में खुसरो का भी नाम आता है जिसने हास्यसम्बन्धी रचनायें तथा मुकरी आदि का सृजन किया है, पर वे नगण्य हैं ।

संक्षेप में, वीरगाथा काल मे यद्यपि शृङ्गार तथा हास्यपरक रचनायें मिलती हैं पर वे उस समय की चेतना का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं । वीर रस की धारा ही वीरगाथा काल में बही । अतः वीरगाथा काल नाम हमारे आदि काव्य काल का उपयुक्त ही है ।

प्रश्न १०—वीरगाथा-काल के प्रमुख कवियों का परिचय दीजिये ।

उत्तर १०—हिन्दी कविता का जन्म ही युद्ध क्षेत्र में तलवारों की झनझनाहट के बीच हुआ इसलिए शैशव मे वीर रस की घुट्टी पीकर ही उसका शरीर पुष्ट हुआ । वीरगाथा काल का साहित्य अधिकतर युद्ध-साहित्य है । यह दो रूपों में है—मुक्तक प्रगीतों में तथा प्रबन्ध काव्यों के रूप में । इस काल में कितने कवि हुए जिन्होंने अपनी रचनाओं से वीर-गाथा-काल के साहित्य को भरा यह कहना कठिन है । फिर भी जो नाम मिलते हैं उनसे तत्कालीन साहित्य के महत्त्व का सरलता से अनुमान किया जा सकता है ।

पुष्य—पुष्य कवि को हिन्दी का आदि कवि कुछ लोग कहते हैं । किन्तु कोई प्रामाणिक उल्लेख न मिलने से इन्हें हिन्दी का आदि कवि मान लेना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता । पुष्य कवि का आविर्भावकाल स० ७०० के लगभग माना जाता है । परन्तु आज तक इनकी कोई कृति प्राप्त नहीं हुई ।

दलपत विजय—यद्यपि इन कवि का भी विस्तृत तथा प्रामाणिक

वृत्तांत कुछ नहीं मिलता फिर भी इनके नाम से खुमान रासो नामक ग्रन्थ प्राप्त हुआ है जिसमें चित्तौर के राजा रावल खुमान द्वितीय का वर्णन है। किन्तु प्राप्त प्रति प्रामाणिक प्रतीत नहीं होती। कारण, उसमें प्रक्षिप्त अंश बहुत मिल गया है। इस प्रति मे महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन है। इससे स्पष्ट है कि कुछ लोग समय-समय पर इसमें नवीन वृत्तांत जोड़ते रहे हैं। खुमान द्वितीय का समय विक्रमी सं० ८७० के लगभग माना जाता है। महाराणा प्रतापसिंह १७ वीं शताब्दी में हुए। इस प्रकार इस ग्रन्थ में ८०० वर्ष से अधिक के प्रक्षिप्त वृत्तांत मिल गए हैं। खुमान रासो की भाषा का उदाहरण लीजिये—

जलहरी मे नलंती, भमरो जानो कुंजरी मई।
श्रीपुम्माण कुमारो, रमे तँह चैत्र दिन रित्त।
मानसरोवर हंसो, रमंति कमला सुतीर पुरम्मो।
अहि रमें चंदण वणों रमें तहरतो पुमाणों।

दलपत विजय तथा प्रसिद्ध कवि चंदवरदाई के बीच में कुछ और कवियों के नाम भी लिये जाते हैं किन्तु उनके विषय में न तो कोई निश्चित प्रमाण मिलते हैं और न उनकी कृतियाँ ही प्राप्य हैं। कवियों के नाम हैं— साईदान, अकरम फैज, मसूद तथा कुतुब अली। दो कवि और हैं जिनका अस्तित्व चन्दवरदाई से पूर्व माना जाता है और जिनके विषय में बहुत कम प्रामाणिक बातें मिलती हैं।

भुआल—विक्रम की दसवीं शताब्दी में इनका होना बताया जाता है। कहते हैं कि इन्होंने भागवत-गीता का अनुवाद दोहे चौपाइयों में किया। उनका एक छन्द प्राप्त है जिसमें उन्होंने ग्रन्थ रचना तिथि दी है—

संवत कर अब करौं बखाना, सहस्र सो सपूरन जाना।
माघ मास कृष्णपच्छ भयऊ, दुतिया रवि तृतीया जो भयऊ॥

कवि के कथनानुसार रचना काल सं० १००० माघ कृष्ण पक्ष की द्वितीया तथा तृतीया तिथि तथा रविवार हुआ। किन्तु गणना करने पर यह तिथि ठीक नहीं बैठती। अतः अनुमान से इसकी तिथि १००० के स्थान १७००

कही जा सकती है । वास्तव में छन्द भाषा आदि के दृष्टिकोण से यह रचना १७ वीं शताब्दी की ही प्रतीत होती है ।

मोहनलाल द्विज—दूसरे कवि हैं। इन्होंने पत्तलि नामक एक ग्रन्थ लिखा जिसमें अनेकों भोजनों का वर्णन है । लेखक ने रचना काल १२४७ दिया है—"सुनो कहै यह संवत जानो, बारह सानो सैता जानो ।" किन्तु भाषा की आधुनिकता तथा उसमें आधुनिक वाक्यांशों का प्राचुर्य उसे प्राचीन रचना नहीं प्रमाणित होने देता । इस कवि ने अपना मंगलाचरण भी उन शब्दों में किया है जिनमे केशवदास जी ने । तब अवश्य ही एक ने दूसरे से लिया होगा । परन्तु महान कवि केशवदास मोहनलाल से लें यह संभव नहीं जान पड़ता। अतः इन कवि को केशव के बाद का माना जाना चाहिए । 'बारह सानो' के स्थान पर 'ठारह सानो' होने से यह समस्या हल हो जाती है और ये कवि १८ वीं शताब्दी के ही ठहरते हैं ।

नरपतिनाल्ह—यह ही पहला कवि है जिसके विषय में कुछ प्रामाणिक बातें मिलती हैं। इस कवि ने वीसलदेव रासो नामक ग्रंथ की रचना की। इसकी रचना से यह राजकवि प्रतीत होता है। इसके द्वारा लिखा 'वीसलदेव रासो' गीतात्मक ग्रंथ है प्रबन्ध नहीं। अपने ग्रंथ के निर्माणकाल के विषय में कवि ने स्वयं लिखा है—

"बारह सै बहोत्तरां मझारि, जेठ बदी नवमी बुधवार ।
'नाल्ह' रसाइण आरंभइ, सारदा तूठी ब्रह्मकुमारि ॥

अर्थात् रचना काल सं० १२१२ हुआ । गणना करने पर भी यह ठीक बैठता है। कवि ने सर्वत्र अपने वर्णनों में वर्तमान काल का प्रयोग किया है इससे वह वीसलदेव नामक राजा का समकालीन प्रतीत होता है । वीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) का उस समय होना प्रमाणित है । प्रसिद्ध इतिहासज्ञ ग्रियर्सन ने इस ग्रन्थ की चर्चा नहीं की, कारण अज्ञात है । इसमे तो कोई संदेह नहीं कि इस ग्रन्थ की भाषा में कई परिवर्तन परिलक्षित होते हैं । फिर भी उसकी प्राचीन भाषा का रूप भी सुरक्षित है । इस ग्रथ मे यत्रतत्र अरबी और फारसी के शब्द भी पाए जाते हैं जो इस बात के प्रमाण हैं कि उस समय मुसलमानों का प्रभाव बढ़ने लगा था । यद्यपि यह गीतात्मक है फिर भी

प्रबंधात्मकता की प्रवृत्ति इसमें परिलक्षित होती है। भाषा इसकी साहित्यिक से अधिक राजस्थानी है, यह कुछ शब्दों से स्पष्ट हो जायगा:—सूकइछे= सूझता है, पाटण थी=पाटन से, भोजतणा=भोज से आदि। यद्यपि वीरगाथा काल में यह ग्रन्थ लिखा गया है फिर भी है शृङ्गार रस प्रधान। इसकी भाषा का उदाहरण लीजिये :—

"कुँवरि कहइ "सुणि साँभरया राव। काइं स्वामी तू उलँगइ जाइ?
कहेउ हमारउ जइ सुणउ। थारइ छइ साठि अँतेवरी नारि॥"
"कड़ुवा बोल न बोलसि नारि। तू मो मेल्हसी चित्त बिसारि॥
जीभ न जीभ विगोयनो। दव का दाधा कुपली मेल्हइ॥"

चंद—वीरगाथा काल के सर्वप्रसिद्ध महाकवि हैं। इनका लिखा पृथ्वीराज रासो नामक महाकाव्य मिलता है। कहते हैं कि इनके पूर्वज पंजाब में रहते थे और इनकी स्वयं की जन्मभूमि लाहौर थी। चंद प्रसिद्ध हिंदू राजा पृथ्वीराज चौहान के अंतरंग मित्र और प्रमुख सेनापति थे। आपको कविता का वरदान प्राप्त था। हिंदी में चंद से पूर्व कोई इतना विद्वान् कवि नहीं हुआ जो षड्भाषा, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छंदशास्त्र, ज्योतिष, पुराण, नाटक आदि में पारंगत हो। कहते हैं कि इन्हें जालंधरी देवी का इष्ट था। चंद बरदाई की अधिकांश जीवन-घटनायें पृथ्वीराज चौहान से इतनी सम्बद्ध हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। जनश्रुति है कि चंद ने उसी दिन जन्म लिया जिस दिन पृथ्वीराज ने लिया और दोनों ने एक साथ ही इस संसार को छोड़ा। पृथ्वीराज रासो इनके द्वारा लिखा हुआ प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह विशालकाय ग्रन्थ २५०० पृष्ठों से भी अधिक का है। इसमें लगभग ६९ समय हैं। इस ग्रंथ में चंद ने पृथ्वीराज के जीवन भर का वृत्तांत दिया है। चंद ने पृथ्वीराज की पूरी वंशावली दी है और आबू के यज्ञकुण्ड से उनके वंश की उत्पत्ति बताई है। इनके अनुसार पृथ्वीराज अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के पुत्र तथा अर्णोराज के पौत्र थे। सोमेश्वर का विवाह दिल्लीश्वर अनंगपाल तोमर की पुत्री से हुआ था। अनंगपाल के दो पुत्रियां थीं—सुन्दरी और कमला। सुन्दरी कन्नौजराज विजयपाल राठौर के साथ ब्याही गई थी और जयचंद राठौर इनका पुत्र था। कमला का विवाह अजमेर के राजा सोमेश्वर चौहान के साथ हुआ

था जिससे पृथ्वीराज चौहान पैदा हुए। अनंगपाल ने अपने धेवते पृथ्वीराज चौहान को गोद ले लिया और इस प्रकार अजमेर-दिल्ली राज्य एक हो गया। जयचंद को यह बहुत बुरा लगा। वह तभी से पृथ्वीराज का शत्रु हो गया। संयोगिता हरण, शहाबुद्दीन गौरी को कितनी ही वार परास्त करना, जयचंद की शहाबुद्दीन को सहायता, पृथ्वीराज की हार, चंद द्वारा शहाबुद्दीन का जीवनान्त तथा अन्त में आत्महत्या आदि वर्णन रासो में हैं,जो कुछ प्रामाणिक है, कुछ अप्रामाणिक। चंद रासो को पूर्ण नहीं कर पाए थे उसे बीच में ही छोड़कर वे युद्धक्षेत्र में गए थे। शेष रासो को उनके पुत्र जल्हण ने पूरा किया, यह निम्नांकित पक्तियों से स्पष्ट हो जाता है :—

"पुस्तक जल्हण हत्थ दै, चलि गज्जन नृप काज।

× × ×

रघुनाथ चरित हनुमंत कृत भूप भोज उद्धरिय जिमि।
पृथिराज-सुजस कवि चंद कृत चंद नंद उद्धरिय तिमि॥"

अभी तक पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता संदिग्ध है। कुछ विद्वान् इसे प्रामाणिक मानते हैं कुछ अप्रामाणिक। परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि इस पुस्तक में स्थान-स्थान पर उच्च कोटि का कवित्व मिलता है। भाषा की प्राचीनता भी उसमें मिलती है। इसमे कोई सदेह नहीं कि पृथ्वीराज रासो अपने प्रस्तुत रूप मे भी हिन्दी के लिए एक गौरवशाली कृति है। इसके कुछ उद्धरण देखिए :—

छुटी अंषि पट्टी मनो उग्गि सूरं। गिरे काइरं सूर वद्धे सनूरं॥
लियं हथ्थ कारवार भजे कपारं। पियैं जोगनी पत्र कीयै डकारं॥
वहै अच्छरी हथ्थ अच्छेक सथ्थं। करं सूर सम्हालियै घल्लि वथ्थं॥
करै कज्ज साईं समप्पै सुघट्टं। लियं कन्ह गोरी तनं मारि थट्टं॥

भट्ट केदार, मधुकर कवि—इनका काल १२२४ से १२४३ के बीच मे माना जाता है। इन्होंने जयचंद राठौर की प्रशंसा गाई है। इनके लिखे दो ग्रन्थ कहे जाते हैं— "जयचंद प्रकाश" तथा "जयमयंक जस चन्द्रिका।" इनमें से दूसरा ग्रंथ तो आज प्राप्य नहीं है। हाँ, इसका उल्लेख अवश्य दयालदासकृत "राठौड़ारी ख्यात" में मिलता है। पृथ्वीराज की कीर्ति जितनी चंद ने फैलाई

जयचन्द की उतनी ही कीर्ति मधुकर कवि ने फैलाई । जयचन्द अपने समय का साधारण राजा नहीं है । उसका प्रभाव उस समय पृथ्वीराज चौहान के ही समान था । प्रसिद्ध चंदेल राजा परमाल जयचन्द के मित्र थे ।

जगनिक—सं० १२३० में इनका होना बताया जाता है । ये प्रसिद्ध चंदेल राजा परमाल के दरबार में थे। इन्होंने परमाल के प्रसिद्ध सेनापति आल्हा और ऊदल के सम्बन्ध में एक काव्य लिखा था। आज न तो उसका नाम मिलता है और न कोई अंश ही प्राप्त है। इनकी लिखी पुस्तक आल्हखण्ड बताई जाती है। इसमें उन्होंने ५२ गढ़ की लड़ाइयों का ज़िक्र किया है। यद्यपि यह पुस्तक अपने मूल रूप में आज प्राप्त नहीं है फिर भी यह बहुत लोकप्रिय रही होगी ऐसा अनुमान किया जाता है । बुन्देलखण्ड और महोबे में तो आज तक इसका बहुत प्रचलन है। बरसात के आरम्भ में ढोलक की गमक के साथ वीर हुंकार यू० पी० के प्रायः प्रत्येक जिले में सुनने को मिलेगी। आल्हा से सम्बन्धित कथा को जाने कितने कवियों ने स्वेच्छानुसार पद्यबद्ध किया होगा । युक्तप्रान्त के अधिकांश निवासी आल्हखंड की पंक्तियां स्मरण रखते हैं और उचित समय पर उनका प्रयोग करते हैं । यह कहा जा सकता है कि 'आल्हा' रामायण के पश्चात् सबसे अधिक लोकप्रिय है । गाँव के सभ्य-असभ्य, शिक्षित-अशिक्षित सभी उत्सुक कानों से इस वीर स्वर-लहरी को सुनना चाहते हैं। पूरे आल्हखंड से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि उस समय युद्ध केवल विवाह के लिए होते थे और प्रसिद्ध था कि

"जेहि की बिटिया सुन्दर देखि तिहि पर जाइ धरे हथियार ।"

आल्हखंड के लोकप्रिय होने का सबसे बड़ा कारण उसमें शृङ्गार और वीर रस का सुन्दर सम्मिश्रण है। आल्हखंड तत्कालीन सामाजिक स्थिति का यथावत् चित्र उपस्थित करता है । राजा अपनी कन्या दूसरे को देना अपना अपमान समझते थे, परन्तु किसी की कन्या बलात् ले आना सम्मान का विषय समझा जाता था । आज की प्राप्य प्रतियाँ यद्यपि प्रामाणिक नहीं हैं फिर भी प्रतीत होता है कि उनकी मूल चेतना अवश्य ही मूल आल्हखंड से अनुप्राणित है । आल्हखंड की कुछ प्रसिद्ध पंक्तियाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा ।

बारह बरस लौं कूकर जीवैं औ तेरह लौं जियें सियार।
बरस अठारह छत्री जीयें आगे जीवे कौं धिक्कार॥

× × ×

युद्ध वर्णन : बातन बातन बतबढ़ हुइ गई औ बातन में बाढ़ी रार,
दूनौ दल में हल्ला हुइ गौ छत्रिन खींचि लई तलवार।
पैदल के संग पैदल भिड़ि गए अरु असवारन सूँ असवार,
परौ झड़ाका दोनों दल में जहँ मुँह तोर चले तलवार॥

इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं बड़े मर्मस्पर्शी भावुकतापूर्ण उद्‌गार भी इसमें मिल जायेंगे। एक स्त्री कहती है :—

कारा बदरिया बहिन हमारी कौंधा बीरन लगे हमार।
आज बरसि जा मेरी कनवज में कंता एक रैन रहि जाइ॥

यह स्मरणीय है कि प्रचलित आल्हा की भाषा प्रान्तों के अनुसार ही बदली हुई मिलेगी। आगरा में व्रजभाषा, इलाहाबाद में पूर्वी तथा शहरों में खड़ी बोली। आज की आल्हा में तो अंग्रेज़ों तक का वर्णन मिलेगा। यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि जब आल्हा अपने मूल रूप में लिखी गई होगी तब कितनी लोकप्रिय होगी। आल्हा और ऊदल को जनता में प्रसिद्ध करने तथा उनके लिए जनता की श्रद्धा आकर्षित करने में आल्हखंड सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु है। सर्वप्रथम आल्हखंड को पुस्तक का रूप देने का श्रेय फर्रुखाबाद के तत्कालीन कलक्टर मि० चार्ल्स इलियट को है।

श्रीधर—इनका नाम भी वीरगाथा काल के कवियों में आता है। इन्होंने रणमल्ल छंद की रचना की जिसमें ईडर के राठौर राजा रणमल्ल की उस विजय का वर्णन है जो उन्होंने पाटन के सूबेदार जफरखाँ पर प्राप्त की थी। उनका एक पद्य देखिए :—

ढमढमइ ढमढमकार ढकरं ढोल ढोली जंगिया।
सुर कराई रणसहणाइ समुहरि सरस रसि समरंगिया॥

शारङ्गधर—इनका समय चौदहवीं शताब्दी के लगभग का है। इनके द्वारा लिखा हम्मीर रासो नामक एक ग्रंथ मिलता है। अलाउद्दीन के साथ हुआ हम्मीर का भयंकर युद्ध ही इस काव्य का वर्ण्य विषय है। आज तक

इस ग्रंथ की वास्तविक प्रति उपलब्ध नहीं हुई। जो है वह प्रामाणिक नहीं है। इसकी भाषा इसे अधिक अर्वाचीन सिद्ध करती है। एक और लेखक का नाम इतिहास में आता है जिसने हम्मीर काव्य में हम्मीर का यश वर्णन किया है। इसका नाम है नयचन्द्र सूरि। इनका आविर्भाव काल सं० १४६० के आसपास माना जाता है। परन्तु विद्वान् इस ग्रंथ को प्रामाणिक नहीं मानते।

नल्लसिंह भट्ट—विजयपाल रासो ग्रंथ के ये रचयिता कहे जाते हैं। इस ग्रंथ में करौली नरेश विजयपाल के युद्धों का ओजस्वी वर्णन है। काव्य की दृष्टि से यह ग्रंथ उच्च कोटि का नहीं है। भाषा में भी अर्वाचीन तथा प्राचीन दोनों भाषा के लक्षण पाये जाते हैं। नल्हसिंह का काल १३५० माना जाता है।

प्रश्न ११—पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता पर विचार प्रकट कीजिये।

उत्तर ११—चन्दबरदाई हिन्दी के आदि कवि माने जाते हैं और उनके द्वारा लिखा 'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी का आदि ग्रन्थ। यह विशालकाय ग्रन्थ ६९ समयों में विभक्त है तथा इसमें ढाई हजार से भी अधिक पृष्ठ हैं। इसमें तो सन्देह नहीं कि रासो में स्थान-स्थान पर कवित्व उच्च कोटि का है परन्तु उसमें कुछ ऐसी बातों का भी वर्णन है जो इतिहास की दृष्टि से भ्रमपूर्ण है। अतः हिन्दी संसार में विभिन्न विद्वान् पृथ्वीराज रासो के विषय में भिन्न-भिन्न विचार रखते हैं। इन विद्वानों एवं उनके विचारों को सुविधा की दृष्टि से चार भागों में बाँटा जा सकता है।

१—ऐसे विद्वान् जो 'रासो' को उसके प्रस्तुत रूप में प्रामाणिक मानते हैं और उसमें आई प्रत्येक बात का समर्थन करते हैं। उनका कथन है कि रासो बिल्कुल प्रामाणिक ग्रन्थ है। चन्द के वर्णनों से स्पष्ट है कि वह पृथ्वीराज का समकालीन था क्योंकि उसने पृथ्वीराज के दैनिक कार्यों तक का वर्णन किया है।

२—कुछ विद्वान् रासो को बिल्कुल अप्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं। उनका कथन है कि न तो चन्द नाम का कोई कवि कभी हुआ और न उसने पृथ्वीराज रासो नामक ग्रन्थ ही लिखा। रासो में आई तिथियाँ, पृथ्वीराज

की माता तथा निकट सम्बन्धियों के नाम तक गलत हैं फिर उसे प्रामाणिक कैसे कहा जा सकता है।

३—कुछ विद्वान् यह तो मानते हैं कि चन्द नाम का व्यक्ति था और यह भी मानते हैं कि उसने 'रासो' की रचना की परन्तु वह 'रासो' आज प्राप्त नहीं है। प्रस्तुत रासो को वह चन्द कृत नहीं मानते। प्रक्षिप्त अंशों के बाहुल्य के कारण वे उसे विश्वसनीय नहीं समझते।

४—कुछ विद्वान् यह तो मानते हैं कि चन्द नामक व्यक्ति था पर यह नहीं मानते कि उसने रासो लिखा। कारण प्रस्तुत रासो में जैसी मोटी भूलें हैं उन्हें देखते हुए उसे चन्द कृत नहीं माना जा सकता क्योंकि चन्द पृथ्वीराज के इतने निकट सम्पर्क का व्यक्ति था कि वह ऐसी भद्दी भूलें नहीं कर सकता था।

वैसे मुख्य रूप से दो ही दल रासो के विषय में बन गए हैं—एक इसका समर्थक दल दूसरा विरोधी दल।

समर्थक दल में मुख्य व्यक्ति हैं—डा० श्यामसुन्दर दास, मिश्रबन्धु, प्रो० रमाकान्त त्रिपाठी, मोहन लाल, विष्णु लाल पण्ड्या तथा मुनि जिन-विजय।

विरोधी दल के मुख्य व्यक्ति हैं—मुरारिदान, श्यामलदान, प्रो० बूलर, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, रामचन्द्र शुक्ल, डा० रामकुमार वर्मा आदि।

पृथ्वीराज रासो की अब तक लगभग ७ प्रतियाँ उपलब्ध हैं। यह कहना कठिन है कि कौन सी प्रति प्रामाणिक है कौन सी अप्रामाणिक। रासो के विरोध में विरोधी पक्ष ने बहुत सी बातें कही हैं। उनके विरोध का मुख्य आधार 'पृथ्वीराज विजय' नामक खण्डित प्रति है जो इतिहास से मेल खाती है। उनका कथन है कि 'रासो' के वर्णन पृथ्वीराज विजय से मेल नहीं खाते अतः वह अप्रामाणिक है। ध्यान रखने की बात यह है कि पृथ्वीराज विजय की भी खण्डित प्रति ही प्राप्त है।

पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज की माता का नाम कमला लिखा है, पृथ्वीराज विजय में उसकी माता का नाम कर्पूरदेवी दिया है। पृथ्वीराज

विजय में पृथ्वीराज के विषय में जो वर्णन हैं वे चौहानों के शिला-लेखों से मिलते हैं। मुंशी देवीप्रसाद का कहना है कि पृथ्वीराज के उत्कर्ष-साधन के लिए रासोकार ने बहुत से राजाओं के कल्पित नाम दिए हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने रासो में और भी बहुत सी असंगतियाँ बताई हैं—

"आबू पहाड़ के राजा जेत और सलख शिलालेखों में कहीं भी नहीं मिलते। आबू पर उस समय धारावर्ष परमार राज्य करता था जिसका उल्लेख कहीं नहीं है। पृथ्वीराज की शक्ति का परिचय देने के लिए अनेक राजाओं का उसके हाथ से मारा जाना लिखा है। गुजरात के राजा भीमदेव पृथ्वीराज के हाथों मारे गए किन्तु शिलालेखों के अनुसार वे सं० १२७२ तक जीवित रहे। शहाबुद्दीन गोरी भी पृथ्वीराज के तीर से नहीं मारा गया। सं० १२६० में गक्करों के हाथों उसकी मृत्यु हुई। पृथ्वीराज से १०० वर्ष बाद के राजाओं को उसका समकालीन होना लिखा गया है। चित्तौड़ के रावल समरसी के साथ पृथ्वीराज की बहिन पृथा का विवाह होना वर्णित है। किन्तु समरसी के शिलालेख सं० १३३५—१३४२ के भी मिलते हैं। इस प्रकार रासो में केवल ऐतिहासिक घटनाओं में ही नहीं वरन तिथियों में भी भूलें भरी पड़ी हैं। कपोलकल्पित और मनमानी कथायें इतनी अधिक हैं कि वे अविश्वसनीय भी हैं और उनका इतिहास से कोई सम्बन्ध भी नहीं जान पड़ता है।"

कविराज श्यामलदास इस ग्रन्थ को बिल्कुल अप्रामाणिक मानते हैं तथा पृथ्वीराज की मृत्यु के अनेक शताब्दियों पश्चात् इसका किसी चारण द्वारा लिखा जाना मानते है। ओझा जी रासो को १४६० सं० से पूर्व की रचना नहीं मानते। वे लिखते हैं :—

"वि० सं० १४६० में हम्मीर काव्य बना .....। उसमें चौहानों का विस्तृत इतिहास है परन्तु उसमें पृथ्वीराज रासो के अनुसार चौहानों को अग्निवंशी नहीं लिखा और न उसकी वंशावली को आधार माना गया है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय तक पृथ्वीराज रासो प्रसिद्धि में नहीं आया। यदि रासो की प्रसिद्धि हो गई होती तो हम्मीर महाकाव्य का लेखक उसी के आधार पर चलता।"

पृथ्वीराज रासो के समय के विषय में ओझा जी अपना निर्णय देते हैं:—

"महाराणा कुम्भकर्ण ने वि० सं० १५१७ में कुम्भलगढ़ के किले की प्रतिष्ठा की और वहां के मामादेव (कुम्भ स्वामी) के मन्दिर में बड़ी-बड़ी पाँच शिलाओं पर कई श्लोकों का एक विस्तृत लेख खुदवाया जिसमे मेवाड़ के उस समय तक के राजाओं का बहुत कुछ वृत्तान्त दिया है। उसमें समरसिंह के पृथ्वीराज की बहिन पृथा से विवाह करने या उसके साथ शहाबुद्दीन की लड़ाई मे मारे जाने का कोई वर्णन नहीं है परन्तु विक्रम सवत् १७२२ में महाराणा राजसिंह ने अपने बनवाए हुए राजसमुद्र तालाब के नौ-चौकी नामक बाँध पर २५ बड़ी-बड़ी शिलाओं पर एक महाकाव्य खुदवाया जो अब तक विद्यमान है। उसके तीसरे सर्ग में लिखा है कि अमर सिंह ने पृथ्वीराज की बहिन पृथा से विवाह किया और शहाबुद्दीन के साथ लड़ाई में वह मारा गया जिसका वृत्तान्त भाषा के रासो नामक पुस्तक में विस्तार से लिखा हुआ है। निश्चित है कि रासो वि० सं० १५१७ और १७३२ के बीच किसी समय मे बना होगा।"

प्रसिद्ध विद्वान् डा० धीरेन्द्र वर्मा रासो की भाषा के आधार पर उसकी तिथि का निष्कर्ष बाबू गुलाबराय को लिखे गए एक पत्र में लिखते हैं:—

"जितने अंश (रासो के) मैंने पढ़े हैं उनसे मेरी यह धारणा बंध गई है कि यह ग्रन्थ अपने वर्तमान रूप में १६ वीं शताब्दी ईस्वी की रचना है। इसके कथानक का सम्बन्ध अवश्य ११वीं शताब्दी से है किन्तु १२वीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी तक यह कथानक कदाचित् मौखिक रीति से चलता रहा और १६ वीं शताब्दी के अंत में उसने ग्रन्थ का रूप धारण किया। भाषा की दृष्टि से रासो के व्याकरण का ढाँचा प्रधानतया १६वीं शताब्दी की व्रजभाषा का है। संयोग से राजस्थानी के रूप कुछ मिल जावें यह दूसरी बात है। इसी प्रकार अपभ्रंश के रूप भी विशेष नहीं मिलते। शब्दों के रूपों में 'अपभ्रंशाभास' अवश्य बहुत अधिक पाया जाता है। इसी कारण रासो की भाषा के सम्बन्ध मे अनेक भ्रम फैल गए हैं। खड़ी बोली के रूप भी साधारणतया बहुत कम मिलते हैं।...रासो के कुछ उदाहरण नीचे दे रहा हूं जो यदि यह न

बतलाया जावे कि ये रासो के हैं तो उन्हें १६वीं शताब्दी के किसी साधारण कवि का माना जा सकता है—

"अति उद्यान सघ थान। भए गढ़ धाम भयानक ॥
दिष्टि देखि सारंग। दैव चिन्ते तव वानिक ॥
ताकै कुच उपनीय। तपनि छम कौ कुल धोयौ ॥
तात पुकारे नीर। भरे नैनन्ह घन रोयौ ॥"

द्वित्व-वर्ण-बहुलता के सम्बन्ध में डा० धीरेन्द्र वर्मा का कथन है कि वीररस में ऐसी शब्दावली की परम्परा है जो तुलसी, भूषण तथा सूदन तक में मिलती है। जैसे :—

कतहुँ विटप्प भूधरि उखारि परसेन वरक्खत।
कतहुं वाजि सो वाजि मर्दि गजराज करक्खत ॥ (तुलसी)

तथा—

वंकक्करि अति डंकक्करि अस सकक्कु लिखल्ल।
सोचच्चकित भरोचच्चलिय विमोच्चखजल ॥ (भूषण)

सत्रहवीं शताब्दी तक ऐसे उदाहरण मिल जायेंगे।

आचार्य शुक्ल इस ग्रंथ को प्रामाणिक नहीं मानते। उनके कथनानुसार इसमें केवल तिथियाँ ही अशुद्ध नहीं वरन घटनायें भी इतिहास-विरुद्ध हैं। रासो में पृथ्वीराज का जन्मकाल सं० १११५, दिल्ली गोद जाना ११२२, कन्नौज जाना ११५१ तथा शहाबुद्दीन के साथ युद्ध ११५८ में लिखा है जो ठीक नहीं। भाषा के विषय में शुक्ल जी लिखते हैं :—

"भाषा की कसौटी पर यदि ग्रंथ को कसते हैं तो और भी निराश होना पड़ता है क्योंकि वह बिल्कुल बे-ठिकाने है। उसमें व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं है। कहीं-कहीं तो भाषा आधुनिक ढाँचे में ढली सी दिखाई पड़ती है, क्रियायें नये रूपों में मिलती हैं। पर साथ ही कहीं-कहीं भाषा अपने असली प्राचीन साहित्यिक रूप में भी पाई जाती है जिसमें प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों के रूप और विभक्तियों के चिह्न पुराने ढग के हैं। इस दशा में भाटों के वाग्जाल के बीच कहाँ पर कितना अंश असली है इसका निर्णय असंभव होने

के कारण यह ग्रंथ न तो भाषा के इतिहास के और न साहित्य के इतिहास के जिज्ञासुओं के काम का है ।"

इसके अतिरिक्त रासो में अरबी और फारसी शब्दों का मिश्रण भी उसकी प्राचीनता को कम करता है। ऐसे शब्द कम नहीं हैं, दस प्रतिशत तक हैं।

डा० श्यामसुन्दरदास रासो को प्रामाणिक मानते हैं और उसके पक्ष में उन्होंने अनेकों युक्तियाँ दी हैं।

उन्होंने मुनि जिनविजयजी द्वारा प्राप्त चार रासो विषयक छंदों को प्रामाणिक माना है। वे यह मानते हैं कि इसमें प्रक्षिप्त अंश तो मिल सकते हैं। यह आश्चर्य की बात भी नहीं, क्योंकि रामायण जैसे बाद के ग्रन्थ में भी क्षेपक अंश मिल गए हैं। पुराने शिलालेखों मे भी वे 'रासो' का ज़िक्र हुआ बताते हैं। वे रासो के विषय मे लिखते हैं :—"पृथ्वीराज रासो समस्त वीरगाथा युग की सबसे अधिक महत्वपूर्ण रचना है। उस काल की जितनी स्पष्ट झलक इस ग्रन्थ में मिलती है, उतनी दूसरे अनेक ग्रन्थों में नहीं मिलती । छन्दों का जितना साहित्यिक सौष्ठव इसमें मिलता है, अन्यत्र उसका अल्पांश भी दिखाई नहीं देता। पूरी जीवनगाथा होने के कारण इसमें वीर गीतों की सी संकीर्णता तथा वर्णनों की एकरूपता नहीं आने पाई है वरन् नवीनता समन्वित कथानकों की ही इसमें अधिकता है।"

मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने इसमें दिए गए सनो की अशुद्धता को ठीक करने के लिए एक अनंद संवत् की कल्पना की है और उनका कहना है कि प्रचलित संवतों में से ९०,९१ वर्ष घटाने से अधिकांश संवत् ठीक बैठ जाते हैं। इसका कारण वे यह बताते हैं कि राजपूत महानन्द के वंश के ९० वर्ष के शासन काल को क्षत्रिय शासन काल में नहीं गिनते अतः रासो मे ९० वर्ष घटाकर ही संवत् लिखा गया है।

इतिहास सम्बन्धी भ्रान्तियों के विषय में डा० श्यामसुन्दरदास अनेक दलीलें देते हैं।

१—चन्द ने अपने स्वामी का अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतापकथन किया है। यह स्वाभाविक ही है।

२—कुछ पट्टे और परवाने जो नागरीप्रचारिणी की ओर से प्रकाशित हुए हैं वे रासो को प्रामाणिक सिद्ध करते हैं। उन्हे झुठलाया नहीं जा सकता।

३—क्षेपक वास्तव में भ्रान्तियों के कारण हैं पर वे रासो के साथ ही नए नहीं, सब काव्यों मे मिलेंगे ।

४—अरबी-फारसी के शब्दों के विषय में डा० श्यामसुन्दरदास का कथन है—"शहाबुद्दीन गौरी से लगभग पौने दो सौ वर्ष पहले महमूद गजनवी भारत में लूटमार करने आ चुका था। गजनवी से ३०० वर्ष पहले भी सिंध और मुलतान पर मुसलमानों का अधिकार हो चुका था और वे भारत में अपना व्यापार करने लगे थे। पंजाब भी मुसलमानी संस्कृति से प्रभावित हो चुका था। चन्द लाहौर का निवासी था अतः उसकी बाल्यावस्था से ही ये अरबी-फारसी के शब्द उसके मस्तिष्क में प्रवेश करने लगे थे। इस कारण चन्द की भाषा में मुसलमानी शब्दों का होना स्वाभाविक है । रासो का बहुत सा भाग प्रक्षिप्त है अतः परवर्ती काल में मुसलमानों के आतंक के साथ-साथ भाषा पर अरबी-फारसी का आतंक होना भी स्वाभाविक था। इस कारण ऐसे शब्दों का प्रतिशत और भी बढ़ गया है।"

ऐतिहासिक तथ्यों के विषय में मिश्रबधुओं का कथन है कि रासो एक काव्य ग्रन्थ है, ऐतहासिक ग्रन्थ नहीं इसलिए कल्पना से काम लेने का कवि को पूर्ण अधिकार है । चन्द का मुख्य उद्देश्य अपने आश्रयदाता की उत्कर्ष व्यंजना है उसके लिए यदि चन्द ने कल्पना से काम लिया है तो हम उन्हें दोष नहीं दे सकते।

समर्थक दल का कथन है कि मूल रासो का रूप क्या था यह तो कहा नहीं जा सकता पर यह कहना कि पृथ्वीराज रासो चन्द ने लिखा ही नहीं बल्कि किसी और व्यक्ति ने लिखकर उसे चन्द के नाम से प्रसिद्ध किया, उचित प्रतीत नहीं होता। प्रथमत. तो इतनी प्रसिद्ध रचना करने के बाद उसमें किसी दूसरे व्यक्ति का नाम कौन देना चाहेगा। दूसरे यदि देना भी चाहेगा तो इससे स्पष्ट है कि चन्द इतना प्रसिद्ध कवि था कि अन्य लोग उसके नाम से लिखकर अपनी रचना को प्रसिद्ध होते देखकर प्रसन्न होते थे।

इसमें तो कोई सदेह नही कि रासो के विपक्ष में अधिक प्रमाण हैं और उसके पक्ष मे अपेक्षाकृत कम, फिर भी यह कहना कि 'रासो' नामक ग्रन्थ चंद

नामक किसी व्यक्ति ने लिखा ही नहीं और न वह पृथ्वीराज का समकालीन था अधिक ठीक इसलिए प्रतीत नहीं होता कि समाज में यह बात इतनी अधिक प्रसिद्ध है कि उस पर सहसा अविश्वास नहीं किया जा सकता। एक बात ध्यान देने की और है वह यह कि इतिहासज्ञ पृथ्वीराज का बंदी होना नहीं बताते, या चन्द द्वारा शहाबुद्दीन की मृत्यु को अप्रामाणिक बताते हैं यह कहाँ तक ठीक है। इसका उत्तर यह हो सकता है कि ये सब वर्णन एक तो चन्द ने नहीं किए उसके पुत्र जल्हण ने किए हैं दूसरी बात अपने आश्रयदाता का जल्हण एक आततायी के हाथ से वध होना दिखाना चाहता नहीं था। यह रासो का काव्यात्मक अंत है कि उसमें शहाबुद्दीन की मृत्यु चन्द के हाथों बताई गई है और फिर चन्द और पृथ्वीराज ने एक दूसरे को मार दिया। यह केवल राष्ट्रीय सम्मान का प्रश्न था अतः उसे कविता की छाया में समझना ही अधिक संगत होगा।

आज वास्तव में पृथ्वीराज रासो के विषय में अधिक खोज की आवश्यकता है। रासो एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। उच्चकोटि का काव्य भी उसमे मिलता है। अभी तक यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सका है कि रासो अप्रामाणिक है परन्तु उसके समर्थक भी उसे प्रामाणिक सिद्ध करने में अधिक सफल नहीं हुए। हो सकता है नवीन अन्वेषण कुछ नए सत्यों को प्रकाश में लाये, तभी निश्चित रूप से इसके विषय मे कुछ कहा जा सकेगा।

प्रश्न १२—"कविता करना कबीर का लक्ष्य नहीं था फिर भी उनकी उक्तियों मे कवित्व की ऊंची से ऊंची चीज़ प्राप्त है। साधना के क्षेत्र में वे युग-युग-गुरु थे और साहित्य क्षेत्र मे भविष्य के स्रष्टा।" विवेचना कीजिये।

उत्तर १२—कबीर जिस युग में पैदा हुए थे उसमे कविता करना भर उनका लक्ष्य नहीं हो सकता था। वे कविरूप में पैदा नहीं हुए थे अपितु पैगम्बर के रूप में आए थे और प्राणियों का उद्धार करने आए थे "पैगम्बर कौ संदेसा लाए हंस उबारन आए"। अतः काव्य कबीर के लिए साध्य नहीं था वह तो साधन मात्र था। वस्तुतः वे एक महात्मा और सुधारक थे फिर भी

हृदय के भावों की शक्तिपूर्ण अभिव्यक्ति के कारण साहित्य में उनका महत्व-पूर्ण स्थान है।

निर्गुण शाखा के प्रायः सभी सन्त कवि एक ही प्रकार का सन्देशा समाज के लिए लाए थे। वे जाति-पांति के विरुद्ध थे, छूआछूत के कट्टर विरोधी थे, वर्णाश्रम व्यवस्था उन्हें प्रमादपूर्ण और व्यर्थ प्रतीत होती थी। अधिकांश संत कवि स्वयं नीची जाति के थे अतः शुक्लजी के शब्दों में "जाति पाँति के खण्डन तो वे स्वयं थे"। उन कवियों ने इन भावनाओं को जिस वाणी में प्रकट किया स्वभावतः वह कठोर, व्यंगपूर्ण, तथा काव्य गुण रहित है किन्तु इनका यह अभिप्राय नहीं कि कवित्व इनमें है ही नहीं। कबीर सब कवियों में सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। अपने आराध्य के प्रति प्रेम की तीव्र व्यंजना जैसी कबीर में मिलती है वैसी बहुत कम हिन्दी के कवियों में मिलेगी। कबीर प्रेम की मार्मिकता में जायसी के समकक्ष तक पहुँच जाते हैं। कबीर भी साधारण भावुक नहीं थे पर उनकी भावुकता एक उपदेशक की भावुकता थी, एक सुधारक की भावुकता थी। कबीर सारे भारत में भ्रमण करते हुए लोगों को उपदेश करते थे अतः भाषा के कलापक्ष पर ध्यान देने का अवसर-अवकाश उन्हें न था जो कुछ मुंह से निकला था निकल गया। इस लिए कबीर में ज्ञान, भक्ति और प्रेम का अद्भुत सम्मिश्रण है। जहाँ उनका हृदय पक्ष प्रबल हो जाता है वहाँ कबीर इतनी अनुभूतिमयी वाणी को जन्म देते हैं कि अलंकार स्वयं उसमें बहे चले आते हैं।

आँखिनि की करि कोठरी पुतरी पलंग बिछाइ।
पलकन की चिक डारिकैं पिऊकों लेऊं रिझाइ॥

इससे सुन्दर काव्य का उदाहरण और क्या होगा। कोई भी व्यक्ति सहसा चौंक जायगा कि यह कबीर ने लिखा है ? वे तो खण्डन करते हैं। वास्तव में सामाजिक कुरीतियों का खण्डन करते-करते कबीर का व्यक्तित्व खण्डनप्रधान ही हो गया है और उनका कवि उनके उपदेशक या सुधारक के पीछे छिप गया है। किन्तु सच तो यह है कि कबीर में उच्च कोटि की प्रतिभा थी जो उच्च श्रेणी के काव्य को जन्म देती है परन्तु कबीर जिन परिस्थितियों में जन्मे, पले, बढ़े हुए उनमें उसके अतिरिक्त वे क्या

कह सकते थे जो उन्होंने कहा। कबीर कोई साधारण कार्य करने नहीं आए थे। उनका कार्य महान था—एक क्रान्तिकारी का कार्य था। सामाजिक रूढ़ियों का मूलोच्छेदन कोई साधारण काम तो नहीं था। ये सब कुछ बाते थीं जिनके कारण कबीर भाषा-साधना कर ही नहीं सकते थे किन्तु फिर भी यह तो नहीं कह सकते कि भाषा पर कबीर का अधिकार नहीं था। वाणी में ऐसे तीव्र व्यंग का प्रयोग जिससे मुल्ला और पण्डित तिलमिला उठें कम भाषा-ज्ञान का परिचायक नहीं है। डा० श्यामसुन्दरदास लिखते हैं—"कबीर ने अपनी उक्तियों पर बाहर-बाहर से अलंकारों का मुलम्मा नहीं लगाया है जो अलकार मिलते भी हैं वे उन्होंने खोजकर नहीं बैठाए हैं। मानसिक कलाबाजी और कारीगरी के अर्थ में कला का उनमे सर्वथा अभाव है परन्तु सच्ची कला के लिए तो तथ्य की आवश्यकता है। 'भावुकता के दृष्टिकोण से कला आडम्बरों के बन्धन से निर्मुक्त तथ्य है।' एक विद्वान कृत इस परिभाषा को यदि काव्य क्षेत्र में प्रयुक्त करें तो बहुत कम कवि सच्चे कलाकारों की कोटि मे आ सकेंगे। किन्तु कबीर का आसन इस ऊंचे स्थान पर अविचल दिखाई देता है। यदि सत्य के खोजी कबीर के काव्य में तथ्य को स्वतन्त्रता न मिली हो तो और कहीं नहीं मिल सकती। कबीर के महत्व का अनुभव इसी से हो सकता है। कबीर छन्दशास्त्र के ज्ञाता न थे यहाँ तक कि दोहों को भी पिंगल की खराद पर न चढ़ा सके। डफली बजाकर गाने में जो शब्द जिस रूप मे निकल गया, वही ठीक था। वस्तुतः छन्दशास्त्र के नियमों का पालन वे आवश्यक ही नहीं समझते थे। अतः मात्राओं क घट-बढ़ जाने की चिंता उनके लिए व्यर्थ थी परन्तु साथ ही कबीर में प्रतिभा थी, मौलिकता थी। उन्हे कुछ संदेश देना था और उसके लिए शब्द की मात्रा तथा वर्णों की सख्या गिनने की आवश्यकता नहीं थी। उन्हें तो इस ढंग से अपनी बातें कहने की आवश्यकता थी जिससे वे सुनने वालों के हृदय मे पैठ जाँय।"

यह संक्षेप में कबीर के व्यक्तित्व का विश्लेषण है। कबीर की वाणी हमे ३ प्रकार की मिलती है।

१—जिसमें वे रूढ़ियों का, समाज की कुरीतियों का तीव्र खण्डन करते हैं। जैसे,"जो बामन तू बामन जाया और राह तू काहे न आया।" तथा

हिंदू कहें मोहि राम पियारा तुरक कहें रहिमाना।
कबिरा लड़ि लड़ि दोऊ मुए मरम न काहू जाना॥

भक्ति के मार्ग में वे अधिक अध्ययन या ज्ञान के समर्थक नहीं थे। वे ऐसे ज्ञान से घृणा करते थे जो निष्क्रिय हो।

पोथा पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पण्डित भया न कोई।
ढाई अक्षर प्रेम का पढ़े सो पण्डित होइ॥

जो पत्थर स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकते वे मनुष्यों की रक्षा कैसे करेंगे यह बात कबीर की समझ में नहीं आती थी। अतः वे लोगों से कहते थे कि पत्थर ही अगर पूजना है तो भाई चक्की पीसो जो तुम्हें पीसकर खिलाने का उपकार करती है।

मनुआँ कैसे बावरे रे पाथर पूजन जाँइ।
घर की चकिया कोइ न पूजै जाको पीसो खाँइ॥

इसी प्रकार वे मुसलमानों को भी कड़े शब्दों में फटकारते थे। तुम भगवद्भजन करते हो और गोहत्या करते हो बताओ यह कहाँ की साधना है।

दिन में रोजा रखत हो राति हनत हो गाइ।
यह तो खून व बदगी कैसे खुशी खुदाइ॥"

यह खंडन करने वाली वाणी अपनी पूर्ण तीव्रता के साथ कबीर-साहित्य की प्राण है और किसी भी साहित्य का शृङ्गार होने योग्य है। इसमें तो सन्देह नहीं कि भाषा की मधुरता यद्यपि ऐसे उपदेशों में कम मिलेगी फिर भी भावों की अनुभूति की तीव्रता तो उनसे स्पष्ट है।

२—कुछ कबीर का साहित्य ज्ञानियों को उपदेश देने के लिए लिखा गया है। योग इत्यादि की साधना इसमें आती है। एक वाक्य बहुत प्रसिद्ध है "कहत कबीर सुनो भाई साधो"। इस प्रकार के साहित्य में इस संसार से विरक्ति का उपदेश है, नारी की निन्दा है तथा भगवद्भजन का आदेश है। कबीर का यह पक्ष साहित्य की दृष्टि से अधिक नीरस है। क्योंकि इसमें उनकी साधना का साम्प्रदायिक रूप अधिक स्पष्ट है। उनके नारी-निन्दा के कुछ उदाहरण लीजिए :—

नारी तौ हमहूँ करी पाया नहीं विचार ।
जब जानी तब परिहरी नारी बडा विकार ॥

तथा नारी की झाईं पड़े अंधा होत भुजंग ।
कबिरा तिन की कौन गति नित नारी कौ संग ॥

उनके इस प्रकार के साहित्य में ज्ञानियों को खुली चुनौती दी गई है। कबीर का तो मूल मन्त्र ही है "सो ज्ञानी आप विचारै" अतः वे रूढ़ियों पर विश्वास ही नहीं करते थे। उनकी खुली चुनौती थी

"तुम पण्डित मैं कासीक जुलाहा"

या "लालि वानि तौ कबिरा लैगया पण्डित ढूँढ़ै खेत।"

तत्व तो कबीर ने प्राप्त कर लिया पण्डित व्यर्थ ही कष्ट करते हैं, अब उन्हें क्या मिलेगा ?

३. कबीर ने कुछ साहित्य स्वान्तः सुखाय भी लिखा है। उसे ही उनकी आत्माभिव्यक्ति समझना चाहिए। कबीर का यह साहित्य इतना सरस, सरल, अनुभूतिमय तथा सशक्त है कि इसकी सरसता की टक्कर जायसी के अतिरिक्त और कौन कर सकता है ?

प्रियतम की बाट देखते-देखते युग होगया, आँखें अंधी होने लगीं और जिह्वा क्षत-विक्षत होगई पर उसका पता कहाँ ? कबीर कितनी सरल भाषा में इसे व्यक्त करते हैं :—

अँखड़ियाँ झाईं पड़ीं पन्थ निहारि निहारि ।
जीभड़ियाँ छाला पड़ा राम पुकारि पुकारि ॥

प्रियतम का पाना वास्तव में हँसी खेल नहीं हैं यह बात कबीर अच्छी तरह जानते हैं। वे कहते हैं :—

हँसि हँसि कन्त न पाइये जिनि पाया तिनि रोइ ।
जो हँसि ही हरि मिलै तो न दुहागिनि कोइ ॥

अब कबीर की विरहिणी आत्मा उस प्रियतम के वियोग में कब तक धैर्य रक्खे। अब उससे रहा नहीं जाता, वह मार्ग पर जाकर खडी हो गई है और प्रेमविह्वल तथा विरहकातर होकर प्रत्येक पथिक से अपने प्रियतम का संदेश पूछती है। कितनी मार्मिक भाषा में कबीर इसे व्यक्त करते हैं। :—

"विरहिनि ऊभी पन्थ सिर पूछे पथी धाइ ।
एक सबद कहि पीउ कौ कबरे मिलैंगे आइ ॥"

सांसारिक जीवों का न मिलन अधिक महत्त्वपूर्ण होता है न विरह, किन्तु फिर भी उसमें कितनी टीस और वेदना होती है । सांसारिक प्राणी एक समय के पश्चात् हो सकता है मिल जाय परन्तु जो भगवान से बिछुड़ गए हैं उनकी व्यथा का अनुमान नहीं किया जा सकता । कबीर ही उसे अभिव्यक्त कर सकते हैं :—

"चकवी बिछुरी रैनि की आइ मिली परभाति ।
जे जन बिछुरे राम ते ते दिन मिलैं न राति ॥"

राम से जो बिछुड़ गया हो उसे फिर इस संसार में सुख भला कहां मिल सक्ता है :—

"बासरि सुख ना रैनि सुख ना सुख सपनै माहिं ।
कबीर बिछुड़या राम सूँ ना सुख धूप न छांहि ॥"

किन्तु इतने कष्ट तथा साधना के पश्चात् जब राम से कबीर का मिलन होता है तो वे आवेश मे गाने लगते हैं :—

"दुलहिनि गावहु मंगलाचार
"तनरत कर मैं मनरत करिहौं पंच तत्त बाराती ।
रामदेव मोरे पाहुने आए हौं जोबन में माती ।"

कबीर का इसी प्रकार का साहित्य उत्कृष्ट कोटि का साहित्य है जहाँ हृदय की आवेशमयी भावनाओं को उन्होंने सरल वाणी दी है । जब कबीर को संसार में अपने लाल की ही लाली दिखाई देने लगती है तो कबीर मदोन्मत्त हो उठते हैं और उनकी मस्ती में अलंकार जैसे स्वयं खिंचे चले आते हैं ।

"लाली मेरे लाल की जित देखो तित लाल ।
लाली देखन मैं चली मैं भी हो गई लाल ॥"

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की कुछ पंक्तियां कबीर के व्यक्तित्व को स्पष्ट करती हैं । वे द्रष्टव्य हैं—"कबीर मस्त मौला थे जो कुछ कहते थे साफ कहते थे । जब मौज में आकर रूपक और अन्योक्तियों पर उतर आते थे

तब जो कुछ कहते थे वह सनातन कवित्व का शृङ्गार होता था। उनकी कविता से कभी सनातन सत्य खर्वित नहीं हुआ। वे जो कुछ कहते थे अनुभव के आधार पर कहते थे। इसीलिए सभी रूपक सुलझे हुए और उक्तियां वेधने वाली होती थीं। उनके राम जब उनके प्रिय होते हैं तो भी उनकी असीम सत्ता नहीं भुला दी जाती। नौखुले दरवाजों के घर में बन्द दुलहिन के वियोग की तड़प एक रहस्यमय प्रेमलीला की ओर संकेत करती है जहां सीमा से असीम मिलने को व्याकुल है और असीम सीमा को पाने के लिए चंचल। इसीलिए इस सारे विश्व का प्रकाश है। अगर यह लीला न होती तो संसार में कोई वस्तु ही न होती। हम अपने मुखयन्त्र आदि के बंधन में असीम स्वर-संतान को बांधने की चेष्टा करके एक तरह का आनन्द पाते हैं और इस बंधन से ही असीम-स्वर-संतान अनाहत नाद का आभास पाते हैं। वैसे ही सीमा के अन्यन्य उपकरणों से हम असीमताका अन्दाज लगाते हैं। और प्रिय भी अपने इन्हीं सीमामय विकारों से हमारे आनन्द का अनुभव करता है। कबीर के रूपकों में सदा इस महासत्य की ओर संकेत होता रहता है।

उनके प्रेम और भक्ति में वह गलदश्रु भावुकता नहीं थी जो जरासी आँच से ही पिघल जाय। यह प्रेम ज्ञान द्वारा नीत और श्रद्धाद्वारा अनुगमित था। वियोग की बात भी वे उसी मौज से कह सकते थे जिस तरह सयोग की। उनका मन जिस प्रेम रूपी मदिरा से मतवाला था वह ज्ञान के महुवे और गुड़ से बनी थी इसीलिए अन्ध श्रद्धा, भावुकता और हिस्टरिक प्रेमोन्माद का उसमें एकांत अभाव था। भक्ति के अतिरेक में उन्होंने कभी अपने को अति पतित नहीं समझा। सिर से पैर तक वे मस्त मौला थे : बेपरवाह, दृढ़, उग्र। ....वे पढ़े लिखे नहीं थे। छंद शास्त्र और अलंकार ज्ञान से भी वंचित थे। कविता करना उनका लक्ष्य नहीं था, फिर भी उनकी उक्तियों में कवित्व की ऊँची से ऊँची चीज प्राप्य हैं। दोहे और पद उन्होंने पूर्ववर्ती साधकों से अपनाए थे पर इनमें अपनी छाप डाल दी। वे साधना के क्षेत्र में युगयुग-गुरु थे और साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के स्रष्टा। संस्कृत के कूपजल को छुड़ा कर उन्होंने भाषा के बहते नीर में सरस्वती को स्नान कराया। उनकी भाषा में बहुत सी बोलियों का मिश्रण है क्योंकि भाषा उनका लक्ष्य नहीं था और

अनजान में वे भाषा की सृष्टि कर रहे थे।"

उपरोक्त पंक्तियों में कबीर का स्पष्ट व्यक्तित्व हमें मिलता है। कबीर वास्तव में महान उपदेशक और सुधारक थे तथा महान कवि। कबीर की संक्षेप में विशेषतायें ये हैं :—

१. कबीर सन्त कवियों में सर्वश्रेष्ठ कवि हैं।

२. रहस्यवादी कवियों में तो वे निश्चित रूप से प्रथम स्थान के अधिकारी हैं।

३. जिन दिनों कबीर ने पद रचना की थी उसको देखते हुए कबीर प्रथम श्रेणी के गीति काव्यकार कहे जायेंगे।

४. नीति आदि के दोहे समाज में कबीर के जितने प्रचलित हैं उतने शायद ही और किसी के हों। इस विषय में वे तुलसी के समकक्ष रखे जा सकते हैं।

५. ऐतिहासिक दृष्टि से कबीर भक्तिकाल के अगुआ हैं। उन्होंने उस भक्तिकाल का मार्ग प्रशस्त किया था जो हिन्दी में स्वर्णयुग के नाम से विख्यात है।

सारांश यह कि यद्यपि हम कबीर को प्रधानतः कवि नहीं कह सकते तथापि यह मानना ही पड़ेगा कि उन्होंने हमें विचारक, सुधारक और प्रेरक महात्मा के रूप में ठोस साहित्य दिया। उनकी वाणी की प्रेरणा शक्ति इसी बात से प्रकट है कि तुलसी और सूर के साथ ही साथ देश के कवि महात्माओं में इनका नाम भी उनके समान ही व्यापक रूप से लिया जाता है। उनके पद भी उसी तरह स्थान-स्थान पर गाए जाते हैं। कलापक्ष की अपेक्षाकृत न्यूनता होते हुए भी अपने भावपक्ष की पुष्टता और पूर्णता के कारण कबीर हिन्दी साहित्य में प्रथम श्रेणी के कवि माने जाते हैं।

प्रश्न १३—'संत मत का साहित्य क्षेत्र में विशेष महत्त्व न होते हुए भी धार्मिक क्षेत्र में बहुत बड़ा हाथ रहा है।' इस कथन के **औचित्य पर विचार करते हुए संत कवियों की प्रधान भावनाओं और मूल प्रेरणाओं का उल्लेख कीजिये।**

उत्तर १३—वीरगाथा काल की समाप्ति के पश्चात् देश में एक विचित्र

परिस्थिति पैदा हो गई थी। हिन्दू राजा अपनी बाहु और तलवार पर से विश्वास खो चुके थे। वे अपनी स्वतन्त्रता के गीत किस मुख से गाते। मुसलमानों की विजय और हिन्दुओं की सामूहिक पराजय से वातावरण बड़ा ही निराशाजनक तथा विषाक्त हो उठा था। हिंदुओं के समक्ष ही उनके मन्दिर गिराए जाते थे और मूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और न तो भगवान स्वय ही अपनी रक्षा करते थे और न उनके पण्डे-पुजारी ही उसकी रक्षा कर सकते थे। सोमनाथ की मूर्ति के नष्ट होने से तो जैसे मूर्ति-पूजा की जड़ ही हिल गई थी। गज़नवी के ऐतिहासिक वाक्य आज भी प्रसिद्ध हैं। एक पुजारी द्वारा मनोवांछित धन का प्रलोभन केवल इसलिए दिए जाने पर कि वह मूर्ति को भग्न न करे गजनवी ने साफ कह दिया था "मैं मूर्ति तोड़ने वाले के नाम से विख्यात होना चाहता हूँ मूर्ति बेचने वाले के नाम से नहीं।" और यह कह कर उसने मूर्ति के टुकड़े-टुकड़े कर दिये थे। पत्थरों की निर्जीवता जनता के समक्ष स्पष्ट हो चुकी थी। मुसलमान विजेता जनता को बलात् मुसलमान बना रहे थे। हिंदू समाज के सामने किसी प्रकार अपना अस्तित्व बनाए रखने का प्रश्न था। साकार ईश्वर की पूजा असंभव हो गई थी। कारण, मुसलमानों ने मंदिर तोड दिए थे, मूर्तियां नष्ट कर दी थीं। विजेता मुसलमान एकेश्वर वाद के समर्थक थे और बहुदेववाद के कट्टर विरोधी। अतः एक ऐसे सामान्य भक्ति मार्ग की इस समय आवश्यकता थी जो मुसलमानों के विरोध में न हो।

संत कवियों का हिन्दू समाज पर सब से बड़ा ऋण यही है कि उन्होंने समयानुकूल साधना पद्धति का आविष्कार किया। यों तो ईश्वर के निराकार रूप की चर्चा वेदों में भी मिल सकती है पर वह न तो लोकप्रिय हुई थी और न व्यावहारिक ही प्रतीत होती थी। इन सत कवियों ने उसे व्यावहारिक रूप दिया। डा० श्यामसुन्दर दास उपरोक्त स्थिति पर बड़ी ही स्पष्टता से प्रकाश डालते हुए लिखते हैं :—

"मूर्तियों की अशक्तता वि० सं० १०८१ में बड़ी स्पष्टता से प्रकट हो चुकी थी, जबकि महमूद गज़नवी ने आत्मरक्षा से विरत, हाथ पर हाथ रखे श्रद्धालुओं के देखते-देखते सोमनाथ का मंदिर नष्ट करके उनमें से हजारों को तलवार के घाट उतारा था और लूट में अपार धन प्राप्त किया था। गजेन्द्र की

एक ही टेर सुन कर दौड़े आने वाले, ग्राह से उसकी रक्षा करने वाले सगुण भगवान जनता के घोर से घोर संकट काल में भी उसकी रक्षा के लिए आते हुए न दिखाई दिए। अतएव उनकी ओर जनता को सहसा प्रवृत्त कर सकना असम्भव ही सा था। उधर योगप्रधान नाथ पन्थ का प्रभाव देश में बहुत बढ़ा हुआ था। सूफी फकीर भी अपने प्रेम और उदारता के कारण जनता को अपनी ओर आकृष्ट कर रहे थे। इस कारण लोगों ने सगुण भक्ति का उस समय वैसा अनुसरण न किया जैसा आगे चलकर कबीर आदि संत कवियों का किया और अंत में नामदेव जैसे सगुण भक्त को ज्ञानाश्रित निर्गुण भक्ति की ओर झुकना पड़ा। उस समय परिस्थिति केवल निराकार और निर्गुण ब्रह्म की भक्ति के ही अनुकूल थी, यद्यपि निर्गुण की शक्ति का भली भाँति अनुभव नहीं किया जा सकता था उसका आभासमात्र मिल सकता था। संत कवियों ने अपनी निर्गुण भक्ति के द्वारा भारतीय जनता के हृदय में अपूर्व आशा उत्पन्न की और उसे अधिक समय तक विपत्ति की अथाह जलराशि के ऊपर बने रहने की उत्तेजना दी यद्यपि सहायता की आशा से बढ़े हुए हाथ को वास्तविक सहारा सगुण भक्ति से ही मिला और केवल राम भक्ति ही उसे किनारे पर लगा कर सर्वथा निरापद कर सकी। पर इससे जनता पर होने वाले कबीर, दादू, रैदास आदि संतों के उपकार का महत्व कम नहीं हो जाता।"

संत कवियों का उत्तरदायित्व महान था। वे संक्रान्ति काल के कवि थे। विद्वानों का कथन है कि संक्रान्ति काल में कला विचारों का अनुसरण करती है और शांति काल में विचार कला का अनुसरण करते हैं अर्थात् संक्रान्ति काल में साहित्य का कलापक्ष पुष्ट नहीं हो सकता केवल भावपक्ष ही पुष्ट होता है। साहित्य उस समय संदेश देने का कार्य करता है मनोरंजन करने का नहीं। संत कवियों के समक्ष उस समय अनेकों कठिनाइयाँ थीं। मूर्तिपूजा, वर्ण व्यवस्था, अवतार वाद, कर्म काण्ड तथा जाति-पाँति आदि का इन कवियों को खंडन करना था। वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत सवर्ण जातियों को अधिक अधिकार प्राप्त थे और शूद्र सबके द्वारा अपमानित, तिरस्कृत तथा उपेक्षित थे। कबीर आदि संत कवियों ने इसके विरुद्ध आंदोलन ही प्रारम्भ कर दिया और उच्च जातियों को यह सोचने के लिए बाध्य कर दिया कि उनका चिंतन, पोथा

और पुस्तकें बासी हो गई हैं। उनका ज्ञान निष्क्रिय हो गया है और पण्डित गधे की भाँति पुस्तकों का भार वहन ही करते हैं उनसे ज्ञान प्राप्त नहीं करते। ब्राह्मणों को उन्होंने चुनौती दी—"जो तू बाम्हन बाम्हन जाया और राह तू काहे न आया।" संत कवियों का कथन था कि प्रत्येक मनुष्य इस संसार मे मनुष्य के रूप में उत्पन्न होता है अतः सब मनुष्यों के सामाजिक अधिकार समान होने चाहिएं। संत कवि अपने समय को देखते हुए कितने प्रगतिशील थे यह उनके सामाजिक साम्यवाद के कार्यक्रम से स्पष्ट हो जाता है। सत कवियों ने जो कार्य इतने दिन पूर्व किया उसी कार्य को अधिक विज्ञापन की सहायता से कम सफलता के साथ महात्मा गांधी कर पाए। संत कवियों की वाणी उनके क्रान्तिकारी होने के कारण तेज और व्यंगप्रधान थी। वे किसी बात को उलट-फेर कर नहीं कहते थे अपितु उन लोगों के मर्म पर सीधा आघात करते जिनको वे समाज का कोढ़ समझते थे। अधिकांश संत कवि स्वयं उपेक्षित वर्गों के थे अतः जाति-पाँति का खण्डन तो वे स्वयं थे। कर्मकांडी पण्डितसमाज आँखों में धूल तब भी झोंकते थे और अब भी झोंकते हैं किन्तु संत कवियों ने उनका जैसा भंडा-फोड़ किया वैसा आजतक कोई कर नहीं सका। कबीर कितने तीखे स्वर में कहते हैं कि सिर घुटाकर क्या तुम अपने पापों पर पर्दा डाल सकोगे? तुम्हारे हृदय में तो गंदगी भरी है उसे बिना साफ किए तुम कुछ प्राप्त नहीं कर सकते।

केसनि कहा बिगारिया जो मूंडै सौ बार।
मन को काहे न मूंडिया जामै विषय विकार॥

अगर केवल जनेऊ पहनने से मुक्ति मिल सकती है तो अरहट की मुक्ति-प्राप्ति की सम्भावना अधिक है। पण्डितों का गर्व था कि उन्होंने वेद पढे हैं, शास्त्र पढे हैं, स्मृति पढी हैं; संत कवि निरक्षर हैं अतः ज्ञान की बातों में वे हस्तक्षेप करने के अधिकारी नहीं। परन्तु वास्तव में कबीर के सिद्धांत के अनुसार "सो ज्ञानी आप विचारै।" संत कवियों का आदर्श था। इस विषय मे वे सत्य के अधिक निकट थे। उनका विश्वास था कि तुम्हारा अब तक का साहित्य साम्प्रदायिक है। वह तुम जैसे व्यक्तियों द्वारा ही लिखा गया है जिसमें तुम्हारे वर्ग के ही स्वार्थ लिखे रहते हैं और सुरक्षित हैं अतः यह साहित्य विश्वस-

नीय नहीं, अध्ययन योग्य नहीं। उन्होंने तो सम्पूर्ण साहित्य की तौल में केवल 'ढाई अक्षर' रखकर अपना पलड़ा नीचा रखा। "ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पण्डित होइ।" संत कवि सच्चे अर्थों में जन कवि थे। उनकी वाणी सरल, तीव्र और प्रभावशाली होती थी। उच्च वर्ग के कवियों का समाज मे कोई सम्बन्ध नहीं था। आज भी संत कवियों का साहित्य समाज के जितने निकट है उतना साहित्यिक अलंकारदि गुणों से युक्त साहित्य नहीं ? आज भी एक गाँव का आदमी गाता हुआ सुनाई देगा।

मनुआ कैसे बावरे रे पाथर पूजन जाँइ।
घर की चकिया कोई न पूजै जाको पीसो खाँइ।"

सन्त कवियों के महत्व को साहित्यिक गुणों की कसौटी पर कसकर नहीं परखना चाहिए। कारण, साहित्य उनका साध्य नहीं था वह तो साधनमात्र था। वे ऐसी भाषा में समाज से बातें करना चाहते थे जो सीधे'उन के मर्म पर चोट करे। इतिहास इस बात का साक्षी है कि संत कवियों के समान लोकप्रिय होने का गौरव बहुत कम कवियों को प्राप्त है। संत कवि निम्न वर्ग से लेकर उच्चवर्ग तक के व्यक्तियों को एक सामान्य भाव-भूमि पर लाकर उनका परिचय मानवता के माध्यम से कराना चाहते थे। हिंदू और मुसलमान पहले मनुष्य हैं बाद में कुछ और—यह सर्वप्रथम सन्त कवियों ने समझा और उन्होंने मानवता का एक ऐसा क्षेत्र तैयार किया जहाँ मनुष्य-मनुष्य के बीच में कोई खाई नहीं थी, कोई व्यवधान नहीं था। सन्त कवि खरी भाषा में खरी बात कहते थे। पाखंडियों के प्रति दया करना तो उन्होंने मानो सीखा ही नहीं था। इतना विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि समाज के निम्नवर्ग में आज भी जो चेतना दिखाई देती है उसका बहुत कुछ श्रेय इन्हीं सन्त कवियों को है। कबीर-पन्थी, दादू-पन्थी, रैदास-पन्थी साधारण कोटि के व्यक्ति भी आज अपने को आध्यात्मिक रूप में किसी से तुच्छ नहीं समझते। उनका अपना जीवन दर्शन है जो उन्हें सन्त कवियों से मिला।

प्रायः सभी संत कवियों में हठयोग की साधना का कुछ न कुछ पुट मिलेगा। डा० हजारीप्रसाद के विचार में ऐसा जनता की भावनाओं को आश्चर्य जनक कृत्यों के बल पर आकर्षित करने के कारण था। वे इस रहस्यात्मक तथा

आश्चर्यजनक वातावरण में जनता को लाकर उसके मनपर अपनी अलौकिक सिद्धि का प्रभाव डालते थे और फिर उस श्रद्धालु समाज को ज्ञान का उपदेश देते थे। स्वभावतः फिर उस ज्ञान का प्रभाव बढ़ ही जाता था। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि सन्तमत के रूपान्तर नाथ पन्थ, सूफी मत आदि कितने ही मत चल रहे थे किन्तु सन्त मत की तुलना में वे किंचिन्मात्र भी लोकप्रिय न हुए। इसका एकमात्र कारण यही था कि उनके पास कोई धार्मिक कार्यक्रम नहीं था और अभी धार्मिक-भावभूमि स्वदेशी न थी। कुछ समय के लिए समाज पर सन्त कवियों का एकान्त प्रभाव था। सन्त कवियों ने अपने सामान्य ज्ञान तथा अनुभव के बल पर बड़े-बड़े पंडितों को जनता के समक्ष बातों में भी परास्त किया। सन्त कवि चूंकि निम्न वर्ग के सुधार से ही अधिक सम्बन्ध रखते थे अतः उन्हें हमेशा ही जनता की भाषा में, सरल भाषा में ही उपदेश करने पड़े। यद्यपि उनकी रचनाओं में साहित्यिक सौंदर्य का अभाव है फिर भी उनकी साहित्यिक महत्ता कुछ नहीं है—ऐसा कहना भी भूल होगी। डा० श्यामसुन्दरदास उनके साहित्यिक महत्व के विषय में लिखते हैं:—

"शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से देखने पर भी हम संत कवियों का एक विशेष स्थान पाते हैं। यह ठीक है कि बिहारी और केशव आदि की-सी भाषा की प्रांजलता का अभिमान ये कवि नहीं कर सकते और न सूर और तुलसी की सी सरसता और व्यापकता ही इनकी कविता में पाई जाती है। जायसी ने प्रकृति के नाना रूपों के साथ अपने हृदय की जैसी एकरूपता दिखाई है, अनेक निर्गुण सन्त कवि उतनी सफलता से वह नहीं दिखा सके। यह सब होते हुए भी इन कवियों का स्थान हिन्दी साहित्य में अत्यन्त उत्कर्षपूर्ण तथा उच्च समझा जायगा। भाषा की प्रांजलता कम होते हुए भी उसमें प्रभावोत्पादकता बहुत अधिक है और उनकी तीव्रता से भावों में व्यापकता की बहुत कुछ कमी हो जाती है। उनके सन्देशों में जो महत्ता है, उनके उपदेशों में जो उदारता है, उनकी सारी उक्तियों में जो प्रभावोत्पादकता है वह निश्चय ही उच्च कोटि की है। कविता के लिये उन्होंने कविता नहीं की है, उनकी विचारधारा सत्य की खोज में बही है, उसी का प्रकाश करना उनका ध्येय है। उनकी विचारधारा का प्रवाह जीवनधारा से भिन्न नहीं। उसमें उनका हृदय घुलामिला है। उनकी

प्रतिभा हृदय-समन्वित है। उनकी बातों में ऐसा बल है जो दूसरों पर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता। हार्दिक उमंग की लपेट में जो सहज विदग्धता उनकी उक्तियों में आगई है वह अत्यन्त भावापन्न है। उसीमें उनकी प्रतिभा का चमत्कार है। शब्दों के जोड़-तोड़ से चमत्कार लाने के फेर में पढ़ना उनकी प्रकृति के प्रतिकूल था।"

इसमें सन्देह नहीं कि सन्त कवियों का क्षेत्र तो भावों का था, भाषा का नहीं। वे भाव-जगत् में क्रान्ति करने आए थे, भाषा का सुधार करने नहीं। उन्हें तो रोजा, हज, ताजिएदारी, श्राद्ध, एकादशी, तीर्थाटन, व्रत, उपवास, मन्दिर तथा कर्मकाण्ड के ढोंग के विरुद्ध अन्दोलन करना था, वे साहित्यशास्त्र या अलंकारों का उदाहरण प्रस्तुत करने नहीं आए थे। सन्त कवियों ने समय को देखते हुए वही किया जो करना उनके लिए उचित था। उन्होंने निराश जनता के हृदय को संभाला और जिन शब्दों में उसे सांत्वना दी वह वाणी चाहे अस्पष्ट या टूटीफूटी दुःखातिरेक के कारण भले ही हो परन्तु वह अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। धार्मिक क्षेत्र में सन्त कवियों का सर्वाधिक प्रभाव है और भाषा के क्षेत्र में भी वे आदरणीय हैं।

प्रश्न १४—युक्ति पूर्वक सिद्ध कीजिये कि बुद्धदेव के बाद भारत में सबसे बड़े लोकनायक तुलसी थे।

उत्तर १४—एक कहावत प्रसिद्ध है कि संसार के महानतम व्यक्ति परिस्थिति प्रसूत होते हैं। रूढ़ि, अनाचार, दुराचार तथा समाजविरोधी तत्व जब अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाते हैं तो कोई न कोई महापुरुष उन परिस्थितियों का हल लेकर समाज के समक्ष आता है। यदि ऐसा न हो तो समाज ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाय और सुख-शांति नाम की वस्तु समाज से उठ जाय। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि सदैव से यही नियम रहा है कि समाज व्यक्ति के पीछे चलता है। बुद्ध भगवान् ने अपने समय की परिस्थितियों को देखते हुए समाज के समक्ष उचित हल रखे तथा शंकराचार्य समाज को उसके पश्चात् अपनी ओर खींच ले गए। कर्मकाण्ड के आधिक्य के कारण समाज विक्षुब्ध था। शूद्र लोगों का जीवन पशुओं से भी गया बीता था। ठीक ऐसे ही समय भगवान् बुद्ध अपनी करुणा की पताका फहराते हुए आए और

सारा देश उनके पीछे चल दिया। संसार मे सम्भवतः भगवान बुद्ध के समान लोकप्रिय व्यक्ति दूसरा नहीं हुआ। ब्राह्मणों के पारमार्थिक नियम एवं धर्म की क्लिष्ट तथा अव्यावहारिक साधनायें जनजीवन से दूर जा रही थीं। भगवान बुद्ध ने धर्म का सम्बन्ध जीवन से जोड़ा और मानवमात्र के कल्याण के लिए अपने धर्म के द्वार उन्मुक्त कर दिए। भगवान बुद्ध के धर्म में एक ओर ब्राह्मणवाद के विरुद्ध कटु निरुपण है दूसरी ओर समाज हित के लिए समयानुकूल नया कार्यक्रम। भगवान बुद्ध के दया-विस्तार का वृत्त इतना व्यापक हो गया कि उसकी परिधि भारत की सीमाओं में न वध सकी और वह भारत से बाहर तक चली गई। डा० हजारीप्रसाद का कथन है कि "लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके क्योंकि भारतीय समाज में नाना भांति की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनायें, जातियाँ, आचारनिष्ठा और विचार-पद्धतियाँ प्रचलित हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे, गीता में समन्वय की चेष्टा है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे।" यह सत्य है कि समाज अपने संस्कारों को बिलकुल ही नहीं छोड़ सकता। लोकनायक सदैव ही जनता के प्राचीन संस्कारों का उचिततम उपयोग करता है और नवीन बातों का सम्मिश्रण इस प्रकार करता है कि समाज उसे विदेशी या सस्कारबाह्य नहीं समझता। समाज का मनोविज्ञान ठीक-ठीक समझे बिना कोई व्यक्ति लोकनायक नहीं हो सकता, लोकशासक भले ही हो जाय। तलवार से विश्व पर शासन की कल्पना करने वाले—दंभ भरने वाले लोकशासक कभी लोकनायक नहीं रहे। वे घृणा की पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित रहते हैं। जनता अवसर पाकर भारस्वरूप ऐसे लोक-शासकों को दूर फेंक देती है। लोकशासक होने में बाहुबल तथा शक्ति प्राथमिक आवश्यकतायें हैं किंतु लोकनायक होना इसके विरुद्ध है। वह समाज का सेवक अपने को समझता है किन्तु समाज उसके इशारे पर अपने प्राण बलिदान करने को उद्यत रहता है। लोकनायक त्याग के द्वारा समाज के हृदय में स्थान प्राप्त करता है, समाज ेम के सिंहासन पर उसे बिठाता है। तैमूर, नादिरशाह लोकशासक कहे जा सकते हैं, लोकनायक नहीं। बुद्धदेव अपने से पूर्व सभी महापुरुषों से महान लोकनायक थे।

बुद्ध से पूर्व के कालों पर भी यदि दृष्टिपात करें तो हम इस परिभाषा

को ठीक पायेंगे । राम के समय में रावण आदि अनेक राक्षस राजाओं के शासन में प्रजा सन्त्रस्त थी। उस समय का इतिहास तो यही बताता है कि इन निरंकुश दस्यु राजाओं के अधिकार में प्रजा में हाहाकार मचा था । उनके द्वारा सीताहरण उनके सामान्य कृत्यों में से एक था । भगवान राम ने तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए उनका उचित हल खोज निकाला। उन्होंने असभ्य एवं अशिक्षित व्यक्तियों में शिक्षा का प्रचार किया, उन्हें बराबर का पद दिया और इस प्रकार उन्होंने समाज में सुखशांति की स्थापना की।

भगवान् कृष्ण के समय में परिस्थितियाँ बिलकुल ऐसी ही थीं। बड़े-बडे राजा प्रजा पर अबाध अत्याचार करते थे। निरपराधों को फाँसी, स्त्रियों पर अत्याचार आदि बातें तो अत्यंत सामान्य थीं। सारा देश उन नर-पिशाचों के कुकृत्य से विकम्पित था । कृष्ण का जिस वर्ग में पालन-पोषण हुआ था वह वर्ग सब से अधिक दयनीय अवस्था में था । कृष्ण ने प्रेम के बल पर उनकी बिखरी शक्ति को एकत्रित किया और कंस जैसे राजा को इस लोक से विदा कर दिया। गीता के काल में कृष्ण का समन्वयवादी रूप स्पष्ट है।

अब उस युग पर दृष्टिपात करें जिस युग में तुलसी ने जन्म लिया। भक्तिकाल का वास्तव में वह आरम्भ काल था। इस समय तक समाज ने या देश ने विदेशियों को पूर्ण आत्म-समर्पण कर दिया था । अब तो पराजय की एक तन्द्रा विस्मृति के अतल गर्भ में ले जाकर उनके विनाश का मार्ग प्रशस्त कर रही थी। जटिल परिस्थितियाँ थीं जब तुलसी ने अपने जीवन के रंगमंच पर प्रवेश किया। डा० हजारीप्रसाद ने उन परिस्थितियों का सुन्दर विवरण दिया है—

"जिस युग में इनका (तुलसी का) जन्म हुआ था उस युग के समाज के आगे कोई ऊंचा आदर्श नहीं था । समाज के उच्च स्तर के लोग विलासिता के पंक में उसी तरह मग्न थे जिस प्रकार कुछ वर्ष पूर्व सूरदास ने देखा था। निचले स्तर के पुरुष और स्त्री दरिद्र, अशिक्षित और रोगग्रस्त थे। वैरागी हो जाना मामूली बात थी। जिसके घर की संपत्ति नष्ट हो गई या स्त्री मर गई, संसार में कोई आकर्षण नहीं रहा वही चट संन्यासी हो गया। सारा देश नाना प्रकार के सम्प्रदाय के साधुओं से भर गया था। 'अलख' की आवाज़ गर्म थी; हालांकि ये अलख लखने वाले कुछ भी नहीं लख सकते थे।

नीच समझी जाने वाली जातियों में कई पहुँचे हुए महात्मा हो गए थे जिनमें आत्म-विश्वास का संचार हो गया था। पर जैसा कि साधारणतः हुआ करता है शिक्षा और संस्कृति के अभाव में यही आत्म-विश्वास दुर्वह गर्व का रूप धारण कर गया था। आध्यात्मिक साधना से दूर पड़े हुए ये गर्वमूढ़ पण्डितों और ब्राह्मणों की बराबरी का दावा करते थे। परम्परा से सुविधा भोग करने की आदी ऊंची जातियाँ इससे चिढ़ा करती थीं। समाज में धन की मर्यादा बढ़ रही थी। दरिद्रता हीनता का लक्षण समझी जाती थी। पंडितों और ज्ञानियों के साथ समाज का कोई भी सम्पर्क नहीं था। सारा देश विशृङ्खल, परस्पर विच्छिन्न, आदर्शहीन और बिना लक्ष्य का हो रहा था। एक ऐसे आदमी की आवश्यकता थी जो इन परस्पर विच्छिन्न और दूर विभ्रष्ट टुकड़ों में योगसूत्र स्थापित करे। तुलसीदास का आविर्भाव ऐसे ही समय में हुआ था।"

रूढ़ियों के विरोध करने वाले प्रत्येक महापुरुष को मूर्ख जनता का कोपभाजन बनना पड़ता है—बनना पड़ा है और उनमें से अधिकांश की तो इस गर्वमूढ़ जनता ने बलि तक ले ली। ईसा, महर्षि दयानन्द, महात्मा गाँधी इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। तुलसीदास को भी उन विरोधों का सामना करना पड़ा था और विरोधियों के हाथों उन्हें पर्याप्त शारीरिक तथा मानसिक कष्ट भी दिया गया था। तुलसी ने एक धर्म के अन्दर विषवाहक स्नायुओं की भांति फैले इस सम्प्रदाय के नाड़ी-चक्र को देखा था, समझा था। शिव के भक्त राम के शत्रु और रामभक्त शैवों के घोर शत्रु। तुलसी से यह सब अज्ञान का खेल नहीं देखा गया। कबीर की वाणियों में भी यह शैव वैष्णवों का संघर्ष स्पष्ट रूप में उभर कर आया है। उन्होंने लिखा था, "वैष्णव की कुटिया भली ना साकत का बडगाँव" तथा "साकत काली कामरी भावै तहाँ बिछाइ"। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शाक्त विशेष रूप से असहिष्णु थे। तुलसी ने घबराकर इस विषमता तथा संघर्ष से मुख नहीं फेर लिया अपितु सच्चे लोकनायक की भांति उनके बीच की चौड़ी खाई पाटने का सफल प्रयत्न भी किया। अपने रामचरित मानस में—जो विभिन्न विरोधों का समन्वय ग्रंथ है—शिव तथा राम को निकट लाने का क्रान्तिकारी प्रयत्न किया उन्होंने बताया कि दोनों एक ही शक्तियाँ हैं फिर विरोध कैसा?

'शिवद्रोही मम दास कहावा, सो नर सपनेहु मोहि न भावा' लिखकर कल्पना नहीं की जा सकती कि तुलसी ने कितना बड़ा कार्य किया । राम के मुँह से शिव की प्रशंसा सुनकर झगड़ालू शैवों के सिर शर्म से झुक गए। एक प्रसिद्ध रामभक्त राम के मुँह से शिवजी की प्रशंसा करा सकता है यह उनके लिए कल्पनातीत बात थी । सोचा नहीं जा सकता कि केवल इस एक पंक्ति ने परम्परा से चले आते शैव तथा वैष्णवों के झगड़ों को समाप्त ही कर दिया। एक पंक्ति ! संभवतः विश्वसाहित्य में इतना ऐतिहासिक महत्व पूरे ग्रंथ भी न रखते होंगे। दो शक्तियों का एक पंक्ति में समन्वय स्तुत्य है।

दूसरी समस्या तुलसी के समक्ष भाषा की थी। पण्डित लोग जनभाषा में साहित्य सृजन करना अपना अपमान समझते थे । जब उन्होंने सुना कि तुलसी वेद-स्मृतियों के सार को 'भाषा' में लिखना चाहता है तो तुलसी का घोर विरोध हुआ। उनकी जीवन लीला तक समाप्त कर देने के प्रयत्न हुए। किन्तु यह सच्चा लोकनायक अपनी टेक पर ही अड़ा रहा और भक्ति के उस अगम सागर को उसने जनसाधारण के लिए सुलभ कर दिया। रामचरित मानस का संस्कृत में न लिखा जाकर हिन्दी में लिखा जाना आज कोई आश्चर्यपूर्ण बात नहीं लगती परन्तु उस समय के तत्सम्बन्धी विरोध की आज ठीक कल्पना भी नहीं की जा सकती।

कबीर को छोड़कर और कोई ऐसा व्यक्ति संत साहित्य में नहीं है जिसका अनुभव इतना पक्व हो, अन्तर्दृष्टि इतनी गहरी। किन्तु कबीर के 'ढाई आखर' की ओट में कुछ मूर्ख अपना स्वार्थ साधन करना चाहते थे। 'अलख'-'अलख' की रट लगाते ये समाज के शत्रु संख्या में कम नहीं थे । घुटमुंडे संन्यासी बरसाती मेंढकों की भांति असंख्य हो गए थे । तुलसी ने ठीक ही लिखा था।

"नारी मुई घर सम्पति नासी, मूंड मुंडाइ भए संन्यासी।"

'अलख'-'अलख' सुनते-सुनते जब तुलसी के कान थक गए तो इस समाजविरोधी तत्व को वे अधिक दिन सहन नहीं कर सके। उनका समाजदुःख-कातर हृदय इन व्यर्थ की बातों से घायल हो गया था। वे रोष में कह उठे.—

हम लखि हमहि हमार लखि हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहिं का लखै राम नाम जप नीच॥

अभी तक समाज में भक्तिप्रधान, ज्ञानप्रधान, कर्मप्रधान भक्ति-पद्धतियाँ प्रचलित थीं। सब में अलग-अलग एकांगिता थी। कोई भी मार्ग इतना विस्तृत नहीं था कि उसे लोकधर्म कहा जाय। तुलसी ने ज्ञान, भक्ति और कर्म का उचित मिश्रण कर एक ऐसे लोकधर्म की प्रतिष्ठा की जिसमें प्रत्येक व्यक्ति प्रवेश पा सके। उन्होंने कहा :—

"ज्ञानहिं भक्तिहिं नहिं कछु भेदा।
उभय हरहि भव सम्भव खेदा॥"

तुलसी समाज के सजग प्रहरी थे वे जानते थे कि किसी बात का समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है। अतः उनके पूरे साहित्य में एक भी ऐसी पंक्ति नहीं मिलेगी जो लोकविरोधिनी हो। शृङ्गार का जितना संयत और लोकहितकारी रूप तुलसी में मिलता है सम्भवतः विश्व के किसी कवि में नहीं मिलेगा। वे सीता को रामदर्शन अंगूठी के नग में कराते हैं आमने-सामने नहीं। इसी प्रकार मार्ग मे वधुओं से वे कहलवाते हैं कि 'चितै तुम त्यौं हमरो मन मोहै' ये 'साँवरे से सखि रावरे को हैं' -सीता की ओर ही राम का देखना यह मर्यादा का ही आग्रह है।

तुलसी से पूर्व कृष्ण का जो रूप कृष्ण-भक्त कवियों ने रखा था उसमे उनके रूप की ही आराधना थी और मर्यादा का उचित पालन उसमें नहीं था। सूर जैसे प्रसिद्ध कवि ने कुछ पद ऐसे लिखे जो अश्लील तक हैं :—

झूठे मोहि लगावति ग्वारी।
खेलत तें मोहि बोलि लयौ है दोनों भुज भरि दीनी अँकवारी।
अपने कुच मेरे कर धारति आपहुं चोली फारी॥

तुलसी ऐसी पंक्ति कब सहन कर सकते थे। तुलसी का काव्य वास्तव में मस्तिष्क काव्य है जिसकी किसी भी पक्ति में अस्वाभाविक भावुकता नहीं है अपितु समाज-हित के लिए अपेक्षित समुचित चेतनता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने राम में शील, शक्ति और सौंदर्य का लोकोत्तर समन्वय दिखाया है। कृष्ण का केवल रूप ही उभर सका और वह भी समाज मे विशृङ्खलता और

अमर्यादा को प्रोत्साहन देने वाला हुआ। परन्तु राम का सौंदर्य, उनकी शक्ति, उनका शील–सभी कुछ समाज के अनुकूल है। यही कारण है कि कृष्णचरित्र तो रीतिकालीन कवियों ने दूषित कर दिया पर रामचरित्र को दूषित करने का साहस किसी को न हुआ। तुलसी ने उसे बाँध ही ऐसा दिया था। तुलसी ने समाज के हित के लिए प्रत्येक वस्तु का समन्वय किया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"समन्वय का मतलब है कुछ झुकना, कुछ दूसरो को झुकने के लिए बाध्य करना। तुलसीदास को ऐसा करना पड़ा है। यह करने के लिए असामान्य दक्षता की जरूरत थी, यह उनमें थी। फिर भी झुकना झुकना ही है। यही कारण है कि राम चरित मानस के कथा काव्य की दृष्टि से अनुपमेय होने पर भी उसके प्रवाह में बाधा पड़ी है। अगर वह शुद्ध कविता की दृष्टि से लिखा जाता तो कुछ और ही हुआ होता।"

इसमें सन्देह नहीं कि तुलसी अन्य लोकनायकों की भान्ति संदेश लाए थे। उस संदेश की तुलना में कोई भी बात उनके लिए अधिक महत्वपूर्ण नहीं थी। कितनी विरोधी बातों का तुलसी ने समन्वय किया है यह देखकर आश्चर्य होता है और उनकी महान प्रतिभा पर विस्मय। उनका सारा काव्य समन्वय की विराट् चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, कथा और तत्व ज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चाण्डाल का समन्वय, भाषा और संस्कृत का समन्वय—राम चरित मानस शुरू से आखीर तक समन्वय काव्य ही है। यही कारण है कि रामचरित मानस केवल काव्य ग्रंथ ही नहीं है वह धर्म ग्रथ भी है। जनता का साधारण व्यक्ति जो साहित्यिक विशिष्टताओं के अलंकार, छन्द, शब्दशक्ति आदि से अनभिज्ञ होता है वह भी रामायण का पारायण करता है और अपने जीवन यात्रा के लिए वहाँ से प्रकाश ग्रहण करता है। तुलसी का घर-घर में प्रवेश है। आज उनका सम्मान केवल कवि के नाते ही नहीं अपितु एक लोक-नायक के नाते भी है। लोग—जनसमाज—तुलसी को असाधारण ज्ञानगुण-सम्पन्न लोकोत्तर मानव या देवता समझते हैं। इसमे कोई सदेह नहीं कि तुलसी बुद्ध के बाद सबसे बडे लोकनायक हैं। यद्यपि उन्होंने अपना कोई पन्थ

मत या धर्म नहीं चलाया फिर भी वे समाज द्वारा पूजे जाते हैं और उनका रामचरित मानस जन-जन का कण्ठहार है।

प्रश्न १५—"सूर भक्ति के क्षेत्र मे इतने आगे पहुँच गए थे कि समाज की आवश्यकताओं का उन्हें ध्यान ही न रहा।" इसकी विवेचना कीजिए।

उत्तर १५—कृष्णभक्त कवियों मे प्रायः सभी कवि कृष्ण के रूप के उपासक रहे। अतः रूप के वर्णन में वे इतने विभोर रहे कि समाज की मर्यादाओं और आवश्यकताओं की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। महाकवि सूरदास भी अपनी इस परम्परा के अपवाद नहीं हैं। तुलसी की भाँति समाज की मर्यादा तथा आवश्यकताओं का ध्यान उन्हें नहीं था। वे तो भक्ति मे मतवाले थे, समाज से उन्हें क्या लेना-देना था। इस प्रवृत्ति के दो कारण मुख्य हैं। प्रथम तो सूरदास के गुरु श्री वल्लभाचार्य जी स्वयं कृष्ण के बाल तथा युवा रूप के आराधक थे अतः अपने मत मे इसी रूप की प्रतिष्ठापना उन्होंने की थी। महाभारत से सम्बद्ध कृष्ण के जीवन को उन्होंने स्पर्श भी नहीं किया। माधुर्यभाव की उपासना में लोक की आवश्यकताओं का क्या स्थान रह सकता है यह सहज अनुमान की बात है। सूर के कृष्ण केवल रूप की अलौकिक मूर्ति थे। शील और शक्ति का प्रसार दिखाने का प्रयत्न कृष्णभक्त कवियों ने कभी किया ही नहीं। बात ऐसी नहीं थी कि कृष्ण के जीवन में उन विविधताओं का अभाव था। राम की भांति वे भी आरम्भ से ही संघर्षरत रहे। सम्भवतः बाल्यावस्था मे राम ने इतने दानवों का संहार किया भी न होगा जितना कृष्ण ने। फिर बहुत छोटी अवस्था मे ही वे मथुरा चले गए और वहाँ भी कंस वध तथा राक्षस-दलन का कार्य उन्होंने किया। महाभारत के कृष्ण की तेजस्वी मूर्ति के समक्ष तो शायद ही कोई चीज टिक सके। कहने का अभिप्राय यह कि तात्विक दृष्टि से कृष्ण का जीवन राम की जीवनचर्या से अधिक विविधता-संयुत था किन्तु कृष्णभक्त कवियों को उससे कोई मतलब न था। उन्होंने तो अपने गुरु के आदेश पर कृष्ण जीवन के एक भाग को ले लिया था और उसी में मस्त रहते थे। समाज की आवश्यकताओं एवं मर्यादा पर ध्यान देने का उन्हे न अवकाश था न होश।

यद्यपि कृष्णभक्त कवि कृष्ण के लोकसंग्रह रूप का भी कभी-कभी वर्णन करते हैं पर उसमें उनकी रुचि नहीं दिखाई देती। वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण केवल कुसुमादपि कोमल ही चित्रित किए गए वज्रादपि कठोर नहीं। वास्तव में सूर की भक्ति रागानुगा थी वैधी नहीं। वैधी भक्ति का सम्बन्ध तो नीति, सदाचार आदि लौकिक बातों से होता भी है परन्तु रागानुगा भक्ति में तो भक्त के हृदय की तल्लीनता ही वांछित है। यही भक्ति सूर के लौकिक बातों से उदासीन रहने का कारण है।

दूसरी बात यह है कि परम्परा से कृष्ण चरित एक निश्चित सीमा में बँधा चला आ रहा था। गीति काव्य में हृदय की आवेशमयी भावनाओं को जयदेव और विद्यापति स्वच्छंद अभिव्यक्ति दे चुके थे। सूर को इसी परम्परा में समझना चाहिए। उन्होंने भी गीति शैली को और कृष्ण के माधुर्य रूप को अपना लिया। एक बात और याद रखने की है कि भक्ति के क्षेत्र में यह सदा खोज का विषय रहा है कि जीवात्मा का परमात्मा से क्या सम्बन्ध माना जाय। प्रथमतः लोगों ने जीवात्मा-परमात्मा के बीच के सम्बन्ध की कल्पना दाम्पत्य रूप में की और आत्मा को स्वकीया माना। कबीर में यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप में मिलेगी। "राम मोर पिउ मैं राम की बहुरिया" द्वारा कबीर अपनी जीवात्मा को राम की स्वकीया पत्नी के रूप में रखते हैं। किन्तु मनोविज्ञान की दृष्टि से चूंकि स्वकीया पत्नी सहज लभ्य होती है उसकी प्राप्ति के मार्ग मे कोई बाधा नहीं होती और बिना किसी प्रकार की बाधा के किसी वस्तु का हस्तगत हो जाना अधिक आनन्ददायक नहीं होता। किन्तु ईश्वर आराधना का मार्ग बड़ा ही कठिन है। संसार के आकर्षण, वासनायें उसके मार्ग में बाधायें बन कर खड़ी हो जाती हैं और ईश्वर की प्राप्ति अत्यन्त कठिन प्रतीत होती है। अतः ईश्वर आराधना में स्वकीया का रूपक उचित नहीं घटा। तब ईश्वर और जीवात्मा के सम्बन्ध में परकीया सम्बन्ध की कल्पना की गई। परकीया के प्रेम में एक ओर तो तीव्रता अधिक होती है दूसरी ओर असंख्य सामाजिक बाधायें होती हैं जो परस्पर मिलन में बाधक होती हैं। ईश्वर और आत्मा के बीच यह रूपक भक्तों को अधिक पसन्द आया और भक्ति क्षेत्र में फिर तो इतना अधिक लोकप्रिय हुआ

कि स्वकीया का आदर्श इसके आगे धुंधला पड़ गया । यह ठीक प्रकार से समझ लेने की बात है कि मूलतः परकीया का अस्तित्व या कल्पना समाज-विरोधी तत्व है। इससे समाज की मर्यादा को धक्का पहुँचता है, अव्यवस्था फैलती है और समाज में अनाचार आदि की वृद्धि की सम्भावना रहती है। इसी कसौटी पर रामभक्त कवियों को और कृष्णभक्त कवियों को कसा जा सकता है और उनका अंतर स्पष्ट किया जा सकता है । तुलसी रामभक्त कवि थे उनका आदर्श स्वकीया का प्रेम था । स्वकीया स्वयं मर्यादा का प्रतीक है और समाज की एक अनिवार्य आवश्यकता है । यद्यपि सीता को रावण द्वारा हरण कराकर फिर उन्हें प्राप्त कराने की चेष्टा तथा बीच में अपार बाधायें डालकर उन्होंने आकुलता-व्याकुलता के रूपक की पूर्ति बहुत कुछ अंशों में कर डाली थी परन्तु कृष्णभक्त कवियों को यह कठिन साधना पसन्द न थी अतः उन्होंने अपने प्रेम का प्रतीक राधा रक्खी जो एक परकीया स्त्री थी । फिर तो प्रत्येक कृष्णभक्त कवि ने अपने को राधा समझ कर ही अपने हृदय की वेदना कृष्ण के प्रति व्यक्त की । इस प्रवृत्ति से परकीया-गमन की कुत्सित एवं समाजविरोधी भावना को एक छुपा धार्मिक प्रश्रय मिला और रीतिकाल में उसकी जो प्रतिक्रिया हुई वह सर्वविदित है। रीतिकाल में राधा और कृष्ण एक साधारण नायक और नायिका के प्रतीक रह गए और उनको लेकर विपरीत-रति तक के कुत्सित चित्र रीति-कालीन कवियों ने रखे किन्तु सीता और राम के चरित्र में परिवर्तन करने का साहस किसी को नहीं हुआ । तुलसी ने अपने रामचरित मानस की प्रत्येक पंक्ति समाज के भविष्य का ध्यान रख कर मर्यादा तथा समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल लिखी थी किन्तु कृष्ण प्रेम की एकांगी साधना में रत प्रज्ञाचक्षु सूर समाज पर उसके अकल्याणकारी प्रभाव की कल्पना नहीं कर सके । एकांत मन्दिर में कृष्ण की मूर्ति ही उनके लिए त्रिलोक की सामग्री थी—व्यापक संसार था । वे खुल कर समाज के सम्पर्क में नहीं आए । अब देखना यह है कि कृष्णभक्ति की जिस परम्परा में सूर हुए उससे पूर्व उस का रूप कैसा रह चुका था ।

जयदेव और विद्यापति दोनों कृष्णभक्त समझे जाते हैं और कितने

आलोचक तो उन्हें शृंगारी मानना अनुचित समझते हैं। उनका कथन है कि माधुर्य-भाव की भक्ति में प्रेम का नग्न चित्रण स्वभावतः आ ही जाता है। प्रेम के आवेश में यदि लोक की सीमायें बाधा बन कर ही खड़ी रहीं तो प्रेम का आवेश कैसा? जयदेव और विद्यापति भी माधुर्यभाव के कवि थे अतः उनकी कविता का शृंगार रस भक्तिभाव समन्वित है। रीतिकालीन शृंगार रस नहीं है। जयदेव ने कृष्ण भक्ति में अपना गीत गोविन्द लिखा। इसके विषय में डा० रामकुमार वर्मा का कथन है:—

"गीत-गोविन्द में जयदेव ने राधा और कृष्ण का मिलन, कृष्ण की मधुर लीलायें और प्रेम की मादक अनुभूति सरस और मधुर शब्दावली में लिखी है। गीत-गोविन्द के द्वारा राधा का व्यक्तित्व पहली बार मधुर और प्रेमपूर्ण बनाकर साहित्य में प्रस्तुत किया गया है। गीत-गोविन्द की पदावली मधुर है। उसमें कामदेव के बाणों की मीठी पीडा है।"

कोमल-कान्त पदावली में राधा-कृष्ण के विरह-मिलन के गीतकार के रूप में जयदेव अमर हो गए। उनके शब्दों में राधा का विरह वर्णन देखिए—

ललित लवंग लता परिशीलन कोमल मलय समीरे।
मधुकर निकर करम्बित कोकिल कुंजित कुंज कुटीरे॥
विहरति हरिरिह सरस वसन्ते।
नृत्यति युवति जनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते॥
उन्मद मदन मनोरथ पथिक वधू जन जनित विलापे।
अलिकुल संकुल कुसुम समूह निराकुल बकुल कलापे॥
मृगमद-सौरभ रभस वशंवद नवदल माल तमाले।
युवजन हृदय विदारण मनसिज नखरुचि किंशुक जाले॥

इतने मादक वातावरण में विरहिणी राधा को रख कर जयदेव ने उसके उद्दीप्त भावों का जो चित्र दिया है वह अध्यात्म से अधिक विशुद्ध शृंगार के निकट है। "नख के समान किंशुक समूह से कामदेव युवतियों का हृदय विदीर्ण कर रहा है"। इसमें तो केवल विलास है कामशास्त्र की साहित्याभिव्यक्ति है। गीतगोविन्द अपने समय की सर्वाधिक लोकप्रिय रचना रही है अतः उसके समाज पर प्रभाव की कल्पना सहज ही की जा सकती है।

साधारण जनता इन उक्तियों को अध्यात्मपरक न समझ कर शृंगार की ही समझेगी।

दूसरे कवि हैं विद्यापति। इनके समान नग्न शृंगार लिखने वाले हिंदी में दो चार कवि भी नहीं मिलेंगे। लेकिन भक्त-हृदयों का कथन है कि उन्होंने यह सब कुछ भक्ति के आवेश में माधुर्यभाव की अदम्य प्रेरणा से लिखा है नहीं तो महा प्रभु चैतन्य उनके पदों को गाते गाते बेसुध क्यों हो जाते हैं। उनके कुछ उद्धरण देना आवश्यक है। वसन्त का उद्दीपन से युक्त चित्र देखिए :—

> बाल वसन्त तरुन भए धाओल बढ़ए सकल संसारा।
> दखिन पवन घन अंग उगारए किसलय कुसुम परागे,
> सुललित हार मंजरिधन कज्जल आंखितों अंजन लागे।
> नव वसन्त रितु अनुसर जौवति विद्यापति कवि गावे॥

डा० रामकुमार वर्मा विद्यापति की राधाकृष्ण-भक्ति के विषय में लिखते हैं :—

"विद्यापति के भक्तहृदय का रूप उनकी वासनामयी कल्पना के आवरण में छिप जाता है। वे एक कल्पित राज्य में विहार करते हैं। वे अपनी कल्पना के सौंदर्य में ऐसे डूब गए हैं कि किसी दूसरी ओर दृष्टि भी नहीं जाती। विद्यापति की राधा प्रेम करती है इसलिए कि वह स्त्री है और स्त्रियां प्रेम करना जानती हैं। राधा प्रेम करती है इसलिए कि कृष्ण सुन्दर हैं और सुन्दरता से प्रेम होना स्वाभाविक है। पर ऐसे प्रेम में एक दोष आ गया है और वह यह कि इस प्रेम में सदाचार की मात्रा कम है। विद्यापति की राधा सदाचार करना जानती ही नहीं।"

"अवर मंगइते अओंवकर माथ, सहए न पार पयोधर हाथ" चुम्बन-आलिङ्गन ही नहीं राधाकृष्ण का संभोग रूप भी विद्यापति ने रखा है।

इन कवियों के प्रकाश में सूर का काव्य अधिक स्पष्ट हो सकेगा। एक मनोवैज्ञानिक बात और भी ध्यान में रखनी चाहिए कि प्रायः सभी कृष्णभक्तों के विषय में प्रसिद्ध है कि वे लौकिक प्रेम में संलग्न थे। सूरदास भी इसके अपवाद

नहीं माने जाते हैं और कुछ लोग तो उनके अंधे होने में इसी भावना के अतिरेक को कारण समझते हैं। बात कुछ भी हो परन्तु इससे एक बात पर प्रकाश अवश्य पड़ता है कि माधुर्य भाव की भक्ति स्वीकार करने में व्यक्ति की अपनी निजी भावनायें ही उसका आधार बनती हैं। तुलसी ने माधुर्य भाव की भक्ति क्यों नहीं की ? केवल इसलिए कि अपने व्यक्तिगत जीवन में भी वे परकीया के प्रेम को आदर्श नहीं समझते थे—अपितु समाज विरुद्ध समझते थे। तो सूर के स्वरूप के निर्णय में दो बातें अत्यंत आवश्यक हैं। एक तो श्री वल्लभाचार्य जी के सिद्धांत, दूसरे कृष्णभक्ति की शृंगारमयी परम्परा जिसमें पदावली साहित्य मिलता है।

सूर ने भी कृष्ण का बाल रूप और युवक रूप ही लिया। उन्होंने राधा और कृष्ण के संयोग और वियोग दोनों के मधुरतम चित्र रखे। सूर का बाल-वर्णन विश्व के साहित्य में एक अद्भुत वस्तु मानी जायगी। अपने आराध्य के प्रति वात्सल्य की भावना—माता का हृदय—सूर ने इसे चरम सीमा तक पहुँचा दिया है। सूर के काव्य में दीनता, आत्मसमर्पण, तज्जनिता विरक्ति आदि की भावना अपने पूर्ण विकसित रूप मे मिलती है और स्पष्ट है कि समाज की आवश्यकताओं से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। सूर का संसार तो एक काल्पनिक संसार था जिसमें वृन्दावन था, राधाकृष्ण गोप-गोपी थे बस। उस संसार की अपनी अलग परिस्थितियाँ थीं, अलग आवश्यकतायें थीं। सूर का ध्यान उसी संसार पर केन्द्रित था अतः इस संसार का ध्यान न रखना ही स्वाभाविक था। सूर समाज के उत्थान-पतन से उदासीन केवल कृष्ण के प्रेम में मस्त रहने वाले कवि थे। गोसाईं जी की भांति "टेढ़ि जानि शंका सब काहू, वक्र चन्द्रमहि ग्रसहि न राहू" या 'बुंद अघात सहें गिरि कैसे, खल के वचन संत सहें जैसे" आदि नीति वचन सूर में नहीं मिलेंगे। उनके काव्य प्रांगण में तो केवल कृष्ण ही क्रीड़ा करते दिखाई देंगे—कभी खिल-खिलाते हुए, कभी मचलते हुए, कभी खाते हुए, कभी माखन चुराते और कभी मटकी फोड़ते हुए। सूर कृष्ण के लिए कभी यशोदा हो जाते हैं कभी राधा। उन्हें कृष्ण का रूपपान करना है संसार से उन्हें क्या मतलब। "मैया मैं नहिं माखन खायो" या "मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायो" में ही सूर का मन लगता था। सारे

संसार का कार्य-कलाप कृष्ण के मुख सौंदर्य पर निछावर था। रूप के उस अगाध भंडार के निकट बैठकर संसार—विषमताओं तथा कुरूपताओं से भरे संसार को देखने का उन्हें न अवकाश था न इच्छा। आज की भाषा में हम इसे भले ही पलायन-वाद कहें पर सूर को इसकी चिन्ता नहीं थी। राधा और कृष्ण, गोपी और कृष्ण के संयोग या वियोग के जो चित्र सूरदास ने दिए हैं उनमें जहाँ उनकी तल्लीनता स्पष्ट है वहाँ लोक के प्रति उदासीनता भी। उन्होंने सम्भवतः इस बात की कल्पना भी न की होगी कि उनके इस शृंगार वर्णन का समाज पर क्या प्रभाव पड़ेगा, न उन्होंने यही सोचा कि हम अपनी रचनाओं द्वारा समय और समाज की आवश्यकताओं को वाणी दे सकते हैं। समाज के वैभव और विषमता से विरक्त इस महाकवि ने भावावेश में जो कुछ लिखा निस्संदेह वह एक ओर तो साहित्य की अमर सम्पत्ति है और दूसरी ओर समाज के कुत्सित कीटाणुओं का उद्गम स्थान। राधाकृष्ण नाम के अध्यात्म सरोवर में भरा गया शृङ्गार रस बहुत थोड़े दिन स्वच्छ रह सका, जब यह सड़ने लगा तो उसकी सड़न से सारा परवर्ती हिंदी साहित्य दूषित हो गया और समाज पर उसके नाशकारी प्रभाव की कल्पना भी आज नहीं की जा सकती। यद्यपि सूर ने निम्नांकित पंक्तियाँ प्रेम के आवेश में लिखी होंगी पर उनका समाज पर क्या प्रभाव पड़ेगा यह सूर ने सोचा न था।

नीवी ललित गही यदुराई
जबहिं सरोज धरयौ श्रीफल पर तब यशुमति तहँ आई।

तथा—झूँठे मोहि लगावति ग्वारी—
खेलत तें मोहि बोल लियौ है दोनों भुज भरि दीनी अँकवारी।
अपने कुच मेरे कर धारति आपुहिं चोली फारी।

इसके अतिरिक्त कृष्ण की बांसुरी की ध्वनि सुनकर अपने पति, पुत्र, ससुर, ननंद आदि को छोड़कर भागने वाली गोपियाँ समाज पर क्या अच्छा प्रभाव डाल सकती हैं। इससे समाज में धार्मिक स्तर पर—धार्मिक आधार पर परकीया वृत्ति को पोषण मिलता है जो समाजविरोधी है समाज घातक है। गोपियों द्वारा कृष्ण के अधर रसपान करने की इच्छा और मुरली के प्रति आक्रोश साहित्य की दृष्टि से तो अमूल्य सम्पत्ति है पर इसका सामाजिक

आधार उतना ही कमजोर है। सूर ने प्रेम के इतने विविध चित्र दिए हैं और इतने सजीव दिए हैं कि वे इमी जीवन के लगते हैं । यही कारण है कि ये लोकप्रिय बहुत हैं लेकिन इनकी लोकप्रियता ही समाज पर अवांछनीय प्रभाव डालती है । आज घर-घर मे परकीया वृत्ति के गाने गाये जाते हैं जिनका आरम्भ कृष्ण भक्तो से हुआ और समाज पर वह अच्छा प्रभाव क्या छोड़ सकते हैं। यदि प्रत्येक स्वकीया परकीया होने के लिए लालायित रहने लगेगी तो फिर समाज की व्यवस्था का क्या होगा ? आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है—

"कृष्णभक्ति परम्परा में श्रीकृष्ण की प्रेममयी मूर्ति को ही लेकर प्रेमतत्व की बड़े विस्तार के साथ व्यंजना हुई है; उनके लोक पक्ष का समावेश उनमें नहीं है। इन कृष्ण भक्तों के छवि-प्रेमोन्मत्त गोपियों से घिरे हुए गोकुल के श्रीकृष्ण हैं बड़े-बड़े भूपालों के बीच लोक व्यवस्था की रक्षा करते हुए द्वारिका के श्रीकृष्ण नहीं हैं। कृष्ण के जिस मधुर रूप को लेकर ये भक्त कवि चले हैं वह हासविलास की तरंगों से परिपूर्ण अनंत सौंदर्य का समुद्र है। उस सार्वभौम प्रेमालम्बन के सम्मुख मनुष्य का हृदय निराले प्रेम-लोक में फूला-फूला फिरता है। अतः इन कृष्ण भक्त कवियों के सम्बन्ध में यह कह देना आवश्यक है कि ये अपने रंग में मस्त रहने वाले जीव थे। तुलसीदास जी के समान लोकसग्रह का भाव इनमें न था। समाज किधर जा रहा है इस बात की परवा ये नहीं रखते थे, यहां तक कि अपने भगवत्प्रेम की पुष्टि के लिये जिस शृंगारमयी लोकोत्तर छटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यजना से इन्होंने जनता को रसोन्मत्त किया उसका लौकिक स्थूल दृष्टि रखने वाले विषय वासना-पूर्ण जीवों पर कैसा प्रभाव पड़ेगा इसकी ओर इन्होंने ध्यान न दिया । जिस राधा और कृष्ण के प्रेम को इन भक्तों ने अपनी गूढ़ातिगूढ़ चरम भक्ति का व्यंजक बनाया उसको लेकर आगे के व्यक्तियों ने शृंगार की उन्मादकारिणी उक्तियों से हिंदी काव्य को भर दिया।"

यह कहा जाता है कि राधा-कृष्ण प्रेम एक आध्यात्मिक रूपक है। मुरली विद्यामाया है और गोपियां सिद्ध जीवात्मा जिन्हें कृष्ण का नैकट्य प्राप्त हो गया है और चूंकि सूर उसी जीवात्मा मंडल में से एक होना

चाहते हैं जो चिरराम में कृष्ण के साथ रत है इसलिए उन्हें शृंगार की सभी दशाओं का वर्णन करना आवश्यक हो जाता है। यह ठीक हो सकता है किन्तु प्रश्न यह है कि सूर के पदों को समझने वाला पाठक इन गूढ़ बातों को तो समझ नहीं सकता। वह तो शृंगारपरक पदों का लौकिक अर्थ ही लेता है अलौकिक नहीं। तो जहां सूर के काव्य में उच्च कोटि की तल्लीनता और भक्ति मिलती है वहां उनमें समाज की आवश्यकताओं के प्रति स्पष्ट उदासीनता और उपेक्षा भी।

प्रश्न १६—"कृष्णोपासक कवियों ने मुक्तक के एक विशेष अंग गीतिकाव्य की ही पूर्ति की, पर रामचरित को लेकर अच्छे-अच्छे प्रबन्ध काव्य लिखे गये।" इस कथन को समझा कर लिखिए।

उत्तर १६—आरम्भ से ही कृष्णभक्त कवियों ने कृष्ण के बालचरित को तथा यौवनकाल को लेकर रचनायें की हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि उन्होंने कृष्ण जीवन की मार्मिक घटनाओं को लेकर ही काव्य रचना की है उनके सम्पूर्ण जीवन पर उन्होंने इतिवृत्तात्मक या वर्णनात्मक शैली में कोई काव्य नहीं लिखा। जयदेव ने अपना साहित्य पदों में लिखा और विद्यापति ने भी। मुक्तक रचना में गीतिकाव्य को लेकर भाषा और भावों की कोमलता को इन कवियों ने चरम सीमा पर पहुंचा दिया। किन्तु राम का पूरा जीवन प्रबन्ध रूप में लिखा जाने के कारण वह प्रायः प्रबंधात्मक शैली में मिलता है। यों तुलसी ने गीतावली के रूप में रामचरित को भी गीतिकाव्य में बाँधने का प्रयत्न किया किन्तु वह रामचरित मानस को नहीं पा सकती। शायद इसका एक कारण यह भी है रामचरित आरम्भ से ही प्रबन्ध रूप में और कृष्णचरित गीतरूप में लिखा जाता रहा है। सूरदास पदसाहित्य के सम्राट् कहे जा सकते हैं और उधर रामचरित पर प्रबन्ध रूप में उत्कृष्टतम ग्रंथ लिखने का श्रेय तुलसीदास को प्राप्त है।

कृष्ण को लेकर जो साहित्य लिखा गया है उस पर कृष्ण के जीवन का प्रभाव अवश्य है और रामविषयक काव्य पर राम के जीवन का। यदि ध्यान से देखेंगे तो पता चलेगा कि मुक्तक काव्य में लिखने का कारण स्वयं कृष्ण का जीवन ही है। आरम्भ से ही कृष्ण का जीवन सरल और प्रेम-

मय था। गोपियों के साथ उनकी रासक्रीड़ा, गोपालन, गोचारण, गोपों के साथ वनविहार आदि बातें प्रबन्ध काव्य का उचित विषय भी नहीं बन सकती थीं। डा० रामकुमार वर्मा लिखते हैं :—

"कृष्ण के जीवन की भावना स्पष्ट रूप से गोपरूप में है जिसका सम्बन्ध गौओं से है । प्रकृति के जीवों की रक्षा करने वाले और प्रकृति के प्रांगण में विहार करने वाले देवताओं की कल्पना तो हमारे भक्तिकाल के साहित्य में भी मिलती है। गाएँ प्रकृति की निर्दोष, सरल और करुणामय प्रतिमायें हैं। श्रीकृष्ण उनके पोषक हैं। इसलिए वे आदि भावना में गोपरूप होने के कारण वनदेव के रूप में आप-से-आप आ जाते हैं। उनका नाम इसीलिए गोपाल अथवा गोपेन्द्र है।"

कृष्ण का जीवन ही इतना भावपूर्ण है कि वह प्रबन्ध का विषय न होकर मुक्तक काव्य का ही विषय हो सकता था । लोग गीतियों में ही उसे स्पष्ट कर सकते थे।

आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल भी यही कारण समझते हैं—

"सब सम्प्रदायों के कृष्णभक्त भागवत में वर्णित कृष्ण की व्रजलीला को ही लेकर चले क्योंकि उन्होंने अपनी प्रेमलक्षणा भक्ति के लिए कृष्ण का मधुर रूप ही पर्याप्त समझा । महत्व की भावना से उत्पन्न श्रद्धा या पूज्य बुद्धि का अवयव छोड़ देने के कारण कृष्ण के लोकरक्षक और धर्मसंस्थापक स्वरूप को सामने रखने का आवश्यकता उन्होंने न समझी। भगवान के धर्मस्वरूप को इस प्रकार किनारे रख देने से उसकी ओर आकर्षित होने और आकर्षित करने की प्रवृत्ति का विकास कृष्णभक्तों में न हो पाया । फल यह हुआ कि कृष्ण-भक्त कवि अधिकतर फुटकल शृङ्गारी पदों की रचना में ही लगे रहे। उनकी रचनाओं में न तो जीवन के अनेक गम्भीर पक्षों के मार्मिक रूप स्फुरित हुए न अनेक-रूपता आई। श्रीकृष्ण का इतना चरित ही उन्होंने न लिया जो खण्ड-काव्य, महाकाव्य आदि के लिए पर्याप्त होता। राधाकृष्ण की प्रेमलीला ही सबने गाई।

इस प्रेम लीला में आकर्षण कम नहीं था। मनचले पठान रसखान को यह लीला ही उस पहाड़ी प्रदेश से इस करील और कुंजों के देश व्रज में खींच लाई और कृष्ण किसी कुंज के पीछे राधिका के पैर दबाते मिल ही गए। मुगलानी ताज कृष्ण के लिए हिन्दुआनी हो गई । भावातिरेक में इन

सबने अपने आवेशमय भावों की अभिव्यक्ति की। भावातिरेक में जब कोमल भावनाओं को हमारी वाणी कोमल और गेय शब्दों में व्यक्त करती है तभी गीति-काव्य का जन्म होता है। प्रबन्ध काव्य कथा-बहुल होता है, मुक्तक काव्य भाव-बहुल। श्रीकृष्ण के जीवन मे विविधता नहीं थी। उनका केवल लोकरंजक स्वरूप ही कृष्णभक्तों ने लिया। लोकरंजक स्वरूप उन्मादकारी, भावों में नवोन्मेष करने वाला, आंखों में स्नेह की मदिरा भर देने वाला तो होता है, पर वह संकट के समय रक्षा करने के काम नहीं आता। यों तात्विक दृष्टि से कृष्ण चरित में भी लोकरक्षक रूप की कमी नहीं थी परन्तु वल्लभचार्य जी ने उनके इस रूप पर अधिक जोर नहीं दिया अतः प्रायः प्रत्येक कृष्णभक्त द्वारा कृष्ण के लोकरक्षक रूप की उपेक्षा ही की गई। कवियों का सबसे अधिक मन लगा कृष्ण के विरह में और गोपियों के बहाने वे अपने हृदय की वेदना को वाणी देने लगे। वेदना से भरे इन संगीतमय पदों की गीतिकाव्य संज्ञा हुई। एकतारे पर या सितार पर जब ये भक्त कवि कृष्ण के विरह के गान उच्च स्वर से गाते थे तो इनके नेत्रों से प्रेमाश्रुओं की झड़ी लग जाती थी। उन्हें मानों स्वयं अनुभव होने लगता कि वे स्वयं राधा ही हैं। वे बिलकुल उन्हीं स्थितियों और बातों की कल्पना करते थे जो कृष्ण के वियोग में राधा आदि के लिए संभव थीं। उनकी वाणी फूट निकलती—

"हमको सपनेऊ में सोच।

जा दिन ते बिछुरे नद नंदन ता दिन ते ये पोच॥
मनु गुपाल आए मेरे गृह हँस कर भुजा गही।
कहा करौं वैरिनि भई निन्दिया निमिष न और रही॥
ज्यों चकई प्रतिबिंब देखिकै अनंदी प्रिय जानि।
सूर पवन मिस निठुर विधाता चपल कियो जल आनि॥

इन भावुक भक्तों की आँख में विरह के गाने गाते-गाते अश्रुप्रवाह होने लगता था। इन भक्तों ने गोपियों से अपना मानो तादात्म्य स्थापित कर लिया था और विश्व उन्हें कृष्णमय ही दिखाई देता था। वे हर समय कृष्ण के दर्शन के ही भूखे रहते थे।

अँखियाँ हरि दरसन की भूखी ।
कैसे रहैं रूप रस रांची ए बतियाँ सुनी रूखी ॥
अवधि गनत इकटक मग जोवत तब ये तौ नहीं झूखी ।
अब इन जोग सँदेसनि ऊधौ अति अकुलानी दूखी ॥

कृष्ण के वियोग में इन भक्त कवियों के नेत्र सम्भवतः सदा ही अश्रुपूर्ण रहते होंगे । देखिए, गोपिका के बहाने सूर अपने हृदय की बात कहते जाते हैं :—

निसिदिन बरसत नैन हमारे ।
सदा रहति पावस ऋतु हम पै जबते स्याम सिधारे ।
कंचुकि नहिं सूखति सुनि सजनी उर बिच बहत पनारे ॥

सूरदास, नंददास, कृष्णदास, परमानंद दास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, छीत स्वामी, गोविंद स्वामी, हित हरिवंश, गदाधर भट्ट, मीराबाई, स्वामी हरिदास, श्री भट्ट, व्यास जी, रसखान तथा ध्रुवदास में यही प्रेम की आकुलता मिलेगी और सभी ने इस आकुलता को मुक्तक काव्य में व्यक्त किया है। सितार या वीणा के सहारे गाते-गाते ये भक्त गण स्वर्ग का आनन्द यहीं प्राप्त करते थे । मीरा इन सब से महान थीं । उनके पदों में हृदय की वेदना मार्मिक शब्दों में व्यक्त हुई है । तो ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रायः सभी कृष्ण भक्तों ने मुक्तक काव्य में गीति रूप से ही रचना लिखीं । इसका एकमात्र कारण यह था कि एक तो कृष्ण का लोकरंजक रूप उनके सम्प्रदाय में माधुर्य रूप से स्वीकृत था दूसरे ज्ञान, भक्ति और कर्म में से वे केवल भक्ति को ही प्राधान्य देते थे ।

चरित मानस प्रबंधात्मकता में अपना प्रतिद्वंदी नहीं रखता। वास्तव में भक्ति का सर्वांगीय रूप राम भक्ति में ही प्रस्फुटित हुआ। शुक्ल जी लिखते हैं :—

"राम भक्ति में भक्ति का पूर्ण स्वरूप विकसित हुआ है। प्रेम और श्रद्धा अर्थात् पूज्य बुद्धि दोनों के मेल से भक्ति की निष्पत्ति होती है। श्रद्धा धर्म की अनुगामिनी है। जहाँ धर्म का स्फुरण दिखाई पड़ता है वहीं श्रद्धा टिकती है। धर्म ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति है, उस स्वरूप की क्रियात्मक अभिव्यक्ति है जिसका आभास अखिल विश्व की स्थिति में मिलता है। पूर्ण भक्त व्यक्त जगत के बीच सत् की इस सर्वशक्तिमयी प्रवृत्ति के उदय का, धर्म की इस मंगलमयी ज्योति के स्फुरण का, साक्षात्कार चाहता रहता है। इसी ज्योति के प्रकाश में सत् के अनंत रूपसौंदर्य की भी मनोहर झाँकी उसे मिलती है। लोक म जब कभी वह धर्म के स्वरूप को तिरोहित या आच्छादित देखता है तब मानो भगवान उसकी दृष्टि से—उसकी खुली हुई आँखों के सामने से ओझल हो जाते हैं और वह वियोग की व्याकुलता का अनुभव करता है। फिर जब अधर्म का अंधकार फाड़ कर धर्म-ज्योति अमोघ शक्ति के साथ फूट पड़ती है तब मानो उसके प्रिय भगवान् का मनोहर रूप सामने आ जाता है और वह पुलकित हो उठता है।....जो भक्ति-मार्ग श्रद्धा के अवयव को छोड़कर केवल प्रेम को ही लेकर चलेगा धर्म से उसका लगाव न रह जायगा। वह एक प्रकार से अधूरा रहेगा। शृंगारोपासना, माधुर्यभाव आदि की ओर उसका झुकाव होता जायगा और धीरे-धीरे उसमें 'गुह्य रहस्य' आदि का भी समावेश होगा। परिणाम यह होगा कि भक्ति के बहाने विलासिता और इन्द्रियासक्ति की साधना होगी। कृष्णभक्ति शाखा कृष्ण भगवान् के धर्म स्वरूप को—लोकरक्षक और लोकरंजक स्वरूप को छोड़ कर केवल मधुर स्वरूप और प्रेमलक्षणा भक्ति की सामग्री लेकर चली। इससे धर्म-सौंदर्य के आकर्षण से वह दूर पड़ गई।"

यही कारण है जिससे कृष्ण-भक्ति शाखा के कवि मुक्तक रचना में ही तल्लीन रहे और राम चरित प्रायः सदा ही प्रबन्ध काव्य के रूप में लिखा गया। कृष्ण पक्ष में जीवन एकांगी रूप में गृहीत था, राम पक्ष में जीवन अपनी सम्पूर्ण विविधताओं के सहित गृहीत था। बाल्मीकि ने सर्वप्रथम राम चरित को

प्रबन्ध काव्य का रूप दिया था। फिर तो संस्कृत काल में कितने ही लेखकों ने उनके चरित को प्रबन्ध रूप में रखकर अपनी लेखनी सफल की। हिंदी में तुलसी, केशव, गुप्त, हरि औध आदि ने भी प्रबन्ध काव्य राम चरित को लेकर लिखे। गुप्त जी ने तो इसका कारण भी दे दिया है।

"राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है।"

प्रश्न १७—"जिस राधा और कृष्ण के प्रेम को कृष्णभक्त कवियों ने अपनी गूढ़ातिगूढ़ चरम भक्ति का व्यंजक बनाया उसी को लेकर आगे के कवियों ने शृङ्गार की उन्मादकारिणी उक्तियों से हिन्दी काव्य को भर दिया।" इस कथन को युक्तियुक्त समीक्षा कीजिये।

उत्तर १७—कृष्णभक्ति शाखा के सभी कवियों ने माधुर्यभाव की भक्ति की और कृष्ण को अपने प्रेम का आलम्बन बनाया। कृष्णभक्त कवियों ने अपने वासनाहीन प्रेम के गीत गाकर व्रजभूमि को अमर कर दिया। कृष्ण-भक्ति का ऐसा ज्वार एक बार को इस प्रान्त में आया कि उसमें हिन्दू ही नहीं मुसलमान तक बह गए। कृष्ण परब्रह्म के प्रतीक थे ,मुरली विद्यामाया थी और साधकों की पहुँची हुई आत्मायें जिन्हें कृष्ण की निकटता प्राप्त होगई थी गोपियाँ थीं। वृन्दावन ही स्वर्ग था जहाँ भगवान कृष्ण अखण्ड रासलीला रचते थे। परमात्मा जीवात्मा से सदैव कहता है कि तेरे अन्दर जितनी विशेषतायें हैं उन सब सहित तू मुझसे आकर मिल। जीवात्मा परमात्मा का ही एक अंश है। वह एक ऐसी चिनगारी है जो अपने उद्‌गम स्थान से निकल कर भटक गई है और जब तक वह पुनः उसी में मिल न जायगी भटकती ही रहेगी। जब जीवात्मा मुरली रूपी विद्यामाया का स्वर सुनती है तो वह परमात्मा की ओर उन्मुख हो जाती है। इसीलिए तो गोपियाँ समाज, घर आदि की बिना चिन्ता किए कृष्ण की ओर दौड़ती बताई जाती हैं। वास्तव में बात यह है कि कवि भी स्वयं उन्हीं गोपिकाओं में से एक होना चाहता है अतः गोपी और कृष्ण के बीच के सभी व्यवहारों का वह वर्णन करता है। जीवात्मा और परमात्मा के विषय को वह सांसारिक रूपकों में प्रस्तुत करता है। स्वभावतः उसमें लौकिकता की गन्धआने लगती है। दूसरी बात यह थी कि वल्लभाचार्य के

मत मे श्रद्धा से भी ऊंचा स्थान प्रेम को दिया गया था। और प्रेम के सम्यक् निर्वाह के लिए उन्होंने लोक-मर्यादा और वेद-मर्यादा को त्याज्य घोषित कर दिया था। क्योंकि भगवान की प्राप्ति वे श्रद्धा या कर्म से नहीं मानते थे वरन् पुष्टि से या अनुग्रह से मानते थे। इसी कारण यह मार्ग पुष्टि मार्ग भी कहलाया। केवल इतना ही नहीं था कि कविता में इस सम्प्रदाय के कवि कृष्ण के वैभव का वर्णन करते हों वस्तु जगत में भी वे इसी वैभव में जीवन यापन करते थे। प्रातः से सन्ध्या तक ये भक्त कवि बालगोपाल के श्रृङ्गार, उनके भोजन और शयन का प्रबन्ध करते थे। प्रबन्ध में यदि साधारणता रही तो फिर वह भगवान् का श्रृङ्गार कैसा ? जितने प्रकार के गहने सम्भव हो सकते थे वे सब भगवान् के नाम पर तैयार किए जाते थे। सब कुछ असाधारण होता था। और पुजारी का पद तो सम्भवतः उन दिनों भगवान् के बाद ही रहा होगा। अष्टछाप के प्रायः सब कवि पुजारी आदि थे। दूसरे शब्दों में वे धार्मिक वातावरण में वैभव तथा विलास में पले थे। अतः व्यक्तिगत जीवन का वही श्रृङ्गार और वैभव उनकी काव्य रचनाओं में से भी स्पष्टतः झाँकता है। इसमे सन्देह नहीं भक्तिकाल तक तो यह वैभव अवश्य ही सात्विक था और भक्त कवि प्रायः सत्पुरुष तथा महान व्यक्ति थे। इन कवियों ने अपने हृदय में कृष्ण वियोग की अग्नि प्रज्वलित कर रखी थी और ये मन्दिर में कृष्णमूर्ति के समक्ष बैठकर विरह के गाने गाते हुए अपने अश्रु प्रवाहित करते रहते थे। ये भक्त कवि भगवान् के प्रति जो रचनाएं करते थे स्पष्टतः वे श्रृङ्गार रस की थीं जिनमें वे राधा या गोपियों के माध्यम से अपने हृदय की वेदना व्यक्त किया करते थे। इसी प्रकार सयोग वर्णन में राधा और कृष्ण के संयोग के बड़े मार्मिक और मादक चित्र इन्होंने दिए हैं। उनके समय में ये श्रृङ्गार रचनाएं भक्ति के आवेश में पढ़ी और सुनी जाती थीं किंतु समाज के अधिकांश व्यक्ति किसी बात के गम्भीर दार्शनिक आधार को क्या समझें। जब कृष्णभक्त कवियों का काल समाप्त हो रहा था उनकी भक्तिपरक श्रृङ्गारी कविताओं का अर्थ भी समाज के लिए बदल रहा था। यह तो मानना ही पड़ेगा कि श्रृङ्गार का सूत्रपात काव्य में कृष्णभक्त कवियों ने ही किया परन्तु कालान्तर में उसका रूप ही बदल गया। इसके लिए हम भक्त कवियों को न तो दोषी ही ठहरा-

सकते हैं और न इसके लिए उत्तरदायी ही। किसी विद्वान् ने ठीक ही कहा था कि "काव्य सरोवर में एक कमल खिल रहा था उसे भक्तिकाल के कवि-रूपी हस्तियों ने तोड़ लिया। बाद में तो लोगों के हाथ केवल कीच ही लगी।" भक्ति के सरोवर में शृङ्गार का जो शुद्ध जल भक्त कवियों ने भर दिया था रीतिकालीन कवियों ने उसमें कुविचार पंक मिला कर उसे गन्दा और अस्वास्थ्य-कर बना दिया। राधा और कृष्ण जो भक्तिकाल में सात्विक आलम्बन के रूप में प्रतिष्ठित थे नायिका के रूप में रह गए। उनको लेकर इतनी अश्लील रचनायें लिखी गईं कि एक बार अश्लीलता भी लज्जित हो जाय। यह ठीक है कि राधाकृष्ण के संयोग के अधिक गहरे चित्र भक्त कवि ही दे चुके थे पर प्रथम तो उनकी भावना पवित्र थी दूसरे उनकी रचनाओं से वासना की गन्ध नहीं आती थी।

रीति काल की कविता पढ़ते समय कुछ बातें ध्यान देने की हैं। रीति काल में कान्ह, लला, ब्रजचन्द, हरि आदि शब्द कृष्ण के लिए ही व्यवहृत होते हैं तथा गोरी, लली, आदि शब्द राधा के लिए। रीति काल की कविता समझने और उसमें राधाकृष्ण का ठीक स्थान समझने के लिए साहित्यशास्त्र के अनुसार, नायिका के भेद जाति के अनुसार, स्वभाव के अनुसार, अवस्था के अनुसार तथा परिस्थितियों के अनुसार समझना आवश्यक है। इतनी बात समझ में आने पर यह बात समझते देर नहीं लगेगी कि कृष्ण और राधा के जैसे वीभत्स चित्र इन रीतिकालीन कवियों ने खींचे हैं वे लज्जास्पद तक हैं। कौन जानता था कि भक्ति के आलम्बन राधाकृष्ण की रीतिकाल में ऐसी दुर्दशा होगी। राधा को खण्डिता नायिका बनना पड़ेगा, उसे सौत का दु:ख उठाना पड़ेगा या सभ्य समाज की आँखों के समक्ष ही विपरीत रति के चित्र प्रस्तुत करने होंगे। मानसिक पतन का इतना भयंकर उदाहरण तो विश्व के किसी साहित्य में नहीं मिलेगा जैसा रीतिकाल में हुआ। रीतिकाल के कवियों की अश्लीलता संयत रूप में प्रदर्शित करने के लिए कुछ उद्धरणों की आवश्यकता होगी।

चिन्तामणि त्रिपाठी विलास का ऐसा नग्न चित्र खींचते हैं जो सभ्य समाज में क्षम्य तक नहीं। कविता तथा कामशास्त्र में कुछ अन्तर होता है—

इस बात को भुलाकर ही रीतिकालीन कवियों ने अपनी कविताएं लिखी हैं :—

आँखिन मूंदिवे के मिस आनि अचानक पीठि उरोज लगावै।
कैहूँ कैहूँ मुसकाय चितै अंगराय अनूपम अंग दिखावै॥
नाह छुई छलसो छनियाँ हँसि भौंह चढ़ाय अनन्द बढ़ावै।
जोवन के मद मत्त तिया हितसों पति को नित चित्त चुरावै॥

प्रसिद्ध कवि की नायिकाएं देखिए कितनी कामुक हो रही हैं। वे समाज के सब बन्धनों को नमस्कार कर कृष्ण के पास दौड़ जाना चाहती हैं :—

कवि बेनी नई उनई है घटा मोरवा बन बोलत कूकन री।
छहरै बिजुरी छिति मण्डल छ्वै, लहरै मन मैन-भभूकन री॥
पहिरौ चुनरी चुनिकै दुलही संग लाल के झूलहु झूकन री।
ऋतु पावस योंही बितावत हो, मरिहौ फिर बावरी हूकन री॥

महाकवि बिहारी का कहना ही क्या, वे दूर की कौड़ी लाने में प्रसिद्ध हैं, फिर अश्लीलता की दौड़ में वे पीछे कैसे रह जाँय। बिहारी राधाकृष्ण को गन्दी-से-गन्दी भूमिका देने को तैयार हैं। विपरीत रति तक के गन्दे चित्र देने में बिहारी को संकोच नहीं होता। राधा और कृष्ण के नाम का इससे भी अधिक और क्या दुरुपयोग हो सकता है :—

राधा हरि, हरि राधिका बनि आए संकेत।
दंपति रति विपरीत सुख सहज सुरतिहूँ लेत॥

भक्ति-काल के कृष्ण और रीतिकाल के कृष्ण में बड़ा अन्तर हो गया। तब वे भक्तों की सहायता को तो दौड़े देखे जाते थे पर रीतिकालीन कवि मण्डन उन्हें एक नायिका की सहायता के लिए तालाब पर घसीट लाते हैं—

"अलि हौं तो गई जमुनाजल कौ सो कहा करौ वीर विपत्ति परी।
घहराइ के कारी घटा उनई इतनेई में गागरि सीस धरी॥
रपट्यो पग घाट चढ़ो न गयौ कवि मण्डन ह्वै के बिहाल गिरी।
चिर जीवहु नन्द को बारो अरी गहि बाँह गरीब ने ठाढी करी॥

सूरदास आदि भक्त यह सुनकर पता नहीं क्या सोचते कि रीति काल में कृष्ण ने कितनी ही शादियां करलीं और वे अत्यन्त कामुक तथा लम्पट हो गए हैं। कामुकता के नशे में अब वे दिन और रात का अन्तर भी भूल बैठे

हैं । प्रसिद्ध कवि मतिराम भक्तिकालीन कृष्ण की क्या दुर्दशा करते हैं, देखिए :—

केलि के राति अघाने नहीं दिनहूँ में लला पुनि घात लगाई ।
'प्यास लगी कोऊ पानी दै जाइयौ' भीतर बैठि कै बात सुनाई ॥
जेठि पठाई गई दुलही हँसि हेरि हरै मतीराम बुलाई ।
कान्ह के बोल पै कान न दीन्ही सु गेह की देहरि में धरि आई ॥

भक्ति काल में राधा-कृष्ण के सयोग वर्णन में शालीनता थी, सात्विकता थी । राधा को स्वयंदूतिका नायिका का कठिन कार्य तब नहीं दिया गया था । कालिदास त्रिवेदी की नायिका देखिए कितनी फूहड़ और असभ्य सी भाषा में बेचारे कृष्ण को ज़बरदस्ती कुछ न कुछ काम बता देती है :—

चूमौं करकंज मंजु अमल अनूप तेरो
रूप के निधान कान्ह ! मो तन निहारि दै ।
कालिदास कहै मेरे पास हरै हेरि हेरि
माथे धरि मुकुट, लकुट कर डारि दै ॥
कुंवर कन्हैया मुख चंद की जुन्हैया चारु
लोचन चकोरन की प्यासन निवारि दै ।
मेरे कर मेंहदी लगी है नन्दलाल प्यारे
लट उरझी है नकबेसरि संभारि दै ॥

निवाज कवि एक गोपी को सलाह देते हैं कि जब बदनाम ही हो गई हो तो जिसके लिए बदनाम हुई हो उसको तो हृदय से लगा कर अभिलाषा पूरी कर लो :—

आगे तौ कीन्हीं लगालगी लोयन कैसे छिपै अजहूँ जो छिपावति ।
तू अनुराग को सोध कियो ब्रज की वनिता सब यों ठहरावति ॥
कौन संकोच रह्यौ है 'नेवाज' जौ तू तरसै उनहूँ तरसावति ।
बावरी जो पै कलंक लग्यौ तौ निसंक ह्वै क्यों नहिं अंक लगावति ॥

बादल घुमड़-घुमड़ कर आ रहे हैं, नायिका कामोद्दीप्त हो उठी है और यदि कृष्ण आज नहीं आए तो उसकी लज्जा न चली जाइ (किसी और

को आत्मसमर्पण न कर बैठे) यह डर है। देखिए कवि श्रीपति कृष्ण की अनुपस्थिति में नायिका का कैसा चित्र खींचते हैं।

जल भरे झूमै मानो भूपै परसत आइ,
दसहू दिसानि घूमै दामिनि लए लए।
धूरिधार धूमरे से, धूम से धुंधारे कारे,
धुरवान धारे धावैं छवि सौं छए छए॥
श्रीपति सुकवि कहैं घेरि घेरि घहराहिं,
तकत अतन तन ताव तें तए तए।
लाल बिनु कैसे लाज-चादर रहेगी आज,
कादर करत मोहि बादर नए नए॥

कृष्ण कहीं अन्यत्र रति करके आए हैं और सुरति के चिह्न भी उनके शरीर पर स्पष्ट हैं। खण्डिता नायिका उनसे व्यंग में कहती है—

उरज उरज धंसे बसे उर आडे लसे
बिन गुन माल गरे धरे छवि छाए हौ।
नैन कवि दूलह हैं राते, तुतराते बैन
देखे सुने सुख के समूह सरसाए हौ॥
जावक सौं लाल भाल पलकन पीक लीक
प्यारे ब्रजचन्द सुचि सूरज सुहाए हौ।
होत अरुनोदय हि कोद मति बसी आजु
कौन घरबसी घरबसी करि आए हौ।

खण्डिता नायिका कृष्ण पर व्यंग करती है—वे अन्यत्र रति करके आए हैं नायिका की चापलूसी में उसके पैरों पर सिर रखा था सो महावर सिर पर लग गया है। नायिका उसी को लक्ष्य करके कहती है। वेनीप्रवीन देखिए भगवान कृष्ण का क्या रूप बनाते हैं कि आप उन्हे पहचान भी नहीं सकेंगे कि ये कृष्ण हैं या कोई कामुक।

भोर ही नौत गई ती तुम्हे वह गोकुल गाम की ग्वालिनि गोरी,
आधिक राति लौं वेनी प्रवीन कहा ढिग राखि करी बरजोरी।

आवै हंसी मोहि देखत लालन भाल में दीन्हीं महावर घोरी,
ऐते बडे व्रज मण्डल में न मिली कहुं मांगेहु रंचक रोरी ॥

होली तो भक्ति काल मे भी होती होगी पर किसी गोपी ने कृष्ण का पीताम्बर उतार कर उन्हें नंगा कर घर भगा दिया हो ऐसा नहीं पढ़ा। देखिए, प्रसिद्ध कवि पद्माकर जी इस कमी को भी पूरी किए देते हैं—

फाग की भीर अभीरन में गहि गोविंदै लै गई भीतर गोरी,
भाई करी मन की पद्माकर ऊपर नाई अबीर की झोरी।
छीनि पितम्बर कम्मर तें सु विदा दई मीडि कपोलन रोरी,
नैन नचाइ कही मुसकाइ, "लला फिर आइय खेलन होरी ॥"

कहने का सारांश यह कि जो राधा-कृष्ण भक्तिकाल में पवित्रता के प्रतीक और भक्तों के आराध्य समझे जाते थे उन्हीं कृष्ण को रीतिकालीन कवियों ने कामुक और राधा को निर्लज्ज बना दिया ? क्यों ? केवल राज्याश्रय इसका कारण था । आश्रयदाता पतित थे 'फिर यथा राजा तथा प्रजा' की कहावत क्यों चरितार्थ न होती । भक्त कवि किसी के आश्रित नहीं थे। उनका तो कथन था "

" भक्तन को कहा सीकरी सौं काम ।
आवत जात पन्हैयां टूटे बिसरि जाइ हरि नाम।"

इसी भावना ने भक्तिकाल के वातावरण को सात्विक और पवित्र रखा था। रीतिकालके कवि स्वाभिमानहीन तथा राजाओं के क्रीतदास थे । उन अकर्मण्य राजाओं की सुपुप्त भावनाओं को उद्दीप्त करने के लिये जहां सुरा और सुन्दरी की आवश्यकता थी उस काल की कविता इसी श्रेणी में आती थी। जो कविता आश्रयदाता को जितना भी अधिक कामुक बना सके वह उतनी ही अधिक अच्छी समझी जाती थी। संक्षेप में कनक, कामिनी और कविता एक ही उद्देश्य की पूर्ति की सामग्री थीं। अत. ऐसे समय में राधा और कृष्ण का नाम इनके हाथों पड़कर कलंकित न होता यही आश्चर्य था।

प्रश्न १८—"केशवदास के पीछे हिन्दी कविता अपने उच्च शिखर से गिर कर अलंकार आदि के मायाजाल मे ऐसी फंसी कि वह हृदय तन्त्री को बजाने वाली और समस्त सृष्टि से मनुष्यमात्र

के रागात्मक सम्बन्ध को स्थापित करने वाली न रह गई।" इस कथन की विशद विवेचना कीजिए।

उत्तर १८—भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण-युग कहा जाता है। अन्तर की भावनाओं की भावमयी अभिव्यक्ति इस काल की सब से बड़ी विशेषता है। इस काल में अलंकारों को प्राधान्य नहीं दिया गया। प्राधान्य दिया गया उसको जिसका जीवन से निकट का सम्बन्ध था। उस समय की कविता का लक्ष्य था रसोद्रेक, रसोद्रेक के द्वारा मानव हृदय को उस उच्च स्तर तक उठाना जहाँ उसकी भावनाओं का उदात्तीकरण हो जाता है और वह अपने को धरातल से ऊंचा उठा पाता है। यदि साहित्य के द्वारा मनुष्य के मन और मस्तिष्क उन्नत नहीं हुए, उसके विचारों में शालीनता तथा उसके दृष्टिकोण में गम्भीरता नहीं आई तो ऐसे साहित्य से क्या लाभ? साहित्य वास्तव में समाज के मन-मस्तिष्क का सहृदय एव मधुर चिकित्सक है। तुलसी, सूर, जायसी, कबीर आदि को पढ़ कर पाठक क्यों तल्लीन हो जाता है? केवल इस लिए कि उनका साहित्य मनुष्य को रसमग्न कर उन्हें साहित्य के ब्रह्मानन्द सहोदर होने का ज्ञान कराता है। यदि भक्तिकाल का परवर्ती साहित्य उसी का विकसित रूप होता तो वह उच्च कोटि का साहित्य होता परन्तु ऐसा हुआ नहीं। यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि भक्ति-काल के सब भक्त कवि स्वाभिमानी, स्वतन्त्र प्रकृति के और किसी के आश्रय को पसन्द करने वाले नहीं थे इसलिए उस समय का साहित्य उनके हृदय की स्वाभाविक अभिव्यक्ति था तथा जन भावनाओं का प्रतिनिधि था। वह किसी माँग की पूर्ति नहीं था अपितु समाज के लिए भेंट स्वरूप था।

किन्तु केशवदास के समय से कविता की धारा ही बदल गई। वह रस सम्प्रदाय से हट कर अलंकार सम्प्रदाय की ओर चली गई। रूपक में कहे तो कह सकते हैं कि कविता कामिनी का हृदय तो निकाल दिया गया और अलंकारों के भार से उसे दबा दिया गया। कविता का हृदयपक्ष निकल जाने से वह केवल मस्तिष्क की खिलवाड रह गई। केशव का कथन था कि "भूषण बिना न सोहई कविता वनिता मित्त।" केशव ने अलंकार सम्प्रदाय के आचार्य दण्डी का अनुकरण किया था अतः उन्हे अलंकारवादी

कवि ही समझना चाहिए । कविता में वे मानव हृदय की रहस्यमय भावनाओं का मूर्त चित्र तो उपस्थित कर नहीं सके केवल अलंकारों के बल पर शब्दों की खिलवाड़ में संलग्न रहे । आचार्य शुक्ल केशव के विषय में लिखते हैं :—

"केशव को कवि हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिए । वे संस्कृत साहित्य से सामग्री लेकर अपने पाण्डित्य और रचना कौशल की धाक जमाना चाहते थे। पर इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए भाषा पर जैसा अधिकार चाहिए वैसा उन्हें प्राप्त न था । अपनी रचनाओं में उन्होंने अनेक संस्कृत काव्यों की उक्तियाँ लेकर भरी हैं; पर उन उक्तियों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने में उनकी भाषा बहुत कम समर्थ हुई है। पदों और वाक्यों की न्यूनता, अशक्त फालतू शब्दों के प्रयोग और सम्बन्ध के अभाव आदि के कारण भाषा भी अप्रांजल और ऊबड़-खाबड़ हो गई है और तात्पर्य भी स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं हो सका। केशव की कविता को जो कठिन कहा जाता है उसका प्रधान कारण उनकी यही त्रुटि है; उनकी मौलिक भावनाओं की गम्भीरता या जटिलता नहीं"।

भावपक्ष और कला पक्ष के उचित सम्मिश्रण न होने के कारण ही वे सफल प्रबन्धकार भी न हो सके। सहृदयता तो केशव में थी ही नहीं। प्राकृतिक वस्तुओं से सुन्दर उन्हें स्त्री का मुख लगता था—"देखै मुख मुखै कमलै न चन्द री"। जब प्रकृति का वर्णन केशव करेंगे तो केवल वृक्ष-नामोल्लेख तक ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं :—

नरु तालीस तमाल ताल हिन्ताल मनोहर

× × ×

ऐला लता लवंग सग पुंगीफल सोहैं ।"

फिर तो वे ध्यान भी नहीं रखते कि कौनसा वृक्ष कहाँ पैदा होता है और कहाँ नहीं । केशव 'कठिन काव्य के प्रेत' के नाम से हिन्दी जगत में प्रसिद्ध हैं। यह उक्ति उनके व्यक्तित्व पर स्पष्ट प्रकाश फेंकती है; भावुकता का अभाव और मस्तिष्क या पाण्डित्य द्वारा उसकी पूर्ति—यही इसका अर्थ

है। केशव ने लक्षण ग्रन्थ लिख कर कवि होने के साथ-साथ अपने को आचार्य के रूप मे भी प्रतिष्ठित किया। इनके कविप्रिया तथा रसिकप्रिया इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं। केशव के बाद भी लक्षण ग्रन्थ लिखने की जो परिपाटी चली तो रीति काल में संक्षिप्त रूप में संस्कृत साहित्य ही ला उपस्थित किया गया।

केशव के पश्चात् तो हिन्दी कविता का और भी ह्रास हुआ। ह्रास इस अर्थ में कि कविता का क्षेत्र सीमित हो गया। भक्ति काल में जो कविता मानव जीवन के सभी छोरों को छूती हुई चलती थी—जिसमें जीवन की विविधता के दर्शन होते थे—वह एक दम एकांगी हो गई। कविता का क्षेत्र स्त्री की केवल साढ़े तीन हाथ की शरीरयष्टि रह गई। दूसरा ह्रास का कारण था लक्षण ग्रन्थ लिखने का उन्माद। इस काल का प्रत्येक कवि आचार्य बनने का गौरव प्राप्त करना चाहता था। इसके अतिरिक्त ह्रास का तीसरा कारण था राज्याश्रय। यदि कोई प्रतिभाशाली कवि हो भी तो वह स्वेच्छानुसार लिखने में स्वतन्त्र नहीं था। देश की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक हालत अच्छी नहीं थी। मुसलमान राजा विलास जर्जर से और हिन्दू राजा उनके द्वारा शासित तथा अपमानित थे। अतः अपने अभाव को वे हाला-बाला के द्वारा विस्मृत कर देना चाहते थे। कविता भी उनके विलासोत्तेजना का एक साधनमात्र थी। लक्षण ग्रन्थ लिखने की तो ऐसी परिपाटी चली कि प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से सभी रीतिकालीन कवियों ने अपनी रचना लक्षण-ग्रन्थों को ध्यान में रख कर की है। आचार्य और कवि एक साथ बनने की इच्छा ने कविता में—उसके काव्यत्व में—बड़ी बाधा उपस्थित की। शृंगारी कवियों की बात तो जाने दीजिए प्रसिद्ध कवि भूषण भी इस रोग से नहीं बच सके और उन्होंने 'छत्रसाल' 'शिवाजी' विषयक अपनी सभी रचनाएं छन्दों एवं अलंकारों के लक्षणस्वरूप प्रस्तुत की हैं।

प्रसिद्ध कवि बिहारी जब आरम्भ में मिर्जा राजा जयशाह के पास आए तो

'नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहिं काल।
अली कली ही सौं बिंध्यों आगे कौन हवाल॥'

कह कर उनकी मूर्छा भंग की थी परन्तु जयशाह ने इस कवि में प्रतिभा के दर्शन किए और मन ही मन प्रसन्न हुआ कि धन के बल पर अब उससे वह मनोवांछित रचना करवा सकेगा। वही विहारी याद में जयशाह को सुनाने लगे।

तिय तिथि तरुन किशोर वय पुन्यकाल सम दोनु।
काहूँ पुन्य न पाइयतु वैस संधि संक्रोनु॥

या

दुरत न कुच बिच कंचुकी चुपरी सारी सेत।
कवि आँखन के अरथ लों प्रकट दिखाई देत॥

यह ध्यान रखना चाहिए कि कविता के ह्रास से अभिप्राय, उसके भावपक्ष तथा कलापक्ष दोनों के ह्रास से है। केशव से पूर्व भक्तिकाल का साहित्य पूत भावनाओं से ओतप्रोत है। उस में सत् विचार सुन्दर ढंग से व्यक्त किए गए हैं। रीति काल में कुत्सित विचारों पर अलंकारों का आवरण डालकर उन्हें सुन्दर बनाने की व्यर्थ चेष्टा की गई है। यद्यपि विहारी ने लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखा है फिर भी उनकी विहारी सतसई में प्रायः सभी अलंकारों और सभी प्रकार की नायिकाओं के वर्णन पर्याप्त संख्या में मिल जायेंगे। उनके कुछ दोहे तो ऐसे हैं कि उनकी साहित्यिक परिभाषा के स्पष्ट किए बिना कोई उनका पूर्ण आनन्द नहीं ले सकता। जैसे स्वयंदूतिका नायिका की यह उक्ति

बैठि रही अति सघन वन पैठि सदन तन माँह।
देखि दुपहरी जेठ की छाँहहू चाहति छाँह॥

इसमें स्वयंदूतिका नायिका नायक से किसी शीतल स्थान पर चलने का इशारा करती है। इसी प्रकार

तो पर वारों उरवसी सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी ह्वै उरवसी समान॥

में यमक अलंकार का उदाहरण प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति स्पष्ट है। सच बात तो यह है कि राज्याश्रय एवं राजा की कामना-पूर्ति में सहज तल्लीन ये कवि भूल ही गए थे कि शृंगार रस के बाहर और भी रस हैं तथा स्त्री शरीर के अतिरिक्त और भी ऐसी वस्तुएं हैं जिनका वर्णन किया जा सकता है।

देव कवि तथा आचार्य दोनों के नाते प्रसिद्ध हैं। यदि वे केवल कवि

ही रहे होते या केवल आचार्य तो अधिक अच्छा रहता। उनका आचार्यपन तो उनके कवित्व में बाधक होता है और उनका 'कवि' उनके आचार्यत्व मे। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि देव ने अच्छी कवित्व शक्ति का परिचय दिया परन्तु देव भी स्त्री-शरीर के साढ़े तीन हाथ के चक्रव्यूह से बाहर नहीं निकल सके। मानव हृदय की कोमल परुष वृत्तियों पर स्वच्छन्द रचना करना उन्होंने अच्छा नहीं समझा। लौकिक शरीर-शोभा में इनकी दृष्टि एक बार जो गिरी फिर उठ ही नहीं सकी।

धार में धाय धँसी निरधार ह्वै जाय फँसी उकसी न उधेरी।
री अगराय गिरी गहिरी, गहि फेरे फिरी न घिरी नहिं घेरी॥
देव कछू अपनो बस ना रस लालच लाल चितै भईं चेरी।
वेगि ही वूडि गईं पखियां अंखियां मधु की मखियां भईं मेरी॥

उपरोक्त पद में अनुप्रासप्रियता की प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है। आचार्य शुक्ल इनके विषय में लिखते हैं—

"कवित्व शक्ति और मौलिकता देव में खूब थी पर उनके सम्यक स्फुरण में उनकी रुचिविशेष प्रायः बाधक हुई है। कभी-कभी वे कुछ बड़े और पेचीले मज़मून का हौसला बाँधते थे पर अनुप्रास के आडम्बर की रुचि बीच ही में उनका अंग-भंग करके सारे पद्य को कीचड़ में फंसा छकड़ा बना देती थी। कहीं-कहीं शब्द व्यय बहुत अधिक है और अर्थ अल्प। अक्षर मैत्री के ध्यान से इन्हें कहीं-कहीं अशक्त शब्द रखने पड़ते थे जो कभी-कभी अर्थ को आच्छन्न करते थे। तुकान्त और अनुप्रास के लिये ये कहीं-कहीं शब्दों को ही तोड़ते-मरोड़ते न थे वाक्य को भी अविन्यस्त कर देते थे।"

केवल देव के विषय में ही यह बात नहीं प्रायः सभी रीतिकालीन कवियों पर यह बात लागू होती है। लक्षण ग्रन्थों का प्रणयन करने का लोभ एवं दंभ उन्हें कुछ करने नहीं देता था। आचार्य शुक्ल सामान्य रूप से सभी रीतिकालीन कवियों के विषय में लिखते हैं :—

"कवियों ने कविता लिखने की यह एक प्रणाली ही बनाली कि पहले दोहे में अलंकार या रस का लक्षण लिखना फिर उसके उदाहरण के रूप में कवित्त या सवैया लिखना। हिन्दी साहित्य में यह अनूठा दृश्य खड़ा हुआ।

संस्कृत साहित्य में कवि और आचार्य दो भिन्न-भिन्न श्रेणियों के व्यक्ति रहे। हिन्दी काव्य क्षेत्र में यह भेद लुप्त सा हो गया। इस एकीकरण का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्यालोचन शक्ति की अपेक्षा होती है उसका विकास नहीं हुआ। कवि लोग एक दोहे में अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कवि कर्म में प्रवृत्त हो जाते थे। काव्यांगों का विस्तृत विवेचन, तर्क द्वारा खण्डन-मण्डन, नये-नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन आदि कुछ भी न हुआ।"

स्पष्ट बात यह है कि जिस 'स्वान्तः सुखाय' के मूल मन्त्र से साहित्य का आरम्भ हुआ वह रीतिकाल आते-आते विस्मृत कर दिया गया था और अब साहित्य राज-सुखाय लिखा जाने लगा था। कुछ व्यक्तिविशेषों के लिए लिखा गया साहित्य किस कोटि का हो सकता है इसका अनुमान सहज में ही किया जा सकता है। कवि मजदूर नहीं होता कि पारिश्रमिक के अनुपात से वह कविता करे। जहाँ कवि मजदूर रहा है—पैसे के लिए उसने कविता की है वहाँ सदैव कविता का ह्रास हुआ है। महाकवि अकबर ने इस पूंजीवादी मनोवृत्ति पर बहुत ही व्यंगमय शब्दों में प्रकाश डाला है :—

भरते हैं मेरी आह को वो ग्रामोफोन में।
कहते हैं आह कीजिए और दाम लीजिए॥

जहाँ कला बिकने लगती है वहाँ उसका ह्रास होने लगता है, पतन हो जाता है। रीतिकाल में कला बेची गई है अतः उसके साहित्य में ह्रास के लक्षण दिखाई देना स्वाभाविक ही है।

प्रश्न १६—हिन्दी साहित्य पर उस विषय के संस्कृत साहित्य के प्रभाव की मात्रा तथा विस्तार का विवेचन कीजिये।

उत्तर १६—संस्कृत का साहित्य अगाध समुद्र है। इतना विस्तृत यह साहित्य है कि इसमें अनेकों वादों को प्रश्रय मिला है। भिन्न-भिन्न आचार्य अपना भिन्न भिन्न मत रखते थे और उनके अनुयायी साहित्य में उसी को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया करते थे। संस्कृत में निम्नांकित प्रसिद्ध-प्रसिद्ध सम्प्रदाय हैं।

१. रससम्प्रदाय २. अलंकारसम्प्रदाय ३. रीतिसम्प्रदाय ४. वक्रोक्ति -

सम्प्रदाय ५ ध्वनि सम्प्रदाय। इनका विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा और रीतिकालीन साहित्य पर उसके प्रभाव की विवेचना भी की जायगी।

संस्कृत में रीति शब्द का व्यवहार काव्यशास्त्र के एक सिद्धांत के रूप में या काव्य शैली के रूप में हुआ है। हिन्दी के रीतिकाल में उसमें लक्षण ग्रंथ लिखने की प्रवृत्ति देख उस काल का नाम ही रीतिकाल रख दिया गया। इस काल में संस्कृत के विभिन्न काव्य सम्प्रदायों से प्रभावित होकर ग्रंथों की रचना की गई। शुक्ल जी ने लिखा है कि इस काल में संस्कृत साहित्य शास्त्र के विकास क्रम की एक संक्षिप्त उद्धरणी हो गई।

१. रस सम्प्रदाय :—"नाट्य शास्त्र की रस शैली जगत् प्रसिद्ध है। सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में रस सम्बन्धी उसकी विवेचना स्वीकार की गई है। रस निरूपण का मूल सूत्र है भरत के प्रसिद्ध नाट्य शास्त्र का यह वाक्य— "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"। इस वाक्य का स्पष्ट अर्थ है विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारि भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस को लेकर संस्कृत साहित्य में बड़ा विवाद हुआ। इस रस-सम्प्रदाय का रीतिकालीन साहित्य पर बहुत प्रभाव पड़ा है। शुक्ल जी रीतिकाल का आरम्भ केशव से इसलिये नहीं मानते कि केशव के बताए हुए मार्ग पर रीतिकाल की परम्परा नहीं चली। शुक्ल जी लिखते हैं—

"केशवदास के उपरान्त तत्काल रीतिग्रन्थों की परम्परा नहीं चली। कविप्रिया के ५० वर्ष पीछे उसकी अखण्ड परम्परा का आरम्भ हुआ। यह परम्परा केशव के दिखाए हुए पुराने आचार्यों (भामह, उद्भट आदि) के मार्ग पर न चल कर परवर्ती आचार्यों के परिष्कृत मार्ग पर चली जिसमें अलंकार-अलंकार्य का भेद हो गया था। हिंदी के अलंकार ग्रंथ अधिकतर 'चन्द्रलोक' और 'कुवलयानन्द' के अनुसार निर्मित हुए। कुछ ग्रंथों में 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' का भी आधार पाया जाता है।"

रीतिकाल पर, शुक्ल जी जिसका आरम्भ चिंतामणि त्रिपाठी से मानते हैं, रस सम्प्रदाय का ही अधिक प्रभाव दिखाई देता है। रीतिकाल में काव्य की आत्मा रस ही मानी गई।

२. अलंकारसम्प्रदाय—डा० श्यामसुन्दरदास इसका विवरण देते हुए लिखते हैं—

"भरत के उपरांत अलंकारशास्त्रियों की नई-नई शैलियाँ निकलीं जिनमें विभिन्न दृष्टियों से काव्य-समीक्षा की गई। समयानुक्रम से सबसे प्रथम भामह का काव्यालंकार ग्रंथ आता है। भामह ने अपने ग्रन्थ में अलंकारों की जो-जो विशिष्टता प्रतिपादित की हैं उन्हें लेकर दंडी, उद्भट आदि पीछे के आचार्यों ने अलंकारों को काव्यात्मा बतलाया और वे काव्य में अलंकार सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक बने। इन आचार्यों ने यद्यपि रससम्प्रदाय का परिचय प्राप्त किया था पर वे रस पद्धति को नाटकों के उपयुक्त समझते थे। सामान्य काव्य ग्रन्थों में वे अलंकारों को ही प्रधान स्थान देने के पक्ष में थे। उनकी सम्मति में रस आदि अलंकारों से गौण हैं, एवं ओज, प्रसाद, माधुर्य, आदि गुण भी अलंकार ही हैं। इन ग्रंथों में प्रायः दो सौ अलंकारों का विवरण दिया गया है। कुछ विवेचकों ने भ्रमवश भामह को ध्वन्यभाववादी ठहराया है। पर यह निश्चित रीति से कहा जा सकता है कि न तो उन्होंने ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य आदि शब्दों का प्रयोग किया है और न वे प्रतीयमान अर्थ को काव्य की आत्मा मानते थे। वे ध्वनि को नहीं किन्तु वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को सब अलंकारों का मूल मानते थे। अलंकारवादियों के इस सम्प्रदाय का हिन्दी के आचार्य कवि केशवदास पर बड़ा प्रभाव पड़ा था।"

केशव ने अपनी 'रसिक प्रिया' तथा 'कविप्रिया' की रचना उपरोक्त अलंकार सम्प्रदाय के आधार पर ही की है।

३. रीतिसम्प्रदाय—इसके संस्थापक वामन थे। रीति शब्दों के नियमित और सघटित प्रयोग को कहते हैं। इस सम्प्रदाय के लोग गुणों—माधुर्य, ओज, प्रसाद—को काव्य की आत्मा मानते हैं। इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने विभिन्न रसों के उपयुक्त गुणों का निर्देश भी किया था। जैसे, माधुर्य गुण शृङ्गार के लिये उपयुक्त है, ओजगुण वीर रस के लिए उपयुक्त है आदि। इन्होंने शब्द-शक्तियों पर भी ध्यान दिया था। विशेष प्रकार की शब्दावली के प्रयोग को इन्होंने रीति नाम दिया था। शब्दों के प्रयोग के अनुसार तीन रीतियाँ मानी गई, वैदर्भी, गौणी, पांचाली। वामन गुणों तथा अलंकारों में भेद करने

हैं। और इस विषय में उन्होंने दंडी के मत का संशोधन किया है।

४. वक्रोक्ति सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय को अलंकार सम्प्रदाय के निकट समझना चाहिए। इसके आचार्यों के मत से वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है। जिस वाक्य में कुछ वक्रता नहीं उस साधारण वाक्य को काव्य के अन्तर्गत इस सम्प्रदाय के आचार्य नहीं लेंगे। इसके संस्थापक कुन्तल माने जाते हैं। कुन्तल ही इसे अधिक महत्त्व देते हैं और काव्यात्मा बताते हैं नहीं तो रुद्रट तो इसे केवल शब्दालंकार मात्र मानते हैं और मम्मट इस विषय मे उन्हीं के अनुयायी हैं। इसके विपरीत रुय्यक वक्रोक्ति को अर्थालंकार मानते हैं। परन्तु कुन्तल ने ध्वनि आदि काव्य के समस्त उपादानों को वक्रोक्ति में ही खपा दिया है। वे रस, अलंकार, ध्वनि आदि सब को वक्रोक्ति के अन्तर्गत मानते हैं।

५. ध्वनि सम्प्रदाय—डा० श्यामसुन्दर के शब्दों में—"वास्तव में यह रस सम्प्रदाय का ही एक व्यावहारिक रूप है जो अलंकारों, रीतियों, गुणों आदि को उनके उचित स्थान पर नियुक्त करता है। इस प्रणाली का प्रयोग विशेष कर नाटकों के उपयुक्त है। क्योंकि रस निष्पत्ति के लिए जिस लम्बे प्रबन्ध की आवश्यकता होती है वह मुक्तक काव्य में नहीं मिल सकता। इस प्रकार फुटकर पदों में रसात्मकता की प्रतिष्ठा करने के लिए रससम्प्रदाय किसी पथ का निर्देश नहीं करता। ध्वनि सम्प्रदाय के आविर्भाव का एक उद्देश्य यह भी था। ध्वन्यालोक के अनुसार सत्काव्य में चमत्कारपूर्ण व्यंग्यार्थ होता है। ध्वनि तीन प्रकार की होती है—रसध्वनि, अलंकार ध्वनि, वस्तुध्वनि। रसध्वनि में नौ रस ही नहीं सभी भाव और भावाभास आदि भी आ जाते हैं। वस्तुध्वनि द्वारा कोई वस्तु व्यंग्य होती है, अलंकार भी वास्तव में वस्तु ध्वनि है केवल वह वस्तु अलंकार के रूप में होती है। ध्वनिकार स्पष्ट शब्दों में कह देते हैं कि जिस काव्य से रससिद्धि नहीं होती वह निष्प्रयोजन है। इस प्रकार वे रस सम्प्रदाय से अपना घनिष्ठ सम्बन्ध बताते हैं। साथ ही वे अलंकारों, गुणो आदि को रसोत्पादन मे सहायक मात्र मान कर उनके गौण स्थान को स्पष्ट करते हैं। अब ध्वनि सम्प्रदाय काव्यसमीक्षा की सर्वमान्य शैली हो गई है पर पहले इसे अपनी स्थिति निर्धारित करने में अनेक विद्वानों के कठिन विरोध का सामना करना पड़ा था।

हमारे हिन्दी साहित्य में जब रीति काल का प्रारम्भ होता है तब तक संस्कृत साहित्य में उपरोक्त सभी सम्प्रदाय बन चुके थे। संस्कृत आचार्यों ने बड़े विवाद तथा परिश्रम के पश्चात अपने-अपने सम्प्रदाय को स्थापित किया था और इसीलिए उनका विवेचन कहीं भी भ्रमपूर्ण नहीं है। किन्तु हिन्दी के कवि आचार्यों ने उनका अंधानुकरण किया और इस प्रकार सारे संस्कृत साहित्य का हिन्दी में अनुवाद होने लगा। संस्कृत के कुछ गिने-गिनाए ग्रंथ हैं जिनको रीतिकाल में विशेष रूप से आधार बनाया गया। उनके नाम हैं :—भरतमुनि का नाट्य शास्त्र, भामह का काव्यालंकार, दंडी का काव्यादर्श, उद्भट का अलंकार सार संग्रह, केशव मिश्र का अलंकार शेखर, अमरदेव की काव्य कल्पलता वृत्ति, जयदेव का चन्द्रालोक, अप्पय दीक्षित का कुवलयानंद, मम्मट का काव्यप्रकाश, विश्वनाथ का साहित्यदर्पण, आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक, भानुदत्त की रसमंजरी आदि।

प्रायः तीन प्रकार की निरूपण शैली हिन्दी के रीतिग्रन्थों में मिलती है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि संस्कृत के अनुकरण पर तीन प्रकार की शैलियों के आधार पर ग्रन्थ लिखे गए। १—संस्कृत के काव्य प्रकाश की निरूपण की शैली पर हिन्दी मे निम्नांकित ग्रन्थ लिखे गए—सेनापति का काव्य कल्पद्रुम, चिन्तामणि का काव्यकुल-कल्पतरु और काव्यविवेक, देव का काव्य रसायन आदि।

२—शृंगार तिलक की शैली पर लिखे गए ग्रन्थ :—केशव की रसिक प्रिया, मतिराम का रसराज,देव का भाव विलास। (यह रसमंजरी की शृंगार-मयी नायिकाभेद वाली शैली है।)

३—चन्द्रालोक की संक्षिप्त अलंकार निरूपण शैली पर हिन्दी में लिखे गये ग्रन्थ:—जसवंत सिंह का भाषा भूषण तथा पद्माकर का पद्माभरण आदि।

हिंदी में जो कुछ भी रीति ग्रन्थ हैं वे संस्कृत के अनुकरण मात्र हैं। इस विषय पर स्वतन्त्र विवेचन यहाँ नहीं हुआ। केशव को छोड़ कर जिन्हें अलंकारवादी कहा जा सकता है शेष कवि रस को ही काव्य की आत्मा या प्रधान वस्तु मान कर चले।

इस प्रकार हम देखते है कि हिंदी का रीति काल संस्कृत के साहित्य-

सम्प्रदायों से सीधा प्रभावित है।

प्रश्न २०—आधुनिक हिन्दी गद्य के इतिहास को कितने कालों में विभक्त किया जा सकता है? प्रत्येक काल की मुख्य प्रवृत्तियों का परिचय दीजिये।

उत्तर २०—आधुनिक हिन्दी गद्य काल का प्रारम्भ वास्तव में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से समझना चाहिए। यों तो हिन्दी गद्य ग्रन्थ निर्माण का कार्य सदासुखलाल, लल्लूलाल, इंशा अल्लाखाँ तथा सदलमिश्र आदि आचार्यों के समय से ही आरम्भ होगया था परन्तु उस समय तक न तो भाषा में एकरूपता तथा व्यवस्था आई थी और न ग्रन्थ रचना का क्रम ही अखण्ड रहा। आचार्य शुक्ल लिखते हैं—

"सम्वत् १८६० के लगभग हिंदी गद्य का प्रवर्त्तन तो हुआ पर उसके साहित्य की अखण्ड परम्परा उस समय से नहीं चली। इधर दो-चार पुस्तकें अनगढ़ भाषा में लिखी गई हों तो लिखी गई हों पर साहित्य के योग्य स्वच्छ, सुव्यवस्थित भाषा मे लिखी कोई पुस्तक स० १६१५ के पूर्व की नहीं मिलती।"

इसके पश्चात राजा शिवप्रसाद तथा राजा लक्ष्मणसिह हिंदी के दो प्रसिद्ध लेखक हुए। राजा शिवप्रसाद ने तो भारतेन्दु बाबू को पढ़ाया भी था। इन दोनों लेखकों के समय तक तो यह भी निश्चित नहीं हुआ था कि हिन्दी को किस शैली में लिखना चाहिए—संस्कृत-गर्भित या उर्दू-फारसी शब्द-बहुला शैली में। राजा शिवप्रसाद इस विषय में कितने अनिश्चित थे यह दो उद्धरणों से स्पष्ट हो जायगा। 'राजा भोज का सपना' में राजा शिवप्रसाद ने जैसी भाषा लिखी थी उसका कुछ अंश देखिए :—

"वह कौनसा मनुष्य है जिसने महाप्रतापी महाराजा भोज का नाम न सुना हो। उसकी महिमा और कीर्ति तो सारे जगत में व्याप रही है। बड़े-बड़े महीपाल उसका नाम सुनते ही काँप उठते और बड़े-बड़े भूपति उसके पाँव पर अपना सिर नवाते। सेना उसकी समुद्र की तरंगों का नमूना और खजाना उसका सोने, चाँदी और रत्नों की खान से भी दूना। उसके दान ने राजा कर्ण को लोगों के जी से भुलाया और उसके न्याय ने विक्रम को भी लजाया।"

यदि इसी शैली का राजा शिवप्रसाद निरन्तर विकास करते रहते तो आधुनिक हिंदी गद्यकाल के आरम्भकर्ता के नाम से वे ख्याति प्राप्त करते परन्तु न जाने क्या सोचकर राजा साहब ने हिंदी से अपना नाता तोड़ लिया और 'आमफहम' भाषा लिखने के चक्कर में पड गए जो घोर अव्यावहारिक थी। उनकी इस उर्दू प्रधान भाषा का उद्धरण देना असंगत न होगा। उनके इतिहास-तिमिर-नाशक की भाषा देखिए :—

"एक सल्तनत के मानिन्द जिसकी हदें कायम हो गई हैं और जिसका इन्तज़ाम मुन्तजिम होने की गवाही देता है।"

राजा लक्ष्मणसिंह हिन्दी और उर्दू में अन्तर मानते थे किन्तु उन्होंने जो भाषा लिखी है वह साहित्यिक तथा आलंकारिक अधिक है, बोलचाल की भाषा या चलती हिन्दी से वह बहुत दूर है। उनकी भाषा का उदाहरण लीजिए :—

"अनसूया—महात्मा! तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड यहाँ पधारे हो? क्या कारण है जिससे तुमने अपने कोमल गात को कठिन तपोवन में आकर पीड़ित किया है।"

इस प्रकार राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह के बीच का मार्ग अपना कर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र आधुनिक गद्यकाल के प्रथम लेखक प्रसिद्ध हुए। तब से आज तक गद्य लिखने का क्रम भी अक्षुण्ण रहा। आचार्य शुक्ल के अनुसार हम आधुनिक हिन्दी गद्य काल को निम्नांकित भागों में बाँट सकते हैं :—

१ प्रथम उत्थान या भारतेन्दु काल (१९२५--१९५०)

२ द्वितीय उत्थान या द्विवेदी काल (१९५०--१९७५)

३ तृतीय उत्थान या प्रसाद-प्रेमचन्द-शुक्ल काल (१९७५--

प्रथम उत्थान या भारतेन्दुकाल में भाषा का स्वाभाविक विकास हुआ। भारतेन्दु बाबू का महत्व इस विषय में ऐतिहासिक महत्व है। हिन्दी गद्य काल का प्रथम लेखक होने के कारण उनका उत्तरदायित्व महान था जिसका उन्होंने महान सफलता के साथ निर्वाह किया। भारतेन्दु बाबू के

महत्व के विषय में आचार्य शुक्ल लिखते हैं :—

"भाषा का निखरा हुआ शिष्ट सामान्य रूप भारतेन्दु की कला के साथ ही प्रकट हुआ। × × × इससे भी बड़ा काम उन्होंने यह किया कि साहित्य को नवीन मार्ग दिखाया और उसे वे शिक्षित जनता के साहचर्य में लाए। नई शिक्षा के प्रभाव से लोगों की विचारधारा बदल चली थी। उनके मन में देशहित, समाजहित आदि की नई उमंगें उत्पन्न हो रही थीं। काल की गति के साथ-साथ उनके भाव और विचार तो बहुत आगे बढ़ गए थे पर साहित्य पीछे ही पड़ा था। भक्ति, शृङ्गार आदि की पुराने ढग की कवितायें ही होती चली आ रही थीं। बीच-बीच में कुछ शिक्षासम्बन्धी पुस्तकें अवश्य निकल जाती थीं। पर देशकाल के अनुकूल साहित्यनिर्माण का कोई विस्तृत प्रयत्न तब तक नहीं हुआ था। वंग देश में नए ढङ्ग के नाटकों और उपन्यासों का सूत्रपात हो चुका था जिनमें देश और समाज की नई रुचि और भावना का प्रतिबिम्ब आने लगा था। पर हिंदी साहित्य अपने पुराने रास्ते पर ही पड़ा था। भारतेन्दु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़कर हमारे जीवन के साथ फिर से लगा दिया। इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था उसे उन्होंने दूर किया। हमारे साहित्य को नए-नए विषयों की ओर प्रवृत्त करने वाले हरिश्चन्द्र ही हुए।"

संक्षेप में भारतेन्दु बाबू की जो विशेषता है वही भारतेन्दु काल की प्रवृत्तियाँ हैं। भारतेन्दु का व्यक्तित्व इतना व्यापक है कि भारतेन्दु काल की साहित्यिक चेतना के वे ही केन्द्र हैं।

साहित्य या समाज में सुधार की प्रवृत्ति इस काल की सर्वप्रधान प्रवृत्ति है। समाचार पत्रों द्वारा, नाटकों द्वारा, आलोचनाओं द्वारा, लेखों द्वारा इस काल के सभी लेखकों ने समाज सुधार का प्रयत्न किया है। इस काल के सभी लेखकों का मण्डल भारतेन्दु के व्यक्तिगत मित्रों का समूह था और उनकी प्रेरणा से ही वे साहित्य सृजन में संलग्न थे। 'भारत दुर्दशा' नाटक में भारतेन्दु ने अनेक सामाजिक आपत्तियों का वर्णन किया है। दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति इस काल की थी देशभक्ति की प्रवृत्ति तथा विदेशी सत्ता की उपस्थिति से उत्पन्न विषमताओं पर कटाक्ष। प्रायः सभी भारतेन्दुकालीन लेखकों ने इसमें हृदय से

सहयोग दिया और इस प्रकार उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को बल प्रदान किया।

भाषा को चलती हुई बनाने की प्रवृत्ति भी इस युग की प्रमुख प्रवृत्तियों में से एक है। यही कारण है कि भाषा में अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों का बहिष्कार नहीं मिलता तथा अव्यावहारिक उर्दू-फारसी शब्दों का प्रयोग भी नहीं मिलता। अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग भी होने लग गया था और लेखक प्रायः अंग्रेज़ी शब्दों को कोष्ठक में देते थे।

अनुवाद की प्रवृत्ति भी इस काल की मुख्य प्रवृत्तियों में से एक है। स्वय भारतेन्दु बाबू ने बंगला के विद्यासुन्दर नाटक का हिन्दी में अनुवाद किया तथा अन्य दूसरे लेखकों ने भी इस विषय में उनका अनुसरण किया। फिर भी अनुवाद का कार्य अधिक इस युग में नहीं हो पाया।

स्त्री-सुधार की प्रवृत्ति इस युग में दिखाई देती है। लेखकों ने इस भावना को साहित्य में तो स्थान दिया ही, इसके अतिरिक्त इसके प्रचार-प्रसार के लिए कई पत्र-पत्रिकायें भी निकालीं।

नाटकों की रचना का आरम्भिक युग भी भारतेन्दु काल को मानना चाहिए। इस काल में मौलिक और अनुवादित दोनों प्रकार के नाटक लिखे गए। स्वयं भारतेन्दु बाबू ने मौलिक नाटक भी लिखे और अनुवादित भी किए। उनके साथियों में से बालकृष्ण भट्ट, बद्रीनारायण चौधरी, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्णदास तथा श्रीनिवासदास ने भी नाटक लिखे। अनुवाद का कार्य प्रायः अंग्रेज़ी, संस्कृत तथा बंगला से हुआ।

निबन्ध लिखने की प्रवृत्ति जितनी इस युग में दिखाई देती है उतनी फिर कभी हिन्दी में दिखाई नहीं दी। निबन्धों की भाषा इतनी सशक्त, व्यंग इतना स्पष्ट तथा तीव्र होता है कि उस युग को देखते हुए निबन्धों के इस उत्कर्ष पर आश्चर्य ही होता है। सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक समस्याओं एव रूढ़ियों को लेकर इन लेखकों ने इतने सुन्दर व्यंग किए हैं कि इस काल का निबन्ध साहित्य हिन्दी के लिए गौरव की वस्तु बन गया। जिन्दादिली जितनी इस काल के लेखकों में दिखाई देती है उतनी फिर आज तक दिखाई नहीं दी।

इसके अतिरिक्त पत्रप्रकाशन का कार्य भी इस युग की प्रवृत्तियों में से एक समझना चाहिए। समाचार पत्रों के द्वारा एक ओर तो हिन्दी के रूप-निर्माण में सहायता मिली दूसरी ओर सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक समस्याओं पर प्रकाश डालने का अवसर मिला। शुक्लजी ने भारतेन्दुकाल में निकलने वाली लगभग २८ पत्रिकाओं के नाम अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में दिए हैं जो इस बात की प्रतीक हैं कि हिन्दी गद्य की सर्वतोमुखी गति का विकास इस युग में हो चला था। प्रमुख-प्रमुख पत्रिकाओं के नाम इस प्रकार हैं :—

१. अलमोड़ा अखबार (सम्वत् १९२८ सम्पादक पं० सदानंद सलवाल)
२ सदादर्श (दिल्ली सम्वत् १९३१ सम्पादक ला० श्रीनिवासदास)
३. भारतबन्धु (अलीगढ सम्वत् १९३३ सम्पादक तोताराम)
४. भारतमित्र (कलकत्ता सम्वत् १९३४ सम्पादक रुद्रदत्त)
५. हिन्दीप्रदीप (प्रयाग सम्वत् १९३४ सम्पादक बालकृष्ण भट्ट)
६. आनन्द कादम्बिनी (मिर्जापुर सं० १९३८ उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी)
७. ब्राह्मण (कानपुर सम्वत् १९४० संपादक प्रतापनारायण मिश्र)
८. भारतजीवन (काशी सम्वत् १९४१ सम्पादक रामकृष्ण वर्मा)
९. भारतेन्दु (वृन्दावन संवत् १९४१ सम्पादक राधाचरण गोस्वामी)

यद्यपि भाषा इस युग की व्याकरण सम्मत कम थी तथापि इस युग के लेखकों में जिन्दादिली उतनी ही ज्यादा थी।

इसके पश्चात् द्वितीय उत्थान काल या द्विवेदी युग का आरम्भ होता है। इस युग में 'सरस्वती' पत्रिका का साहित्यिक महत्व से अलग ऐतिहासिक महत्व है जो पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के संपादकत्व में निकलती थी। इस काल में भाषा की शुद्धि की प्रवृत्ति प्रधान है और इसमें 'सरस्वती' तथा पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का सर्वाधिक महत्व है।

खड़ी बोली को गद्य, पद्य दोनों में समान रूप से आश्रय देने की प्रवृत्ति भी इस काल की मुख्य प्रवृत्ति है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का भी विचार था कि गद्य के लिए खड़ी बोली उपयुक्त है और पद्य के लिए ब्रजभाषा। परन्तु पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने पद्य के रूप में भी खड़ी बोली के गृहीत

होने के लिए अथक परिश्रम किया। उन्होंने अपने शिष्यों से खड़ीबोली-पद्य में रचना कराई। बाबू मैथिलीशरण गुप्त उनमें से प्रमुख प्रसिद्ध कवि हैं। ब्रज भाषा के बहिष्कार की प्रवृत्ति भी इस युग में दिखाई देती है। ब्रजभाषा तथा श्रृङ्गारिक कविता का गठबन्धन बहुत पुराना था। श्रृङ्गारिक कविता के द्विवेदी जी घोर विरोधी थे अतः एक ओर तो ब्रजभाषा को आश्रय नहीं मिला दूसरी ओर श्रृङ्गारप्रधान कविताओं का प्रायः अभाव हो गया। कारण, नए लेखक द्विवेदी जी की कटु आलोचना से बहुत घबराते थे। द्विवेदी जी ने परिष्कृत एवं व्याकरणसम्मत खड़ी बोली का उदाहरण लोगों के सामने रखा।

दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति इस समय की उपन्यासों की प्रवृत्ति है। इस युग में कुछ तो मौलिक उपन्यास लिखे गए और बहुत से उपन्यास विभिन्न भाषाओं से अनुवादित हुए। गोपालराम गहमरी ने स्वयं जासूसी तथा तिलिस्मी उपन्यास लिखे तथा बंगला से अनुवादित भी किए। इनमें से अधिकांश उपन्यास गृहस्थी सम्बन्धी थे। जैसे, बड़ा भाई, देवरानी जिठानी, दो बहिन, तीन पतोहू, सास पतोहू आदि (उपरोक्त उपन्यास बंगला से अनूदित हैं)।

बाबू रामचन्द्र वर्मा नामक सज्जन ने मराठी के 'छत्रसाल' नामक उपन्यास का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया। कुछ उर्दू उपन्यासों का भी अनुवाद हुआ। अंग्रेज़ी से अनूदित कुछ उपन्यास भी इस काल में मिलेंगे। जैसे, टाम काका की कुटिया, लैला तथा लंदन-रहस्य। देवकीनन्दन खत्री ने अपने प्रसिद्ध तिलिस्मी उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' तथा 'चन्द्रकान्ता सन्तति' इसी समय लिखे जो अत्यधिक लोकप्रिय हुए। इसके अतिरिक्त पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी का नाम भी स्मरणीय है। उन्होंने पर्याप्त मौलिक उपन्यास लिखे। इनके द्वारा लिखे उपन्यासों के नाम हैं—तारा, चपला, तरुण तपस्विनी, रजियाबेगम, लीलावती, राजकुमारी आदि।

निबन्ध लिखने की प्रवृत्ति भी इस काल की मुख्य प्रवृत्ति है। पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने विचारात्मक निबन्ध लिखने का सूत्रपात किया। प० माधव मिश्र इस समय के बड़े ही उत्साही निबन्ध लेखक थे परन्तु लिखते तभी थे जब इन्हें कोई छेड़ दे। बाबू बालमुकुन्द सुप्रसिद्ध सम्पादक तथा निबन्ध लेखक थे। इस काल में भाषा की शुद्धि तथा व्याकरणसम्मत होने की

प्रवृत्ति अपनी चरमसीमा पर थी। बाबू बालमुकुन्द गुप्त का द्विवेदी द्वारा प्रयुक्त 'अनस्थिरता' शब्द पर लम्बा विवाद हिन्दी जगत् में प्रसिद्ध है। गुप्त जी राजनैतिक विषयों पर व्यंगपूर्ण लेख लिखा करते थे।

कहानी लिखने की प्रवृत्ति भी इस काल में दिखाई देती है। किशोरीलाल गोस्वामी, गिरिजाकुमार घोष, वंग महिला, रामचन्द्र शुक्ल, गुलेरी जी इस काल के प्रमुख कहानीकार हैं।

आलोचना लिखने की प्रवृत्ति भी इस युग में मिलेगी। स्वयं पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के महान आलोचकों में से माने जाते हैं। मिश्रबन्धु तथा पद्मसिंह शर्मा का नाम भी उल्लेखनीय है। पद्मसिंह शर्मा ने प्रथमतः हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात बिहारी पर एक आलोचनात्मक पुस्तक लिख कर किया। जीवनी इत्यादि अन्य साहित्यिक वस्तुएं लिखने का आरम्भ भी इसी काल से हुआ।

तृतीय उत्थान काल या प्रसाद-प्रेमचन्द-शुक्ल काल तो अपनी सर्वांगीण साहित्यिक उन्नति के लिए प्रसिद्ध है। साहित्य की कितनी ही नवीन दिशाओं की खोज इस युग में हुई। उपन्यास, कहानी, नाटक, गद्यकाव्य, समालोचना, इन्टरव्यू, जीवनी, शिकार-साहित्य, पर्यटन साहित्य आदि अनेक चीजें इस युग में पल्लवित और पुष्पित हुईं।

उपन्यासों के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक एवं चरित्रचित्रण-प्रधान उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति इस काल में देखी जाती है। प्रसिद्ध उपन्यास लेखक हैं—जैनेन्द्र, सुदर्शन, कौशिक, निराला, वृन्दावनलाल वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल, अज्ञेय, रांगेयराघव आदि। प्रेमचन्द जी का नाम विशेष रूप से स्मरणीय है। वास्तव में उन्होंने ही आधुनिक उपन्यासों के लिखने का सूत्रपात किया और उन्हें चरमसीमा पर पहुँचा दिया। प्रेमचन्द जी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने युग की सब प्रमुख प्रवृत्तियों तथा प्रमुख समस्याओं को वाणी दी है। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में घटना, चरित्रचित्रण तथा मनोविज्ञान का अद्भुत सम्मिश्रण रहता है।

नाटकों के क्षेत्र में भी प्रसाद जी, हरिकृष्ण प्रेमी, लक्ष्मीनारायण मिश्र,

माखनलाल चतुर्वेदी, पाण्डेय बेचन शर्म्मा उग्र, सुमित्रानन्दन पन्त, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अश्क, चतुरसेन शास्त्री, जी०पी० श्रीवास्तव, वृन्दावन लाल वर्मा (एकांकी), रांगेय राघव तथा 'रावी' जी (एकांकी) प्रमुख हैं। नाटकों पर पाश्चात्य प्रणाली का प्रभाव स्पष्ट है। प्रस्तावना आदि अब नहीं होतीं।

आलोचना की दिशा में अंग्रेज़ी से प्रभावित आलोचना का बाहुल्य है। प्रधान लेखक रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, हजारीप्रसाद द्विवेदी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, सत्येन्द्र तथा प्रभाकर माचवे प्रमुख हैं।

कहने का सारांश यह है कि इस युग में साहित्य का सर्वाङ्गीण विकास होगया है किन्तु इस युग में हम दो प्रधान प्रवृत्तियाँ पाते हैं एक छायावाद के रूप में दूसरा प्रगतिवाद के रूप में। केवल पद्य साहित्य पर ही नहीं गद्यशैली पर भी इन दोनों का प्रभाव स्पष्ट है। प्रगतिवाद के मूल में मार्क्सवादी दर्शन है और आज हिन्दी में इस प्रवृत्ति से प्रेरित होकर लिखने वालों की कमी नहीं है। रांगेयराघव, राहुल, यशपाल, कृष्णचन्द्र इस प्रवृत्ति के प्रमुख लेखक हैं। तथा डा० रामविलास शर्मा, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवदानसिंह चौहान इस प्रवृत्ति के प्रमुख समालोचक हैं। आज हिन्दी में पत्र-पत्रिकाओं का भी बाहुल्य है और प्रगतिवाद का प्रभाव उन पर और भी स्पष्ट दिखाई देता है।

प्रश्न २१—सिद्ध कीजिये कि आधुनिक काल का हिन्दी साहित्य माध्यमिक साहित्य की अपेक्षा अधिक सम्पन्न और आशाजनक है।

उत्तर २१—हमारे माध्यमिक साहित्य में हमारे भक्तिकाल तथा रीतिकाल दोनों आ जाते हैं। भक्तिकाल हमारे साहित्य का स्वर्णयुग कहा जाता है। यह वह युग था जबकि कविता का मूल स्वांतःसुखाय था और राज्याश्रय से कवियों को घृणा थी। किसी भक्त कवि का कथन प्रसिद्ध है "संतन को कहा सीकरी सों काम। आवत जात पन्हैयाँ टूटें बिसरि जाय हरि नाम।" भक्तिकाल का साहित्य भावों का साहित्य है। तुलसी और सूर ने मानव हृदय का उद्‌घाटन अपने साहित्य में किया जिसे पढ़कर पाठक तल्लीन हो जाता

है। परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि तुलसी रामायण लिखने के लिए बाध्य थे और उसी के द्वारा विभिन्न समस्याओं का समाधान उन्हे करना था। कारण, उस समय राजनैतिक विषमता से भी अधिक धार्मिक विषमता थी जिसका हल तुरन्त ही आवश्यक था। संक्षेप में कह सकते हैं कि भक्तिकाल का साहित्य सांसारिक न होकर आध्यात्मिक या पारलौकिक अधिक है। इसी कारण वह एकांगी भी है। न तो भक्तिकाल मे विविध विषयो का विवेचन हुआ और न पद्य के अतिरिक्त कुछ और ही लिखा गया। इसमें तो सन्देह नहीं कि कृष्ण-भक्त कवियों ने भगवान के लोकरंजक रूप को लेकर समाज को उसमे अवगाहन कराया और रामभक्त कवि तुलसी ने भगवान के लोकरंजक तथा लोकरक्षक रूप का सम्मिश्रण कर शील-शक्ति-सौंदर्य-समन्वित राम का अद्भुत चित्र समाज के समक्ष रखा। समाज को इससे बड़ी सान्त्वना मिली—बड़ा धैर्य। इस काल की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि मानव के हृदयस्थ भावों की बड़ी ही लोकरंजिनी अभिव्यक्ति इस काल मे हुई। फिर भी इस काल में जो साहित्य लिखा गया वह रामभक्ति शाखा तथा कृष्णभक्ति शाखा का ही काव्य है अतः अधिकांश राम तथा कृष्ण के विषय में ही है। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य को आध्यात्मिक पिपासा की शांति तो इससे हुई किन्तु सांसारिक पक्ष की तो बिलकुल ही उपेक्षा कर दी गई जो अच्छा नहीं हुआ। मानव जीवन के विविध पक्षों का चित्रण तो इस काल की कविता में है परन्तु विविध विषयों का इस काल में सर्वथा अभाव है।

इसके पश्चात् रीतिकाल आता है, कविता की दृष्टि से यह ह्रास का युग है। इस काल में कवि प्रायः राज्याश्रय मे थे अतः इस काल की कविता हृदय की अभिव्यक्ति न होकर एक माँग की पूर्तिभर है। इसके अतिरिक्त साहित्य का विषय मानव जीवन का विस्तृत क्षेत्र न रहकर केवल नारी की साढ़े तीन हाथ की शरीरयष्टि ही रह गया। विशेष रूप से कवित्त और सवैया छंद का प्रयोग ही इस काल में मिलता है। तुलसी और सूर ने मानव जीवन के जिन विभिन्न पक्षों पर अपनी दृष्टि डाली थी इस काल के कवियों ने उसे भी भुला दिया। जब मानव जीवन की विविधता को ही साहित्य में कोई स्थान नहीं दिया गया तो प्रबन्ध काव्यों की रचना भी इस काल में संभव नहीं थी अतः

इस काल में मुक्तक रचना ही विशेष रूप में मिलती है। इस काल के कवियों में एक प्रवृत्ति और मिलती है और वह है आचार्य बनने की प्रवृत्ति। संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों के अनुकरण पर इस काल में पर्याप्त लक्षण ग्रंथ लिखे गए। यह कहना असंगत न होगा कि इस काल के कवि आचार्य कम थे और कवि अधिक। विषय की दृष्टि से देखने पर तो यह काल और भी निराशाजनक है। केवल शृङ्गार रस की रचना ही विस्तार में इस काल में मिलेगी। इस काल के कवि भावों के अभाव में अपना कार्य भाषा-पाण्डित्य से चला रहे थे। उनमें से कुछ एक तो ऐसे थे जिन्होंने कवि हृदय तक नहीं पाया था और केवल भाषा-ज्ञान के ऊपर कवि बनने का साहस करते थे। केशव उनमें से प्रधान थे। केशव को "देखै मुख मुखै कमलै न चंद री" देखने में मुख ही अच्छा लगता था कमल और चन्द्रमा नहीं। वास्तव में इस काल के कवि अपने आश्रयदाता राजाओं की भांति ही विलासप्रिय भी थे अतः प्रकृति के प्रति उनका उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण जहाँ स्वाभाविक था वहाँ अशोभनीय भी। केशवदास की रसिकता तो बहुत प्रसिद्ध है—"केशव केसनि अस करी जस अरिहू न कराहिं।

चन्द वदनि मृग लोचनी बाबा कहि-कहि जाहिं॥"

श्वेत बाल ईश्वर शत्रु के भी न करे नहीं तो युवतियाँ बाबा कह देंगी। केशव उनसे बाबा कहलवाना अच्छा नहीं समझते थे इतने रसिक थे ये। किन्तु जब प्रकृति वर्णन का अवसर आता तो अपना कर्तव्य पालन भी ये कठिनता से ऐसा कहकर-कर पाते थे—

तरु तालीस तमाल ताल हिताल मनोहर।

× × ×

ऐला लता लवंग संग पुंगी फल सोहै॥

इस प्रकार रीतिकाल में जहाँ हम राजा, कवि, समाज का नैतिक पतन देखते हैं वहाँ साहित्य में भी एक बड़ा अभाव देखते हैं। कविता परतन्त्र थी दो रूप में। एक तो आश्रयदाता की माँग के अनुसार वह लिखी जाती थी दूसरे वह किसी अलंकार आदि का उदाहरण भी प्रस्तुत करती हुई होती थी। इस काल के कवि पण्डित और विद्वान् तो अवश्य थे परन्तु भावुक एवं सहृदय कम ही व्यक्ति थे। भाषा का अलंकरण करने में ही इस

काल के कवियों ने इतिश्री समझ ली । अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि के चक्कर में वे कुछ ऐसे फंसे कि भावों की हत्या करने में उन्हें कुछ संकोच नहीं होता था। सेनापति ने केवल रूपक, अनुप्रास आदि के लिए जो रचना की है कहीं-कहीं वह शब्दार्थ मात्र देती है उसका भावार्थ कुछ नहीं होता । कविता का कार्य है रसोद्रेक करना किन्तु इस काल की कविता में यह गुण तो है ही नहीं । इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतिकाल का साहित्य अपनी कुछ परिस्थितियों के कारण और भी अधिक एकांगी तथा तत्वहीन है । यों 'बात की करामात' पर विश्वास करने वाले तथा शब्दों की कलाबाज़ी पर मरने वाले उसे अमर साहित्य तक कहने को तैयार हैं ।

यदि उपरोक्त दोनों कालों की तुलना मे हम अपने आधुनिक हिन्दी साहित्य को देखें तो वह बहुत कुछ आशाप्रद तथा विविधता लिए हुए दिखाई देगा । सबसे पहली बात तो यह है कि इससे पूर्व का सभी साहित्य केवल पद्य में ही लिखा गया और चूंकि दिन-प्रतिदिन की बातें पद्य मे लिखी नहीं जा सकतीं अतः वह साहित्य जीवन से दूर भी था । पद्य में केवल मार्मिक भाव ही व्यक्त किए जा सकते हैं। साधारण भाव पद्य मे न तो व्यक्त ही किए जा सकते हैं और यदि व्यक्त किए भी जायं तो उसमें कोई सरसता नहीं रहती। कहने का सारांश यह कि इस काल से पूर्व के साहित्य मे बुद्धिपक्ष का कोई विशिष्ट स्थान न था और इसीलिए वह उस समय का ठीक प्रतिबिम्ब भी नहीं है ।

अब हमें देखना है कि क्या-क्या नवीन विषय इस युग में बढ़े हैं और उनकी प्रगति कैसी है। सर्वप्रथम हम आधुनिक युग के पद्य साहित्य को ही लें। प्राचीन काल का (माध्यमिक काल का) साहित्य हमें इतिवृत्तात्मक मिलता है। उसमें स्थूल भावनायें स्थूल भाषा मे व्यक्त की गई हैं किन्तु इस युग के छायावादी साहित्य में भाषा और भावों दोनों का उचित परिष्कार हुआ। आचार्य शुक्ल छायावादी शैली की विशेषता बताते हुए लिखते हैं—"चित्रभाषा शैली या प्रतीक पद्धति के अन्तर्गत जिस प्रकार वाचक पदों के स्थान पर लक्षक पदों का व्यवहार आता है उसी प्रकार प्रस्तुत प्रसंग के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाले अप्रस्तुत चित्रों का विधान भी। अतः अन्योक्ति पद्धति का अवलम्बन भी छायावाद का एक विशेष लक्षण हुआ । .... छायावाद बड़ी

सहृदयता के साथ प्रभाव साम्य पर ही विशेष लक्ष्य रखकर चला है । कहीं-कहीं तो बाहरी सादृश्य या साधर्म्य अत्यन्त अल्प या न रहने पर भी आभ्यंतर प्रभावसाम्य लेकर ही अप्रस्तुतों का सन्निवेश कर दिया जाता है । ऐसे अप्रस्तुत अधिकतर उपलक्षण के रूप में या प्रतीकवत् (Symbolic) होते हैं जैसे सुख, आनंद, प्रफुल्लता, यौवनकाल इत्यादि के स्थान पर उनके द्योतक उषा, प्रभात, मधुकाल, प्रिया के स्थान पर मुकुल प्रेमी के स्थान पर मधुप, श्वेत या शुभ्र के स्थान पर कुंद, रजत, माधुर्य के स्थान पर मधु दीप्तिमान् या कांतिमान् के स्थान पर स्वर्ण; विषाद या अवसाद के स्थान पर अंधकार, अँधेरी रात, संध्या की छाया, पतझड़, मानसिक आकुलता या क्षोभ के स्थान पर झंझा, तूफान, भावतरंग के लिए झंकार; भावप्रवाह के लिए संगीत या मुरली का स्वर इत्यादि । आभ्यन्तर प्रभाव साम्य के आधार पर लाक्षणिक और व्यंजनात्मक पद्धति का प्रगल्भ और प्रचुर विकास छायावाद की काव्य शैली की असली विशेषता है ।".

इसके अतिरिक्त प्रगतिवाद के रूप में हम अपनी हिन्दी कविता का विकास एक दूसरी ही दिशा में देखते हैं । अब तक साहित्य राजनीति से प्रायः पृथक् रहता था परन्तु रूस में साहित्य को संघर्ष के प्रमुख अस्त्र के रूप में प्रयोग किया गया । तभी से साहित्य में राजनीति के तत्त्व आने लगे। यह कोई अशुभ बात नहीं हुई। जब जीवन और साहित्य का घनिष्ठतम सम्बन्ध है फिर राजनीति तो उससे पृथक् है ही नहीं। प्रगतिवाद एक भौतिक वादी दर्शन है जिसमें आध्यात्मिकता के लिए कोई स्थान नहीं है। साहित्य में राजनीति का प्रवेश माध्यमिक साहित्य में नहीं हुआ। इसलिए जहाँ छायावाद एक नवीन दिशा रही वहाँ प्रगतिवाद दूसरी नवीन दिशा। दीन, हीन, क्षुधित व्यक्तियों को कभी भी इससे पूर्व साहित्य में वर्ण्य विषय नहीं बनाया गया। वर्ग व्यवस्था के प्रति प्रथम बार इस साहित्य में हुँकार हुई और आर्थिक समानता के लिए प्रथमबार प्रगतिवाद के रूप में साहित्य ने अपना कंठ खोला। पंत जी ने स्पष्ट घोषणा की कि भौतिकता की अब अधिक उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह आध्यात्मिकता से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

"कहता भौतिकवाद वस्तु जग का कर तत्वान्वेषण ।
भौतिकभव ही एकमात्र मानव का अंतर्दर्पण ॥
स्थूल सत्य आधार, सूक्ष्म आधेय हमारा जो मन ।
बाह्य विवर्तन से होता युगपत् अन्तर परिवर्तन ॥

प्रगतिवाद में उन साधारण दीन-हीन मानव की व्यथाओं को वाणी दी गई जो माध्यमिक काल में उपेक्षित थी । पंतजी लिखते हैं :—

"यह तो मानव लोक नहीं रे यह है नरक अपरिचित ।
यह भारत का ग्राम सभ्यता संस्कृति से निर्वासित ॥
मानव दुर्गति की गाथा से ओतप्रोत मर्मांतक ।
सदियों के अत्याचारों की यह सूची रोमांचक ॥"

इसके अतिरिक्त आधुनिक काल की एक और बहुत बड़ी विशेषता है कि इस काल में प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण हुआ । पंतजी ने तो प्रकृति को संसार से भी अधिक महत्व दिया ।

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले ! तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?
भूल अभी से इस जग को ।
तज कर तरल तरंगों को, इन्द्र धनुष के रंगों को,
तेरे भ्रूभङ्गों से कैसे बिंधवा दूँ निज मृग सा मन ?
भूल अभी से इस जग को ।

काव्य में प्रकृति का मानवीकरण भी इस युग की बड़ी विशेषता है। प्रसादजी कामायनी में लिखते हैं :—

"सिंधु सेज पर धरा वधू अब तनिक संकुचित बैठी सी,
प्रलय निशा हलचल स्मृति में मान किए सी ऐंठी सी ।"

इसके अतिरिक्त आधुनिक काल में गद्य काव्य भी लिखे गए । राय कृष्णदास, वियोगी हरि तथा दिनेशनंदिनी चोरड्या इसके प्रसिद्ध लेखक हैं ।

गद्य साहित्य के रूप में तो साहित्य का बड़ा विस्तार हम इस युग में पाते हैं । माध्यमिक युग में गद्य साहित्य पहले तो मिलता ही नहीं, मिलता भी है तो घोर अविकसित अवस्था में । आज तो गद्य में उपन्यास, नाटक,

कहानी, निबंध, समालोचना, जीवनी, यात्रा वृत्तांत, शिकार साहित्य, एकाकी नाटक आदि अनेक साहित्यिक रूप मिलते हैं जो पूर्ण विकसित एवं उन्नतावस्था में हैं।

उपन्यास—उपन्यासों का आरम्भ भारतेन्दु युग से ही हुआ। आरम्भ में तिलिस्मी तथा अय्यारी के घटनाप्रधान उपन्यास लिखे गए, फिर विभिन्न भाषाओं से हिन्दी में अनूदित किए गए। इसके पश्चात् गार्हस्थिक उपन्यास लिखे गए। फिर अंग्रेज़ी साहित्य का प्रभाव पड़ने के कारण चरित्रचित्रण प्रधान तथा मनोवैज्ञानिक उपन्यास लिखे जाने लगे। ऐतिहासिक उपन्यासों का भी पर्याप्त महत्व है। अब मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का युग है। उपन्यास-साहित्य के प्रसिद्ध लेखक हैं—किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनन्दन खत्री, प्रेमचन्द, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, जयशंकर प्रसाद, भगवती चरण वर्मा, प्रताप नारायण श्रीवास्तव, यशपाल, राहुल सांकृत्यायन, रांगेयराघव, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, धर्मवीर भारती, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि। आज हमारा उपन्यास साहित्य भरापूरा है।

कहानी—कहानी भी आधुनिक काल की देन है। गिरिजा कुमार घोष उपनाम पार्वती नन्दन हिन्दी के आदि कहानीकार माने जाते हैं। कहानी का आरम्भ हिन्दी में अंग्रेज़ी की छोटी कहानियों Short Stories के आधार पर आरम्भ हुआ। सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक समस्याओं को कहानी का रूप दिया गया। समाज की कुरीतियाँ, सवर्ण लोगों के अत्याचार, विधवाओं की करुण गाथायें, समाज में स्त्रियों की दशा आदि कहानियों के द्वारा स्पष्ट की गईं। कहानी भी कुछ घटनाप्रधान कुछ चरित्रचित्रण प्रधान तथा कुछ मनोवैज्ञानिक लिखी गईं। आज हमारा कहानी साहित्य विश्व के किसी भी कहानी साहित्य से टक्कर ले सकता है। प्रायः ऊपर लिखे हुए सभी उपन्यास लेखक कहानी लेखक भी हैं। कुछ और कहानीकार, चन्द्रधरशर्मा गुलेरी, 'रावी जी', राजेन्द्र यादव आदि हैं।

नाटक—नाटक भी इसी युग में लिखे गए, विभिन्न भाषाओं से अनुवाद भी किए गए—विशेषरूपेण संस्कृत, बंगला और अंग्रेज़ी से—मौलिक

भी लिखे गए। सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा ऐतिहासिक सब प्रकार के नाटक आज मिल जायंगे। इसमें सन्देह नहीं कि अभिनेय नाटक हिन्दी में कम लिखे गए। मुख्य लेखक हैं :—

प्रसाद जी, माखनलाल चतुर्वेदी, गोविन्द वल्लभ पन्त, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, सेठ गोविन्द दास, उपेन्द्रनाथ अश्क, पं० उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, चतुरसेन शास्त्री, जी० पी० श्रीवास्तव, रामवृक्ष बेनीपुरी, रांगेय राघव, वृन्दावनलाल वर्मा। एकांकी नाटककारों में—रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, विष्णु प्रभाकर अश्क जी, भुवनेश्वर प्रसाद, जगदीश चन्द्र माथुर, 'रावी जी', सत्येन्द्र, शरत, सुदर्शन, यशपाल आदि। आज का नाटक साहित्य संतोषजनक है।

समालोचना—समालोचना का आरम्भ भी इसी युग की देन है। इसका वास्तविक आरम्भ महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय से हुआ। पं० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के सब से बडे आलोचक माने जाते हैं। आलोचना के ४ प्रकार हैं—१. सैद्धान्तिक, २. निर्णयात्मक ३. विश्लेषणात्मक, ४. प्रभावात्मक। आज के प्रसिद्ध आलोचक हैं :—

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दर दास, पद्मसिंह शर्मा, बाबू गुलाबराय एम० ए०, पं० रामदहिन मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, निराला, पन्त, नन्द दुलारे वाजपेयी, विश्वम्भर मानव, शिवप्रसाद पाण्डेय। प्रगतिवादी आलोचक—डा० रामविलास शर्मा, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवसिंह चौहान आदि।

कहने का सारांश यह है कि आज के हमारे साहित्य का क्षेत्र माध्यमिक साहित्य से अधिक स्वतन्त्र एवं सशक्त है। माध्यमिक काल में साहित्य एकांगी था, आज साहित्य की सर्वाङ्गीण उन्नति हो रही है।

प्रश्न २२—"छायावाद व्यथा का सवेरा है अतः उसके प्रभाती गीतों की सुनहली आभा पर आँसुओं की नमी है।" आधुनिक गीतिकाव्य की आलोचना करते हुए उपर्युक्त कथन की समीक्षा कीजिये।

उत्तर २२—साहित्य पर समय का प्रभाव पड़ता है और वह परिस्थितियों से प्रभावित होता है। छायावाद की पार्श्वभूमि असफलताओं से

भरी है—राजनैतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक रूप में। देश की पराधीनता से पीड़ित होकर किया गया विद्रोह असफल हो गया। क्रान्तिकारी विदेशों को भाग गए, कुछ संन्यासी हो गए (अरविन्द घोष)। देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक एक निराशा की भावना फैली हुई थी। अंग्रेजों और अंग्रेजी के साथ लोगों के हृदय में स्वच्छन्दता की भावना भर गई थी किन्तु अपनी इस महत्वाकांक्षा को कार्यान्वित करने में वे राजनैतिक रूप से असमर्थ थे। समाज की रूढ़ियाँ भी इस काल के कवियों को शृंखला के समान प्रतीत होती थीं, जिन्हे वे तोड़ फेंकना चाहते थे। साहित्यिक रूप में द्विवेदी जी ने उनकी भावना को इतिवृत्तात्मकता के कठघरे में बन्द कर रखा था। वह राजनैतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक क्रान्ति का युग था। जिसमें सब स्थानों पर पराजय ही हाथ लगी। अतः कवि की निराशा अन्तर्मुखी हो गई। छायावाद इसी निराशा का प्रसव था, दुःख जिसके मूल में ही था। पं० कृष्णशंकर शुक्ल इस विषय में लिखते हैं—"पश्चिम के स्वच्छन्द सामाजिक विचारों की भावनाओं से लोग प्रभावित हो चुके हैं पर अपनी समाज की रूढ़ियों में बंधे रहने के कारण क्रियात्मक रूप में आगे बढ़ने में असमर्थ हैं। उनके स्वच्छन्द विचारों का समाज के संकुचित परम्परागत बंधनों से सामंजस्य नहीं बैठता। आर्थिक परिस्थितियाँ भी सुख से जीवन निर्वाह करने योग्य नहीं। समाज की रूढ़ियों से मुक्त करने के लिए तथा देश की राजनैतिक उन्नति के लिए प्रयत्न किए जा रहे हैं पर उनमें अभी तक कुछ विशेष सफलता नहीं मिली है। इन सब परिस्थितियों ने लोगों के हृदयों में निराशा उत्पन्न कर दी है। इस निराशा का फल हमारे साहित्य में भी दृष्टिगोचर होने लगा है। आधुनिक कवियों की रचनाओं में प्राप्त होने वाले दुःखवाद, कसक, वेदना, निराशा आदि के बहुत कुछ ये ही कारण हैं।" वास्तव में छायावाद का युग अभावों का युग था और छायावाद उनकी ही साहित्याभिव्यक्ति है।

काव्य में शृङ्गार रस सदैव प्रमुख रहा है और शृङ्गार के दो पक्षों—संयोग तथा वियोग में से कवियों का मन वियोग पक्ष में ही अधिक लगता है। प्रेम का आलम्बन जब लौकिक होता है तो विरह की समाप्ति की आशा की जाती है परन्तु जब आलम्बन अलौकिक होता है तो कवि यावज्जीवन आँसुओं

से अपने काव्य को लिखता रहता है। अज्ञात के प्रति यह पीर जायसी के हृदय में भी थी और नागमती के रूप में जायसी का रुदन हिन्दी संसार मे प्रसिद्ध है।

संयोगवश जितने भी प्रमुख छायावादी कवि हैं उनके जीवन में व्यथा के व्यक्तिगत कारण रहे हैं किन्तु उन्होंने अपनी व्यथा को किसी अज्ञात के प्रति समर्पित कर दिया है। यद्यपि इस अज्ञात पर आचार्य शुक्ल विश्वास नहीं करते। वे इसे "अज्ञात के प्रति अनर्गल प्रलाप" ही मानते हैं। उनका कथन है कि अरूप के प्रति जिज्ञासा तो सम्भव है पर प्रणय वेदना सभव नहीं है। प्रमुख छायावादी कवि हैं—महादेवी, प्रसाद, निराला, पन्त। इनमें से प्रत्येक के जीवन में व्यथा के अपने भौतिक कारण भी हैं। महादेवी जी परित्यक्ता हैं, प्रसाद की तीन शादियाँ हुईं फिर भी वे किसी को प्रेम करते थे, निराला तो संघर्ष एवं दुःख की साक्षात प्रतिमा है, पंत का प्रणय उनकी कविता उच्छ्वास, बालिका आदि से ही स्पष्ट है। अतः यह स्पष्ट हो गया कि इन छायावादी कवियों की कविता मे करुणा का जो अखंड स्वर है उसमें उनका व्यक्तिगत जीवन भी सहयोग देता है। सारांश यह कि लौकिक एवं पारलौकिक दोनों दृष्टियों से छायावाद आंसुओं का ही काव्य है। राय कृष्णदास ने महादेवी की नीरजा की भूमिका में जो लिखा था वह आज भी सत्य है—"कवि की आत्मा मानो इस विश्व में बिछुड़ी हुई प्रेयसी की भाँति अपने प्रियतम का स्मरण करती है। उसकी दृष्टि से विश्व की सम्पूर्ण प्राकृतिक शोभा-सुषमा एक अनन्त अलौकिक चिर सुन्दर की छायामात्र है। इस प्रतिबिम्ब जगत को देखकर कवि का हृदय उसके सलौने बिम्ब के लिए ललक उठा है। ··उसी का स्मरण चिन्तन एवं उसके तादात्म्य होने की उत्कंठा महादेवी जी की कविताओं के उपादान हैं। इस स्थिति में विरह है, वेदना है। कवि की वाणी करुणा के कणों से गीली है।" एक संयोग की बात है कि प्रमुख छायावादी कवियों में से सभी ने वेदान्त का तथा दर्शनों का गम्भीर अध्ययन किया अतः आध्यात्मिकता का रूप इन सभी कवियों की रचना में स्पष्ट है। महादेवी जी नें इसे बिलकुल स्पष्ट कर दिया है। "आज गीत मे हम जिसे रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं वह इन सबकी विशे-

वताओं से युक्त रहने पर भी उन सबसे भिन्न है। उसने पराविद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सब को कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य सूत्र में बाँधकर एक निराले स्नेह सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्बन दे सका, उसे पार्थिव प्रेम के ऊपर उठा सका, मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।"

दार्शनिक दृष्टि से जीवात्मा परमात्मा का ही अंश है जो एक बार पृथक् हो जाने पर फिर मिलने की सतत चेष्टा में रत रहता है। इसी चेष्टा को कवियों ने विरह के रूपकों में स्पष्ट किया है और उस अज्ञात से कबीर की भांति "राम-मोर पीउ हौं रामकी बहुरिया" का सम्बन्ध स्थापित किया है। छायावादी कविता के प्रेम का यही दार्शनिक रहस्य है। भावमयी भाषा में आंसुओं से सिक्त कर इसी को छायावादी कवियों ने व्यक्त कर एक महान अश्रु काव्य की ही रचना कर डाली। छायावादी काव्य को समझने के लिए यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि कवि साधक है जो अपने को उस अज्ञात की प्रेयसी या प्रेमी समझता है और उसके अभाव में आँसू बहाया करता है। इस बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए हम प्रसिद्ध छायावादी कवियों की रचनाओं से कुछ उद्धरण भी देंगे :—

महादेवी—ये छायावाद की प्रमुखतम कवयित्री मानी जाती हैं। अपना परिचय देते हुए महादेवी ने जो पंक्तियाँ लिखी हैं वे इनके व्यक्तित्व और काव्य-विषय दोनों को स्पष्ट कर देती हैं—

"मैं नीरभरी दुख की बदली
विस्तृत नभ का कोना कोना, कोई न कभी अपना होना
परिचय इतना, इतिहास यही उमड़ी कल की मिट आज चली।"

उनका जीवन तो 'विरह का ही जलजात' है जहाँ आँसुओं का अखंड साम्राज्य है—

"विरह का जलजात जीवन विरह
वेदना में जन्म, करुणा में मिला आवास

अश्रु चुनता दिवस इसके अश्रु गिनती रात
जीवन विरह जलजात।"

छायावादी कवियों में अकेली महादेवी वर्मा ही ऐसी हैं जिनकी साधना की डगर में उनकी प्रगति के पग चिह्न स्पष्ट हैं। महादेवी के विरह तथा उस अज्ञात से मिलने की वेदना का क्रमिक विकास हम उनमें पाते हैं। महादेवी की साधना में तीन बातें स्पष्ट हैं। १. उस अज्ञात के प्रति विरह व्याकुलता। २. संसार में उसी की सत्ता के दर्शन। ३. उससे नैकट्य। महादेवी जी का कथन है कि "तुम को पीड़ा में ढूंढा तुम में ढूंढूंगी पीड़ा" तथा "प्रिय से कम मादक पीर नहीं।" महादेवी जी साधना के इस संबल पीड़ा को भी बहुत प्यार करती हैं जो आँसुओं की जननी है। अकेले में वे अपने प्राणों को जला कर उसी से उस अज्ञात के स्नेह मंदिर को प्रकाशित रखती हैं।

"अपने इस सूनेपन की मैं हूं रानी मतवाली
प्राणों का दीप जलाकर करती रहती दीवाली।"

पीड़ा और निराशा के संसार में ही महादेवी की साधना जगती है—सोती है। "विश्व होगा पीड़ा का राज निराशा जब होगी वरदान
साथ लेकर मुर्झाई साध बिखर जायेंगे प्यासे प्राण।"

बात यह है कि उस अज्ञात का तो लोक ही ऐसा है :—

"ऐसा तेरा लोक वेदना नहीं नहीं जिस में अवसाद।
जलना जाना नहीं नहीं जाना जिसने मिटने का स्वाद।"

पीड़ा को वे वरदान के रूप में ग्रहण करती हैं—

"चिर ध्येय यही जलने का ठंडी विभूति बन जाना।
है पीड़ा की सीमा यह दुःख का चिर सुख हो जाना।"

किन्तु उन्हें रोना और पीड़ा इतनी प्रिय है कि अज्ञात से निवेदन करती हैं कि तुम मुझसे मिलना मत, नहीं तो मेरे विरह का संसार ही अपनी सम्पूर्ण पीड़ा सहित समाप्त हो जाएगा।

"द्रुत पंखों वाले नभ को तुम अंत हीन नभ होना।
युग उड़ जाए उड़ते ही परिचित हो एक न कोना॥

तुम अमर प्रतीक्षा हो मैं पग विरह पथिक का धीमा।
आते जाते मिट जाऊँ पाऊँ न पंथ की सीमा॥
तुम हो प्रभात की चितवन मैं विधुर निशा बन जाऊँ।
काटूँ वियोग पल रोते संयोग समय छिप जाऊँ॥"

उस अज्ञात से अपना सम्बन्ध बताती हुई कहती हैं :—

"जन्म ही जिसको हुआ वियोग।
तुम्हारा ही तो हूँ उच्छ्वास॥
चुरा लाया जो विश्व समीर।
वही पीड़ा की पहली साँस॥"

वे चिन्तित हैं कि आखिर 'उस' से मेल कैसे हो :—

"अलि कैसे उनको पाऊँ
वे आँसू बन कर मेरे इस कारण ढुल-ढुल जाते।
इन पलकों के बन्धन में मैं बाँध-बाँध पछताऊँ॥"

प्रियतम के विरह में महादेवी मधुमास ही बन गई हैं :—

"मैं बनी मधुमास आली
आज मधुर विषाद की घिर करुण आई यामिनी।
बरस सुधि के इन्दु से छिटकी प्रलय की चाँदनी।
उमड़ आई री दृगों में सजनि कालिन्दी निराली॥"

आँसुओं से गीली कुछ पंक्तियाँ देखिए :—

"घुल गई इन आँसुओं में देव जाने कौन हाला।
झूमता है विश्व पी-पी घूमती नक्षत्र माला॥"

× × × × × ×

"मेरी है पहेली बात
रात की झीने सितांचल से बिखर मोती बने जल।
स्वप्न पलकों में विचर मर प्रात होते अश्रु केवल
सजनि मैं उतनी करुण हूँ करुण जितनी रात।"

और भी :—"आज मेरे नयन के तारक हुए जलजात देखो।
अलस नभ के पलक गीले, कुन्तलों से पोंछ आई।
सघन बादल भी प्रलय के श्वास में मैं बांध लाई।"

प्रसाद :—प्रसाद का आंसू काव्य तो मानो अश्रु की ही काव्य-निर्झरिणी है उसमें प्रियतम का जो एक बार वियोग हुआ तो फिर कवि को जीवन भर रोना पड़ा 'आँसू' काव्य लिखा गया। उस अज्ञात के प्रथम दर्शन जब हुए :—

"मधु राका मुस्काती थी पहले देखा जब तुम को।
परिचित से जाने कबके तुम लगे उसी क्षण हम को।"

फिर तो वियोग हो जाने पर विरह के स्फुलिंग निकलने लगे और कवि का जीवन रुदन का एक संसार ही हो गया :—

यह स्फुलिंग हैं मेरे उस ज्वालामयी जलन के।
कुछ शेष चिह्न हैं अब भी मेरे उस महा मिलन के।"

विरह की वही पीड़ा जो न जाने कवि के मस्तक में कब से संचित हो रही थी 'आँसू' काव्य के रूप में बरस पड़ी :—

"जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छाई।
दुर्दिन में आँसू बन कर वह आज बरसने आई॥"

कवि ने उसे प्राप्त करने के न जाने कितने प्रयत्न किए परन्तु वे सिंधु-वीचियों की चन्द्रप्राप्ति—चेष्टा की भांति निष्फल रहे :—

"देखा बौने जलनिधि का शशि छूने को ललचाना।
उठ-उठ कर गिर-गिर जाना फिर हाहाकार मचाना॥"

यह हाहाकार कवि के हृदय का ही है। कवि रो-रो कर अपनी कहानी सुनाने लगा, पर सुने कौन ?

"रो-रो कर सिसक-सिसक कर कहता मैं करुण कहानी।
वे सुमन नोचते सुनते करते जानी अनजानी॥"

निरन्तर विरह ज्वाला ने हृदय मे फफोले उठा दिये हैं। प्रिय की स्मृति के घर्षण से वे फूट उठते हैं और आँसू के रूप में बरस पड़ते हैं।

"छिल-छिल कर छाले फोड़े मल-मल कर मृदुल चरण से।
घुल-घुल कर वह रह जाते आँसू करुणा के कण से॥"

लाक्षणिक शैली द्वारा प्रसाद अपने हृदय की व्यथा और करुणा को प्रकट करते हैं :—

"झंझा झकोर गर्जन था बिजली थी नीरदमाला।
पाकर इस शून्य हृदय को आ सबने डेरा डाला॥"

प्रसाद के ये आँसू और करुणा कामायनी में भी उनके साथ है। श्रद्धा का विरह वर्णन प्रसाद का अपना स्वर है :—

"मैं विरह की बात रे मन
जहाँ मरु ज्वाला धधकती चातकी कन को तरसत।
उन्हीं जीवन घाटियों की मैं सरस बरसात रे मन॥"

प्रसाद जी के जीवन में करुणा का स्वर सर्वत्र मुख्य है। वे स्वयं कहते हैं :—"सुन कर तुम क्या भला करोगे मेरी भोली आत्म-कथा।

अभी समय भी नहीं थकी सोई है मेरी आत्म-कथा॥"

करुणा का स्वर प्रसाद में विशेष तीव्र है। उसका कारण उनपर बौद्ध दर्शन का प्रभाव भी है। करुणा की यह शृंखला उनके नाटकों, उपन्यासों और काव्यों को एक सूत्र में गूँथे हुए है।

निराला के जीवन-इतिहास पर संघर्ष के चिह्न सबसे अधिक स्पष्ट हैं। उन जैसा महान कवि हिन्दी में नहीं। उन जैसा उपेक्षित कवि किसी देश और साहित्य में नहीं होगा। यद्यपि निराला के पुष्ट शरीर और प्रकट पौरुष ने उनको कठोर कवि के रूप में प्रसिद्ध किया है फिर भी करुणा की अंत:सलिला उनके काव्य में सर्वत्र प्रवाहित है। कवि स्वाभिमान के कारण रोने में संकोच करता है। विश्व का व्यंग वह सहने में असमर्थ है फिर भी कभी-कभी उसके अंतर की कराह उसके हृदय का भेद खोल देती है। वह गा उठता है :—

"एक दिन थम जायगा रोदन तुम्हारे प्रेम अंचल में।"

पंत :—पंत का जीवन जितना कोमल है उतना ही करुण भी। वर्ड्सवर्थ की भाँति "Our sweetest songs are those that tell us sadest though" को ही अपने शब्दों में लिखते हैं :—

"वियोगी होगा पहिला कवि, आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान॥

आँसुओं की धारा को ही पंत जी कविता कहते हैं। अपनी 'आँसू' कविता में पंत जी आँसुओं के लिए लिखते हैं :—

विरह है अथवा यह वरदान !
कल्पना में है कसकती वेदना, अश्रु में जीता सिसकता गान है।
शून्य आहों में सुरीले छंद हैं, मधुर लय का क्या कहीं अवसान है ॥

× × ×　　　× × ×　　　× × ×

हाय किसके उर में उतारूँ अपने उर का भार।
किसे अब दूँ उपहार, गूँथ यह अश्रु कणों का हार ॥
मेरा पावस ऋतु-सा जीवन, मानस-सा उमड़ा अपार मन।
गहरे धुँधले धुले साँवले, मेघों से मेरे भरे नयन ॥
कभी उर में अगणित मृदुभाव, कूजते हैं विहगों से हाय !
अरुण कलियों से कोमल घाव, कभी खुल पड़ते हैं असहाय ॥

इस कविता में पंत की करुणा का स्वर कितना तीखा और मार्मिक है यह स्पष्ट है। अपनी प्रियतमा के वियोग में वे लिखते हैं :—

विधुर उर के मृदु भावों से, तुम्हारा कर नित नव शृंगार,
पूजता हूँ मैं तुम्हें कुमारि ! मूँद दुहरे दृग द्वार !
अचल पलकों में मूर्ति सँवार, पान करता हूँ रूप अपार,
पिघल पड़ते हैं प्राण, उबल चलती है दृग जल-धार।
याजकों-सा ही तो मैं हाय ! याद कर रोता हूं अनजान,
न जाने होकर भी असहाय, पुनः किससे करता हूँ मान !

पंत जी का विश्वास है कि मिलन तो दो-चार पल का है विरह अपार है :—"शून्य स्वासों का विधुर वियोग, छुड़ाता अधर मधुर संयोग।
मिलन के पल केवल दो चार, विरह के कल्प अपार ॥
अरे वे अपलक चार नयन; आठ आँसू रोते निरुपाय ॥
उठे रोओं के आलिङ्गन कसक उठते काँटों से हाय ॥

छायावादी काव्य की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसमें गृहीत उपमान भी करुणा के प्रतीक होते हैं।

अतः इस कथन में सत्यता है कि छायावाद व्यथा का सवेरा है अतः उसके प्रभाती गीतों की सुनहली आभा पर आँसुओं की नमी है।

प्रश्न २३—छायावाद और रहस्यवाद का इतिहास संक्षेप में लिखिए तथा उसके भविष्य के सम्बन्ध में अपनी सम्मति दीजिये।

उत्तर २३—छायावादी कविता का आरम्भ द्विवेदी काल की प्रतिक्रिया स्वरूप माना जाता है। द्विवेदीजी की कटु आलोचना के भय से श्रृङ्गारिक कविताओं का लिखा जाना ही एकदम बंद हो गया था। श्रृङ्गार सम्बन्धी मनुष्य की प्रवृत्ति अनादि है और स्वाभाविक है अतः उसका किसी न किसी रूप में प्रकट होना अनिवार्य था। समाज को चुनौती देने योग्य साहस छायावादी कवियों में नहीं था अतः उन्होंने श्रृङ्गारी भावनाओं की वायवी अभिव्यक्ति की।

छायावाद की परिभाषा और उसके आरम्भ होने के विषय में बड़ा विवाद है। कुछ लोग विचित्र छंदों में चित्रित इन मानवीय भावनाओं को अंग्रेज़ी की लिखी कविताओं के प्रभाव का परिणाम मानने लगे। कुछ लोगों ने बंगला के आध्यात्मिक काव्य की नक़ल इसे कहा। अस्पष्टता के अर्थ मे भी इस शब्द का खूब प्रचार हुआ। जब कोई भाव स्पष्ट नहीं होता था तो अभिधार्थ से दूर उस कविता को लोग छायावादी कविता कहते थे। इस विषय में शुक्लजी का मत है—"छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में जहाँ उसका सम्बन्ध काव्य वस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनंत और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यंत चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। × × × छायावाद का दूसरा प्रयोग काव्य शैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में है। सन् १८८५ में फ्रांस में रहस्यवादी कवियों का एक दल खड़ा हुआ जो प्रतीकवादी (Symbolists) कहलाया। वे अपनी रचनाओं में प्रस्तुतों के स्थान में अधिकतर अप्रस्तुत प्रतीकों को लेकर चलते थे। इसी से उनकी शैली की ओर लक्ष्य करके 'प्रतीकवाद' शब्द का व्यवहार होने लगा। आध्यात्मिक या ईश्वर प्रेम सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त और सब प्रकार की कविताओं के लिए भी प्रतीक शैली की ओर वहाँ प्रवृत्ति रही। हिन्दी में छायावाद शब्द का जो व्यापक अर्थ में—रहस्यवादी रचनाओं के अतिरिक्त और प्रकार की रचनाओं के सम्बन्ध में भी ग्रहण हुआ वह इसी प्रतीकशैली

के अर्थ में । छायावाद का सामान्यतः अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन।" छायावाद को अपने शैशव काल में शुक्लजी जैसे समर्थ समालोचक का विरोध सहना पड़ा। वे इसे निराली एवं झूठी अनुभूतियों के अंदर लेते थे और इसे अज्ञात प्रेयसी के प्रति अनर्गल प्रलाप बताते थे। वे लिखते हैं :—

"रहस्य भावना और अभिव्यंजन पद्धति पर ही प्रधान लक्ष्य हो जाने और काव्य को केवल कल्पना की सृष्टि कहने का चलन हो जाने से भावानुभूति तक कल्पित होने लगी। जिस प्रकार की रमणीय वस्तुओं की कल्पना की जाती है उसी प्रकार अनेक प्रकार की विचित्र अनुभूतियों की कल्पना भी बहुत कुछ होने लगी।"

यों शुक्लजी छायावादी शैली की लाक्षणिकता बहुत पसंद करते हैं—

"अभिव्यंजना की पद्धति या काव्य शैली पर ही प्रधान लक्ष्य रहने से छायावाद के भीतर उसका बहुत ही रमणीय विकास हुआ है।"

लेकिन शुक्लजी के पश्चात् छायावाद के कुछ समर्थ समालोचक आगे आए। हजारीप्रसाद द्विवेदी, शांतिप्रिय द्विवेदी, नंददुलारे वाजपेयी तथा डा० नगेन्द्र इनमें प्रमुख हैं। डा० नगेन्द्र छायावाद की परिभाषा देते हुए लिखते हैं:—

"युग की उद्बुद्ध चेतना ने बाह्याभिव्यक्ति से निराश होकर जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की वह काव्य में छायावाद के नाम से अभिव्यक्त हुई।" छायावाद के आरम्भ का कारण देते हुए वे लिखते हैं :—

"जिन परिस्थितियों ने हमारी कर्म वृत्तियों को अहिंसा की ओर प्रेरित किया उन्हीं ने भाववृत्ति को छायावाद की ओर।"

कठोरता से पलायन तो छायावाद के मूल में है ही। छायावाद का दृष्टिकोण शृङ्गारिक है किन्तु "छायावाद में शृङ्गार के प्रति उपभोग का भाव न मिलकर विस्मय का भाव मिलता है अतः अभिव्यक्ति भी मांसल न होकर मनोमय है।" वास्तव में "छायावादी कवि प्रेम को शरीर की भूख न समझकर एक रहस्यमयी चेतना समझता है। उसका रूपाकर्षण नैतिक आतंक से कौतूहल में परिणत हो गया है।" प्रकृति में मानवीकरण की विशेषता छायावाद की सबसे बड़ी विशेषता है। व्यक्तिप्रधान होने के कारण

छायावादी साहित्य गीतात्मक है। इसके अतिरिक्त छायावादी काव्य में प्रकृति के नाना रूपों के सौंदर्य की भावना सदैव स्त्री-सौंदर्य का आरोप करके की जाती है। उपमान भी प्रायः कोमल होते हैं। छायावाद के पास ठोस जीवन-दर्शन का सदा अभाव रहा अतः वह सदा ही वायवी तथा अतीन्द्रिय रहा। छायावाद अधिक क्यों नहीं चला इसका कारण देते हुए पंतजी लिखते हैं:—"छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाशन, नवीन भावना का सौंदर्य-बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर अलंकृत संगीत बन गया था। द्विवेदी युग के काव्य की तुलना में छायावाद इसलिए आधुनिक था कि उसके सौंदर्य बोध और कल्पना में पाश्चात्य साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ गया था और उसका भावशरीर द्विवेदी युग के काव्य की परम्परागत सामाजिकता से पृथक हो गया था। किन्तु वह नए युग की सामाजिकता और विचारधारा का समावेश नहीं कर सका था। उसमें व्यावसायिक क्रान्ति और विकासवाद के वाद का भावनावैभव तो था पर महायुद्ध के बाद की 'अन्नवस्त्र की धारणा' नहीं आई थी। उसके 'हासअश्रु, आशाऽकांक्षा' खाद्य, मधु, पानी नहीं बने थे। इसलिए एक ओर वह निगूढ़ रहस्यात्मक, भावप्रधान (सब्जेक्टिव) और वैयक्तिक हो गया दूसरी ओर केवल टेकनिक और आवरणमात्र रह गया।"

छायावाद के पास "दिशाहीन शून्य आकाश में अति काल्पनिक उड़ान भरने वाली अथवा निर्जन अदृश्य शिखर पर कालहीन विराम करने वाली कल्पना तो थी पर एक हरी-भरी ठोस जनपूर्ण धरती नहीं थी।"

हिन्दी काव्य में छायावाद का आरम्भ प्रसादजी के 'आँसू' से होता है। आँसू अपने काल की सर्वाधिक लोकप्रिय रचना है। तत्पश्चात् पंतजी के पल्लव ने धूम मचा दी। पल्लव की भूमिका का ऐतिहासिक महत्त्व है। पंतजी का प्रकृतिप्रेम प्रसिद्ध है जो हिन्दी में सर्व महान छायावादी देन है। पंत का छायावादी कवियों में प्रमुख स्थान है।

निराला की गीतिका ने छायावादी काव्यको और भी बल दिया। फिर तो छायावाद की महान कृतियाँ प्रकाश में आई। प्रसाद की कामायनी, पंत का गुंजन, निराला का परिमल, महादेवी की नीहार, रश्मि, नीरजा आदि।

इस प्रकार छायावादी काव्यधारा में तीव्रता तो आई पर वह गहरी न हो सकी। कारण, उसमें किसी निश्चित जीवन-दर्शन का अभाव था।

रहस्यवाद :—भारतीय दर्शन में ईश्वर को बुद्धि से ढूंढने का प्रयास है अतः उसमें कहीं भी रहस्य की भावना नहीं है। भक्त हृदय के द्वारा भगवान् को ढूंढता है किन्तु सगुण रूप में अतः उसमें भी रहस्यात्मकता की कोई संभावना नहीं। मनोवैज्ञानिक रूप से रहस्यात्मकता का आरम्भ तब हुआ जब निराकार ईश्वर को हृदय से ढूंढने का प्रयत्न किया गया।

यों तो रहस्यवाद का आरम्भ लोग वेदों के समय से मानते हैं परन्तु हिन्दी काव्य में उसका आरम्भ कबीर से माना जाता है। कबीर ने निराकार के प्रति प्रेम-पीड़ा का अनुभव किया था। कबीर का ईश्वर निराकार था किन्तु फिर भी कबीर उसके विरह में व्यग्र थे :—

"विरहिन अभी पंथ सिर पूछे पंथी धाइ।
एक सबद कहि पीउ को कबौ मिलेंगे आइ॥"

कबीर उस 'पुहुप बास ते पातरे' ईश्वर को अपने नेत्रों में बंद करके रखना चाहते थे :—

"नयनन की करि कोठरी पुतली पलंग बिछाइ।
पलकन की चिक डारि के पिउ को लेउँ रिझाइ॥"

उन्होंने तो उस अरूप का स्पर्श भी किया था, उसके साथ प्रेमालाप भी—

"दुलहिनि गावहु मंगलाचार।
तन रति करि मैं मन रति करिहौं पंच तत्त बाराती।
रामदेव मोरे पाहुने आए हौं जोबन में माती॥"

इसके पश्चात् जायसी मिलते हैं जिन्होंने अपने उर की पीर उस निराकार के प्रति व्यक्त की। परन्तु आज का रहस्यवाद आकार में इससे कुछ भिन्न है। कुछ विद्वानों का कथन है कि प्रकृति में मानवीकरण छायावाद है और सर्वत्र उसी ईश्वर की छाया देखना रहस्यवाद है। डा० रामकुमार वर्मा रहस्यवाद की परिभाषा देते हुए लिखते हैं—

"रहस्यवाद जीवात्मा की उस अंतर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना

चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अंतर नहीं रह जाता।" वास्तव में अज्ञात के प्रति प्रणय अनुभूति रहस्यवाद की पहली आवश्यकता है। शुक्ल जी इसका विरोध करते हैं। उनका विश्वास है कि अज्ञात के प्रति कौतूहल तो हो सकता है पर प्रणय-पीड़ा नहीं। वे लिखते हैं—

"किसी अगोचर और अज्ञात के प्रेम में आँसुओं की आकाश गंगा में तैरने, हृदय की नसों का सितार बजाने, नियम असीम के संग नग्न प्रलय-सा ताण्डव करने...या मुँदे नयन पलकों के भीतर छिपे रहस्य का सुखमय चित्र देखने को कविता कहना कहाँ तक ठीक है? जो कोई यह कहे कि अज्ञात और अव्यक्त की अनुभूति से हम मतवाले हो रहे हैं उसे काव्य क्षेत्र से निकल मतवालों (साम्प्रदायिकों) के बीच अपना हाव-भाव और नृत्य दिखलाना चाहिए।"

शुक्ल जी के मत से प्रेम का आलम्बन कोई व्यक्त प्राणी ही होना चाहिए। परन्तु उस अज्ञात ईश्वर के प्रति जिज्ञासा का भाव तो वेद और स्मृतियां भी प्रकट करती हैं—"कस्मै देवाय हविषा विधेम।" प्रसाद में वह जिज्ञासात्मक रहस्यवाद अपने प्रकृत रूप में है।

हे अनन्त रमणीय कौन तुम यह मैं कैसे कह सकता।
कैसे हो क्या हो इसका तो भार विचार न सह सकता॥

किन्तु इतना ही नहीं उस अनन्त रमणीय से कवि मिलने उस पार जाना चाहता है, जहां कोलाहल नहीं, शान्ति होगी।

"ले चल वहाँ भुलावा देकर।
मेरे नाविक! धीरे-धीरे!
जिस निर्जन में सागर लहरी
अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।"

आज के प्रसिद्ध छायावादी कवि ही आज के रहस्यवादी कवि हैं। कारण, इनमें से सबने भारतीय सर्वात्मवाद का अध्ययन किया है और उसी का प्रभाव इनकी रचनाओं पर भी पड़ा है। पन्त को भी देखिए कोई मौन निमन्त्रण देता है—

"स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु सा नादान
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान

न जाने नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझ को मौन
× × ×
न जाने तपक तड़ित में कौन
मुझे इंगित करता तब मौन।
× × ×
उठा तब लहरों से कर कौन
न जाने मुझे बुलाता मौन।"

महादेवी भी उसी अज्ञात की प्रतिच्छाया इस सारे विश्व में देखती हैं—

"शून्य नभ में उमड़ जब दुख भार सी
नैश तम में सघन छा आती घटा।
बिखर जाती जुगनुओं की पांति भी
जब सुनहले आंसुओं के हार सी॥

तब चमक जो लोचनों को मूँदता, तड़ित की मुस्कान में वह कौन है।"

कभी-कभी अपने हृदय में किसी का अनुमान कर पूछ बैठती हैं :—

"एक करुण अभाव में चिर तृप्ति का संसार संचित।
एक लघु क्षण दे रहा निर्वाण के वरदान शत शत।
पा लिया मैंने किसे इस वेदना के मधुर क्रय में।
कौन तुम मेरे हृदय में।"

और कभी-कभी तो महादेवी के प्राण इस अज्ञात में लय होने के लिए व्याकुल हो उठते हैं :—

"फिर विकल हैं प्राण मेरे
तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी

देख लूँ उस पार क्या है ?
जा रहे जिस पन्थ से युग—
कल्प उसका सार क्या है ?
क्यों मुझे प्राचीर बनकर
आज मेरे श्वास घेरें ।"

लेकिन सच्ची आकुलता ही आत्मा-परमात्मा को मिला सकती है। महादेवी की ये पक्तियां कितनी मार्मिक हैं—

"आकुलता ही आज, हो गई तन्मय राधा
विरह बना आराध्य द्वैत क्या कैसी बाधा
खोना पाना हुआ जीत वे हारे ही हैं।"

महाकवि निराला भी अब इस संसार में रहना नहीं चाहते .—

"हमें जाना है जग के पार
जहाँ नयनों से नयन खिले
ज्योति के रूप सहस्र खिले
सदा ही बहती नवरस धार
वहीं जाना इस जग के पार।"

निराला जी तो अपने इस अस्तित्व-रोदन को उसमें मिला कर एक दिन समाप्त ही कर देना चाहते हैं :—

"एक दिन थम जायगा, रोदन तुम्हारे प्रेम अंचल में ।"

आज के संघर्ष प्रधान युग में जो आर्थिक भूमि पर टिका हुआ है रहस्यवाद का आध्यात्मिक पौधा नहीं जमाया जा सकता । वह उपयुक्त भोजन के अभाव में मुरझा जाएगा। आज का युग प्रगतिवाद का युग है जिसका आधार मार्क्स का वैज्ञानिक साम्यवाद है और जो अध्यात्म की सत्ता ही नहीं मानता । युग आज संघर्षमय जीवन में प्रगतिवाद की ओर ही जा रहा है। भूख में गोपाल का भजन हो सकेगा इसकी कम ही सम्भावना है इसी लिए रहस्यवाद का भविष्य भी उज्ज्वल नहीं है।

"सत्यं शिवं सुन्दरम्"

मनुष्य अनन्त होता हुआ भी शान्त है, पूर्ण होता हुआ भी अपूर्ण है। पूर्णता और अपूर्णता की स्थिति एक साथ नहीं रह सकती। इसी अपूर्णता के कारण मनुष्य उद्विग्न है, अशान्त है और उसके हृदय में एक विकल रागिनी सदैव बजती ही रहती है। इस अपूर्णता से पूर्णता की, बिन्दु से सिन्धु की साधना में साहित्य एक स्थायी सम्पत्ति के रूप से मानव को मिला है। परन्तु साहित्य की अपूर्णता भी उसके सत्य, शिव और सुन्दर होने में है।

आधुनिक युग मे "सत्यं, शिव, सुन्दरं" कला और साहित्य के क्षेत्र मे एक आदर्श शब्द की भांति प्रयोग में आ रहा है। श्री राममोहन राय ने पहले-पहल इन शब्दों का प्रयोग ब्रह्मसमाज के लिये किया था। वस्तुत. यह यूनानी दार्शनिक प्लेटो की शब्दावली—"The truth, the good, the beautiful" का अनुवाद है, जो बहुत ही अच्छा बन पड़ा है। परन्तु आज तो यह भारतीयता का बाना पहन कर सर्वथा भारत का ही हो चुका है। फिर भी कई विद्वानो का विश्वास है कि यह शब्दावली उपनिषदों से प्राप्त हुई है। चाहे ऐसा न भी हो परन्तु यह सत्य तो अतर्क ही है कि यह विचार हमारे लिये नितान्त नवीन नहीं है। "सच्चिदानन्द" में सत, चित और आनन्द का समन्वय है। आनन्दकन्द श्रीकृष्ण जी ने भगवद्गीता मे वाणी के लिये "सत्य प्रियं, और हितं" विशेषणों का प्रयोग किया है। "सत्यं शिवं सुन्दरं" एक प्रकार से उक्त विशेषणों का रूपान्तर ही है। "दादू" नामक बंगला ग्रन्थ मे रवीन्द्र ने सत्य और सौन्दर्य का समन्वय इस प्रकार किया है। "सत्य की पूजा सौन्दर्य में है, विष्णु की पूजा नारद की वीणा में" एक अन्य स्थान पर सुन्दर और शिव का समन्वय करते हुए वे लिखते हैं—"सौन्दर्य मूर्ति ही मगल की पूर्ण मूर्ति है और मगल मूर्ति ही सौन्दर्य का पूर्ण स्वरूप।" साहित्य और कला की अधिष्ठात्री देवी हंसवाहिनी को वीणा-पुस्तक-धारणी कहा गया है। हंस नीर-क्षीर-विवेक के कारण सत्य

का, और वीणा सौन्दर्य की प्रतीक है। आचार्य मम्मट ने काव्य के प्रयोजन इस प्रकार बताए हैं —

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥"

इसमें भी सत्यं शिवं सुन्दरं समाविष्ट हैं। "सत्य शिव सुन्दरं" की संक्षिप्त परम्परा का विवेचन करने के उपरान्त अब हम काव्य में उसका स्थान क्या है? इसका विवेचन करते हैं।

जो कुछ अटल, नित्य तथा शाश्वत होता है, वही सत्य है। वैज्ञानिक सत्य के इसी रूप को स्वीकार करते हैं। किसी भी वस्तु का अत्यधिक विनाश नहीं हो सकता—लोप हो सकता है। जड़ सत्ता रूपान्तरित हो सकती है। सत्य की खोज, सत्य का अन्वेषण, सत्य की परख और सत्य का ग्रहण, पुरुष जीवन का पुरुषार्थ है। सृष्टि की रचना से लेकर आज तक दार्शनिक सत्य की खोज में, वैज्ञानिक सत्य के अन्वेषण में समाज-सुधारक सत्य की परख में तथा कवि एवं साहित्यिक सत्य के ग्रहण, विकास एवं प्रकार में लीन हैं। वस्तुतः सत्य शिव और सुन्दर पृथक पृथक वस्तु नहीं हैं। वे एक ही वस्तु की भिन्न भिन्न भावनाएँ हैं। वैज्ञानिक सत्य को, धार्मिक शिव को और कलाकार सुन्दरं को प्रमुखता देता है।

वैज्ञानिक सत्य को वस्तु के रूप में ग्रहण करता है। वह केवल तथ्य का पुजारी है। शिवं और सुन्दर उसके लिये गौण हैं। वह सोलह आने सत्य का पुजारी है। वह "बावन तोले पाव रत्ती" सत्य चाहता है। "सत्यं ब्रूयात्" ही उसके लिये सर्वस्व है। "प्रिय ब्रूयात्" से उसका कुछ तात्पर्य नहीं। उसके लिये वीभत्सता और सुन्दरता समान हैं। यदि किसी वस्तु का विश्लेषण कर सत्य का उद्घाटन किया जा सके। फूल का संश्लिष्ट सौन्दर्य उसे सुहावना नहीं लगता, वह तो एक एक पत्ती को अलग अलग कर यह देखेगा कि वह किस चीज़ की बनी है।

धार्मिक शिवं का पुजारी है। वह कोरे सत्य का उपासक नहीं। सत्य के मंगलमय रूप को ही वह ग्रहणीय समझता है। वह आत्मा को परम श्रेयस की ओर ले जाता है।

जिसे नेत्र सौन्दर्य कहकर आकृष्ट होते हैं उसी में साहित्यकार कला कह

कर प्रविष्ट होता है। वह किसी भी वस्तु को सौन्दर्य की लपेट में देखता है। काव्य में भी सत्य होता है परन्तु वह वस्तु के रूप में न होकर भाव के रूप में होता है। कलाकार सत्य की कोरी नग्न वस्तु को भाव का रंग और रूप देता है। यथार्थ के नीरस ठूंठ को वह कल्पनागत आदर्श से पल्लवित-पुष्पित, हरा-भरा एवं लहलहा कर देता है।

सत्य तभी सुन्दर है, जब वह आनन्ददायी है। केवल भाव वा वस्तु हमारे आनन्द के हेतु नहीं हो सकते। कारण, वस्तु निरपेक्ष भाव हमारी कल्पना के अतीत है, और भाव निरपेक्ष वस्तु प्राण-हीन जड़ पिण्ड मात्र है। केवल भाव को लेकर दार्शनिक संलग्न है और केवल वस्तु को लेकर वैज्ञानिक। किन्तु कवि के लिये दोनों ग्राह्य हैं। वह भाव को वस्तु रूप के भीतर से देखता है। सत्य को प्रतिमा के भीतर प्रतिष्ठित कर के देखता है। सत्य जब रूप के भीतर से झांकता है, भाव जब अपना मूल्य प्रतीक के भीतर से आंकता है, तब ही सौन्दर्य में विमल वसन्त आता है। सुन्दर कहने से रूप का आभास होता है, जिसका रूप नहीं वह सुन्दर कैसे हो सकता है?

दार्शनिक का सत्य हमारे बौद्धिक-जगत को प्रभावित करता है और वैज्ञानिक का सत्य भौतिक जगत को। किन्तु हमारे भाव कल्पना-जगत का आन्दोलित, विकसित, परिष्कृत एवं परिवर्तित करने वाला सत्य कवि का सत्य है। दार्शनिक का सत्य पदार्थगत, भौतिक एवं बाह्य है। एक में गहराई है किन्तु सुगमता एवं सरलता नहीं, दूसरे में सुख है किन्तु आनन्द, आभ्यन्तर-प्रवेश क्षमता, सौन्दर्य और रमणीयता नहीं। अतः सामान्य शारीरिक एवं बौद्धिक आवश्यकताओं के पश्चात् जो विशेष प्रभाव डालने वाला सत्य है, वह कवि का सत्य है। फूलों पर पड़े हुए हिमकण दार्शनिक दृष्टि से क्षणभंगुर है, वैज्ञानिक की दृष्टि से आक्सीजन (Oxygen) और हाईड्रोजन (Hydrogen) गैसों का एक विशेष अनुपात के मिश्रण है, पर कवि की दृष्टि से वे इतने ही नहीं हैं। वे फूलों के मुखों को सजाने वाले लुभावने मोती हैं और गगन के नक्षत्र भी। वे सौन्दर्य के तरल बिन्दु भी हैं और करुणा के आँसू भी। और न जाने क्या क्या हैं।"

प्रकृति को सभी देख सकते हैं। परन्तु हमारे देखने में और कवि के

देखने में महान अन्तर है। इसका कारण यह है कि कवि के पास कल्पना की सरस चासनी है, जिससे वह सब पदार्थों में सौन्दर्य की मिठास घोल देता है। समग्र प्रकृति में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसके भीतर समग्रता का सौन्दर्य निहित न हो। इसलिये वर्डस्वर्थ की वाणी फूट पड़ी है—"कानन का क्षुद्रतम कुसुम भी मेरे प्राणों में अश्रु के अतीत भाव ला देता है"— (To me the meanest flower that blows can give thoughts that do often lie too deep for tears) अंश के भीतर समग्रता का, समीप के भीतर निस्सीमता का परिचय कवि के अतिरिक्त और कौन दे सकता है। वस्तुत: सत्य केवल बुद्धिग्राह्य होकर पूर्ण नहीं होता, उसकी सम्पूर्णता अनुभूति एवं कल्पना द्वारा ग्राह्य होकर ही सम्पूर्ण होती है। सत्य का विशेषत वही पक्ष कवि-सत्य है, जो कल्पना एवं अनुभूति से प्राप्त होता है पर बुद्धि-ग्राह्य सत्य उसका मार्ग-प्रदर्शक होता है। इसी लिये कल्पना की तुलना उस पक्षी से की गई है जो सुदूर आकाश में उड़ता हुआ भी पृथ्वी पर दृष्टि बाँधे रहता है। साथ ही कवि का स्वानुभूत सत्य सौन्दर्य को छोड़ नहीं सकता, वह सौन्दर्य से भिन्न नहीं है। इसी बात का लक्ष्य करके अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवि कीट्स का यह कथन कितना सत्य है—"सौन्दर्य सत्य है और सत्य सौन्दर्य है, यही जानना हमारे लिए सब कुछ है।" "(Beauty is truth, truth is beauty, that is all)" परन्तु सत्य और सौन्दर्य तब साथ साथ और एक दूसरे के पूरक रह सकते हैं, जब सौन्दर्य के साधन—कल्पना का प्रयोग नियंत्रित रूप में हो, कल्पना निराधार न हो। यदि किसी ने छोटा पहाड़ न देखा हो तो वह हिमालय की कल्पना कैसे कर सकता है ? सुन्दर और कल्पना की सार्थकता तभी है जब वह पाठक अथवा श्रोता पर अपना अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सके। कलाकार विचारों की, सत्य की प्रेषणीयता में पूरा उतर सके। अब हम उपर्युक्त सत्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

शब्द प्रधानत: तीन प्रकार के होते हैं। १—प्रभु-सम्मित, २—सुहृत सम्मित, ३—कान्ता-सम्मित।

प्रभु-सम्मित वाक्य को हम भय अथवा श्रद्धा से ग्रहण करते हैं, अतएव मानव जीवन पर उसका प्रभाव कम है। जैसे कि वेदवाणियों के प्रति हमारी

श्रद्धा तो है पर वह हमे रससिनग्ध नहीं कर सकती। सुहृत्सम्मित पुराण, इतिहास भी हमारे जीवन पर पूर्ण प्रभाव-विस्तार नहीं करते। श्र० रवीन्द्रनाथ ठाकुर इसीलिये लिखते हैं—"जो व्यक्ति काव्य ही पढ़ेगा और इतिहास नहीं पढ़ेगा और इतिहास को पढ़ने का अवसर नहीं पायेगा, वह हतभाग्य है, और जो व्यक्ति केवल इतिहास को पढ़ेगा, काव्य को पढ़ने के लिये अवसर नहीं पायेगा सर्वतः उसका भाग्य और भी मंद है।" इसीलिये आचार्य मम्मट ने 'कान्ता सम्मित' शब्द का प्रयोग किया है जिससे अभीष्ट प्रभाव पड सकता है।—पाठक आनन्दमग्न हो सकता है। कवि इसी प्रिया-सा मधुर उपदेश कर सत्य की आत्मा की रक्षा करता है। वह शाब्दिक सत्य की रक्षा के लिये उत्सुक नहीं रहता। तुलसीदास जी लक्ष्मण को शक्ति लगने पर मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के विलाप में कहते हैं—"निज जननी के एक कुमारा, मिलहिं न जगत सहोदर भ्राता।' इनमे से कोई भी वाक्य इतिहास की कसौटी पर कसने से ठीक नही उतरता। किन्तु काव्य मे इसका महत्त्व वास्तविक सत्य से भी अधिक है। इनके द्वारा श्रीराम जी के हृदय के अन्तस्तल के भाव स्वयं मुखरित हो उठते हैं। राम का शोकावेग और उनके भाई के प्रति भाव और लक्ष्मण के महत्त्व की अभिव्यजना करने के लिये, इससे अच्छा साधन न था। इसी से एक अंग्रेज़ी लेखक ने कहा है—"उपन्यास (काव्य) में नामों और तिथियों के अतिरिक्त और सब बाते सच्ची होती हैं। इतिहास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त और कोई बात सच्ची नहीं होती है।" साहित्य मे इतिहास की घटनाएँ अपने बल पर, अपने प्रभाव से नही जीतीं। अमरता का वरदान उन्हे कमनीय कला के कलितरूप से मिलता है। ऐतिहासिक राम की सत्यता म सन्देह हो सकता है किन्तु वाल्मीकि और तुलसी के हृदय की स्याही से चित्रित राम अमर और चिर-पूज्य है। जहाँ सत्य और सुन्दर हो वहा शिवं त्रिवेणी का संचार अवश्य करेगा। बिहारी की राजा जयसिंह के लिये इस उक्ति—"नहिं पराग नहि मधुर मधु नहिं विकास इहि कालु, अली कली ही सों बिंध्यो आगे कौन हवालु" में सत्य शिव और सुन्दर तीनों हैं। इसी लिये जयसिंह पर पूरा प्रभाव पड सका। यदि सीधी तरह से, कोरे सत्य से अथवा केवल उपदेश वृत्ति से, जयसिंह को विलासिता से हटाने का प्रयत्न किया जाता तो बिहारी

को अपने जीवन से हाथ धोने पड़ते। सत्य शिवं की रक्षा का दम भरने वाले और सौन्दर्य की अवहेलना करने वाले साम्प्रदायिक प्रगतिवादी काव्य का जनता पर कदापि प्रभाव नहीं पड़ सकता। जैसे निम्न पंक्तियों का भला क्या प्रभाव पड़ सकता है—

जागो जागो ओ नौजवान
कैसी बुरी हालत में हिन्दुस्तान
धोती के लिये नंगा कोई साड़ी के लिये परेशान
कोई गमछा खोज रहा है दुकान-दुकान।

यहां न शब्दों में माधुर्य है और न ही लालित्य। यह कविता न होकर पद्य मात्र है। (The opposite of prose is not verse but poetry) इस सिद्धान्त की उन्होंने अवहेलना कर दी है। इसी प्रकार कविता को जब प्रचार का माध्यम बना दिया जाता है उसका सम्बन्ध हृदय से न होकर मस्तिष्क से हो जाता है, जो कविता की बुरी गति होती है। उसकी नैसर्गिकता और कमनीयता नष्ट हो जाती है। सुन्दर की अवहेलना, कविता को निर्जीव करना है।

इसके विपरीत 'कला कला के लिये' के सिद्धान्त को मानने वाले जब सत्य और नीति (शिव) इत्यादि की अवहेलना करते हैं तब कविता जनता की वस्तु नहीं रहती। वह केवल प्रदर्शिनी मात्र अथवा विषभरे कनकघट के समान जीवन को निर्जीव करने वाली हो जाती है। वस्तुतः कला लक्ष्य नहीं लक्षण है। अभिप्रेत नहीं अभिव्यक्ति है। कला तो 'मनोहरा' है जो जीवन के सत्य और शिव को 'मनोहर' (सुन्दर) बना देती है।

अस्तु, साहित्य हमारे जीवन की भावनाओं और अनुभूतियों की सरस, सुन्दर अभिव्यंजना है, जिसका आधार यही पार्थिव जीवन (सत्य) है। साहित्यकार की साधना भी तो जीवन से ही आरम्भ होकर जीवन में ही निगूढ़ हो जाती है। किन्तु मूर्त जीवन में अमूर्त जीवन को, स्थूल रूप में सूक्ष्म अरूप को सामीप्य की सम्मति और सिद्धि बनाना ही साहित्य की साधना है। साहित्यकार क्षणभंगुर शरीर (बाह्य सत्य) से आत्मा की अमरता (आन्तरिक सौन्दर्य मिश्रित सत्य) की ओर अग्रसर होता है। प्राणों को लेकर महा प्राण

पीने दौड़ता है। सत्यं, शिवं, सुन्दर के समन्वय मे दुःख-दग्ध जगत और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का समन्वय है।

यथार्थ और आदर्श

साहित्य वह है जिसमे मानव-हित का सम्पादन हो। इसी के लिये साहित्यकार को मानव जीवन की व्याख्या करनी पडती है। यह व्याख्या किस ढंग से की जाय—यह उसके सामने एक समस्या रही है। कलाकार स्वयं को तटस्थ रखते हुए जीवन अथवा जगत् को कहाँ तक यथातथ्य चित्रित करता है और कहाँ तक उस पर अपने भाव और विवेक का आरोप कर उसे अपने आदर्श के अनुकूल बनाने के लिये परिवर्तित कर देता है—इस आधार पर कलाकारों मे दो वादों का विवाद उठ खडा हुआ है। कुछ विद्वान् पूर्ण प्रतिलिपि को महत्त्व देते हैं और कुछ उसमें मनोनुकूल उसका सुधरा हुआ रूप उपस्थित करने के पक्ष मे रहते हैं। एक को यथार्थवाद कहते हैं और दूसरे को आदर्शवाद।

साहित्य सुर-सभा मे निनादित होने वाली उर्वशी के तरल नूपुरों की मादक झंकार नहीं है, वल्कि वह तो हमारे ही प्राणों के पुलकित वन में बजने वाली व्याकुल विपंची है, जो सुख दुख के तारों से झंकृत हुआ करती है। वह ठोस धरती की वस्तु है। अत यथार्थवाद आदर्शवादी कलाकारो की इस पलायन वृत्ति और अव्यवहारिकता का घोर विरोधी है। वह लौकिकता का पक्षपाती है। जहाँ पंत प्रगतिवादी हैं—यथार्थवादी हैं, वहाँ वे कहते हैं—

ताक रहे हो गगन
मृत्यु नीलिमा गहन गगन
देखो भू को, जीव-प्रभू को

मनुष्य में दुर्बलताएँ होती हैं, किन्तु आदर्शवादी साहित्यिक न्याय के आधार पर खलता और दुष्टता को दंड देता है। परन्तु यथार्थवादी लेखक व्यक्ति की दुर्बलता का चित्रण करता है। वह साहित्यिक न्याय में विश्वास नहीं करता। व्यक्ति की दुर्बलता के कारणों को वह खोजता है और इस खोज मे वह सामाजिक रूढ़ियों को दोषी ठहराता है। व्यक्ति की दुर्बलता

को वह समाज के पाप के रूप में देखता है। इसलिये यथार्थवादी साहित्य वेदना से प्रेरित होकर जन-साधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। वह अस्थि-वसा-चर्म के भीतर छिपे हुये समाज के कंकाल को अनावृत करके दिखा देता है। वह संसार की कलुष-कालिमा पर आवरण नहीं डालता। वह स्वर्ण को भी कालिमामय मिट्टी के कणों से मिश्रित ही देखना चाहता है। वह उसे तपा, गला कर और उसमें चमक उत्पन्न कर लोगों को चकाचौंध में नहीं डालना चाहता। बङ्गाल के अकाल का वर्णन एक यथार्थवादी इस प्रकार करता है—

बाप बेटा बेचता है
भूख से बेहाल होकर
धर्म धीरज प्राण खोकर
राष्ट्र सारा देखता है
बाप . .. ।

भट्ट जी मजदूर की दुर्दशा का वर्णन कैसा मार्मिक करते हैं—

मेरी बरसात आँसू रे, मेरा वसन्त पीला शरीर।
दिन उनको, मुझको रात मिली, श्रम मुझको, उन्हे आराम मिला।
बलि दे देने को प्राण मिले, हंटर का सूखा चाम मिला॥

वह समाज की गन्दगी को ढके नहीं रहने देना चाहता। इससे तो समाज का रोग और बढ़ सकता है। इस तरह यथार्थवादी लेखक, कवि कम होता है और आलोचक अधिक।

जिस प्रकार शरीर आत्मा का माध्यम है उसी प्रकार यथार्थ आदर्श का माध्यम है। वह आदर्श के स्पष्टीकरण के लिये उपयोगी है। कलाकार सब जगह बोलता नहीं है, तो भी उसके चित्रण की प्रत्यक्ष वास्तविकता से अप्रत्यक्ष वास्तविकता (अभीप्सित आदर्श) का बोध हो जाता है। सुख का मूल्य ही पता न चले यदि दुख न हो। चन्द्रिका उज्ज्वल है क्योंकि रात अँधेरी है। इस तरह जब तक यथार्थ को न लिया जायगा तब तक आदर्श का मूल्य समझ नहीं आ सकता।

स्त्रियों के सम्बन्ध में यथार्थवाद नारीत्व को मातृत्व से प्रमुख मानता है। नारी के चारों ओर जो सामाजिक बन्धन खड़े किये गये हैं उन्हे वह

कृत्रिम और अस्वाभाविक समझता है। निम्न पंक्तियों में पंत के यथार्थवादी स्वरूप के दर्शन कीजिए:—

मुक्त करो नारी को मानव,
चिर-वन्दिनी नारी को,
युग-युग की बर्बर कारा से,
जननी सखी प्यारी को।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यथार्थवाद का दृष्टिकोण वस्तुगत है—आदर्शवाद की तरह भावगत नहीं। उसका मूल भाव वेदना है। वेदना से पीडित, अभाव से ग्रसित समाज का चित्रण ही उनका लक्ष्य है। यथार्थवादी कलाकार इस यथार्थ के भीतर से आदर्श का उद्‌घाटन करता है।

जहाँ यथार्थवाद में इतने गुण हैं, वहाँ उसमें कुछ दोष भी हैं। वास्तविक यथार्थ तो गुण और दोषों को उचित अनुपात में दिखाना है। परन्तु प्राय. यथार्थवादी लेखक negative चित्रण करते हैं अर्थात् यथार्थवाद के नाम पर केवल बुराइयों का ही उद्‌घाटन किया जाता है। इस तरह इस एकाङ्गीपन से एकमेव बुराइयों का ही चित्रण किया जाय, समाज में निराशा ला देता है। जनता जब साधुता को दुःख उठाते और बुराई को फलते फूलते देखती है तो ऐसा हो जाना स्वाभाविक ही है।

यदि यथार्थ का चित्रण इसलिये किया जाता है कि उससे आदर्श का व्यक्तिकरण हो तब तो ठीक है परन्तु यथार्थ यथार्थ के लिये कोई लाभ नहीं दे सकता। नग्न यथार्थ कभी ग्राह्य नहीं हो सकता। गोदान में प्रेमचन्द जी यथार्थवादी हैं, परन्तु यह यथार्थ लाभ ही लाभ पहुंचाता है, क्योंकि यह आदर्श की ओर संकेत देता है कि हमें गाव की समस्या को सुलझाने के लिये कटिबद्ध हो जाना चाहिए। ऋषभचन्द्र जैन, उग्र और यशपाल का यथार्थ कभी ग्राह्य नहीं हो सकता। जैनेन्द्र की सुनीता और यशपाल के दादा कामरेड से अश्लीलता का ही प्रचार हो सकता है। इसी प्रकार यथार्थवाद के नाम पर निम्न कविता की जाती है।—

यह सावन की अनमोल रात, इस प्रेंग्नि-लोलित रति गति मे
जन झूम-झमकता विसुध गात
गोरी बाहों मे कस प्रिय को

कर दूँ चुम्बन मे मुग्धस्नात
विधु वदन उन्नत पुलकित उमडे उरोज
यौवन उमग उद्गम अधीर,
छवि भर पर ज्यों फूले सरोज
उसने फैलाया बाहुपाश, था उषा-प्रात का आलिङ्गन
मे झुका मदिर दल अधरों पर
अंकित करने विह्वल चुम्बन।"

इस तरह क्या निर्लज्ज वास्तविकता को ही यथार्थता कह सकते हैं। तब ऐसी वास्तविकता में कला की क्या विशेषता? कला तो वास्तविकता को सम्भालती सवारती है, इसीलिये वह कला है। कला का अस्तित्व ही आदर्श का, मंगल का सूचक है। यथार्थ—आदर्श को किस रूप में समाज के सम्मुख उपस्थित करे, इसे उचित रूप से हृदयङ्गम कराने में ही कलाकार की विशेषता है। घोर से घोर कलुषित व्यक्ति भी जब अपना छायाचित्र खिंचाने जाता है, तब वह अपने को इस ढग (पोज़) में साकार करना चाहता है कि वह लोकदृष्टि को सुदर्शन जान पड़े। फिर साहित्य में विकृति की लालसा क्यों? साहित्य में व्यक्ति और समाज के चित्रों को उपस्थित करते समय कलाकार को फोटोग्राफ़र से अधिक कला-कुशलता दिखानी पड़ती है। यथार्थ को वह इस रूप में चित्रित करता है कि वास्तविकता तो प्रकट हो ही जाती है। साथ ही जो अलक्ष्य है वह भी लक्ष्य में आ जाता है। मनोवैज्ञानिक निरीक्षकों के लिये यथार्थ एक सांकेतिक आधार है। यथार्थ की अभिव्यक्ति का अच्छा ढग कला का आदर्श है, जीवन की अभिव्यक्ति का अच्छा ढंग यथार्थ का आदर्श।

हमारे अपने जीवन में यथार्थवाद, दुःख और संघर्ष की मात्रा इतनी बढ़ी चढ़ी होती है कि हम साहित्य में उनकी पुनरावृत्ति देखकर अपने मन को भाराक्रान्त नहीं करना चाहते हैं। आदर्शवाद दबे हुए जीवन के लिये सुखद वैविध्य उत्पन्न करता है। यदि साहित्य में "जो है" के साथ "जो होना चाहिए" का चित्रण न हो तो पाठक की दशा एक अंधे के समान ही होगी, जिसको अपने गन्तव्य स्थान का पता न चलेगा। कविश्रेष्ठ मैथिलीशरण गुप्त जी ने 'साकेत' में क्या ही उत्तम उक्ति कही है—

हो रहा है जो जहाँ, जो हो रहा
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?
किन्तु होना चाहिये कब क्या कहाँ
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।"

इन दोनों वादों के सम्बन्ध और भी कई विद्वानों ने अपने मत व्यक्त किए हैं। श्री शिवदानसिंह जी आदर्शवाद को पलायनवाद मानते हैं। उन्होंने गोरखपुर में अध्यक्ष के पद से कथासाहित्य पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि "पलायन का साहित्य और चाहे जो कुछ हो, प्रथम कोटि का नहीं हो सकता।" परन्तु इस बात में असंगति अधिक है।

स्वर्गीय प्रसाद जी तथा सुश्री महादेवी जी का काव्य आज के यथार्थवादी लेखकों से अब भी महान् हैं। भावों की गहराई अनुभूति की तीव्रता, व्यंजना की धूप छाँह के लिये हम आज भी ऐसे ही साहित्यिकों की शरण में जाते हैं।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के मतानुसार "ये दोनों साहित्य की चित्रण-शैली के दो स्थूल विभाग मात्र है। दोनों ही शैलियाँ लेखक के दृष्टिकोण पर अवलम्बित हैं। कला की सौन्दर्य-सत्ता की ओर दोनों का झुकाव रहता है। आदर्शवाद में विशेष या इष्ट के आग्रह द्वारा इष्ट ध्वनित होता है। यथार्थवाद में सामान्य या अनिष्ट के चित्रण द्वारा इष्ट की व्यंजना होती है।" यहाँ पर वाजपेयी जी ने इन दोनों वादों के प्रयोग का पूर्ण भार लेखक पर ही डाल दिया है। इस दृष्टिकोण से कोई भी रचयिता दोषी नहीं कहा जा सकता।

वस्तुतः बहुत से आलोचकों का मत दोनों के समन्वय में है। प्रसादजी के शब्दों में "कुछ लोग कहते हैं कि साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिये और सिद्धान्त से आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है और यथार्थवादी सिद्धान्त से इतिहासकार ही सिद्ध होता है।" क्योंकि वह चित्रित करता है कि समाज कैसा होता है और कैसा था। किन्तु साहित्यकार न तो इतिहास कर्ता है न धर्मशास्त्र-प्रणेता। दुःख दग्ध-जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण ही साहित्य है। इसलिये साहित्य में आदर्श और यथार्थ घुले मिले रहते हैं।"

उपन्यास-सम्राट् मुंशी प्रेमचन्द्र जी के उपन्यासों में 'गोदान' को छोड़ कर आदर्शोन्मुख यथार्थवाद मिलता है। वह यथार्थ की नींव पर आदर्श का ताजमहल निर्मित करना चाहते हैं। वह लिखते हैं "यथार्थ यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठा कर किसी मनोरम स्थान में पहुंचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धान्तों की मूर्ति मात्र हों। जिनमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है, लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करनी मुश्किल है।" वस्तुत यथार्थ और आदर्श दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। (Ruskin) रस्किन ने भी कहा है—"One completes the other and is completed by the other."

किसी भी युग में आदर्श और यथार्थ या स्वप्न और सत्य कुरुक्षेत्र के उन पक्षों में परिवर्तित करके नहीं खड़े किये जा सकते, जिनमें एक युद्ध की ज्वाला में डाल गया और दूसरे को पश्चात्ताप के हिम में गल जाना पड़ा। वे एक दूसरे के पूरक रह कर ही जीवन को पूर्णता दे सकते हैं। न यथार्थ का कठोरतम अनुशासन आदर्श के सूक्ष्मतम चित्राधार पर कालिमा फेर सकता है और न आदर्श का पूर्णतम विधान यथार्थ का शून्य आकाश कर सकता है। उदाहरण के लिये हिन्दी के स्वर्णयुग भक्तिकाल को देख सकते हैं। मन्दिर, मस्जिद की स्थूलता से लेकर अन्ध विश्वास की आडम्बरपूर्ण विविधता तक पहुंचाने वाली कबीर की उग्र यथार्थ दृष्टि, कठोर यथार्थवादी को भी विस्मित कर देगी, परन्तु विषय-खण्डों में उलझी हुई यही यथार्थ-दृष्टि बिना गुणों का सहारा लिये, बिना रूप-रेखा पर विश्राम किए, अखण्ड अध्यात्म की असीमता नाप लेने की शक्ति भी रखती है। इसी से जुलाहे के ताने बाने पर बुने गीत धरती के व्यक्त और दर्शन के गहन अव्यक्त को समान अधिकार दे सके हैं। तुलसी जैसे अध्यात्मनिष्ठ आदर्शवादी ने जीवन की जितनी परिस्थितियों की उद्भावना की है, जितनी मनोवृत्तियों से साक्षात् किया है, स्थूलतम उलझनो और सूक्ष्मतम समस्याओं का जैसा समाधान दिया है और अध्यात्म को यथार्थ के जैसे दृढ़ बन्धन में बाँधा है, किसी और से सम्भव न हो सका। क्रूर नियति ने जिसके निकट यथार्थ जगत

का नाम अन्धकार कर दिया था, उसी सूर से सूक्ष्मतम भावनाओं, कोमलतम अनुभूतियों और मिलन विरह की मार्मिक परिस्थितियों का सब से अधिक सजीव और नैसर्गिक चित्रण हुआ है। अमर प्रेम की स्वप्न-दर्शिनी मीरा के हाथ में ही यथार्थ का विष अमृत बन सका है।

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्त तत्र देवताः'—के आदश को भुला कर रीतिकालीन कवि ने नारी को मदनिका ही समझा। रसों के अतीत विस्तार और अतल गहराई में कवि को निम्न वासना के घोंघे ही मिल सके और प्रकृति के अनन्त सौन्दर्य की चिरन्तन सजीवता में उसे पाशविक वृत्तियों के निर्जीव उद्दीपन ही प्राप्त हुए। क्या इस प्रवृत्ति मे यथार्थता नहीं ? अवश्य ही है। अमृत सम्मान्य हो सकता है पर विष तो निश्चित यथार्थ ही रहेगा। एक हमारे स्वप्नों का विषय बनता है, कल्पना का आधार रहता है, खोज का लक्ष्य हो जाता है, फिर भी सहज प्राप्य नहीं। और दूसरा प्रत्येक स्थान और प्रत्येक स्थिति मे प्राप्त होकर भी हमारे भय का कारण है, नाश का आकार है और मृत्यु की छाया है। एक को महान् से महान् मूल्य देकर भी हम पाना चाहते हैं और दूसरा मूल्यहीन भी हमें स्वीकार नहीं।

आदर्श की रेखायें कल्पना के सुनहले रंगों से तब तक नहीं भरी जा सकतीं, जब तक उन्हे जीवन क स्पन्दन से न भर दिया जावे, और दूसरी ओर यथार्थ की तीव्र धारा को दिशा देने के पहले उसे आदर्श के कूलों का सहारा देना आवश्यक है। यथार्थ के बिना आदर्श गतिरहित है और आदर्श के बिना यथार्थ जीवनरहित, जीवन मे वह यथार्थ, जिसके पास आदर्श का स्पन्दन नहीं केवल शव है और वह आदर्श जिसके पास यथार्थ का शरीर नहीं, प्रेतमात्र है। साहित्य तो जीवन के श्रेय प्रेय का सुयोग है। अत. अति के मार्ग को छोड़ मध्यम मार्ग ही कलाकार के लिये श्रेयस्कर है—

छोडकर जीवन के अतिवाद।
मध्य पथ से लो सुगति सुधार॥

हिन्दी साहित्य में वीर रस तथा राष्ट्रीय भावना

नव रसों में वीर रस का महत्त्वपूर्ण स्थान है। किसी भी साहित्य में शृङ्गार, वीर, शान्त तथा करुण रसों की प्रधानता रही है। वीर रस का महत्त्व इसमे

भी प्रतीत होता है कि महाकाव्य के लिये वीर, शान्त और शृङ्गार में से एक रस की प्रधानता को आवश्यक माना गया है। वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है, जो जीवन का मूल भाव होने के कारण बड़ा व्यापक है। मनुष्य जीवन में किसी भी कार्य के लिये उत्साह की आवश्यकता रहती है। इसलिये उत्साह भाव की विभिन्न कोटियों के अनुसार कई प्रकार के वीर माने गये हैं, जिनमें से आचार्यों ने चार को प्रमुखता दी है—युद्धवीर, दानवीर, धर्मवीर और दयावीर। कई विद्वान् इन भेदों को ठीक नहीं मानते। उन्होंने सत्यवीर, न्यायवीर इत्यादि कई और भी भेद किए हैं। और तो अलग ही रहा 'विरह-वीर' भी एक कोटि मानी है। आधुनिक युग वीर-सतसई के लेखक वियोगी हरि ने इन सब के उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं। परन्तु सब भेद ठीक प्रतीत नहीं होते। यदि ऐसा हो तो शृङ्गार रस आदि को भी कोई अलग रस मानने की आवश्यकता नहीं क्योंकि उसमें भी तो उत्साह की आवश्यकता होती है। उपर्युक्त विवेचन से एक बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि उत्साह बड़ा व्यापक भाव है। वीर रस का भी इसलिये बड़ा महत्त्व है। हिन्दी साहित्य में युद्धवीर का ही अधिक चित्रण हुआ है। हिन्दी साहित्य के इतिहास को हम चार कालों में बांट सकते हैं —

१—आदिकाल (वीरगाथा-काल—संवत १०५०–१३७५)।

२—पूर्व मध्यकाल (भक्ति-काल—संवत १३७५–१७००)।

३—उत्तरमध्यकाल (रीति-काल—संवत १७००–१९००)।

४—आधुनिककाल (गद्य-काल—संवत १९०० से अब तक)।

अन्य अनेक देशों की तरह भारतीय साहित्य का आदिकाल भी वीर-रस-प्रधान है। 'वीरगाथाकाल' शब्द ही इस बात का द्योतक है। इस काल को हम दूसरा महाभारतकाल, समरकाल अथवा शौर्यकाल कह सकते हैं। कवि अपने युग की सृष्टि भी होता है और स्रष्टा भी। वह द्रष्टा भी होता है, निर्माता भी। जनता की रुचि का प्रसादन भी करता है, परिष्कार भी। इसलिये वह अपने समय की परिस्थितियों से प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकता।

उस काल में बाह्य मुसलमानों द्वारा देश पर आक्रमण हो रहे थे। भारत-वर्ष में भी एक केन्द्रीय शक्ति नहीं थी और देश कई छोटे-छोटे राज्यों में

विभक्त था। प्रत्येक राजा अपने में ही केन्द्रित था और राष्ट्रीय भावना का बिल्कुल अभाव था। "मानो हि महतां धन" के अनुसार जो मान राजपूतों का सर्वस्व था वही उनमें युद्धों का कारण बना हुआ था। इसका कारण यह था कि उनके मान का मानदण्ड छोटा था। तनिक-सी बातों पर रणभेरी गूंजने लगती। सती होने वाली की चिता की आग कौन लगाए। इसी बात पर अनबन होगई और—

गुस्सा होई के पृथ्वीराज तव,
तुरतै हुकुम दियो करवाय॥
वत्ती दै देयु सव तोपन में,
इन पाजिन को देउ उडाय॥
झुके खलासी तव तोपन पर,
तुरतै वत्ती दई लगाय॥
दगी सलामी दोनो दल मे,
रण मे होन लाग घमसान॥

विवाह जैसे शुभ कार्य भी मार-काट के बिना सम्पन्न नहीं होते थे। इस प्रकार चारों ओर रण-चण्डी का भैरव नाद सुनाई दे रहा था। वीरगाथा-काल प्रलय और प्रणय के हिंडोलों में झूल रहा था। ऐसे Love and War के वातावरण मे यदि वीर रस की रचनायें न होतीं तो और क्या होता? स्त्रियों के कारण युद्ध होने से कुछ नूपुरों की झंकार भी सुनाई देती थी। परन्तु वह शस्त्रों की प्रबल झंकार के सम्मुख विलीन हो जाती थी। श्रृङ्गार कभी तो वीर का सहकारी और बहुत स्थानों पर उत्पादक बनकर आया है।

वीरगाथा-काल का नाम चारण-काल भी है। राजाओं के आश्रय मे रहने वाले यह चारण वीर-रस-पूर्ण कवितायें भी रचते थे और समय आने पर युद्ध में सम्मिलित भी होते थे। इसी लिये चारणों के युद्ध-वर्णन बड़े मार्मिक बन पडे हैं। जिनमें चित्रमयता व चित्रोपमता स्पष्ट लक्षित होती है। इन वर्णनो मे वीर रस का सफल परिपाक हुआ है। दोनों ओर की सेनाओं के जम जाने पर, युद्ध के सामान तथा आक्रमण की रीतियों का जैसा विशद वर्णन इस युग के कवियों ने किया है, वैसा पीछे के कवियों में नहीं मिलता।

इन चारणों की वचनावली में शस्त्रों की झंकार स्पष्ट सुनाई पड़ती है और इनके युद्ध-वर्णन के सजीव चित्र अब भी पाठकों के हृदय में उल्लास पैदा करते हैं। युद्ध का कितना भावानुकूल चित्रमय वर्णन है—

करि-करि इन टक्कर हटत न थक्कर तन तकि तक्कर तोरत है।
मारे-रन मुण्डन भाले झुण्डन तऊ न सुण्डन मोरत है॥
इमि कुंजर लपटे दुहु दल दपटें झुकि झुकि झपटें झूमत है।
अरि पटल पटा मे फारन खासे सुघन घटा मे घूमत हैं॥

(पद्माकर–हिम्मतबहादुर विरुदावली)

आल्हाखंड तो वीर भावनाओं के लिये लोकप्रिय है। उसमें उत्साह की अप्रतिम तीव्रता और संगीत का लययुक्त अनुपम प्रवाह है। ऐसे वर्णनों से भला किस हृदय में उत्साह का का संचार न होगा—

बारह बरिस लै कूकर जीए,
औ तेरह लै जियें सियार।
बरिस अठारह छत्री जीयें,
आगे जीवन को धिक्कार॥

हृदय के तार-तार फड़क उठते हैं। वीर रस का सफल परिपाक तभी हो सकता है जब भाषा भी उपयुक्त हो। छन्द और शैली भी ओजस्विनी हो। वीरगाथा-काल मे यह सब विशेषतायें पाई जाती हैं। अनुप्रास और अनुस्वार वीर रस में विशेष सहायक हुए हैं।

वीरगाथाकालीन वीर रस की कविता की दूसरी बड़ी विशेषता स्त्रियों को भी वीर रस के आश्रय और आलम्बन के रूप में ग्रहण करना है। वीराङ्गनाओं के वीर भावों का सजीव चित्रण इन कवियों की विश्व-साहित्य को अपूर्व देन है।

वीरगाथा-काल मे जहाँ तक राष्ट्रीय भावना का सम्बन्ध है, उसका बिल्कुल अभाव था। गंगाप्रसाद पाण्डेय के शब्दों में "तुलसी का वीर रस एवं भूषण का शौर्य भाव उससे कहीं अधिक प्राकृतिक एवं परिपूर्ण है।" उक्त कथन का कारण यह है कि चारण कवियों ने जातीय अथवा राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित होकर अपनी रचनाये नहीं की थीं। वह तो जिसका खाते थे उसका गान करते थे। इसीलिये वीर रस कहीं बड़ा अस्वाभाविक हो गया

है। वीर रस में उदार भावना कम थी। बदले की और नीचा दिखाने की भावना प्रधान थी। मुसलमानों से भी लड़ाइयाँ हुईं, वे प्राय: व्यक्तिगत कारणों से हुईं। मुसलमान मात्र के प्रति घृणा करने का भाव दृढ़ नहीं था।

राजपूत अपनी आन के लिये निर्ममता पूर्वक आत्म-बलिदान करने के लिये तैयार हो जाते थे और उस समय हिन्दू-मुसलमान का प्रश्न भी उनके सामने नहीं रहता था।

राजपूतों में अहंकार इतना बढ़ गया था कि वे एक राष्ट्र की कल्पना कर ही नहीं सकते थे। उनमे वीरता थी। परन्तु वह वीरता परस्पर लड़ाने में ही व्यर्थ गई। यदि उनमें राष्ट्रीय भावना होती तो विदेशी किसी भी अवस्था में भारतवर्ष में अपना अधिकार न कर सकते। इस प्रकार इन ग्रन्थो में तलवारो की झनझनाहट तो है, पर सामाजिक 'शिव'—राष्ट्रीय भावना का अभाव है। अधिकांश कवियो को यह चिन्ता नहीं थी कि विदेशी आक्रमणों से समाज की रक्षा कैसे हो? अथवा देश-प्रेम की भावना जनता में कैसे जागृत की जाय। उनका उद्देश्य तो आश्रयदाताओं की प्रशंसा द्वारा स्वार्थ-साधन मात्र था। यही कारण है कि जयचन्द जैसे राजाओं की भी काल्पनिक वीर जीवनियां सुनानेवाले कवि तो हो उठे, परन्तु कई सच्चे वीर वंचित ही रह गए। इन रचनाओं को इसीलिये कई विद्वान् 'वीराभास काव्य' कहना ही उचित समझते हैं—विशुद्ध वीर काव्य नहीं।

भक्तिकाल—इस काल मे वीर काव्य का रूप बदला। वीरता का रूप बदला। वीरता का कारण व्यक्तिगत न रहकर सामाजिक हो गया। उत्पीडित जनता की आततायियो से जो रक्षा कर सके वही वीर कहलाने योग्य हो गये। वीरता दिखाने वाले पात्र उस समय लौकिक न होकर देवकोटि के थे। तुलसी के राम इसी प्रकार के हैं। उनके राम "भू-भार उतारन" हैं। उनके राम कहते हैं—

"निसिचर हीन करौं महि भुज उठाइ प्रण कीन"

इससे निराश जनता मे आशा का सचार हो गया। 'मानस' में तुलसीदास जी के वीर रस के वर्णन बडे ओजस्वी हैं। धनुषयज्ञ के अवसर पर लक्ष्मण परशुराम से कहते हैं—

यहाँ कुम्हड़ बतिया को नाही।
जो तरजनि देखि मुरझाही॥

इसके उपरान्त कपि भालुओं की सेना ने समुद्र पार उतरने के समय राम से लक्ष्मण कहते हैं—

सधातेऊ धनु विशिख कराला।
उठी उदधि उर अन्तर ज्वाला॥

सूर ने भी वीर रस का चमत्कार अपने पदों में दिखलाया है। एक बार महाभारत में भीष्म ने श्रीकृष्ण से शस्त्र ग्रहण करवाने की प्रतिज्ञा की, क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण ने युद्ध में शस्त्र न ग्रहण करने का सकल्प किया था। इसका वर्णन देखिये—

आज जो हरिहि न शस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौ गगा - जननी को,
सातनु सुत न कहाऊँ॥
स्पन्दन खडि महारथ खडो,
कपिध्वज सहित डुलाऊँ।
सूरदास रणभूमि विजय विन,
जियत न पीठ दिखाऊँ॥

केशव ने भी अपनी रामचन्द्रिका में और रतनबावनी में वीर रस के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। "वीरसिंह देवचरित" में भी ऐसे ही उदाहरण हैं। गंग ने वीर रस के कुछ रमणीक कवित्त लिखे हैं—

"झुकत कृपान भयदान ज्यो उदोत भान,
एक न ते एक मानो सुषमा जरद की।
कहे कवि गग तेरे बल की ब्यारि लगे,
फूटी गजघटा घनघटा ज्यो सरद की।"

रीतिकाल—"समय पलटि, पलटै प्रकृति, कोन तजै निज चाल"
के अनुसार कवियों ने भी अपनी प्रकृति बदल ली। रीतिकालीन राजाओं की प्रवृत्ति पद्माकर की निम्न पक्ति से भली भाति व्यक्त हो जाती है—

गुलगुली गिल में वगीचा है गुनीजन है

इस प्रकार राजनीतिक शान्ति के समय राजा लोग सुरा और सुन्दरी के

भक्त बन गए और कवि लोग भी प्रणय सागर में डुबकियाँ लगाने लगे। वह भी—'योग हूँ ते कठिन सयोग पर नारी को' आदि के राग अलापने लगे। ऐसे समय जब सब कवि प्रेम के तराने गा रहे थे, चारों ओर पायल की झंकार सुनाई दे रही थी। भूषण और लाल की ओजस्विनी कविताओं में शस्त्रों की झंकार सुनाई देने लगी। इसका कारण औरंगजेब की क्रूर साम्प्रदायिक नीति थी, जिसने सुप्त जनता को फिर से सजग कर दिया। पंजाब में गोविन्दसिंह, बुन्देलखण्ड में छत्रसाल और महाराष्ट्र में शिवाजी ने हिन्दुत्व की पताका फहराई। भूषण और लाल ने उनका पूरा-पूरा साथ दिया। जिस कविता ने नयनकटारियों के वार में विलासियों को उद्दीप्त किया था वह अब समर में तलवार बनकर आई। यही समय हिन्दी के वीरकाव्य का द्वितीय उत्थान है। इस समय बनवारी, मान, भूषण, लाल, सूदन पद्माकर, जोधराज, चन्द्रशेखर इत्यादि कई कवियों की रचनाओं में वीर रस के दर्शन होते हैं। इनमें मान, भूषण, लाल, सूदन, पद्माकर, जोधराज आदि की कृतिया ही अधिक प्रसिद्ध हैं। क्योंकि इस काल की कविताओं का विशेष गुण ऐतिहासिकता अथवा सत्यप्रियता है। इसलिये वीर रस का चित्रण भी वीरगाथाकालीन रचनाओं से अधिक स्वाभाविक बन पड़ा है जोधराज और चन्द्रशेखर ने प्रेम-प्रसङ्ग को युद्ध का कारण बनाकर पुरानी प्रथा का ही अनुकरण किया है। वीररस के सफल परिणाम की दृष्टि से भूषण इन सब कवियों के भूषण ही ठहरते हैं। इसका कारण था—उनकी शैली, शब्द-व्यंजना और सबसे बढ़कर हृदय का योग, जिसके कारण ही इतनी मार्मिकता आ सकी कि कायरों में भी प्राणों का संचार हुआ। युद्ध की मारकाट, सेना के प्रस्थान और शत्रुओं के भय की दयनीय दशा के सुन्दरतम चित्र देखिये—

१. कुडन के ऊपर कडाके उठे ठौर ठौर।
जीरन के ऊपर खडाके खडगन के॥

२ ऐल फैल खैल भैल, खलक में गैल गैल।
गजन की ठैल पैल सैल उसलत है॥

३, सीनो धक-धकत पसीनो आय देह सब।
हीनो भयो रूप न चितौत बाए दाहिने॥

उपर्युक्त वर्णनों की भाषा ही ऐसी है कि उनसे चित्रोपमता की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। "कडाके उठे ठौर ठौर, खडाके खडगन के" में भाषा भी कितनी कडकती हुई है। भूषण ने शब्दों की तोड़ मरोड भी इसलिये की थी ताकि शब्दों में ओज लाया जा सके। भूषण ने दानवीर के उदाहरण भी दिए हैं। वैसे उनकी कविता की विशेषता है आतंक-चित्रण। लाल और चन्द्रशेखर की कविताओं में कहीं भी कृत्रिमता नहीं आने पाई। भूषण के—तीन बेर खाती ते वे तीन बेर खाती है—इत्यादि वर्णनों में रीतिकालीन रुचि ही दिखाई देती है। परन्तु लाल कवि इससे पूर्णतया मुक्त हैं।

बहुत से विद्वान् राष्ट्रीयता का आरम्भ तृतीय उत्थान (आधुनिक काल) से मानते हैं और भूषण को जातीय कवि ठहराते हैं। परन्तु यह समीचीन नहीं जान पडता। इसका कारण यह है कि वह भूषण को आज की परिस्थितियों में रखकर तोलते हैं। आज की राष्ट्रीयता हिन्दू-मुस्लिम-प्रधान है। भूषण की राष्ट्रीयता हिन्दू राष्ट्रीयता थी। उस समय मुसलमान विदेशी थे। वह हिन्दुओं पर अत्याचार कर रहे थे। हिन्दुओं को हिन्दू बने रहने के लिये टैक्स तक देना पडता था। ऐसे वातावरण में जो भी हिन्दुओं का रक्षक था, वह राष्ट्र का रक्षक था। शिवाजी केवल भूषण के आश्रयदाता नहीं थे, वे सारी हिन्दू जाति के आश्रयदाता थे। भूषण के शब्दों में—

हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की
काधे में जनेऊ राख्यो, माला राखी गर में।

इसलिये तो उन्होंने छत्रसाल की प्रशंसा की और कह उठे—

शिवा को सराहौं कि सराहौ छत्रसाल को।

यदि भूषण चाटुकार होते तो वह बुन्देलखण्ड के एक छोटे से राजा भगवन्तराय के मरने पर यह न कहते—

"टुट्यो कुल खम्ब हिन्दुआने को"

हिन्दुओं की फूट की ओर भी भूषण का ध्यान गया था—

आपस की फूट ही ते सारे हिन्दु आन टूटे

वस्तुतः उस समय गुरु गोविन्दसिंह—'चण्डी-चरित्र' के लेखक—को भी एक राष्ट्र की पूरी कल्पना थी और इसीलिये उन्होंने सुदूर दक्षिण की यात्रा की ताकि शिवाजी के साथ संगठन किया जा सके। परन्तु दुर्भाग्यवश

वह न हो सका। इसलिये भूषण को राष्ट्रीय कवि न मानना उनका और शिवाजी का तिरस्कार करना है।

आधुनिक युग से पहले भी राष्ट्रीयता की मन्दाकिनी प्रवाहित हो रही थी। इसका एक और प्रधान कारण यह है कि राजस्थानी कवि बांकीदास (सं० १८२८—१८६०) ने निम्न पंक्तियां कही थीं—

आयो इङ्गरेज मुलक रे ऊपर
राखो रे किहिक रजपूती, मरदा हिन्दू की मुसलमान।

इन्हीं के समकालीन सूर्यमल की रचनाओं मे भी वीर रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। निम्न पक्तियों म एक राजपूतनी में कितना उच्च विचार दिखाया गया है।

इला न देणी आपसी हालरिए हुलराय।
पूत सिखावे पाल म मरण बढाई माय॥

आधुनिक काल वीर रस की कविता का तृतीय उत्थान है—आधुनिक काल के वीर काव्य पर सबमे बडा प्रभाव अंग्रेज़ो का पड़ा। यूनानी सस्कृति और मुस्लिम-संस्कृति भी वह प्रभाव न डाल सकी, जो अंग्रेज़ी सस्कृति ने थोडे से थोडे समय मे अधिक से अधिक प्रभाव डाला। अंग्रेज़ों की कूटनीति बडी प्रबल थी। लार्ड मैकाले (Lord Macaulay) ने कहा था—"If you want to destory a nation, destory his history first. The nation will be abolished of his own accord." अंग्रेज़ों ने इसी उक्त नीति को अपनाया। हिन्दू सस्कृति नष्ट-भ्रष्ट होने लगी। लोग अपने पूर्वजों को मूर्ख और जंगली समझने लगे। आर्य ग्रन्थों को बकवाद, देवी देवताओं को भ्रम, वीरपूजा को अंधविश्वास और हिन्दुत्व को संकीर्ण हृदयता का नाम दिया जाने लगा। स्वर्गीय ला० हरदयाल ने अपनी पुस्तक "The social conquest of the Hindu race" में अंग्रेज़ों की कूट-नीति पर बड़ा अच्छा प्रकाश डाला है। दूसरी ओर अंग्रेज़ भारत का आर्थिक शोषण भी करने लगे। तीसरी बात अंग्रेजो की चतुराई को और उनके मिथ्या-वायदों को भी भारतीय जनता समझ गई। इन सब बातों का आधुनिक वीर काव्य पर बड़ा प्रभाव पडा और इसके निम्न रूप हो गए।

१. प्राचीनता का गौरव गान

२. देश-प्रेम

३. गान्धी मूलक वीर काव्य

४. प्रगतिवादी वीर काव्य ।

भारतीयों की मानसिक दुर्बलता को दूर करने का केवल एक ही ढंग था कि उनको अपने प्राचीन गौरव की स्मृति दिलाई जाय । भारतेन्दु, राधाकृष्ण दास, प्रसाद आदि की कविताओं में प्राचीन गौरव और भारत की दुर्दशा के ही चित्र मिलते हैं:—

गयो राज धन तेज शेष बल ज्ञान नसाई,
बुद्धि वीरता श्री उछाह-सूरता बिलाई,
आलस कायरपनो निरुद्यमता अवधाई,
रही मूढ़ता बैर परस्पर कलह लड़ाई ॥

—भारतेन्दु ।

हम कौन थे क्या हो गये और क्या होंगे अभी,
आओ ! मिलकर विचारे यह समस्याएं सभी—

गुप्त—भारतभारती ।

प्रसाद जी के नाटक, गुप्त जी का बक-संहार, निराला का शिवाजी के पत्र इत्यादि मे यही स्वर प्रबल है ।

अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहा पहुच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा

—प्रसाद चन्द्रगुप्त ।

गुप्त जी के 'अनघ' और 'साकेत' मे हमें गांधीमूलक सहिष्णुतापूर्ण वीरता के दर्शन होते हैं । अब अत्याचारी के अत्याचार का बदला तलवार के घाव से नहीं, वरन् प्रेम के साथ उसके हृदय-परिवर्तन में है । इस वीरता का आदर्श निम्न पंक्तियों में स्पष्ट हो गया है ।

पापी का उपकार करो, हा
पापो का प्रतिकार करो
किन्तु विरोधी पर भी अपने
करुणा करो न क्रोध करो ।"

माखनलाल चतुर्वेदी तो राष्ट्रीयता के अग्रदूत हैं । इन्होंने अपनी कवि-

ताओं में 'त्याग' को बडा महत्त्व दिया है। फूल की 'अभिलाषा' उनकी रस की दृष्टि से बडी उत्कृष्ट कविता है। सचमुच भारतीय आत्मा ने भारतीय आत्मा को जगा दिया।

गान्धीवाद के साथ २ देश मे क्रान्ति का अनुराग और विद्रोह की ज्वाला के दर्शन भी होते हैं। दिनकर जी की 'हुंकार' मे निस्सन्देह हुंकार ही सुनाई पडती है। नवीन जी एक-एक नई तान ही गाने को कहते हैं। और पंत जी जीर्ण, पुरातन को जीर्ण करने के लिये कहते हैं—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ।
जिसमे उथल-पुथल मच जाए॥—नवीन
गा कोकिल बरसा पावक कण।
नष्ट भ्रष्ट ही जीर्ण पुरातन॥
ध्वस भ्रंश जग को जड बन्धन।—पंत
उठहु चलहु वीर जयध्वजहि उडाओ।
लेहु म्यान सो खड्ग खीचि, रणरग जमाओ॥—भारतेन्दु

हिन्दुत्व तथा हिन्दु-समाज मे सुधार के वीर गीत भी मिलते हैं। भारतेन्दु काल का तो मूल स्वर यही था—

सब मिली बोली एक जबान,
हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्थान॥

वीर रस के उपर्युक्त उदाहरणो से स्पष्ट है कि इस युग से शब्दालंकारों की उपेक्षा की गई है और फिर भी ओज गुण है।

आज जब कि हमारा भारत स्वतंत्र हो चुका है और उसे आने वाले बवंडर का सामना करना है। समयानुकूल राष्ट्रीय गीतो की बडी आवश्यकता है। दिनकर जी को इसीलिये अपनी पुस्तक 'मिट्टी की ओर' में लिखना पडा है—"तुम कब घर आओगे कवि।" वस्तुत उक्त कथन शत-प्रतिशत सत्य है।

भक्तिकाल-हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग

डा० श्यामसुन्दरदासजी अपने हिन्दी साहित्य में लिखते हैं, "जिस युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे सुप्रसिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी उनके अन्त.करणों से निकल कर देश के कोने-कोने में फैली

थी इसे साहित्य के इतिहास में सामान्यतः भक्तियुग कहते हैं। निश्चय ही यह हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग था।"

उक्त मत का समर्थन और भी कई विद्वानों द्वारा हुआ है। इस मत के सत्यासत्य के विवेचन के लिये यह बताना ही होगा, कि हम स्वर्णयुग किसे कह सकते हैं।

अमर साहित्यकाल देश की परिमित सीमा में सीमित नहीं हो जाता। उसका सन्देश सार्वदेशिक, सार्वभौमिक तथा त्रैकालिक होता है। वह युग न होकर युगयुग का होता है। उसका दृष्टिकोण विश्वजनीन होता है। वह किसी एक ही वाद की सकुचित गली में गमन नहीं करता वरन् उसमें विश्व-मानव के हृदय की पूर्ण झाँकी मिलती है। वह सम्पूर्ण मानव-अन्तस्तल की वीणा को समान रूप से झंकृत करने वाला मलय समीरण होता है, जो एक वाटिका से लेकर दूसरी वाटिका तक तथा अपनी विभिन्नता में फूल से लेकर बबूल तक, समान भाव से तथा समान स्थिर गन्ध से बहता है।

जहाँ वह विश्व की चेतना में सांस लेता है वहाँ वह निज देश की भावनाओं के सौरभ से सुगन्धित भी होता है। उसमें जनजीवन की आशा आकांक्षाएँ प्रतिबिम्बित होती हैं। जनता उस साहित्य में अपनी प्रगति और अभिव्यक्ति को खोजती है। यही उसकी लोकप्रियता का कारण होता है उसमें यथार्थ और आदर्श, श्रेय और हेय का सुन्दर योग रहता है। सत्यं, शिवं, सुन्दरं की त्रिवेणी में वह स्नान करता है। भावपक्ष और कलापक्ष से वह चारु चित्रण रहता है।

स्वर्णयुगी साहित्य अपने पूर्व और उत्तर साहित्य से बढ़कर होता है। परवर्ती कलाकारों के लिये अमर साहित्य की रचनाएँ मानदण्ड बन जाती हैं।

उपर्युक्त कसौटी पर हम हिन्दी साहित्य के चारों कालों को परखने का प्रयत्न करेंगे।

हिन्दी के आदिकाल का आरम्भ रणचण्डी के भैरवनाद से हुआ। सारे साहित्य में शस्त्रों की झंकार ही सुनाई देती है। नूपुरों की रुनझुन उसकी सहायता करती है। सारा साहित्य वीर और शृङ्गार रस से अतिरंजित मिलता है। जीवन की दूसरी भावनाओं को उसमें स्थान न मिल सका। उस साहित्य में न तो जातीय चित्त-वृत्तियां मिलती हैं और न विश्वपरक भावनाएँ।

शुद्ध मानमूलक और वीर-दर्पपूर्ण भावनाएँ साहित्य को घेरे हुए हैं। कहीं-कहीं वीर रस का चित्रण भी अस्वाभाविक हो गया है। इसलिये गंगाप्रसाद पाण्डेय ने तुलसी के वीर रस एवं भूषण के शौर्य भाव को अपेक्षाकृत उत्तम बताया है।

वीरगाथाकाल के पश्चात् भक्तिकाल का अवतरण हुआ। वीरता के क्षत-विक्षत शरीर पर शान्ति एवं विरक्ति के लेपन के लिये कबीर सूर तुलसी की भक्ति-भावना उमड़ चली। इस भक्तिकाल का विवेचन हम अन्त में करेंगे।

भक्तिकाल के पश्चात् रीतिकाल का आविर्भाव हुआ। भक्ति की प्रशान्त एवं पुनीत वाटिका में रति की केलि-क्रीडा नृत्य करने लगी। मुक्ति के स्थान पर रति की प्रशंसा होने लगी—

चमक-तमक हाँसी, ससक-मसक झपट लपटानि।
ए जिहिं रति, सो रति मुकति, और मुकत अतिहानि॥

रीतिकालीन कविता ने रसराज के राज में अराजकता फैला दी। कृष्ण और राधा नायक-नायिका के रूप में बनकर रह गये। सरस्वती लक्ष्मी की दासी हो गई। कविता के केवल बाह्य-स्वरूप के ही दर्शन हुए। अन्तः-स्वरूप (भावपक्ष) लुप्त हो गये। कविता निर्जीव हो गई। मदिरा से जैसे गला सूख जाता है, उसी प्रकार सुरा और सुन्दरी के क्षेत्र में विचरने-वाली कविता भी सूख गई। कूप-मण्डूकता ही उसका लक्ष्य हो गया और शेष सब अलक्ष्य हो गया। भूषण और लाल की कविता का आलोक भी रीतिकाल को पूर्ण प्रकाशित न कर सका।

आधुनिक काल अपनी भावाभिव्यक्तियों की विविधता, गद्य के आविर्भाव, विश्वजनीन भावनाओं के कारण स्वर्णयुग कहे जाने योग्य है। परन्तु भक्तिकाल में कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जो आज भी दुर्लभ हैं। आज की रचनायें प्रचार-प्रधान अधिक हैं। उसमें वह अनुभूति की तीव्रता नहीं मिलती जो काव्य का प्राण है। आज भी हमें महादेवी, बच्चन, पन्त, प्रसाद आदि कई कवियों के गीत मिलते हैं। परन्तु क्या वह उतने लोकप्रिय हो सके हैं जितने सूर, तुलसी और मीरा के। आज के कलाकारों के तथ्यपूर्ण कथन क्या उतने व्यवहार में आते हैं जितने कि तुलसी, कबीर आदि की चौपाइयां और

दोहे ? कई विद्वान् भक्तिकाल पर अव्यवहारात्मक होने का दोष लगाते हैं। परन्तु यह उनकी भ्रान्ति है। तुलसी, सूर तथा कबीर की कितनी सुभाषित मालाएं निर्धन के जीर्ण-शीर्ण झोंपड़े से लेकर धनियों की अट्टालिकाओं तक प्रत्यावर्त्तन पा रही है।

आधुनिक साहित्य से भक्तिकालीन साहित्य में एक और विशेषता यह है कि इससे हृदय, मन और आत्मा तीनों पुष्ट होते हैं। आधुनिक साहित्य से हृदय और मन तो परितृप्त हो सकते हैं परन्तु आत्मा को तुष्टि नहीं मिल सकती।

वस्तुतः हिन्दी काव्य में से यदि वैष्णव कवियों के काव्य को निकाल दिया जाये तो जो शेष रहेगा वह इतना हलका होगा कि हम उस पर कदापि गर्व नहीं कर सकते।

"लगभग तीन सौ वर्षों की इस हृदय और मन की साधना के आधार पर ही हिन्दी साहित्य उन्नतमुखी हो सका है। तुलसी, सूर, नन्ददास, मीरा, रसखान, हितहरिवंश, कबीर—इनमें से किसी पर भी संसार का कोई साहित्य गर्व कर सकता है। ये वैष्णव कवि हिन्दी भारती के कंठमाल हैं।"

डा० रामरतन भटनागर का उक्त कथन बिल्कुल सत्य है। हमारे साहित्य-गगन के सूर शशि और उडुगन सभी इसी काल में हुये। उन्हीं से हमारा साहित्य आलोकित है। सूर और तुलसी की प्रतिभा बड़ी उच्चकोटि की थी। उनके काव्य में प्राचीनताकालिक पूजन नहीं। संस्कृत काव्य में कृष्ण पर पर्याप्त मात्रा में रचनायें हो चुकी थीं। महाभारत के कृष्ण राजनीति-विशारद, भागवत के असुर-संहारक, शिशुपाल-वध के वीर नायक और जयदेव के रसिक शिरोमणि मात्र हैं। परन्तु सूर के कृष्ण इन सबसे पृथक हैं। उनका स्वरूप निराला है। वह माखन लपटे नन्दनन्दन, मनमोहन और रसिक-शिरोमणि सब कुछ हैं। वह सुन्दरता के सागर हैं, जहाँ सब रतन प्राप्त हो जाते हैं। सूर ने जैसा कृष्ण का बाल वर्णन किया है वैसा वर्णन विश्व-साहित्य में नहीं मिलता। आधुनिक युग के कृष्णायन महाकाव्य में भी द्वारिकाप्रसाद मिश्र ने बालवर्णन किया परन्तु वह सूर के वर्णन की छाया भी नहीं छू पाये। सूर अपनी बंद आँखों से बाल्य जीवन की मधुर क्रीड़ाओं का मनोवैज्ञानिकता और स्वाभाविकता से कैसे चित्रण कर सके यही

आश्चर्य का विषय है।

मातृ-हृदय का जैसा सुन्दर परिचय सूर ने दिया वह भी विश्व-साहित्य में देखने तक को नहीं मिलता—माता की चिन्ता, आशंकशीलता इत्यादि सभी का बड़ा मनोवैज्ञानिक वर्णन सूर ने किया है। इस क्षेत्र मे सूर अद्वितीय हैं। वात्सल्य रस तो प्रसिद्ध ही सूर के कारण हुआ।

संयोग श्रृंगार और विशेषतया वियोग श्रृंगार का वर्णन जैसा सूर ने किया है वह हिन्दी साहित्य में अप्रतिम है इस क्षेत्र मे उन्होने ऐसी मनोदिशाओ का परिचय दिया है जिनका नामकरण तक नही हो सका। सूर के भ्रमरगीत के समान उत्कृष्ट भ्रमरगीत अभी तक नहीं लिखा जा सका। जिस अतर्क उक्तिवैचित्र्य भावुक हृदयविमोहिनी भावुकता से सूर की गोपियां उद्धव को परास्त करती हैं, 'वे लडते हैं हाथ मे तलवार भी नहीं' की उक्ति को सत्य कर देती हैं। गोपियों को बात तो एक ही कहनी होती है कि वे कृष्ण के प्रेम के अतिरिक्त किसी और साधन को नहीं अपना सकतीं। परन्तु इसी एक बात को वह जिस अनेकता से व्यक्त करते हैं वह पढ़ते ही बनती है—

१ अखियाँ हरि दर्शन की प्यासी।

२ उद्धव को उपदेश सुनो किन कान दै।

३ उर मे माखन चोर गढे।
अब कैसेहु निकसत नाही, उद्धव तिरछ ह्वै जो अडे॥

४ उद्धव हरि हारिल की लकरी।

५ उद्धव मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम सग को आराधै ईस।

और फिर कभी वह कहते हैं कि हमें तो कुछ नहीं। बेचारी गैयों की बुरी अवस्था है, वह सूखती जा रही हैं। और कभी कहती हैं कि मथुरा से जो आते हैं, वह सारे काले ही आते हैं, ऐसी उक्तियों पर हम अपना सारा ज्ञान-विज्ञान निछावर कर सकते हैं, और फिर इन सबको भी उन राग-रागनियों मे व्यक्त किया गया है कि आज भी हमारे हृदय के तार-तार झंकृत हो उठते हैं। कला-मर्मज्ञ तानसेन ने यदि यह कहा—

किधौ सूर को सर लग्यौ, किधौ सूर की पीर।
किधौ सूर को पद सुन्यौ, तन मन धनत सरीर॥

और नाभादास ने यदि यह कहा—

सूर कवित सुन कौन कवि, जो नहिं सिर चालन करे।

तो इन कथनों से कोई अत्युक्ति नहीं। आज के बुद्धिवादी नास्तिक भी इन गीतों को सुनकर सुधबुध भूल जाते हैं। जो गीत आज हमें प्रफुल्लता दे सकते हैं, तत्कालीन जनता में वह जीवन के प्रति कितनी आस्था का संचार कर सके होंगे—यह कहने की आवश्यकता नहीं। निस्सन्देह सूर सूर ही थे। सूर का काव्य युग का काव्य न होकर युग-युग का हो गया है।

सूर व्रज-भाषा-राका-रजनी के राकेश थे। व्रजभाषा को काव्य की भाषा बनाने का श्रेय उन्हीं को है।

तुलसी के इष्टदेव राम थे। संस्कृत साहित्य में राम पर प्रचुर मात्रा में साहित्य मिलता है। वाल्मीकि रामायण, अध्यात्मरामायण और रघुवंश-महाकाव्यादि का शृंगार राम ने ही किया। तुलसी के राम अपने पूर्व साहित्य से भिन्न कोटि के हैं। उन्होंने चबाये हुए चने नहीं चबाये। परन्तु इसमें भी उनकी मौलिक प्रतिभा के दर्शन होते हैं। एक तो उन्होंने राम को शक्तिशील और सौन्दर्य से समन्वित किया, जिससे वह मनुष्य की सम्पूर्ण रागात्मिका प्रकृति के परिष्कार और प्रसार में समर्थ हो सके। दूसरा उन्होंने वाल्मीकि और कालीदास के कवित्व और अध्यात्म-रामायण की आध्यात्मिकता का वह अद्भुत संयोग कराया कि एक ओर तो भगवती भारती की अप्रतिम प्रतिमा मानस चिरपिपासाकुल संसारसंतप्त पथिकों के लिये सुशीतल सुधा-स्रोत-सरस्वती, पुण्यसलिला, रामभक्तिमंदाकिनी की धवल धारा वहा दी और दूसरी ओर वह हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य होने का गौरव प्राप्त कर सकी। श्रीरामनाथ सुमन विश्वसाहित्य की साम्राज्ञी कामायनी को यदि उपमा दे सके तो रामचरितमानस से ही। वह लिखते हैं—"कामायनी आधुनिक युग की रामचरितमानस है। श्रीयुत बाबू शिवनन्दन सहायजी मानस के सम्बन्ध में लिखते हैं—"लाखों जन उसे अपना जीवन-सर्वस्व समझते हैं। करोड़ों इसी का आश्रय कर कतिपय कुत्सित कर्मों से बचते हैं। कितने इसके पाठ से विरक्त साधु बन जाते हैं एवं कितने पंडित और ज्ञानी कहलाने लगते हैं। सामाजिक व्यवहार नीति, राजनीति आदि नीतियों का शास्त्र कहलाने का यह ग्रन्थ अधिकारी है।" उनके रामराज्य

का आदर्श सारे विश्व के लिये अनुकरणीय है। इस प्रकार रामचरित मानस में सत्यं शिवं सुन्दर तीनों की उपलब्धि हो सकती है। जो बात अंग्रेजी में ताजमहल के लिये कही गई है—"उन्होंने दानवों की भांति बलात्कार से उसका निर्माण किया और जौहरियों की भांति एक-एक फूल पत्ती की पच्चीकारी की"—(They built like giants and finished like jewellers) वह रामचरितमानस के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होती है। नन्ददासजी तो केवल गढ़िया ही थे, तुलसीदास जड़िया और गढ़िया दोनों थे।

तुलसी की विनयपत्रिका का अपना एक अलग ही महत्व है। यह कृति ज्ञानियों की सिद्धान्त-मंजूषा, पंडितों की पाण्डित्य निकष है, योगियों की समाधिस्थली है एवं प्रेमियों और भक्तों की मानस-तरंगिणी।

तुलसी ने राम पर इतना लिखा और इतना उच्च कोटि का लिखा कि परवर्ती कवि रामचरित उपाध्याय, गुप्तजी इत्यादि कोई भी उनकी समता नहीं कर सकता।

डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में "कबीर ने अपनी प्रगट भाषा और तीखी भाव-व्यजंना से जिस काव्य का सृजन किया वह साहित्यिक मर्यादा का अतिक्रमण भले ही कर गया हो किन्तु उसके द्वारा साहित्य और धर्म में युगान्तर अवश्य आया। हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की साम्प्रदायिक सीमा को तोड़ कर उन्हें एक ही भाव धारा में बहा ले जाने का अपूर्व बल कबीर के काव्य में था।

गुरु नानक दादू इत्यादि सब संतों का अपना-अपना प्रभाव जनता पर पड़ा। इन सब बातों से पता चलता है कि भक्तिकाल का दर्शन बड़ा ठोस था और उसका जाति पर बड़ा ठोस प्रभाव पड़ा।

अब मतवाली मीरा के सम्बन्ध में क्या कहा जाय जिसका नाम लेते ही पीड़ा का स्मरण हो आता है। इस प्रणय की दीपशिखा का असाधारण प्रेम असाधारण रूप में ही प्रगट हो उठा था। सूर जैसी वाग्विदग्धता भी मीरा में नहीं, कबीर की दार्शनिकता का आग्रह भी नहीं, विद्यापति की ऐन्द्रिकता भी नहीं, तुलसी जैसा पांडित्य भी नहीं, सहज सुकुमार सरल भावना ही गीतों में साकार हो उठी है। इनके गीतों में आकुलता की तीव्र धारा का उन्मुक्त प्रवाह है। वृत्ति की सरल स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। जिसमें

लता है, त्रास है, मार्मिकता है, स्निग्धता और उच्छ्‌वास है। शब्द और संगीत एकाकार हो उठे हैं। भाषा और भाव में व्यवधान नहीं रहता। इनके गीत हृदय के अतल तल को छूकर रस-स्निग्ध कर देते हैं। महादेवी को भी यदि कोई उपमा दी जा सकी तो भक्तिकाल की दरद दीवाणी मीरा से ही। परन्तु मीरा के गीतों में जो श्रोताओं में पवित्र पागलपन (Divine madness) लाने की शक्ति है वह अभी तक महादेवी के गीतों मे नहीं आ सकी।

इस प्रकार भक्तिकाल में हमें सब कुछ प्राप्त होता है—सूर, शशि और उडुगन, प्रेमाख्यान परम्परा के जगमगाते रत्न जायसी भी हुए जिन्होंने हिन्दी का पहला सफल महाकाव्य लिखा। वह मुसलमान थे। इसलिये उनकी महानता और भी बढ़ जाती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सूर और तुलसी की राम-कृष्ण कथा ने जनता के लिये एक साथ प्रार्थनाभवन, शिक्षागृह और कला-मण्डप का निर्माण किया है। जुलाहे के ताने बाने पर बुने गीत धरती के व्यक्त और दर्शन के गहन अव्यक्त को समान अधिकार दे सके हैं। मीरा के सरस माधुर्य सागर में डुबकियां लगा के मनुष्य दर्शन, धर्म, साहित्य और कला मे एकदम ऊपर उठ जाता है।

इस तरह भक्तिकाल का साहित्य लोक-परलोक को एक साथ स्पर्श करता है। उसकी आत्मा भक्ति है, उसका जीवन स्रोत रस है, उसका शरीर मानवी है। भारतीय संस्कृति और आचार-विचार की पूर्णतः रक्षा हुई है। आत्म-निर्माण और अपरिग्रह का सन्देश तो इनमें प्रत्येक कवि का जीवन ही देता है—"सन्तन को कहा सीकरी सो काम" परन्तु साथ ही तुलसी की भांति उस काल के कवि यह भी सोचते हैं—

"परहित-निरत निरन्तर मन क्रम वचन नेम निबहौंगे।"

उनकी रचना स्वान्तसुखाय भी सर्वान्तसुखाय है। वस्तुतः वसुधैव कुटुम्बकम्' का सजीव चित्रण जैसा इस काल की तूलिका से निःसृत हुआ वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। उद्‌भ्रान्त मानवता के विमल अन्तस्तल में सत्य की ज्योति जगाना, आत्महतों को आत्म-सजीवन प्रदान करना ही तत्कालीन कवियों का प्रमुख उद्देश्य था। अतः गंगाप्रसाद पाण्डेय के शब्दों मे हम कह सकते हैं—"यदि काव्य को ही साहित्य मान लिया जाय तो यह काल हिन्दी साहित्य ही क्या, सारे विश्वसाहित्य का निश्चय ही स्वर्णयुग है।"

मेरी रुचि का कवि

बिहारी

भारतीय रस-सम्प्रदाय के धुरंधर आचार्यों ने शृङ्गार रस को रसराज माना है। संस्कृत का अधिकांश काव्य शृङ्गार रस से आप्लावित है। कवि-कुलगुरु कालिदास शृङ्गार रस के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। हिन्दी साहित्य के निर्माण-काल में प्रारम्भ से लेकर अब तक संस्कृत साहित्य ही उसका आदर्श बना है। अत. रसराज की परम्परा को अकुण्ठित रखने के लिए हिन्दी साहित्य में भी त्रिदेव के सदृश तीन अनुभूति-प्रधान कवि उत्पन्न हुए। विद्यापति, बिहारी और देव। ये तीनों ही निजानुभूति से शृङ्गार रस के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्वों के जानने वाले थे।

रसिक-शिरोमणि बिहारी ने हिन्दी साहित्य में जो प्रतिभा का चातुर्य और शृङ्गार रस का पूर्ण परिपाक प्रदर्शित किया, उसका अपना महत्वपूर्ण स्थान है। हिन्दी साहित्य मे शृङ्गार रस के जितने भी ग्रन्थ लिखे गये, उनमें सबसे अधिक विख्यात बिहारी-सतसई है। महाकवि तुलसीदास की अमर कृति 'रामचरितमानस' को छोड कर सबसे अधिक चवालीस टीकायें बिहारी सतसई पर हुई। ये सब इसकी प्रसिद्धि के द्योतक हैं। इसकी प्रशंसा में ब्रजभाषा-भाषियों के मधुर कण्ठ से अचानक ही यह दोहा फूट पडता था—

"ब्रजभाषा बरनी सबै, कविवर बुद्धि विसाल।
सब की भूषन सतसई, रची विहारीलाल॥

ब्रजभाषा भाषियों के अतिरिक्त वर्तमान काल के प्रारम्भ में भी अनेक आलोचकों ने बिहारी-सतसई की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की, राधाचरण गोस्वामीजी ने तो बिहारी को सर्वश्रेष्ठ कवि माना है। उनका कथन है कि यदि 'सूर सूर तुलसी ससी उडगण केशवदास' हैं तो बिहारी हिन्दी साहित्य-गगन के शोभायमान पीयूषवर्षी मेघ हैं, जिसके आच्छादनमात्र से सूर्य, शशि और उडगण अदृश्य हो जाते हैं। यद्यपि यह कथन ...

हो सकता है किन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि बिहारी सतसई में स्वाभाविक प्रतिभा, चमत्कार तथा रस-परिपाक के पूर्ण तत्व उपलब्ध होते हैं, जिनसे उसका महत्व अत्यधिक बढ़ गया है।

आज के युग में बिहारी-सतसई पर अनेक कटु आलोचनायें की जाती हैं और उस पर उद्दङ्कना एवं असन्तोष का आघात किया जाता है। ऐसे आलोचकों का मत है कि बिहारी ने शृङ्गार की रहस्यमयी गोपनीय बातों का स्पष्टीकरण किया है, किन्तु हमारी विनम्र सम्मति में तो यह आता है कि उस पर उद्दङ्कना करने से पूर्व बिहारी को ऐसी शृङ्गारमयी प्रेरणा कहाँ से और किन परिस्थितियों से प्राप्त हुई, यह जानना आवश्यक है। सर्वप्रथम हिन्दी के मूलस्रोत सस्कृत साहित्य मे शृंगार रस की प्रधानता रही है। हिन्दी के प्रारम्भिक वीरगाथाकाल में काव्य की उद्भावना में कुमारियाँ कारण बनीं। भक्तिकाल में इष्टदेव के प्रति आराधना मे माधुर्य भावना ही मूल कारण थी। भक्त कवियों ने आत्मा परमात्मा को पति-पत्नी या प्रेयसी प्रियतम के रूप मे प्रतीक मानकर शृंगार की धारा प्रवाहित की। इसके अतिरिक्त तत्कालीन विदेशी भाव भी हमारे देश में फैल रहे थे। मुसलमानों ने भारत भूमि पर जमकर अपनी विलासिता और शृंगार की सामग्री को जनता में बाँटना प्रारम्भ किया। शनै शनैः मुसलमानी प्रभाव भारतीयों के हृदय पर जमने लगा और साथ ही शृंगार की अग्नि मे घृत डालने लगा। भक्तिभाव से लोगों की प्रवृत्ति हटी और विलासिता की ओर झुकी। यही समय हिन्दी साहित्य में रीतिकाल के नाम से चलने लगा। लक्षण-ग्रन्थों का सूत्रपात होने लगा। कविता 'स्वान्तःसुखाय' न होकर 'स्वामिन.सुखाय' बन गई। रीतिकाल के प्रथम आचार्य केशवदास ने लक्षण-ग्रन्थों के निर्माण द्वारा शृंगार की स्थापना बड़े बलपूर्वक की। इन सब परिस्थितियों और प्रभावों से उस युग में कोई भी रसिक अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता था। इसी रसमयी भावना से बिहारी की सुप्त रसिक भावना प्रतिभा को लेकर जागृत हो उठी। इस पर भी यदि यह आक्षेप लगाना नितान्त निराधार है कि बिहारी ने शृंगार रस में नायक नायिका के भेदोपभेद के आवरण को हटाकर अश्लील का प्रचार किया। इस आक्षेप का नम्र निवारण यही है कि आज की सभ्यता के युग में बिहारी की जैसी वासनामयी कविता

के अभाव में भी सब युगों से अधिक अनाचार और अश्लीलता का प्राबल्य है। जितनी शृंगार की सामग्री लिपस्टिक, पाउडर(Lipstick, Powder) आदि पर करोड़ों रुपये व्यय हो रहे हैं, उतना बिहारी के युग में दशांश भी नहीं हुआ होगा।

बिहारी सौन्दर्य का उपासक था। सौन्दर्य का दर्शन उसको प्रेमी और प्रेमिका के प्रणय-व्यापार मे अधिक हुआ करता था। प्रणय की यह क्रीड़ा ही शृंगार की धारा बन कर फूट पड़ी। अंगरेजी साहित्य में कीट्स (Keats) सबसे अधिक सौन्दर्यप्रेमी और शृंगार रस का महाकवि हुआ है। उसकी ऐन्द्रियिक लिप्सा (Sensuality) प्रसिद्ध है। कीट्स केवल सौन्दर्य को ही सत्य मानता था। उसका कथन ही उसके सिद्धान्त को प्रकाशित करता है—

"Beauty is truth, truth beauty, That is all."

इस सौन्दर्य प्रेम और सौन्दर्यमय सत्य के सिद्धान्त से कीट्स अंगरेजी साहित्य मे अमर कवि बन गया। बिहारी का सौन्दर्य प्रेम 'कीटस' से किसी प्रकार कम नहीं था। उन्होंने अपने ग्रन्थ का प्रारम्भ ही आराध्यदेवी के प्रभावोत्पादक सौन्दर्य से किया। 'कीटस्' की चित्रांकन शैली (Pictorial quality) अत्यन्त प्रसिद्ध है और अंग्रेजी साहित्य मे उसने अपनी विजय की तूती बजा दी। निम्नलिखित चार पंक्तियां उसके सौन्दर्यमय चित्रों की परिचायिका हैं —

"I met a Lady in the meads,
Full beautiful—a faery's child,
Her hair was long, her foot was light,
And her eyes were wild."

बिहारी इस कला म तो 'कीट्स' से आगे बढ़े हुए परिलक्षित होते हैं। वे जहाँ कहीं किसी को सौन्दर्य की स्थिति में खड़ा हुआ देख लेते हैं, उसी क्षण अपनी लेखिनी की तूलिका में उस चित्र को भर लेते हैं और रागमय शब्दों के सामंजस्य से सब के हृदय पटल पर एक सुन्दर चित्र को अंकित कर देते हैं। कृष्ण बैठे हुए हैं, राधा कृष्ण को मक्खन खिलाने के लिए छींके पर से हण्डिया उतार रही है। एक हाथ से छींके को पकड़ रखा है

और दूसरे हाथ में हंडिया को उठा लिया। राधा की यह स्थिति कृष्ण को मोहित कर लेती है। उस समय कृष्ण तुरन्त बोल पड़ते हैं कि तुम्हारे खड़े रहने की यह स्थिति मुझे भली लगी, थोड़ी देर ठहर जा, मैं चित्र खींच लूँ।

"अहे दहेंडी जिनि धरै, जिनि तू लेहि उतारि।
नीके है छीके छुए, ऐसो ही रहि नारि॥"

इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर नायिका नायक को चित्र देखते हुए देखकर सन्देह करने लग जाती है और वह जानना चाहती है कि नायक किसके चित्र को देखते हुए स्वयं तल्लीन होकर चित्र से बन गये हैं। यद्यपि वह चित्र नायिका का ही था किन्तु सन्देह ने नायिका को उत्सुक बना दिया। अब उसी का चित्र होने से इतनी प्रसन्न हो गई कि नायक को देखते-देखते वह स्वयं चित्र सी बन गई। बिहारी ने इस चित्र को कैसे चमत्कारपूर्ण अंकित किया—

"डुचिते चित चलति न हलति, हँसति न झुकति विचारि।
लिखत चित्र पिय लखि, चितै रही चित्र सी नारि॥"

इतने पर भी बिहारी सन्तुष्ट नहीं होते। उनकी दृष्टि में सौन्दर्य के सच्चे चित्रकारों की न्यूनता है। वे तुरन्त कह उठते हैं —

"लिखन बैठी जाकी छवि, गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥"

इन शब्द चित्रों के द्वारा बिहारी की कविता में अनूठी मौलिकता पाई जाती है। इस कला में वे बड़े सिद्धहस्त एवं सफल चित्रकार प्रमाणित हुए। आधुनिक युग के प्रसिद्ध ब्रजभाषा-कवि जगन्नाथदास रत्नाकर ने बिहारी का ही शुद्ध अनुकरण किया। वियोग वर्णन मे भी रत्नाकर जी ने बिहारी का अनुकरण किया। बिहारी ने विरह के विषम ताप से सन्तप्त नायिका को बड़ी विदग्धता के साथ दूती द्वारा नायक से सुदर्शन देने की प्रार्थना कराई और साथ ही सुदर्शन शब्द से सुदर्शन चूर्ण का संकेत करके अपने वैद्यक के ज्ञान का परिचय दिया है—

"यह बिनसतु नगु राखिकै जगत बड़ो जसु लेहु।
जरी विषम जुर जाइये आप सुदरसनु देहु॥"

रत्नाकर जी ने उद्धव शतक में गोपियों के द्वारा इसी प्रकार के शब्द कहलवाये —

"रस के प्रयोगनि के सुखद सुजोगनि के
जेते उपचार चारु मजु सुखदाई है।
तिन के चलावन की चर्चा चलावै कौन
देत ना सुदर्सन हूँ यौ सुधि सिराई है... ॥"

सभी आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा माना है। रस परिपाक की दृष्टि से विहारी के दोहे रस से भरपूर मिलेंगे। यद्यपि विहारी ने कोई लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखा तथापि उनके दोहों की पृष्ठभूमि मे उस समय के रीतिग्रन्थों का पूरा विधान परिलक्षित होता है। रस सामग्री में सभी भाव अपना महत्व रखते हैं किन्तु विभावों का और अनुभावों का जैसा सीधा वर्णन हो सकता है, वैसा स्थायी और संचारियों का नहीं। ये अधिकतर अनुभावों के द्वारा अनुमेय ही रहते हैं। किसी मानसिक अवस्था को उस के नाम से बतलाने में तो स्वशब्दवाच्यत्व दोष आ जाता है। अनुभावों के अन्तर्गत ही सात्विक भाव आजाते हैं। विहारी ने इन्हीं अनुभाव और विभावों द्वारा शृंगार रस को व्यक्त करके आचार्यत्व की कोटि मे भी अपने को परिगणित कराया। निम्नलिखित दोहा रस सामग्री को उपस्थित करने में अत्यन्त सफल हुआ है—

"स्वेद-सलिलु रोमाच कुसु, गहि दुलही अरु नाथ।
दियौ हियौ सग हाथ कै, हथ लेयै ही हाथ ॥"

इस दोहे में वर वधू आलम्बन और आश्रय हैं। अतिशय प्रेम प्रकट होने से यहाँ पर रस व्यग्य है। रोमान्च और स्वेद अनुभाव हैं। हर्ष आदि सचारी भाव अनुमेय हैं। उद्दीपन विभावों के द्वारा व्यंग्य संयोग रस की निष्पत्ति को सूचित करने वाला निम्नलिखित दोहा सुन्दर उदाहरण उपस्थित करता है।

"भौहँ उचै आँचरु उलटि, मौर मोरि मुँह मोरि।
नीठि नीठि भीतर गई, डीठि डीठि सो जोरि ॥"

विहारी में सबसे अधिक विशेषता समासगुण या समासपद्धति की थी। उन्होंने अपनी कविता के लिए दोहा या सोरठा दोनों का ही प्रयोग किया।

उनकी समस्त रचना मुक्तक है। दोहा मात्रिक छन्दों मे बहुत छोटा होता है। इतने छोटे से साचे में कवि को कितनी ही बातें कहनी रहती हैं। भाव की सारी साम ी या रस का चक्र स्थापित इसी दोहें मे करना पड़ता है। इस लिए दोहे मे सफलतापूर्वक कुछ कहना सुनना कठिन कार्य है। आचार्य शुक्ल जी की शब्दावली का प्रयोग करते हुए हम कह सकते हैं कि सफल मुक्तककार के लिए जो कल्पना की समाहार-शक्ति और भाषा की समास-शक्ति वाञ्छनीय है, वह बिहारी में पूरी तौर से वर्तमान थी। बिहारी की यह विशेषता है कि वे कल्पना के सहारे बहुत से चित्रों को एक साथ उपस्थित कर देते हैं। जैसे—

"बतरस-लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ।
सौहँ करै, भौंहनु हँसै, दैन कहै नटि जाइ॥

इसके द्वारा कवि ने नायिका की सजीवता, चपलता और विनोदप्रियता का चित्र अंकित कर दिया है। बिहारी के अधिकांश दोहों में अर्थगाम्भीर्य पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। सस्कृत साहित्य मे अर्थगम्भीरता के लिए महाकवि भारवि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। 'भारवेरर्थगौरवम्' यह कहकर उनका स्थान महत्वपूर्ण बताया गया है। उनकी अमर कृति 'किरातार्जुनीय' के ११वें सर्ग में वृद्धवेशधारी इन्द्र के मुख से अर्जुन को वे विषयविराग का उपदेश दिलाते हैं।

"शरदम्बुधरच्छाया गत्वर्यो यौवनश्रिय।
आपातरम्या विषया पर्यन्तपरितापिन॥"

बिहारी भी अपने आश्रयदाता जयपुर के महाराज जयसिंह को नवागत रानी के प्रेमपाश से एक छोटा सा दोहा लिखकर हटाते हैं। भारवि के सदृश अर्थगाम्भीर्य निम्नांकित दोहे में कितना सुन्दर व्यक्त होता है।

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहिं काल।
अली कली ही सौं बिन्ध्यौ आगे कौन हवाल॥"

संस्कृत-साहित्य में भौंरे पर लिखने की ऐसी परम्परा बहुत थी किन्तु जो रस और जो समासगुण की व्यंजना उपर्युक्त दोहे में हुई, वह निम्न-लिखित श्लोक में नहीं हो पाई—

"अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृग ! लोल विनोदय मन सुमनोलतासु ।
मुग्धामजातरजस कलिकामकाले व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकाया ॥"

इस श्लोक में विहारी की जैसी शक्ति और व्यंजना नहीं आ सकी विहारी के कथन की ही ऐसी विशेषता है। इस समासपद्धति और अर्थगाम्भीर्य को देख कर ही किसी ने विहारी के दोहों के सम्बन्ध में यह अमर उक्ति कही थी—

"सतसैया के दोहरा, ज्यो नावक के तीर ।
देखत को छोटे लगै, घाव करैं गम्भीर ॥"

अलकारप्रियता मानव जाति के लिये कुछ स्वाभाविक-सी है। यह अलंकारप्रियता मानव जाति के रक्त में बिन्धी हुई है। इसका मूल आत्म-प्रदर्शन की सहज प्रवृत्ति मे है। भाषा के अलंकारों के मूल में आत्मप्रदर्शन की ही प्रवृत्ति नहीं है अपितु आत्माभिव्यक्ति की भी प्रवृत्ति है। प्राचीनकाल में काव्यगत अलंकारों की प्रधानता होती थी। जब हृदय में तरंगित भावो को व्यक्त करने के लिये साधारण भाषा कमजोर पड जाती है, तब आलंकारिक भाषा मे व्यक्त करने मे बल आ जाता है। अलंकारों के प्रयोग से मानसिक चित्र उपस्थित किये जाते हैं और अमूर्त्त को मूर्त्त के रूप मे रखा जाता है। संस्कृत-साहित्य मे 'उपमा कालिदासस्य' कहकर कविकुल गुरु कालिदास को अलंकारों के प्रयोग में अत्यन्त सफल एवं सिद्धहस्त माना गया है। विहारी की रचनाओं मे उपमा, रूपक, सांगरूपक, श्लेष, अनुप्रास, यमक, अन्योक्ति और उत्प्रेक्षा आदि अलकारों का चमत्कारपूर्ण प्रयोग हुआ है। निम्नलिखित दोहे में सागरूपक अलकार की बडी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है—

'खौरि पनिच, भृकुटी धनुष, बधिक समरु तजि कानि ।
हनतु तरुन मृग तिलक-सर सुरकभाल, भरि तानि ॥"

शब्दश्लेषालंकारों मे उनका एक दोहा बहुत ख्याति को प्राप्त हुआ—

"चिर जीवौ जोरी जुरै, क्यो न सनेह गम्भीर ।
को घटि, ए वृषभानुजा, वे हलधर के वीर ॥"

रीतिकाल के अन्य कवि विशेषकर केशवदास जैसे विहारी ने अलंकार के हेर-फेर में पड़कर अपने इष्टदेव को निकृष्ट उपमाओं से नहीं सजाया और न ही अपनी नायिका के स्वाभाविक सौन्दर्य को दबने दिया। बिहारी की

काव्यगत नायिका कोमलांगी है। वह स्वाभाविक सुन्दर है। यदि वह अलंकारों को धारण करे तो उसके प्राकृतिक सुन्दर दर्पण सदृश अंगों पर मोरचे लग जाते हैं—

"पहिरि न भूषन कनक के, कहि आवत इहि हेतु।
दरपन के से मोरचे, देह दिखाई देतु॥"

कालिदास की शकुन्तला के समान ही बिहारी की काव्यगत नायिका को अलङ्कार या भूषणों की आवश्यकता नहीं। वह स्वयं सुन्दरी है। कालिदास की शकुन्तला भी ऐसी थी—

"सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्,
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।"

बिहारी की अन्योक्तियाँ अत्यन्त प्रभावोत्पादक हैं। उनकी अन्योक्ति से ही महाराजा जयसिंह का हृदय-परिवर्तन हो गया। इसी प्रकार उन्होंने एक अन्योक्ति द्वारा मुसलमानों के आश्रय मे रहकर हिन्दुओं पर चढ़ाई करनेवाले अपने आश्रयदाता को करारी फटकार सुनाई—

स्वारथु, सुकृतु न, श्रमु वृथा, देखि विहग विचारि।
बाज, पराये पानि परि, तू पच्छीनु न मारि॥"

उनकी एक दूसरी अन्योक्ति हमारे दैनिक जीवन में निरन्तर काम आती है। मनुष्य अपने सुख के लिये अनेक प्रयत्न करता रहता है किन्तु वह उन्हीं प्रयत्नों में ऐसा उलझ जाता है कि वे उसके बन्धन बनकर उपस्थित होते हैं। संस्कृत में भी कहा गया है कि—'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्' इस बात को बिहारी ने बडे सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है—

"को छूटयो यहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात।
ज्यों-ज्यो सुरझि भज्यो चहत, त्यों-त्यो उरझत जात॥"

प्राचीन आचार्यों ने उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत प्रकृति का वर्णन आवश्यक माना है। आज समय के परिवर्तन के साथ-साथ लोगों के दृष्टिकोण मे भी परिवर्तन हुआ। छायावादी युग मे तथा इस समय भी प्रकृति का वर्णन आलम्बन विभाव के रूप मे ही अधिक अभीष्ट है। रीतिकालीन युग में

प्रकृति का वर्णन उद्दीपन के रूप में ही हुआ। इस प्रचलित परम्परा के साथ कविवर बिहारी ने यत्र-तत्र प्रकृति का वर्णन किया और कहीं शुद्ध रूप मे भी प्रकृति का स्वाभाविक सौन्दर्य परिलक्षित होता है। ग्रीष्म के सन्ताप से परितप्त स्वाभाविक वैरी हिंसक पशु भी निस्सहाय होकर एक दूसरे पर आक्रमण नहीं कर पाते। इस दृश्य को देखकर कवि को तपोवन की स्मृति जाग उठी और वे कहते हैं—

"कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोवन सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ॥"

सभी ऋतुओं में वसन्त और शरद् ऋतु श्रेष्ठ मानी गई हैं। ग्रीष्म की प्रचण्डता से लोग सन्तप्त होते हैं और वर्षा के घन-घोर मेघों से ससार मे भय और आतङ्क छा जाता है। ऐसे समय मे केवल शरद् ऋतु ही सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित करती है। कवि के वचनों मे इस तथ्य का कैसा निरूपण हुआ है—

"घन घेरो छुटिगो हरीष, चली चहूँ दिशि राह।
कियो सुचैनो आप जग, सरद् सूर नर नाह॥"

बहुज्ञता मे बिहारी किसी प्रकार पिछड़े हुए नहीं है। उन्होंने अपनी सतसई मे प्रायः सभी विषयों की जानकारी का परिचय दिया है। संसार की अधिक-से-अधिक जानकारी रखना कवि को आवश्यक है। मम्मट आचार्य ने काव्य के अनुशीलन के साथ-साथ शास्त्र और लोक-व्यवहार का अनुशीलन आवश्यक माना है। बिहारी ने अनुभव की कितनी ही बातें लिखीं। निम्नलिखित पद्यों में बिहारी की दार्शनिक योग्यता का परिचय मिलता है—

"अजौं तरयौना ही रह्यौ, श्रुति सेवत इक रग।
नाकवास बेसरि लह्यौ, बसि मुकुतन के सग॥
जगत जनायौ जिहि सकलु, सो हरि जान्यौ नाहिं।
ज्यौ आँखिनु सब देखियै, आँखि न देखी जाहिं॥"

इन दार्शनिक विचारों के अतिरिक्त ज्योतिष, आयुर्वेद, गणित और राजनीति के अनेक विषयों पर बिहारी ने अपनी सफल लेखनी चलाई। बिहारी को शृङ्गारिक कवि होने के कारण जो निर्मूल दोष देते हैं, उनको बिहारी के

भक्ति-सम्बन्धी दोहे भी देखने चाहिए। यदि वस्तुतः वे विलासी होते तो यह दोहा नहीं लिखते—

"भजन कह्यौ तासों भज्यौ, भज्यौ न एकौ बार।
दूर भजन जासों कह्यौ, सो तू भज्यौ गँवार॥"

मन रूपी मन्दिर में प्रभु के आगमन के लिये मार्ग स्वच्छ होना आवश्यक है और कपट रूपी किवाड़ों का खुल जाना परमावश्यक है। इस बात को किसी से विहारी ने व्यक्त किया—

"तौ लगि या मन सदन में, हरि आवैं किहि बाट।
विकट जटे जौलौं निपट, खुलै न कपट कपाट॥"

रीतिकाल में विहारी जी का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। उनके भावों और काल्पनिक चित्रों के साथ-साथ शब्दावली चलती रहती है। मधुर रस के लिये उन्होंने माधुर्यमयी व्रजभाषा को ही अपनाया और मानो मणिकाञ्चन का सुन्दर संयोग उपस्थित किया। व्रजभाषा के अन्य कवियों में शब्दों को तोड़-मरोड़ कर विकृत करने की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। भूषण और देव ने शब्दों का अंग-भंग किया और कहीं-कहीं मन-गढ़न्त शब्दों का व्यवहार किया। विहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। निम्नलिखित दोहे में भाव-शबलता के साथ-साथ शृङ्खलाबद्ध भाषा का कितना सुन्दर उदाहरण है—

"कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत खिलत लजियात।
भरे मौन में करत हैं नैननु ही सब बात॥"

इस विशाल गुण-सम्पन्नता के कारण विहारी का हिन्दी साहित्य पर बहुत प्रबल प्रभाव पड़ा। उन्होंने सतसई की रचना करके कितने ही कवि और लेखकों को सतसई लिखने की प्रेरणा प्रदान की। इस ग्रन्थ का इतना मन्थन, पठन-पाठन और अनुशीलन हुआ कि जिससे काव्य-सम्पत्ति की और शब्दकोष की परम वृद्धि हुई। काव्य-जगत में विहारी सतसई का इतना प्रचार हुआ और आदर हुआ कि बिना उसे पढ़े कोई भी पूर्ण साहित्यिक नहीं बन सकता। यह शृङ्गारमय ग्रंथ शृङ्गार का भी शृङ्गार बन गया है।

———

सूर और तुलसी की भक्ति पद्धति

भक्ति भारतीय संस्कृति के प्रधान अंगों मे से एक अंग है। इसकी भावना आदि काल से ही भारतीय जनता के प्राणों में समाती हुई चली आ रही है। जीवन के सुख और दुःख की घड़ियों में भी भक्ति का निर्मल प्रवाह बहता चला आरहा है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही मनुष्य सुख और शान्ति के अन्वेषण में लगा हुआ है। मानव-हृदय किसी ऐसी महान् शक्ति का अन्वेषण किया करता है जो उसके सुख मे तो सहयोग और दुःख से उसको निवृत्त करने के लिए तत्पर हो। ऐसी महान् शक्ति केवल ईश्वर है। इसी प्रवृत्ति और निवृत्ति की भावना को लेकर भक्ति की दो शाखायें फूट पड़ीं। एक निर्गुण शाखा कहलाई और दूसरी सगुण-भक्ति शाखा। साहित्यिक क्षेत्र मे दोनों ही शाखायें नवल श्यामल दलों से फूल उठीं। निर्गुण शाखा के सन्त कवियों ने निराश जनता को भक्तिमयी वाणी से शान्ति का सन्देश दिया, पर वह वाणी तत्कालीन परिस्थितियों मे अव्यावहारिक सिद्ध हुई। जनता असमय स्वराज्यसत्ता और स्वाधीनता के साथ-साथ आत्मविश्वास भी खो चुकी थी। शासकों के अत्याचार से वह पीडित थी एवं नैराश्य के गढ्ढे में गिरती जा रही थी। उस समय यह कहना कि ईश्वर दूर है, निर्गुण है, निर्लेप है, जनता की सन्तुष्टि करने मे असफल था। वह मार्ग ज्ञान और निवृत्ति का था। निराश जनता के लिए तो आशा की किरणों को बरसाने वाले एवं चरम सीमा तक पहुँचते हुए अत्याचार का दमन करने वाले लीलामय तथा लोकरक्षक अवतार पुरुष की आवश्यकता थी। सूर और तुलसी ने इसी लोकरंजक एवं लोकरक्षक प्रभु की भक्ति के सुधारस मे मुरझाते हुए हिन्दू-जीवन को सींच कर फिर से हरा-भरा कर दिया। लोक रक्षण प्रवृत्ति और धर्मस्थापनार्थ अवतार लेने की भावना ने लोगों को अधिक आकृष्ट किया। सूर के अवतार पुरुष और उनकी उपासना का आलम्बन भगवान् श्रीकृष्ण का लीलामय हसता-खेलता स्वरूप था। इसी स्वरूप को दिखा कर सूर ने हिन्दूजाति की नैराश्य जनित खिन्नता हटाई जिस से जीवन में प्रफुल्लता आ गई। पीछे तुलसीदास ने अपने उपास्य देव लोकरक्षक श्रीराम के मंगलमय स्वरूप को दिखा कर आशा और शक्ति का अपूर्व संचार किया।)

सगुणोपासना में श्रीराम और श्रीकृष्ण की उपासना ही प्रधान और

प्रबल रूप से रही है (राम और कृष्ण हिन्दुओं के आदर्शमय चरित्र हैं, पूज्य हैं, मान्य हैं, प्राण हैं और साक्षात परमेश्वर हैं)। तुलसी और सूर ने राम और कृष्ण का यशोगान करने के लिए विनयपद लिखे हैं। दोनों महाकवियों के आलम्बन विष्णु भगवान् के ही अवतार हैं। श्रीरामानुजाचार्य ने 'नारायणीधर्म या वैष्णवधर्म' की प्रतिष्ठा की। इस वैष्णव धर्म को ही दृष्टि में रखते हुए स्वामी रामानन्द जी ने भगवान् के मर्यादामय रामरूप को अधिक लोकोपयुक्त समझ कर रामभक्ति शाखा की नींव डाली। तुलसीदास इसी शाखा के प्रतिनिधि कवि और राम के अनन्य भक्त हुए। श्रीवल्लभाचार्य ने व्यास सूत्र के आधार पर शुद्धाद्वैतवाद की स्थापना की और उपासना के लिए कृष्ण के लीलामय मधुर रूप को सामने रखा। सूरदास इस शाखा के प्रतिनिधि कवि एवं भक्तशिरोमणि हुए। साहित्य-क्षेत्र मे तुलसीदास ने यदि रामभक्ति की निर्मल मन्दाकिनी प्रवाहित करके जनता के मानस को उज्ज्वल करने का प्रयास किया है तो सूरदास ने कृष्णभक्ति की कालिन्दी बहाकर सभी को श्याम के रंग में निमज्जित करने का प्रबल प्रयत्न किया। दोनों ही महाकवि भक्तशिरोमणि हैं और दोनो ही अपनी-अपनी दिशा में पूर्ण सफल हुए। तुलसी की रामभक्ति एवं सूर की कृष्णभक्ति नवीन नहीं है किन्तु नारद की भक्तिसूत्र-पद्धति में जो नवधा भक्ति मानी गई है, उसी का अंगमात्र है।

नवधा भक्ति में स्मरण, कीर्तन, वन्दन, पादसेवन, अर्चन, आत्मनिवेदन, दास्य, सख्य एवं माधुर्यभाव की भक्तियाँ आती है। इन में से दास्यभाव की भक्ति को ही दोनों ने अपनाया। आरम्भ मे सूर की भक्ति दास्यभाव की थी परन्तु बाद में सख्यभाव की हो गई, फिर भी जहाँ पर सूर को अपने इष्ट देव कृष्ण के ब्रह्म होने का ध्यान आया है वहाँ पर वे अत्यन्त विनयशील और दीन हो जाते हैं। उस समय स्वभावतः उनके मुख से दास्यभाव की कविता फूट पड़ी। इस भक्तिभाव में जो मुख्य रूप से चली आई है, वह विनय है। भारतीय संस्कृति में विनय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनुभवशील भक्त एवं शास्त्रकारों ने विनय को मानवहृदय और परमात्मा को एकाकार करने का सम्बन्ध सूत्र माना है। वैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार विनय की सात भूमिकायें मानी गई हैं, जिन मे दीनता, मानमर्षता, भयप्रदर्शन,

भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारण हैं। तुलसी और सूर की भक्ति में ये सात भूमिकायें समाविष्ट हैं। (सूरदास एवं तुलसीदास की भक्ति-पद्धति पर विवेचन करने से पूर्व इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि निर्गुण भक्ति के बाद सगुणभक्ति की धारा प्रवाहित करने वाले सूरदास ही सर्वप्रथम हुए हैं।)

सूरदास की सगुण धारा निर्गुण धारा की प्रतिक्रिया के रूप में आविर्भूत हुई। निर्गुणोपासक ज्ञानमार्ग के अवलम्बी थे। वैसे तो भारत में ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग एवं योगमार्ग तीनों का महत्वपूर्ण स्थान है और तीनों एक दूसरे से पृथक् हैं। ज्ञान मार्ग शुद्ध बुद्धि की स्वाभाविक क्रिया अर्थात चिन्तन पद्धति का आश्रय लेता है, भक्ति मार्ग शुद्ध हृदय की स्वाभाविक अनुभूतियों अर्थात् भावों को लेकर चलता है; योगमार्ग चित्त की वृत्तियों के अभ्यासों द्वारा अन्तःस्थ ईश्वर तक पहुँचने का प्रयास करता है। इसलिए सूरदास को सगुण की स्थापना करने में ज्ञानमार्गियों से सामना करना पड़ा है। सूर ने निर्गुणवादियों को बड़ा सुन्दर उत्तर दिया है—जिसका कोई आकार नहीं, रंग नहीं, रूप नहीं, गुण नहीं, जो जाना नहीं जा सकता, उसके लिए कहाँ-कहाँ पर चक्कर काटते रहें। जैसे—

"रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालम्ब मन चकृत धावै।
सब विधि अगम विचारहिं ताते, 'सूर' सगुन लीला पद गावै॥"

उन्होंने ज्ञानमार्ग को सर्व साधारण के लिए कठिन माना है। वे ज्ञान के नितान्त विरोधी नहीं थे किन्तु वे भक्तिविरोधी ज्ञान के विरोधी थे। गोपियों के मुख से सूरदास ने इसको स्पष्ट कराया है।

"भक्तिविरोधी ज्ञान तिहारो"

(ज्ञान का निवृत्ति मार्ग है और भक्ति का प्रवृत्ति का। निवृत्ति मार्ग में इन्द्रियों को रोका जाता है। तुलसी और सूर इन्द्रियों को रोकने के पक्ष में नहीं थ, अपितु भगवद्भक्ति में प्रवृत्त कर के आत्म-समर्पण करते थे। ज्ञान-मार्ग और योगमार्ग भारतीय संस्कृति के ही अंग हैं। साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने बड़े अनुभव से भक्तिमार्ग के समान ही ज्ञानमार्ग और योगमार्ग की स्थापना की। किसी भी मार्ग का अनुयायी अन्य मार्ग का निराकरण नहीं कर सकता किन्तु उनका समन्वय कर देता है।) तुलसीदास ने भी सूरदास

के समान ज्ञानमार्ग पर चलना कृपाण की धारा के समान माना है—

'ग्यानपथ कृपान कै धारा। परत खगेस ! होइ नहि बारा।"

आगे जाकर ज्ञान और भक्ति मार्ग का समन्वय कर देते हैं—

"ज्ञानहि भक्तिहि नहि कछु भेदा, उभय हरहिं भवसम्भव खेदा।"

सूर और तुलसी दोनों ने ही विनय सम्बन्धी पद लिखे हैं। अत्यन्त विनीत भाव से अपने-अपने इष्टदेव की श्रद्धामयी वंदना की है। सूरदास ने—

"चरन कमल बन्दौ हरि राई।

जाकी कृपा पगु गिरि लघै, अन्धे को सब कुछ दरसाई।"

कह कर आपने आलम्बन की वंदना की। इसी प्रकार तुलसीदास ने भी निज इष्टदेव की बार-बार वंदना की। जैसे—

"बन्दौ रघुपति करुना निधाना। जाते छूटै भव भेद-ग्याना॥"

भक्ति का मूलतत्व है—आलम्बन के महत्व की अनुभूति और भक्त की दीनता का प्रकटीकरण। सूरदास ने निज आराध्यदेव के महत्व की और अपने दैन्य की स्थापना निम्नलिखित पद के द्वारा की—

"हरि सो ठाकुर और न जन को।

जेहि-जेहि विधि सेवक सुख पावै तेहि विधि राखत तिन को॥"

परन्तु सूरदास इस महत्व के गुणीभूत उपकार के सम्मुख कैसे हैं?—

"कोटिक करै एक नहि मानै 'सूर, महा कृतघन को।"

तुलसीदास के आलम्बन का महत्व और अपना दैन्य इस प्रकार है—

"राम सो बडो है कौन? मो सो कौन छोटो?

राम सो खरो है कौन? मो सो कौन खोटो?"

दोनों भक्तिशिरोमणियों ने मानमर्षता के भाव से अर्थात् निरभिमान होकर अपने आपको पतित या पतितों का राजा मानने में कोई शेष नहीं रखा। सूरदास कहते हैं—

"प्रभू मै सब पतितन को राजा।

को करि सकत बराबरि मेरी पाप किये तर ताजा।"

तुलसीदास ने भी इसी प्रकार कहा—

"नहि विद्या नहि बाहुबल, नहि गाँठ मे दाम।

तुलसी भो सम पतित की पत राखो श्रीराम।"

दोनो कवियों को अपने पूर्वकृत कर्मों पर समान रूप से अनुताप होता है। सूरदास इस पश्चात्ताप की अग्नि में जलते हुए कहते हैं—

"सबै दिन गये विषय के हेत।
देखत ही आपुनपौ खोयो केस भये सब सेत॥
रुध्यो स्वांस मुख बैन न आवत चन्द्रा लगी सकेत॥"
× × ×
सूरदास, कछु खरचु न लागतु कृष्न सुमिर किन लेत।"

तुलसीदास को भी अनुताप की ज्वाला अन्त तक जलाती रही—

"जनम गयो बादिहिं वर बीति।
परमारथ पाले न परचो कछु, अनुदिन अधिक अनीति॥
× × ×
हृदय दहत पछिताय अनल अब, सुनत दुसह भव भीति॥"

दोनों भक्तों ने अपने मन को भय प्रदर्शित किया और भर्त्सना देकर मन को इष्टदेव के सम्मुख किया। कभी वे इष्टदेव की उदारता का स्मरण करके मन को आश्वासन देते हुए मनोराज्य में विचरण करते रहते हैं। कभी वे दार्शनिक सिद्धान्तों के विचार से अपने मन को माया जाल से मुक्त करके हरि कीर्तन में आसक्त हो जाते हैं। इस प्रकार अधिकांश भक्ति दास्यभाव को लेकर ही की गई, किन्तु सूरदास की भक्ति बाद में सख्यभाव की ओर प्रवृत्त हुई। वे अपने परम सखा कृष्ण से मल्ल युद्ध करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे—

"आज हौ एक एक करि टरिहौ।
कै हमही कै तुमही माधव, अपुन भरोसो लरिहौ॥"

परन्तु इस सख्यभाव की भक्ति में दैन्य की कमी नहीं है। वे इसी पद में आगे कहते हैं—

"कत अपनी परतीत नसावत, मैं पायो हरि हीरा।
'सूर, पतित तब ही ले उठि है, जब हँसि दैहौ बीरा॥"

किन्तु तुलसीदास अन्त तक सेवक-सेव्यभाव की भक्ति पर स्थिर रहे। उनका विश्वास था कि सेवक भाव की भक्ति के बिना संसार तरा नहीं जा सकता—

"सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय, उरगारि।"

सूरदास की भक्तिपद्धति में एक बात से स्वाभाविकता की वृद्धि हुई है।

वे तुलसीदास की भाँति बार-बार ईश्वरीय महत्ता की चर्चा नहीं करते। कहीं कथा प्रसंग में पाठक परमात्मा को विस्मृत न कर दें, इस विचार से तुलसीदास बार-बार पाठक को परमात्मा का स्मरण दिलाते हैं। पर सूर में यह बात नहीं है। इसके अतिरिक्त सूरदास ने कृष्ण के अतिरिक्त किसी देवता से कृष्ण की भक्ति के लिए अनुनय विनय नहीं की, किन्तु तुलसी ने सभी दूसरे देवताओं से राम की भक्ति दिलाने के लिए प्रार्थना की। सम्भवतः भारतीय धर्म में प्रतिष्ठित अन्य देवताओं का मान करने के लिए ऐसा किया होगा। सूर की भक्ति में तो अन्य देवता का स्थान ही नहीं है। उनकी भक्ति में तल्लीनता और तन्मयता अपने कृष्ण के प्रति ही प्रदर्शित की गई है। यथा—

"मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै ?
जैसे उड़ि जहाज को पंछी पुनि जहाज पै आवै।
कमल नैन को छाँड़ि महातम और देव को ध्यावै।
परम गंग को छाँड़ि पियासो दुर्मति कूप खनावै॥
जिन मधुकर अम्बुजरस चाख्यो क्यों करील फल भावै।
'सूरदास, प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै॥"

अन्य देवों की आराधना से तुलसी की भक्तिपद्धति में अनन्यता न्यून नहीं हुई। राम के प्रति अनन्य भक्ति के लिए तुलसी के सम्मुख सदा चातक के अनन्य प्रेम का आदर्श उपस्थित रहा। वे इस आदर्श को पल भर के लिए भी नहीं भूल सके। तुलसी के शब्दों में चातक के प्रेम की अनन्यता पराकाष्ठा को पहुँच गई है। चातक बधिक से मारा गया, वह गंगा के पुण्य जल में पड़ा है, किन्तु अपनी चोंच अपने प्रियतम घन के प्रिय दर्शनों की ओर ही रख कर प्राणों का विसर्जन करता है—

"बध्यो बधिक, पर्यो पुन्यजल, उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम-पट, मरतहुँ लगी न खोंच॥"

दोनों ही महाकवियों की भक्तिपद्धति किसी रूप में भी किसी की न्यूनता या अधिकता नहीं है। दोनों में तल्लीनता है, तन्मयता है और अनन्यता है। दोनों की भक्तिपद्धति साधना के उच्चतम शिखर पर आसीन हो गई। राम और कृष्ण की भक्ति के रसमय स्रोत कितनी सुधा प्रवाहित करते आये और न जाने कितने युगों तक मानव-हृदय को सींचते रहेंगे—इसका अनुमान नहीं किया जा सकता।

हिन्दी नाटकों की परम्परा

साहित्य मानव-समाज का प्रतिबिम्ब होता है। साहित्य का क्षेत्र मानव जीवन है। साहित्य के अनेक अंगों में से नाटक का जीवन से अत्यन्त निकट सम्बन्ध है। नाटक जीवन का शुद्ध प्रतिबिम्ब है। उसमें जीवन की अवस्थाओं का अनुकरण होता है। संस्कृत के आचार्यों ने "अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते" कहकर नाटक और उसी के दूसरे नाम रूपक की परिभाषा की है। यह परिभाषा अपने में परिपूर्ण है। मानव स्वभावतः अनुकरण-शील प्राणी है। मनुष्य की इस स्वाभाविक अनुकरणशीलता का पता हमें बालकों के खेलों मे मिलता है। कहीं पर तो बालक निज कल्पना के बल से लकडी के डण्डे को घोडे का आकार देकर उसको सरपट चाल चलाता है। कहीं पर वह स्वयं रेलगाड़ी का इंजन बन जाता है। कहीं पर वह अपनी आत्मविस्तार की भावना से बड़ों के अनुकरण में स्याही की मूँछ बना लेता है। इसी प्रकार बालिकायें गुड़ियों और गुड्डों का विवाह कराकर अपने भावी गार्हस्थ्य जीवन का आनन्द अनुभव करती हैं। शिशु की कल्पना असीम है। अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक-कहानी लेखक ऐच. जी. वेल्स (H G Wells) ने अपनी एक कहानी मे यह सिद्ध किया है कि—

"Child is more imaginative than a grown-up man"

बालक की इस अनुकरणशीलता में आत्मविस्तार की भावना छिपी रहती है। वह बाल्यकाल में निवास करता हुआ भी सन्तान-जनक पिता की भावना अपने में समाये हुए रहता है। इसीलिए अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध प्रकृति और शिशु-जनों के कवि वर्डसवर्थ (Wordsworth)ने लिखा है—

"The child is father of the man,
And I could wish my days to be,
Bound each to each by natural piety."

यदि सच्चे नाटककार या अनुकरणकर्ता के दर्शन करने हों तो हमें बालक को ही देखना होगा। बालक एक अभिनय को छोड़कर दूसरा अभिनय करने लगता है। समय की गति के अनुसार वह अभिनय या अनुकरण द्वारा जीवन के स्तरों को भरता रहता है। इस तथ्य को Wordsworth ने

निम्नांकित पंक्तियों में बड़े सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया है—

"The little actor comes another part,
Filling from time to time "Humorous stage"
With all the persons."

संसार में किसी मनुष्य का जीवन पूर्ण नहीं है, वह दूसरे के जीवन से पूर्णता प्राप्त करना चाहता है। नाटकों के प्रादुर्भाव में यही मुख्य कारण है। नाटक में इस प्रकार की पूर्णता अभिनेता और दर्शक दोनों को ही मिलती है। श्रमिक उच्चवर्ग के जीवन से परिचित हो जाता है और उच्च वर्ग श्रमिक के जीवन से परिचय प्राप्त कर लेता है। नाटक का अभिनेता अपने इष्टदेव का अभिनय कर उसमें तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। मानवता का तारतम्य पूर्ण हो जाता है। इसमें मानव जाति की रक्षा का भाव भी लगा रहता है। हम नाटक में भिन्न-भिन्न श्रेणी और अवस्था के लोगों का अनुकरण कर या दर्शन कर के वही आनन्द लेते हैं, जो इतिहास या जीवन चरित्र के अध्ययन में प्राप्त होता है अथवा अपना चित्र देखने में उपलब्ध होता है। इस प्रकार अनुकरण, आत्माभिव्यक्ति, आत्मविस्तार और जाति की रक्षा होने से नाटक में ये चार मूल मनोवृत्तियाँ मानी गयी हैं।

कहा जाता है कि महेन्द्र आदि देवताओं की प्रार्थना से ब्रह्मा ने नाट्यवेद को पाँचवें वेद के रूप में बनाया। उसके लिए ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ लिया, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्व वेद से रस लिया। इस सम्बन्ध में यह श्लोक प्रसिद्ध है—

"जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥"

इस नाटक के लिए शिवजी ने ताण्डव नृत्य दिया और पार्वती जी ने इसे लास्य से विभूषित किया। इसके लिए अभिनय का कार्य भरत मुनि को सौंपा गया। जिस नाटक का मूल उद्गम वेदों से है, जिसका प्रादुर्भाव देवों की प्रार्थना करने से हुआ और जो देवताओं के सहयोग से पूर्ण हुआ, वह नाटक अवश्य ही मानव-कल्याण के लिए है। निस्सन्देह, नाटक में लोकरंजन और लोकहित की क्षमता विपुल रूप से विद्यमान रहती है। काव्य का प्रथमांग यही दृश्य काव्य है। काव्य के द्वितीयांग श्रव्य काव्य की अपेक्षा

दृश्य काव्य मे सामाजिकता अधिक है। इसका आस्वादन एकान्त में नहीं होता अपितु समस्त सामाजिकों के सम्मुख होता है। श्रव्य-काव्य में शब्दों द्वारा कल्पना की सहायता से मानसिक चित्र उपस्थित किये जाते हैं। दृश्य-काव्य में कल्पना पर इतना बल नहीं देना पड़ता, उसमें हमको यही प्रतीत होता है कि हम वास्तविकता के दर्शन कर रहे हैं। अमूर्त से मूर्त का प्रभाव अधिक होता है। नाटककार की भाषा में जो कमी रह जाती है वह नटों या अभिनेताओं की भावभंगी से पूरी हो जाती है। नाटक में प्रभावोत्पादक शक्ति दो गुनी रहती है। इसीलिए कहा गया है—"काव्येषु नाटकं रम्यम्"। शास्त्र और कलाओं की दृष्टि से भी नाटक का महत्त्व अधिक माना गया है। इसमें स्थापत्यकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला और नृत्यकला आदि समाज शास्त्र का भी समावेश हो जाता है। भरत मुनि ने उचित ही कहा है—

"न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।
सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च॥"

भारतीय आचार्यों के समान ही विदेशी विद्वानों ने भी नाटक मे अनुकरण की प्रधानता एव जीवन का शुद्ध प्रतिबिम्ब माना है। निकल महोदय ने अपने (Theory of Drama by Nicoll) निजी रचित पुस्तक में नाटक की एक सुन्दर परिभाषा दी है।

"Drama is a copy of life, a mirror of custom, a reflection of truth."

यही अनुकरण जब एक कलात्मक रूप को ग्रहण कर लेता है, अकृत्रिमता को छोड़कर उसमें जब स्वाभाविकता का विकास हो जाता है तब हमारे समक्ष अभिनय के नाम से अनुकरण चार भागों में आता है—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। ये अभिनय के चार प्रकार हैं। अभिनय के अतिरिक्त नाटक के चार तत्व और होते हैं—वस्तु, नेता, रस और शैली। नाटक को साहित्य के अन्य अंगों से पृथक् करने वाला एकमात्र रंगमंच है। अभिनय यदि नाटक की आत्मा है तो रंगमंच उसका शरीर है। किसी भी नाटक की सफलता रंगमंच से ही जानी जा सकती है। यदि नाटक का अभिनय रंग-मंच पर नहीं हो सकता तो वह नाटक सफल नहीं कहा जा सकता। रंगमंच के अभाव के कारण ही हिन्दी नाटकों की लोकप्रियता नहीं हो सकी। अस्तु,

मानव की अनुकरणशीलता ने ही नाटकों की रचना के लिए प्रेरणा प्रदान की। अनेक आचार्यों के मतानुसार संस्कृत साहित्य में ही सर्वप्रथम नाटकों का जन्म हुआ। वेद ग्रन्थों की प्राथमिकता विश्व प्रसिद्ध है। नाटक भी वेदों का ही एक अंग होने से नाट्यकला की प्राथमिकता को कोई भी दूर नहीं कर सकता। संस्कृत के सर्वप्रथम नाटककार भास, कविकुलगुरु कालिदास, महाकवि हर्ष, करुण रस के प्रधान कवि भवभूति, कुशल कवि विशाखदत्त और कविवर भट्टनारायण आदियों ने संस्कृत में नाटकों की रचना करके अमर यश और पूर्ण गौरव को प्राप्त किया। संस्कृत साहित्य में अमर अमूल्य रत्न भास का स्वप्न वासवदत्त, कालिदास का अभिज्ञान शाकुन्तल और भवभूति का उत्तर रामचरित अत्यन्त प्रसिद्ध और विश्व साहित्य के अंग बन रहे हैं।

संस्कृत साहित्य का ही उत्तराधिकार हिन्दी भाषा को प्राप्त हुआ। संस्कृत साहित्य में नाटकों का रचनाकाल ३५० से लेकर ९०० विक्रम तक माना गया। १००० विक्रमी सम्वत से देशी भाषाओं का जन्म हुआ। हिन्दी साहित्य का काल भी यहीं से प्रारम्भ होता है। हिन्दी साहित्य का पद्य-निर्माण डिंगल, अवधी या ब्रजभाषा से ही १९०० विक्रमी तक होता रहा। अतः इस दीर्घकाल में हिन्दी के नाटकों का अभाव रहा। भाषा का निश्चित रूप न होने से, जातीय उत्साह न होने से और पराधीन जनता को राजकीय सहायता आदि के प्राप्त न होने से नाटकों की रचना की ओर किसी भी महापुरुष या कवि का ध्यान नहीं गया। १९०० विक्रमी सम्वत् हिन्दी साहित्य के लिए एक महान् वरदान बन कर आया। इस ईश्वरीय वरदान को ले आने वाले बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी साहित्य के लिए कल्पवृक्ष के समान अवतीर्ण हुए। कल्पवृक्ष से सब मनोरथपूर्ण हो जाते हैं, तब साहित्य के सभी अंग क्यों न पूर्ण होते? भारतेन्दु के इस नवीन युग में नाटकों का दिव्य जन्म हुआ। भारतेन्दु ने 'अथ भाषा नाटक' नामक लेख के द्वारा अपने से पूर्ववर्ती दो नाटक माने हैं। रीवाँ के महाराज विश्वनाथसिंह का रचित 'आनन्द रघुनन्दन' इस नाटक में नाटकीय नियमों का प्रतिपालन न होने से इसको भी शुद्ध नाटक नहीं माना। भारतेन्दु ने अपने पिता कविवर गिरिधरदास या वास्तविक नाम गोपालचन्द्र का बनाया हुआ 'नहुष'

नाटक को ही नाटक माना है। इसके बाद उन्होंने राजा लक्ष्मणसिंह से अनूदित 'शकुन्तला' को माना है। तीसरा नाटक 'विद्या सुन्दर' जो भारतेन्दु द्वारा ही अनुवादित है, नवीन युग का प्रथम नाटक है। वस्तुतः भारतेन्दु के मौलिक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक नाटक से ही नवीन युग का सूत्रपात होता है। भारतेन्दु ने १६२२ मे बंगाल का परिभ्रमण किया, वहाँ के साहित्य का इन पर प्रभाव पडा। जिस समय भारतेन्दु ने बंगला से हिन्दी मे 'विद्या सुन्दर' का अनुवाद किया, तब से हिन्दी साहित्य का बंगला साहित्य से सम्बन्ध बढा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र नवीन युग के प्रवर्तक अवश्य थे किन्तु बाहुल्य रूप से इन्होंने संस्कृत नाटकों के नियमो का पालन किया। प्राचीनता के मोह को नवीनता की ओर अग्रसर होते हुए ये भूल नहीं गये। इनके नाटको में दो प्रकार की शैली उपलब्ध होती है। एक भावावेश की शैली दूसरी तथ्यनिरूपिणी शैली। भावावेश की शैली में वाक्य छोटे-छोटे, सरस पदावलियों से युक्त होते हैं। यह इनकी मौलिक शैली प्रतीत होती है। तथ्यनिरूपण की शैली में संस्कृत पदावली से युक्त दीर्घ वाक्य परिलक्षित होते हैं। भारतेन्दु ने चरित्र चित्रण मे सजीवता उत्पन्न कर दी। भारतदुर्दशा नामक नाटक में भारत का चरित्र वास्तविक चरित्र है, सर्व प्रथम वह कहता है—"अरे यहाँ की योग्यता, विद्या, सभ्यता, उद्योग, उदारता, धन, बल, मान, दृढ़चित्तता, सत्य सब कहाँ गये।" यहीं पर भारत-दुर्दैव का चरित्र कितना स्वाभाविक बन पडा है—

"कौडी-कौडी को करू मै, सब को मुहताज।
भूखे प्रान निकालूँ इनका तो मै सच्चा राज॥"

भारतेन्दु के नाटक संख्या मे बीस हैं। उनके तीन विभाग हो सकते हैं। अनुवादित, रूपान्तरित और मौलिक। मौलिक नाटकों के विषय-भेद से तीन भाग हो सकते हैं। सुखान्त, वियोगान्त और प्रहसनात्मक।

अनुवादित रचनाओं में से रत्नावली नाटिका—यह थानेश्वर के प्रसिद्ध राजा एव कवि श्री हर्षदेव के संस्कृत नाटक का अनुवाद है।

पाखण्ड विडम्बन—यह प्रबोध चन्द्रोदय नाटक के तीसरे अंक का अविकल अनुवाद है और बहुत सुन्दर है। इस नाटक में श्रद्धा, शान्ति और करुणा आदि का—मानसिक भावों का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है।

धनञ्जय विजय—यह कचन कविकृत संस्कृत के नाटक का अनुवाद है। इसमें पाण्डवों के अज्ञातवास काल में विराट नगरी में जब दुर्योधन उनकी गायों को हर ले जाता है, तब अर्जुन के उनको जीत कर वापिस ले आने का वर्णन है।

कर्पूर मंजरी—इसका अनुवाद भी बहुत सुन्दर है और मूल के अनुसार है। कर्पूर मंजरी प्राकृत का नाटक है।

मुद्राराक्षस—यह कवि विशाखदत्त के संस्कृत नाटक का अनुवाद है। भारतेन्दु जी का किया हुआ अनुवाद बहुत ही उत्तम और प्रामाणिक है। गद्य के स्थान पर गद्य और पद्य के स्थान पर पद्य है।

दुर्लभ बन्धु—यह शेक्सपियर के Merchant of Venice का अनुवाद है। भारतेन्दु ने मूल नाटक के पात्रों का नामकरण भारतीय ढग से कर दिया है। शेक्सपियर के Shylock को शैलाक्ष, Bassanio को बसन्त, Antonio को अनन्त, Poritia को पुरुश्री, Lorengo को लवग और Jessica को जसोदा बना दिया है। परन्तु मूल नाटककार के भावों में कहीं त्रुटि नहीं आयी।

भारतेन्दु के रूपान्तरित नाटक विद्या सुन्दर और सत्यहरिश्चन्द्र हैं। विद्या सुन्दर—इस नाटक की द्वितीय आवृत्ति के उपक्रम में भारतेन्दु ने स्वयं लिखा है—"विद्या सुन्दर की कथा वंग देश में अति प्रसिद्ध है प्रसिद्ध कवि भारतचन्द्र राय ने इस उपाख्यान को वंग भाषा में काव्य-स्वरूप में निर्माण किया है। महाराज यतीन्द्र मोहन ने उसी काव्य का अवलम्बन करके जो विद्या सुन्दर नाटक बनाया था उसी की छाया से यह निर्मित हुआ है।

सत्यहरिश्चन्द्र—यह भारतेन्दु की बड़ी प्रसिद्ध और प्रौढ़ रचना है। इसके विषय में कुछ मतभेद है। बाबू श्यामसुन्दरदास और बाबू व्रजरत्नदास इसे भारतेन्दु की मौलिक रचना मानते हैं किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ऐसा नहीं मानते।

भारतेन्दु की मौलिक रचनायें—प्रेम जोगिनी—यह एक अपूर्ण नाटिका है, जिसका विषय काशी के धार्मिक समाज में प्रचलित पाखण्ड का प्रदर्शन है।

चन्द्रावली—यह भी एक नाटिका है इसका मुख्य विषय भगवद्भक्ति

है और श्रृङ्गार रस प्रधान है। विप्रलम्भ श्रृङ्गार की प्रधानता और कविता की मात्रा पर्याप्त है।

भारत जननी—भारतेन्दु ने इसे ओपेरा (Opera) कहा है और वास्तव में यह है भी ऐसा ही। इसे नाटक कहना व्यर्थ है। इसमें एक ही दृश्य है और सारा कार्य-व्यापार उसी में आरम्भ होकर समाप्त हो जाता है। यह राष्ट्रप्रेम की भावना से परिपूर्ण है।

भारत दुर्दशा—यह ६ अंक का नाटक है। इसमें भारत के प्राचीन गौरव की स्मृति दिला कर उसकी वर्तमान की अवस्था बता कर भारत के उद्धार की प्रेरणा दी गई है।

नीलदेवी—यह एक वियोगान्त ऐतिहासिक गीति रूपक है। मुसलमानों की चालाकी और नीचता का दृश्य अंकित है।

सतीप्रताप—इसमें सावित्री और सत्यवान की कथा के आधार पर सती का प्रताप दिखाया गया है। भारतेन्दु इस नाटक को पूरा न कर सके, उनके फुफेरे भाई बाबू राधाकृष्ण दास ने इसकी पूर्ति की।

भारतेन्दु ने नाटकों के अतिरिक्त प्रहसन भी लिखे हैं। इनके लिखने का उद्देश्य मनोरंजन के साथ-साथ सामाजिक बुराइयों को दूर करना था। इनके लिखे हुए तीन प्रहसन हैं।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति—इसमें मांसभक्षियों की जिह्वालोलुपता, रसास्वादन के लिए धार्मिकता के नाम पर हिंसा को हिंसा न मानने वालों पर एक व्यंग्य किया गया है।

विषस्य विषमौषधम्—यह रूपक का भेद मात्र है। इसमें बड़ौदा के महाराज मल्हार राव गायकवाड के गद्दी पर से उतारे जाने की घटना अंकित की गई है। इस में 'शठे शाठ्यं समाचरेत्,' की नीति दर्शाई गई है।

अन्धेर नगरी—इसमें ६ अंक हैं। इससे एक ऐसे राजा के चरित्र का चित्रण हुआ है, जिसके राज्य में कोई न्याय की व्यवस्था नहीं है। यह भी तत्कालीन शासन पर एक व्यग्य है। कलात्मक दृष्टि से दो प्रहसन उत्तम हैं। वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति और अन्धेर नगरी। न केवल भारतेन्दु गम्भीर रचना करने में कुशल थे अपितु कौतूहलपूर्ण और हास्यपूर्ण रचना करने में भी निपुण थे। इस प्रकार भारतेन्दु द्वारा हिन्दी नाटकों में कथा वस्तु, पात्र, देश, काल, भाषा, उद्देश्य आदि नाटकीय अंगों की वृद्धि हुई, जिससे

हिन्दी नाट्य साहित्य को उन्नत और विकसित होने में बड़ी सहायता मिली है।

भारतेन्दु के समकालीन नाटककारों में से पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' प्रधान कलाकार हैं। उपाध्याय जी ने नाटकों के क्षेत्र में एक अच्छा साहित्य उत्पन्न किया है। आपके नाटक भारत-सौभाग्य, वारांगना-रहस्य तथा प्रयाग राम वनगमन प्रसिद्ध हैं। आपने लगभग ४० प्रहसन लिखे हैं। भारतेन्दु काल में प्रेमघन जी ही प्रमुख प्रहसनों के लेखक हैं।

पं० अम्बिकादत्त व्यास—आपने गा सकट नाटक, ललिता नाटिका, भारतसौभाग्य नाटक और वेणीसंहार नाटक की रचना की। इनकी भाषा तथा शैली प्राचीन परम्परा से प्रभावित है।

पं० प्रतापनारायण मिश्र—आपने गद्य-साहित्य के अतिरिक्त नाटक क्षेत्र में भी कलिकाल रूपक, कलिप्रभाव, हठी हम्मीर, गोसंकट, जुवारी-खुवारी आदि की रचना की। आपकी भाषा मुहावरेदार हिन्दी है।

लाला श्रीनिवासदास—आपने बड़े कौतुक से नाटकों में ऐतिहासिकत्व का पूर्ण आभास है। आपकी रचनायें—संयोगिता स्वयवर, रणधीर प्रेम मोहिनी, वप्तसवरण आदि हैं। आपकी भाषा साधारण बोलचाल की है।

पं० बालकृष्ण भट्ट—आपने पद्मावती, शर्मिष्ठा, चन्द्रसेन नामक नाटक दमयन्ती स्वयवर, वेणुसंहार, जैसा काम वैसा परिणाम आदि नाटक लिखे हैं। आपकी भाषा परम साहित्यिक है। आपने अपने नाटकों में भाषा के साथ साथ सुन्दर चरित्र चित्रण भी किये हैं।

राधाचरण गोस्वामी—इनके लिखे हुए तीन नाटक और चार प्रहसन मिलते हैं। सती चन्द्रावली, अमरसिंह राठौर, श्रीदामा ये नाटक हैं। 'बूढ़े-मुँह मुँहासे, तन मन धन गोसाईं' जी के अर्पण और भंग-तरग ये प्रहसन हैं। इन नाटकों में उपदेश की मात्रा अधिक है। पात्रों के चरित्र-चित्रण पर ध्यान नहीं दिया गया है।

राधाकृष्णदास—यह भारतेन्दु के फुफेरे भाई थे। इनकी नाटक रचनायें निम्नलिखित हैं :—

दुखिनी बाला, महारानी पद्मावती, धर्मालाप, महाराणा प्रतापसिंह आदि। इनके ऐतिहासिक पात्रों का चरित्र-चित्रण अच्छा हुआ है। वह स्पष्ट और स्वाभाविक है। कला की दृष्टि से दोष भी इनके नाटकों में हैं। फिर भी

भारतेन्दु काल के नाटककारों में राधाकृष्णदास का स्थान सबसे ऊँचा है।

किशोरी लाल गोस्वामी—इनके तीन नाटक उपलब्ध होते हैं। मयंक मंजरी, नाट्य सम्भव और एक चौपट चपेट प्रहसन है। गोस्वामीजी साहित्यिक व्यक्ति थे। नाटकीय गुणों की दृष्टि से नाट्य सम्भव सुन्दर बन पड़ा है। इनके नाटकों में सामाजिक सुधारक रूप देखे जाते हैं।

भारतेन्दु-युग के उपरान्त महावीरप्रसाद द्विवेदी युग प्रारम्भ होता है। साहित्य क्षेत्र में भाषा का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। गद्य साहित्य के विविध अंगों की पूर्ति हुई और साथ ही नाटकों की भी उन्नति हुई। पश्चिमी दृष्टिकोण से शिक्षा में कुछ परिवर्तन हुआ। भारत सरकार के द्वारा स्थापित "प्राचीन शोध और अन्वेषण विभाग" ने भी भारतीय संस्कृति और साहित्य पर प्रकाश डाला जिससे प्रभावित होकर लोग अपने प्राचीन ग्रन्थों को पढ़ने की ओर प्रवृत्त हुए। इस समय देश की राजनीतिक परिस्थितियाँ संघर्षमयी थीं। यह काल भावुकता और बुद्धिवाद का सन्धिकाल है। प्रधान रूप से अनुवाद का कार्य ही सम्पन्न हुआ। इस काल के नाटककार सत्यनारायण कविरत्न, लाला सीताराम बी. ए., राय देवी प्रसाद पूर्ण, पं० रूपनारायण पाण्डे, बाबू गोपालराम गहमरी आदि हैं।

सत्यनारायण कविरत्न जी ने संस्कृत के नाटक उत्तर राम चरित का अनुवाद किया। लाला सीताराम बी. ए. ने मृच्छकटिक और शेक्सपीयर के नाटक हेमलेट, मेकबेथ का अनुवाद किया। इन दोनों अनुवादकों के अनुवाद हिन्दी साहित्य के सुन्दर अनुवाद हैं। पं० रूपनारायण पाण्डे ने बंगला के नाटकों का अनुवाद किया। इस काल में मौलिक रचनाओं के अन्तर्गत राय देवी प्रसाद पूर्ण ने एक चन्द्रकला-भानुकुमार नामक नाटक लिखा है। इस युग के अन्त होते-होते व्यवसायी पारसी कम्पनियाँ प्रचलित हुईं। इन नाटक कम्पनियों का उद्देश्य केवल धन प्राप्त करना था किन्तु रंग मंच पर पात्रों का अभिनय जादू के पिटारी की समान होता था। इन कम्पनियों के नाटकों के प्रचार से भारतीय संस्कृति और साहित्य का गला घोटा गया था। कुछ समय के बाद पं० राधेश्याम कथावाचक और नारायण प्रसाद बेताब के नाटक भारतीय ढंग लिए हुए सफल बन पड़े। इनके नाटक पौराणिक और महाभारत-कालीन हैं। पं० राधेश्याम के नाटक वीर अभिमन्यु, श्री कृष्णावतार, श्रवण-

कुमार, ईश्वर भक्ति, रूपमणि मंगल आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें से वीर अभिमन्यु अत्यन्त लोकप्रिय नाटक बन गया। नारायण प्रसाद बेताब के नाटक महाभारत, जहरी सांप, रामायण पाले प्रताप, कृष्ण सुदामा आदि प्रसिद्ध हैं। इन व्यवसायी कम्पनियों ने नाटकों के प्रति लोगों की रुचि बढ़ाई। साहित्यिक दृष्टि से कथावाचक और बेताब के नाटकों का भी कोई मूल्य नहीं है।

हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में जयशंकरप्रसाद राजनीतिक उथल-पुथल में अवतीर्ण हुए। सन् १९१६ में लखनऊ के कांग्रेस अधिवेशन में सर्वदलों ने सम्मिलित होकर सरकार से उत्तरदायी शासन की मांग की। सन् १९१९ में अधिकार देने की अपेक्षा भारतीयों पर 'रौलट ऐक्ट' लाद दिया गया। इससे लोगों में असन्तोष और घृणा की भावना फैली। इसी समय अमृतसर में जलियाँवाला बाग के हत्याकांड ने भी जनता के क्रोध को और उद्दीप्त किया। इन परिस्थितियों में कविता, नाटक या समस्त साहित्य का निर्माण उसी प्रेरणा का परिणामस्वरूप हुआ। देशप्रेम की भावना सर्वत्र मूर्तिमती हो उठी। इन्हीं परिस्थितियों में प्रसाद जी का आगमन हुआ और हिन्दी नाटकों का एक नवीन युग प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भ से ही प्रसाद जी का व्यक्तित्व सर्वोपरि था, अतः उस युग के प्रवर्तक और नाटकों के यौवन को विकसित करने वाले प्रसाद जी ही हुए। आरम्भ में प्रसाद केवल कवि थे। उनमें कल्पना, अनुभूति और काव्यत्व की प्रधानता थी। वर्तमान छायावादी एवं रहस्यवादी कविता के जन्मदाता भी वही थे। प्रसाद की कविता में दार्शनिक प्रवृत्ति पूर्ण रूप से झलकती है। धर्म पुस्तकों, वेदों, पुराणों एवं दार्शनिक ग्रन्थों के अध्ययन से प्रसाद की प्रतिभा में और अधिक बल आ गया था। इतिहास के सूक्ष्म अध्ययन से और उस पर मनन करने से भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में प्रसाद की धारणाओं को दृढ़ बनाने में बड़ी सहायता भी मिली। भाषा पर तो उनका पूर्ण अधिकार था ही। भाषा, भाव, विचार, अन्वेषण, अध्ययन आदि सभी आवश्यक ज्ञान सम्बन्धी मान्यताओं से सुसज्जित होकर प्रसाद ने नाटक-क्षेत्र में प्रवेश किया। प्रसाद के आगमन से ही नाटकीय साहित्य में अनेक परिवर्तन परिलक्षित होते हैं। प्रसाद जी की विशेषताओं को हम आठ भागों में बांट सकते हैं :—

ऐतिहासिकता, अन्तर्द्वन्द्वात्मकता, चरित्रचित्रण की प्रधानता, करुणा-

त्मकता, नारी प्रतिष्ठा, सुखान्तभावना, गीतात्मकता और नाट्यविधान।

ऐतिहासिकता—प्रसादजी की अधिकांश रचनायें ऐतिहासिक हैं। प्राचीन इतिहास के खण्डहरों में रत्नों को बटोर कर एक सुन्दर हार में पिरो दिया गया। इनसे पूर्व किसी भी नाटककार की दृष्टि प्राचीन इतिहास की ओर नहीं गई थी। उनके नाटकों के कथानक 'सज्जन' तथा 'जनमेजय का नाग यज्ञ' महाभारत से लिये गये हैं। प्रसाद जी ने जनमेजय के नाग यज्ञ में नाग तक्षक को नागजाति से सम्बन्ध रखने वाला पुरुष माना है। इसी प्रकार इन्द्र को देवता न मानकर आर्यों का प्रथम सम्राट् माना है। 'चन्द्रगुप्त' नामक नाटक के कथानक को नन्दवंश के अन्तकालीन और मौर्यवंश के उदयकालीन इतिहास से लिया है। इसी प्रकार अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, राज्यश्री, ध्रुव-स्वामिनी आदि सभी नाटकों के कथानक ऐतिहासिक हैं।

अन्तर्द्वन्द्वात्मकता—प्रसाद से पूर्ववर्ती नाटकों में मानसिक संघर्ष का अभाव मिलता है। उन नाटकों में आदर्शवाद की प्रधानता थी। प्रसाद जी ने यथार्थ और आदर्शवाद का समन्वय करके अपने नाटकों को अन्तर्द्वन्द्वात्मक बनाया है। इनके सभी पात्रों में उत्तेजना है, संघर्ष है और क्रान्ति की हल-चल से जीवन की व्यग्रता है। इनके नाटकों के व्यक्तियों के संघर्ष में संस्कृति एवं राष्ट्रीयता का संघर्ष झलकता है।

चरित्रचित्रण --प्रसाद जी ने चरित्रचित्रण की कला में एक नवीन प्रणाली अपनायी। उनके प्रत्येक नाटक में ऐतिहासिक घटनाओं के साथ ही कोई आदर्श पात्र अवश्य रहता है जो विषमता में समता लाने का उद्योग करता है। वह पात्र संस्कारों में परिवर्तन, अधर्म पर धर्म की विजय और कठोरता पर कोमलता को प्रभुत्व और विरोधी के प्रति करुणा का भाव उत्पन्न करता है। दिवाकर मित्र, प्रेमानन्द व्यास, गौतम, मिहिरदेव और अलका तथा मालविका इसी प्रकार के पात्र हैं। अपनी समस्त इच्छाओं को त्यागकर गिरते हुये पात्रों का उद्धार करने वाली देवसेना, मालविका और अलका आदि हैं। इनका चरित्रचित्रण सुन्दर रूप से हुआ है। प्रसाद के चन्द्रगुप्त नायक का चरित्रचित्रण मुद्राराक्षस चन्द्रगुप्त के समान हीन नहीं है। इनका चन्द्रगुप्त वीर सैनिक और योग्य शासक है।

करुणात्मकता—प्रसाद के नाटक अन्तर्वेदना पूर्ण हैं। इनसे पहले जितने

नाटक लिखे गये, उनमे व्यंग्य और हास्य की मात्रा अधिक थी। उनमें भावों की गम्भीरता नहीं थी किन्तु वेदना के कवि प्रसाद ने अपनी कोमल भावुकता को उसमे मिला दिया।

नारीप्रतिष्ठा—प्रसाद के नाटकों की नारियाँ त्याग, तपस्या और बलिदान की मूर्तियाँ हैं। कल्याणी और मालविका जैसी नारियाँ अन्य नाटकों में दुर्लभ हैं। उनके बलिदान से उनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है। देवसेना की पवित्रता से पापी भी पवित्र बन सकता है। प्रसाद जी ने अपने काव्यों एवं नाटकीय रचनाओं मे सर्वत्र भारतीय सभ्यता में नारी का विशेष महत्त्व और स्थान स्वीकार किया है।

सुखान्तभावना—जीवन में सुख और दुःख दोनों ही निरन्तर आते हैं। जीवन के प्रतिबिम्ब नाटक साहित्य में भी इन दोनों का चित्रण होता है। परन्तु भारतीय नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने सुखात नाटकों को ही महत्व प्रदान किया है। इनका सिद्धांत है कि आनन्द से उत्पन्न जीव सदा आनदमय रहना चाहता है अत. उसका अन्त भी आनद में होता है। किन्तु अंग्रेजी नाटकीय साहित्य में दुःखात भावना को भी महत्व दिया जाता है। शेक्सपियर के Othello, Macbeth, Hamlet ये तीन नाटक दुःखांत नाटकों में अत्यंत प्रसिद्ध हैं। Othello का नायक स्वयं Othello व्यावहारिक ज्ञान मे इतना शून्य है कि Jago के सिखाने पर अपनी सौंदर्यप्रतिमा और अलौकिक पतिव्रता Desdemona को गला घोट कर मार डालता है। भारतीय संस्कृति में नारी पर ऐसा भयङ्कर संदेह करके उसके प्राण नहीं लिये गये। प्रसाद जी ने इस दुःखांत भावना को बदल कर उसमें दार्शनिकता का पुट दे दिया है। उन्होंने कर्तव्य की भावना को ऊँचा मानकर आत्मसंतोष को इसका परिणाम माना है। जब तक मनुष्य अपने कर्तव्य पालन के द्वारा संतोष और शान्ति प्राप्त करता है तब तक वह सुख की द्योतक है दुःख की नहीं, चाहे यह शान्ति प्राणरक्षा में प्राप्त हो अथवा मृत्यु में। प्रसाद जी दु.ख के कारण मनुष्य के अपने कार्य मानते हैं क्योंकि संसार की सृष्टि विषमता के लिये नहीं हुई। प्रसाद के नाटक न पूर्णतः सुखात हैं और न दुःखांत। उनके सुख-दु.ख जैसे एक दूसरे को छोड़ना नहीं चाहते। कवि आग्रहपूर्वक सुख का आह्वान करता है। सुख आता भी है और तुरन्त ही दुःख भी अपनी झलक दिखा जाता है।

गीतात्मकता—प्रसाद कवि के हृदय से निकले हुए गीत काव्य ने उनकी नाट्यकला में अत्यधिक सुन्दरता की श्रीवृद्धि की है। ये गीत केवल कल्पना प्रसूत नहीं हैं। वे मानवीय भावनाओं की अनुभूतिजन्य हैं। साहित्यिक महत्ता के साथ ही पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी इन गीतों से सहायता मिलती है। उनके गीतों में प्रेम और सौन्दर्य के बड़े सजीव वर्णन मिलते हैं।

नाट्य-विधान—प्रसाद के नाटक हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। प्रसाद के पूर्ववर्ती नाटककार और नाटकों में कोई स्थिरता नहीं है। प्रसाद ने पश्चिमीय और पूर्वीय कला के सम्मिश्रण द्वारा एक नूतन और मौलिक मार्ग बना दिया है जो भविष्य के नाटककारों के लिए पथ-प्रदर्शक का कार्य करेगा और वर्तमान में कर रहा है।

प्रसाद के युग में नाटकों की एक बलवती बाढ़-सी आई है और अब भी उसी का प्रभाव परिलक्षित हो रहा है। हिन्दी नाट्य-साहित्य का यह स्वर्ण युग कहलाता है। उस युग से लेकर अब तक नाटकीय साहित्य मे पौराणिक धारा, ऐतिहासिक धारा, राष्ट्रीय धारा, प्रेमप्रधान धारा, समस्या-प्रधान धारा, प्रहसनात्मक नाटक धारा आदि अनेक धारायें प्रवाहित हो रही हैं। प्रसादकालीन मुख्य नाटककारों मे मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द, बद्री-नारायण भट्ट, माखनलाल चतुर्वेदी, श्री सुदर्शन, गोविन्दवल्लभ पन्त और लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि प्रसिद्ध हैं। मैथिलीशरण गुप्त के तिलोत्तमा, चन्द्रहास और अनघ नामक नाटक विख्यात है। बद्रीनारायण भट्ट के तुलसी-दास, वेनचरित्र, दुर्गावती आदि प्रसिद्ध हैं। माखनलाल चतुर्वेदी का कृष्णार्जुन युद्ध नामक नाटक अत्यन्त सफल अभिनययुक्त नाटक है। गोविन्दवल्लभ पन्त के नाटकों मे वरमाला नामक नाटक हिन्दी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इन सब नाटककारों में लक्ष्मीनारायण मिश्र अत्यन्त उत्कृष्ट एवं सफल नाटककार हैं। आपके समस्यामूलक नाटक राजमुकुट और सिन्दूर की होली एवं अन्य नाटक सन्यासी, अशोक, राक्षस का मन्दिर आदि नाटक साहित्य के अमूल्य रत्न हैं।

आधुनिक युग में हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, जगन्नाथप्रसाद मिलिंद, उपेन्द्रनाथ अश्क, सेठ गोविन्ददास, डाक्टर रामकुमार वर्मा आदि नाटक-साहित्य के मुख्य स्तम्भ हैं। हिन्दी साहित्य को इनकी अपूर्व देन प्राप्त हो

रही है। उपर्युक्त नाटककार एकांकी नाटकों के भी सफल रचयिता हैं। यह युग एकांकी नाटकों का युग है। आज के युग में नाटकों की अपेक्षा एकांकी अधिक लोकप्रिय होते जा रहे हैं। इसका कारण आज का प्रजातन्त्र-युग है। इस प्रजातन्त्र और मौलिक युग में जीवन एक मशीन के समान सतत चलायमान हो रहा है। इस अर्थपरायण युग में लोगों के पास इतना समय नहीं है कि घण्टों बैठकर और नाटक देखकर मनोरंजन प्राप्त करें। आज की जनता चाहती है कि थोड़े समय में अधिक-से-अधिक मनोरञ्जन प्राप्त हो, क्योंकि दिन के घोर परिश्रम से थका हुआ मनुष्य अधिक समय तक बैठकर मनोरंजन प्राप्त नहीं कर सकता। जनता की इस भावना को पूर्ण करने के लिए ही एकांकी नाटकों का जन्म हुआ और आज उनकी प्रगति अधिक रूप से हो रही है।

हरिकृष्ण प्रेमी—आप उच्चकोटि के नाटककार एवं कवि हैं। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखे गये आपके नाटक हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। आपके नाटक एकांकी की अपेक्षा अधिक हैं। विषपान, रक्षा बन्धन, शिव साधना, स्वप्न भंग, मन्दिर और आहुति आदि नाटक प्रसिद्ध हैं। रंगमंच की दृष्टि से लिखित नाटक आपके ही पूरे उतरते हैं। आपकी भाषा प्रवाहमयी है।

उदयशङ्कर भट्ट—आप पौराणिक धारा के प्रमुख नाटककारों में से हैं। आपके नाटक एवं एकांकी नाटकों में एक तीखा व्यंग्य प्रस्फुटित हुआ है। आपने अन्तर में सुलगते हुए सामाजिक विषमता और प्रताड़ना के विद्रोह-कणों को बलात् ही कागज़ पर रख दिया है। आपके नाटक सगर विजय, मत्स्यगन्धा, विश्वामित्र, राधा, अन्तहीन अन्त एवं विक्रमादित्य प्रसिद्ध हैं। एकांकी नाटकों में 'स्त्री का हृदय', 'समस्या का अन्त', 'नाटककार' आदि प्रसिद्ध हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्क—आप कवि, कहानीकार और नाटककार हैं। इनकी प्रतिभा ने अल्प समय में ही चतुर्मुखी विकास प्राप्त कर लिया है। आपके एकांकी नाटक जीवन के रंगों से ओत-प्रोत हैं, साथ-ही-साथ सामाजिक विषमताओं का नग्न चित्र उपस्थित कर देते हैं। आपका अधिकार का रक्षक, उड़ान, आपस का समझौता, पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर रहे हैं।

सेठ गोविन्ददास—आप राजनीतिज्ञ होने के साथ-साथ कुशल नाटककार हैं। प्रकार-वैचित्र्य और परिमाण की दृष्टि से इनके नाटक बहुत आगे हैं। आपके नाटकों की समस्यायें प्रायः अभिजात वर्ग से सम्बन्धित हैं। गांधी युग की समस्यायें भी आपके नाटकों में परिलक्षित होती हैं। आपके 'सप्तरश्मि', 'पंचभूत' तथा 'चतुष्पथ' आदि एकांकी संग्रह प्रकाशित होचुके हैं।

डाक्टर रामकुमार वर्मा—श्री वर्माजी एकांकी नाटकों के जन्मदाताओं में से हैं। आप एक ओर ललित कल्पना के कवि हैं और दूसरी ओर विचारक एवं आलोचक हैं। आपके एकांकी नाटकों में कवि, विचारक एवं आलोचक का अद्भुत सम्मिश्रण होकर भावनाशील त्रिवेणी का सृजन हुआ है। इनके नाटकों में हलका सा रूपमोह और तज्जन्य प्रेम का गुलाबी रंग है। अभिनय की दृष्टि से आपके नाटक पूर्ण हैं। पृथ्वीराज की आँखें, चारुमित्र, विभूति और सप्तकिरण नाम से आपके एकाकी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

इन नाटककारों के अतिरिक्त गणेशप्रसाद द्विवेदी, चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार, कैलाशनाथ भटनागर, सुमित्रानन्दन पन्त आदि अनेक नाटककार हिन्दी साहित्य की सेवा के पुजारी हैं। यद्यपि आज के वैज्ञानिक सिनेमा जगत् ने नाटकों को पंगु बना दिया है किन्तु आज भी योरुप में सिनेमाओं की अपेक्षा नाटकों का अत्यधिक महत्वपूर्ण आदर हो रहा है। आज के विश्व में बर्नार्ड शॉ का आदर किसी प्रधान मन्त्री से कम नहीं है। भारतीय नाटक-साहित्य का भविष्य भी उज्ज्वल दिखाई दे रहा है।

हिन्दी में प्रकृति चित्रण

प्रकृति का स्वरूप मनुष्य को अनन्त काल से लुभाता चला आ रहा है। वन, पर्वत, निर्झर, नदी, नाले, संध्या और प्रभात की रमणीय शोभा आदि प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों तथा चित्रों के साथ मनुष्य के हृदय का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब से साहित्य की सृष्टि हुई तभी से प्रकृति उसका प्रधान अंग हो गया। प्रकृति का चित्रण साहित्य में प्रायः तीन रूपों में हुआ है।

क—निरपेक्ष भाव से वर्णन (चित्रात्मक वर्णन)

ख—परिस्थिति स्वरूप किया गया वर्णन (संवेदात्मक वर्णन)

ग—साम्य प्रदर्शन के लिये किया गया वर्णन (आलंकारिक वर्णन)

चित्रात्मक वर्णन में प्रकृति के नाना रूपों के साथ मनुष्य के हृदय का सामंजस्य दिखाने के लिये प्राकृतिक वस्तुओं को ऐसी स्पष्टता के साथ अङ्कित करना पड़ता है कि श्रोता या पाठक उसका पूरा २ बिम्ब ग्रहण कर सकें। बिंबग्रहण करने के लिये केवल कुछ वस्तुओं का नाम लेना ही पर्याप्त नहीं होता, आस पास की और वस्तुओं क बीच उसकी परिस्थिति तथा नाना अंगों की संश्लिष्ट योजना के साथ जो वर्णन होगा वही चित्रण कहलायेगा।

संवेदनात्मक वर्णन में कवि की भावना प्रकृति के रूपों को अपने रंग में रंग देती है और भावावेश में कवि को प्रकृति के रूपों में अपनी प्रतिकृति दिखाई पड़ती है। परिस्थिति स्वरूप किया गया वर्णन घटना तथा वस्तु वर्णन के भावों को उत्कर्ष पर पहुँचा देता है। रसों की निष्पति में वह उद्दीपन का कार्य करता है। यमुना के कूल तथा कछारों के चित्र, शिशिर की रातों की शीतलता, वर्षा की झड़ी, वसन्त ऋतु की-रमणीयता आदि का वर्णन रति के स्थायित्व के लिये आया है। श्रीकृष्ण के जन्म के समय का आंधी और वर्षा का वर्णन समय की भीषण परिस्थिति का स्वरूप सामने लाकर खड़ा कर देता है। संवेदनात्मक चित्रण के लिये सामंजस्य और अनुपात की भावना अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा प्रकृति-दृश्य कवि की भावना से आच्छन्न होकर बिल्कुल अपरिचित सा प्रतीत होगा।

आलंकारिक वर्णन में प्राकृतिक दृश्यों का उपयोग केवल साम्य या तुलना के लिये होता है। कवि प्राकृतिक दृश्यों की योजना मानसिक स्थिति के प्रकाशन या सहानुभूति के निरूपण के लिये करते हैं। मनुष्य ने मुख की सुन्दरता कमल और चन्द्र में, कामिनी की कटि सिंह की कटि में, उसकी जांघें हाथी की सूँड में, उसकी नाक तोते की चोंच में देखी। मोतियों में उसके दांत बिखरे देखे हैं। उषा में उसने अपनी हंसी पाई है, फूल में प्रसन्नता देखी, प्रकाश में ज्ञान तथा अन्धेरे में अज्ञान देखा है। ऐसे वर्णन के लिये आवश्यक है कि प्राकृतिक दृश्य या वस्तु की योजना भाव का उत्कर्ष करने वाली हो। वर्तमान युग मे इस अलंकार शैली का विकास प्रतीक शैली के रूप में हुआ है।

हिन्दी में प्रकृति चित्रण का इतिहास देने से पूर्व यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हिन्दी कवियों में वह सूक्ष्म-निरीक्षण दृष्टिगत नहीं होता है जो

वाल्मीकि और कालीदास आदि प्राचीन संस्कृत कवियों में मिलता है। हिन्दी मे प्रकृति चित्रण का इतिहास देने के लिये हम उसे सुविधा की दृष्टि से दो युगों में विभक्त कर लेते है।

क—वर्तमान युग से पूर्व (भारतेन्दु युग से पूर्व)

ख—वर्तमान युग।

वर्तमान युग से पूर्वः—

वर्तमान युग से पूर्व प्रकृति चित्रण परम्परागत था अर्थात् प्रकृति का परम्परागत स्वरूप अनुभूत होने पर भी स्वीकार कर लिया गया है। प्रकृति के स्वतन्त्र संश्लिष्ट चित्र तुलसीदास के एकाध पद को छोडकर नही मिलते। प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण जहाँ कहीं भी हुआ है वहां कुछ वस्तुओ के परि-गणन से आगे नहीं बढ़ पाया है। प्रकृति का उपयोग अधिकतर प्रेम की भावना को उत्तेजित और उद्बुद्ध करने के लिये हुआ है। वर्षा और वसन्त भारत की दो सबसे अधिक रमणीक ऋतुओ की शोभा की ओर तो कवियों का ध्यान बहुत कम है। परन्तु इन ऋतुओ मे संयोग की प्रसन्नता और वियोग की पीडा का वर्णन अधिक मिलता है। नैतिकता का उपयोग देने के लिये भी कवियों ने प्रकृति को साधन बनाया है। इसके आगे इन कवियों को प्रकृति नि.सार प्रतीत हुई अब हम भिन्न कालो मे "प्रकृति का चित्रण कैसे हुआ" इसका वर्णन क्रमशः कुछ प्रमुख कवियों को लेकर करेंगे।

कबीरः— सत साहित्य प्रकृति की उपेक्षा करता है। वह आत्मा के बाद नैतिकता एव नैतिक आदर्शों के आलोक मे लौकिक व्यवहार के प्रश्न सामने रखकर चला है। उसका भौतिक सौन्दर्य के प्रति दृष्टिकोण ही दूसरा है। यह ससार सब माया है तो प्रकृति सौन्दर्य भी छलना है। कबीर में कहीं २ अन्योक्तियों में प्रकृति के चित्र अवश्य हैं। जैसे—

"काहे रे नलिनी ! तू कुम्हलानी, तेरे ही ताल सरोवर।
पानी . . ॥"

प्रकृति का प्रतिनिधि मनुष्य नलिनी है, जल ब्रह्म तत्व है। इसी में प्रकृति के नाना रूपो की उत्पत्ति होती है।

जायसीः—सूफी कवियो का प्रकृति के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण है

और उसने उनके काव्य में एक महत्वपूर्ण स्थान पाया है। इनकी दृष्टि मे प्रकृति परमात्मा की सत्ता की ही अभिव्यक्ति है। इसी से उन्होंने इसे चिदात्म-तत्व की प्राप्ति का एक साधन माना है।

सूर्—ब्रज काव्य की प्रकृति गोपियों के हृदय पर छाई है। उसके दर्पण में उनके हृदय के अनुभाव, विभाव प्रतिबिम्बित है। उसमें प्रकृति और मनुष्य की अन्यतम भावनाओं का एकात्म भाव है। गोपियों को विरह के कारण कभी तो बादल उनकी भावनाओं के अनुरूप भीषण रूप मे दिखाई पड़ते हैं।

"देखियत चहुँ दिसि से घन घोर।
मानो मत्त मदन के हथियन वल करि वन्धन तोरे।
कारे तन अति चुवत गड मद, वरसन थोरे थोरे।
रुकत न पवन महावत हूँ पै मुरत न अकुस मोरे॥"

कभी अपने प्रकृत लोक सुखदायक रूप में ही सामने आते हैं और कृष्ण की अपेक्षा कहीं अधिक दयालु और परोपकारी हैं।

वरु य वदराऊ वरसन आए
अपनी अवधि जानि नदनन्दन! गरज गगन घन धाए।
× × ×
तृण किए हरित हरषि वेली मिलि दादुर मृतक जिवाए।

प्रिय के साथ रूप साम्य के कारण वे ही मेघ प्रिय लगने लगते हैं। इसी प्रकार पपीहा भी अपनी बोली द्वारा प्रिय का स्मरण करा कर दुःख बढ़ाता प्रतीत होता है और कभी समदुःख भोगी के रूप में अत्यन्त सहृदय जान पड़ता है।

तुलसी—गोस्वामी तुलसीदास सच्चे सहृदय भावुक कवि थे। चित्रकूट आदि स्थलों के प्रति उनमें स्वाभाविक अनुराग था। गीतावली में चित्रकूट का जो विस्तृत वर्णन किया गया है वह केवल शुष्क प्रथा पालन नहीं है। उस भूमि के एक एक कण के प्रति उमड़ते हुए अनुराग का उद्गार है। इसमें कहीं कहीं संस्कृत कवियों का सा सूक्ष्म निरीक्षण और संश्लिष्ट योजना पाई जाती है।

"सोहत श्याम जलद मृदु घोरत धातु रग लग सृ गनि
मनहुँ आदि अम्बोज विराजत सेवित सुर मुनि भृ ंगनि

सिखर परस घन घटाहि मिलिति बग पाति की छवि कवि बरनी
आदि बराह विहरि वारिधि मनो उग्यो है दसन धरि धरनी
जल युत विमल सिलान झलकत नभ वन प्रतिबिम्ब तरंग
मानहुँ जग रचना विचित्र विलसति विराट अंग अंग
मन्दाकिनिहि मिलत झरना झरि २ भरि भूमि जल आछे
तुलसी सकल सुकृत सुख लागे मानो राम भक्ति के पाछे।

मंद मंद गरजते हुए काले बादल गेरू से रंगे शृंगों से लगे दिखाई देते हैं और शिखरस्पर्शी घटाओं से मिली श्वेत बक पंक्ति दिखाई दे रही है। काली शिलाओं पर फैले हुए जल के भीतर आकाश और वनस्थली का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। कैसी सश्लिष्ट योजना और सूक्ष्म निरीक्षण है। ऐसे चित्र लेते हुए भी तुलसीदास जी के भी अधिकांश वर्णन उसी वस्तु परिगणन शैली पर हैं। मिथिला के बाग की शोभा देखिये:—

लागे विटप मनोहर नाना, बस बस वर बेलि बिताना।
नव पल्लव फल सुमन सुहाये, निज सम्पति सुर रूख लजाये।।
चातक कोकिल कीर चकोरा, कूजत विहग नचत कल मोरा।
विमल शीतल सरसिज बहुरंगा, जल खग कूजत गूंजत भृंगा।।

किष्किंधा काण्ड में वर्षा और शरद् ऋतु का वर्णन केवल उपदेश देने की दृष्टि से लिखा गया है।

दामिनी दमक रही घन माँही, खल की प्रीति जथा थिर नाँही।
बरषहिं जलद भूमि नियराए, जथा नवहिं बुध विद्या पाये।
बूँद अघात सहे गिरि कैसे, खल के वचन सत सहे जैसे।

रीतिकालीन कवि

रीतिकाल में जो कविता हुई वह पूर्णतया नागरिक थी। उसमें या तो प्रकृति को कोई स्थान मिला ही नहीं, यदि मिला तो बहुत गौण। रीतिकाल की प्रकृति कवि की दासी है। वह वेश्या की तरह अनैसर्गिक शृङ्गार करके उसके सामने आती है। गृहिणी जैसा सरल, निश्छल और पातिव्रत्यपूर्ण व्यवहार उसका नहीं है। बिहारी का एक उदाहरण देखिये—

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौ वहै, वा जमुना के तीर॥

अब देव का भी एक उदाहरण देखिये—

झहरि-झहरि की झीनी बून्दे है परति मनो
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन में।
आनि कह्यो श्याम मोसो चलो झूलिवे को आज
फूली न समाई भई ऐसी हौ मगन में।

वर्तमान-काल

वर्तमानकाल भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से आरम्भ होता है। इस युग को भी विकास क्रम की दृष्टि से निम्नलिखित युगों में विभक्त करके उनका क्रमश इतिहास देंगे।

(१) भारतेन्दु युग
(२) द्विवेदी युग
(३) छायावादी युग
(४) आधुनिक युग

भारतेन्दु युग—रीतिकालीन प्रकृति सम्बन्धी रूढ़ि भारतेन्दु में भी लक्षित होती है। इस समय भी प्रकृति के स्वच्छन्द सौन्दर्य पर काव्योद्गार के दर्शन बहुत कम होते हैं। कवि अपनी अलंकारपटुता दिखाने को प्रकृति का उपयोग करते हैं। यद्यपि इन अलङ्कारो से कई स्थानों पर प्रस्तुत की सौन्दर्यानुभूति में कोई सहायता नहीं मिलती। यही इस समय की सामान्य प्रवृत्ति है।

ठाकुर जगमोहनसिंह भारतेन्दु युग की इस प्रवृत्ति के अपवाद हैं। इनकी दृष्टि प्रकृति की ओर है और उन्होंने प्रकृति का सजीव चित्र खींचा है। कवि को अपनी जन्म-भूमि, विंध्य के रमणीय प्रदेश के परिचित स्थलों से अगाध प्रेम है। निम्नलिखित पंक्तियों में दण्डकारण्य की चतुर्दिक् प्रसारित शोभा का मधुर और काव्योपयुक्त वर्णन हुआ है।

याही मग ह्वै के गये दंडक वन श्री राम
तासो पावन देश यह विंध्याटवी ललाम।
विंध्याटवी ललाम तीर तरुवर सो छाई
केतकि कैरव कुमद कमल के वदन सुहाई॥

जग मोहनसिंह न शोभा जात सराही,
ऐसो वन रमणीय गए रघुवर मारग याही
वहत महानद जोगिनी शिववद तरल तरंग,
कक गृध कचन निकर जहं गिरि अतिहि उत्तंग ॥
जह गिरि अतिहि उतग लसत, शृ गन मन भाये।
जिन पै वहु मृग चरहि भीष्ट तृण नीर लुभाय।
सघन वृच्छ तरु लता मिले गहवर उलहत
जिनमें मूरज किरन पत्र रघुन नाहे निवहत ॥

इसी प्रकार का स्वतन्त्र चित्रण प्रतापसिंह जू देव की निम्नलिखित पंक्तियों में भी मिलता है। ग्रीष्म ऋतु में नैनीताल का वर्णन—

तुंग पयोद लसैं गिरि शृग ते आवत सीतलता वगरावत।
त्यो तरु जूहन पै विरमाय रहे सुख साजही को सरसावत।
मजु दरी निकसी जलधार घसै पुनि सीकर सग ले आवत।
ग्रीष्म हूं मे कपावत गात सु वात हिमाचल ह्वै जनु आवत ॥

बाल मुकुन्द गुप्त की कविता में गावों की प्राकृतिक सुषमा के प्रति प्रेम है। भारतीय गांव के सरल जीवन पर कवि मुग्ध है। ग्राम जीवन और गांवों की छटा का बड़ा सजीव वर्णन हुआ है।

भारतेन्दु युग में ऐसी रचनायें बहुत कम मिलती हैं जिनमें प्रकृति को प्यार भरी दृष्टि से देखकर कवि को अन्तर से रचना की प्रेरणा मिली हो।

द्विवेदी युगः- –

द्विवेदी युग में इस क्षेत्र में अधिक उन्नति हुई। इस समय के कवियों में प्रकृति और प्राकृतिक वस्तुओं के प्रति अधिक प्रेम है। अनेक कवियों ने प्रकृति के विभिन्न पक्षों पर बड़ी रोचक कविता की है। प्रकृति इस समय की कविता का प्रधान विषय है।

इस युग के आरम्भ में ही हमें एक ऐसे प्रमुख कवि के दर्शन होते हैं जिसकी मधुर स्मृति प्रकृति प्रेम में लिपटी हुई है। श्रीधर पाठक हिमालय की अप्रतिम शोभा पर मुग्ध हैं। ये अन्यतम होकर प्राकृतिक शोभा का अपूर्व वर्णन करते हैं। काश्मीर और देहरादून का बड़ा रमणीक वर्णन किया है।

पहाड़ की तलहटी में मंसूरी का वर्णन बड़ा ही रोचक

स्वर्गीय प० रामचन्द्र शुक्ल प्रकृति के सच्चे प्रेमी थे । इन्हें संवेदनात्मक चित्रण से चित्रात्मक वर्णन अधिक पसन्द है । वे प्रकृति के किसी रूप से विमुख नहीं होते । घने जंगल, पथरोली चट्टानें और जलती हुई ग्रीष्म ऋतु का कवि ने उतना ही मार्मिक वर्णन किया है जितना उसकी हरी-भरी प्राकृतिक सुषमा का ।

नीचे उत्तप्त ग्रीष्म का बड़ा सजीव वर्णन है ।

प्रखर प्रणय पूर्ण दृष्टि से प्रभाकर की ललट लपट भरी भूमि भभराई है ।
पीत्रर पवन लोट-लोट धूल धूसरित, झपट रहा है बड़ी धूम की वधाई है ।।
सूखे तृण पत्र लिये कहीं रेणु चक्र उठा, घूर्णित प्रमत्त देता नाचता दिखाई है ।
झाड़ और झपेट झेल झूमते खड़े हैं पेड़ मर्मर मिलित हूँ हूँ दे रहा सुनाई है ।।

लोचन प्रसाद पांडे—के धुआंकार में भी चित्रात्मक वर्णन मिलता है । रामनरेश त्रिपाठी ने अपने खण्ड काव्यों में प्रकृति का बड़ा रोचक वर्णन किया है । पथिक और स्वप्न प्राकृतिक चित्रों के लिये विख्यात हैं । 'पथिक' में सागर तट का वर्णन है और स्वप्न में काश्मीर की सुषमा अंकित की गई है । स्वप्न के प्राकृतिक चित्र बड़े रोचक और सजीव हैं । निम्न पंक्तियों में वेगवती पहाड़ी सरिता का चित्र है ।

पर्वत शिखरों का हिम गल कर जल बन कर नालों में आकर ।
छोटे बड़े चीकने अगणित शिला समूहों से टकरा कर ।।
गिरता उठता फेन बहाता करता अति कोलाहल हर-हर ।
वीर वाहिनी की गति से वह बहता रहता है निसिवासर ।

उपर्युक्त कृतियाँ कवि का सच्चा प्रकृति प्रेम पूर्णतया प्रमाणित करती हैं । परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि परम्परागत चित्रण का इस युग में नितान्त अभाव है । इस समय भी प्रकृति के सहारे नैतिकता का उपदेश दिया गया है । इस प्रकार की कुछ रचना बिलकुल नीरस और शुष्क है । गुप्तजी का निम्न संध्या वर्णन बहुत ही सुन्दर है—

"संध्या समीप रवि रश्मि कर, स्थिर हुआ शैल के शिखरों पर ।
सुजनों को अस्त समय भी नित, है निश्चय उच्च स्थान उचित ।"

अयोध्यासिंह उपाध्याय—के प्रकृति चित्रण मे नवीनता नहीं है। कृष्ण के प्रवास के समय कवि ने प्राकृतिक चित्रण का प्रयास किया है, परन्तु उस रात्रि का वर्णन राधा की भावनाओं से इतना ढक गया है कि प्रकृति पहचानी नहीं जाती है।

इस युग में संवेदनात्मक वर्णनों के स्थान पर चित्रात्मक शैली का ही अधिक प्रयोग हुआ है। इस समय जो संवेदनात्मक चित्रण हुए भी हैं, वे ऐसे नहीं हैं जो हमें मुग्ध बना लें और हमारे भावों को उद्बुद्ध कर सकें। कवि अपने व्यक्तित्व को प्रकृति के महान् व्यक्तित्व में लीन नहीं कर सके। इस तल्लीनता के अभाव के कारण कवि न प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन कर सके और न मानवता को प्रकृति का कोई संदेश ही प्रदान कर सके।

छायावाद युग—

छायावादी कवियों मे प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम लक्षित होता है। द्विवेदी युग के प्रकृति काव्य से इन कवियों के प्राकृतिक चित्र अधिक सफल हुए हैं। ये कवि अंग्रेजी के Romantic कवि Wordsworth, Shelley, Keats आदि से अत्यन्त प्रभावित थे। उनकी तरह इनकी भी पुकार थी—Back to the nature प्रकृति की ओर लौटो। प्रकृति को इनकी कविताओं मे कितना महत्वपूर्ण स्थान मिला है यह इसी से प्रकट होता है कि इनके तीन प्रमुख संग्रहों के नाम पल्लव, लहर और परिमल हैं। इनमें प्रकृति को जो स्थान मिला वह इससे पूर्व न था।

चित्रात्मक वर्णन—द्विवेदी युग के समान ये कवि प्रकृति को बाह्य रूप के विस्तृत वर्णन के साथ अंकित करते हैं। इनकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति उनके इस कार्य में सहायक होती है। सुमित्रानन्दन पन्त की रचनाओं में पर्वत, झील और संध्या के बडे सुन्दर वर्णन मिलते हैं। विस्तार भय से उनका केवल एक पार्वत्य प्रदेश का वर्णन ही देंगे।

पावस ऋतु पर्वत प्रदेश, पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश,
मेखलाकार पर्वत अपार,
अपने सहस सुमन फाड अवलोक रहा है बार-बार, नीचे जल में निज महाकार
जिसके चरणो में, पला ताल दर्पण सा फैला है

विशालगिरि का गौरव गाकर झर-झर, मद मे नस-नस उत्तेजित
मोती सी लडियो से सुन्दर,
झरते है झाग भरे निर्झर।

गुरुभक्तसिंह 'भक्त' मे प्रकृति निरीक्षण की सच्ची आँखें हैं। कवि का प्रकृति प्रेम नूरजहां में स्पष्ट रूप मे लक्षित होता है। इस काव्य की कथा का प्रसार ही प्राकृतिक क्षेत्रों मे होता है। इस काव्य मे पहाड़, घने जंगल, खडहर, रेगिस्तान तथा गाँव आदि सभी के रोचक वर्णन हैं। उत्साह से भयानक प्रकृति और मनोहर मैदानों का वर्णन करता है।

नैपाली—को भी प्राकृतिक सुषमा के चित्रण में आनन्द मिलता है। नैपाली की सबसे बड़ी विशेषता प्रकृति की साधारण, सरल और छोटी वस्तुओं के प्रति प्रेम है। कवि को अपने आंगन की हरी घास ही आनंदित करने के लिये पर्याप्त है।

दिनकर को भी ग्राम जीवन से प्रेम है। ग्रामवासियो की रहन सहन का कवि बड़े उत्साह से वर्णन करता है। निम्न पक्तियो में इसका सकेत मिलता है।

स्वर्णांचला अहा खेतो में उतरी सध्या श्यामदरी।
घर घर से उठ रहा है धुआ, जलते चूल्हे वारीवारी।
चौपालो में कृषक बैठ जाते कट झट के वनमारी॥
वन तुलसी की गध लिये हल्की पुरवैय्या आती है।
मन्दिर की घण्टा ध्वनि युग युग का सन्देश सुनाती है॥

संवेदनात्मक वर्णन—चित्रात्मक वर्णन के साथ साथ आधुनिक कवि संवेदनात्मक प्रणाली का भी प्रयोग करते हैं। संवेदनात्मक वर्णन में कवि की भावना प्रकृति के रूपों को अपने रग में रग देती है। भावावेश में कवि को प्रकृति के रूपों में अपनी प्रतिकृति दिखाई पड़ती है। प्रकृति के दृश्यों में दूसरे की कहानी लिखी मिलती है। निम्नलिखित राम कुमार वर्मा के अराकान के वर्णन में शुजा के व्यथित मस्तिष्क की झलक मिलती है।

ये शिला-खण्ड काले कठोर वर्षा के मेघो से कुरूप,
दानवता से वैठे, खडे या कि अपनी भीषणता में अनूप।
ये शिलाखण्ड मानो अनेक पापो के फैले हे समूह,
या निरसता ने चिर प्रवास के लिये रचा है एक व्यूह।

किसी विशेष मनःस्थिति में पंत की सुनहली संध्या ज्वालामय लाक्षागृह की प्रतिकृति प्रतीत होती है।

धधकती है जलदों से ज्वाल बन गया नीलम व्योम प्रवाल।
आज सोने का संध्या काल जल रहा जतुगृह सा विकराल ॥

संवेदनात्मक प्रणाली प्राकृतिक पात्र के सन्देश मानवता तक पहुँचा सकने में समर्थ है। जब कवि प्रकृति में अपनी अभिन्नता का अनुभव करते हैं तभी वे प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करने में समर्थ होते हैं। प्रकृति के दृश्य कवियों की उत्सुकता को जागरित करते हैं। कुछ कवियों को प्रकृति से रहस्यात्मक संकेतों का आभास मिलता है। वसन्त की सुषमा में पंत को किसी अज्ञात रहस्यमयी सत्ता का आभास मिलता है।

देख वसुधा का यौवन भार, गूंज उठता है जब मधुमास।
विधुर उर कैसे उद्गार कुसुम, जब खुल पडते सोच्छ्वास।
न जाने सौरभ के मिस कौन, संदेशा भेजता मुझे मौन।

तरु के नीचे छाया को देखकर उसमें भी कुछ रहस्य का आभास होता है और वह पूछता है:—

किस रहस्यमय अभिनय की तुम सजनि ! यवनिका हो सुकुमार।
इस अभेद्य पट के भीतर है किस विचित्रता का संसार ॥

निराला भी—

कौन तुम शुभ्र किरण वसना
सीखा केवल हसना केवल हसना
शुभ्र किरणवसना।

मद मय भर अग गध मृदु
बादल अलकावलि कुंचित ऋजु
तारक हार, चन्द्र मुख, मधु ऋतु
सुकृत पुज शयना।

प्रतीकात्मक वर्णन:—प्राचीन अंलकार शैली का विकास छायावादी कवियों में प्रतीकात्मक शैली से हुआ है। यहां पर प्रकृति उपलक्षण मात्र है। पंत और प्रसाद ने इस प्रणाली का प्रयोग किया है।

'त जी के 'परिवर्तन' का एक पद देखिये—

प्रथम इच्छा का पारावार सुखद आशा का स्वर्गमार्ग
स्नेह का वासन्ती ससार, पुनः उच्छवासो का
यह तो है जीवन का गान, सुखो का आदि और अत।

इनमें प्रेम के आनन्द और दु.ख की व्यंजना हुई है। प्रेम के आरम्भ में प्रथम तो आशाओं का स्वर्ग दिखाई पड़ता है। वसन्त इसका प्रमाण है अन्त में ग्रीष्म की लू के समान गर्म आहें भरनी पड़ती हैं। यहाँ पर वसन्त और ग्रीष्म उपलक्षणों में से प्रेमी के हर्ष और दु:ख की व्यजना की गई है। प्रसाद ने उषा को पनघट पर पानी भरने वाली नारी का रूप दिया है।

बीती विभावरी जाग री
अम्बर पनघट में डुबा रही, तारा घट उषा नागरी।
खग कुल कल-सा बोल रहा, किसलय का अचल डोल रहा॥

आकाश पनघट है। आकाश में लुप्त होते तारे कलश हैं जिनको उषा नागरी पनघट में डुबो रही है। इस प्रकार साँग रूपक को बाँध कर प्रभात का मनोरम चित्र उपस्थित किया है। निराला ने परी के रूपों में सन्ध्या के आगमन का बड़ा मनोरम चित्र खींचा है।

दिवस का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सध्या सुन्दरी परी सी
धीरे धीरे धीरे—

निराला ने 'शेफालिका' में शेफालिका के वर्णन मे नवयौवना नायिका का वर्णन किया है।

बन्द कंचुकी के सब खोल दिये प्यार से
यौवन उभार ने
पल्लव पर्यंक पर सोती शेफालिका के
मूक आह्वान भरे लालची कपोलो का
व्याकुल विकास पर
भरते है शिशिर से चुम्बन गगनो के

प्रगतिशील साहित्य

प्रगतिवाद शब्द का प्रयोग हिन्दी साहित्य में १९३६ से होने लगा है। १९३६ में 'प्रगतिशील लेखक संघ' का प्रथम अधिवेशन मुं० प्रेमचन्द के सभापतित्व में लखनऊ में हुआ। अपने भाषण में उन्होंने साहित्य में बढ़ती हुई प्रेम और वेदना की लहर की तीव्र आलोचना की और कहा कि साहित्य केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं है। वर्तमान काल में जब कि हमारे देश और समाज की अवस्था संकटापन्न है, हमें ऐसा साहित्य निर्माण करना चाहिये जिसमें वर्तमान आशापूर्ण सन्देश निहित हो। मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि और वस्तुओं की तरह साहित्य को भी मैं उपयोगिता की तुला पर तोलता हूँ। प्रेमचन्द जी के भाषण में मार्क्सवादी सिद्धान्तों का उल्लेख कहीं भी नहीं है। यह हुआ कुछ दिन बाद 'विशाल भारत' में प्रकाशित एक लेख— 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' में। इस लेख में मार्क्सवाद, वर्ग संघर्ष और भौतिकवाद की लम्बी चर्चा के साथ ही वर्तमान साहित्य को पूंजीवाद की प्रवृत्तियों का द्योतक बताया और वर्गवादी साहित्य की सृष्टि का आग्रह किया गया। मार्क्स के भौतिकवाद से प्रभावित होकर रचनायें करने वालों में पन्त जी सबसे आगे आए। अतएव हिन्दी में प्रगतिवाद सम्प्रदाय के काव्य के सूत्रपातकर्त्ता वे ही ठहरते हैं और प्रगतिवाद-काल प्रारम्भ होता है सन् १९३८ से।

प्रगतिवाद में काव्य सिद्धान्त

प्रगतिवादी साहित्य मार्क्सवाद काव्य आलोचना प्रणाली पर अधिष्ठित है। मार्क्सवादी आलोचक साहित्य की कोई स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करते। वे उसे समाज के विकास में एक अस्त्र के रूप में ग्रहण करते हैं। इसके अनुसार जो काव्य समाज की तात्विक उन्नति करने वाली शक्तियों के विकास में योग-दे वही उच्चकोटि की कृति है।

काडवेल मार्क्सवादी आलोचना प्रणाली के व्याख्याताओं में से एक प्रमुख व्यक्ति है। इन्होंने 'Illusion and Reality' नामक समीक्षात्मक पुस्तक

लिखी जिसमें मार्क्सवादी विचारों के अनुसार काव्य के उद्भव और विकास का विस्तृत विवेचन किया है। वे समाज और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं। उनका कहना है कि समाज का आधार आर्थिक है। अतएव काव्य का मूल आधार भी आर्थिक ठहरता है। पहले-पहल समाज में सुख-शान्ति और आनन्द का प्रादुर्भाव तथा प्रकृति से संघर्ष था। उस पर मानव समाज की विजय स्थापित करना ये ही दो कार्य कविता के थे। वर्तमान समय में काव्य धनिकों और शोषकों के बीच पड़कर समाज से विलग हो गया है। अत काव्य को पूर्ण शान्ति से समाज के बीच खड़ा होना चाहिये। समाज का सबसे दु:खी अंग श्रमिक वर्ग है। काव्य को उसके सुख-साधन में योग देना चाहिये। उसमें धर्म की प्रेरणा जगानी चाहिये। मार्क्सवाद की स्थापना से ही विश्व में वास्तविक सुख और शान्ति का प्रादुर्भाव हो सकता है। इसलिये काव्य को मार्क्सवाद का पल्ला मजबूती से पकड़ कर उसके प्रसार में प्रयत्नशील होना चाहिये। यह सिद्धान्त कहाँ तक उचित है—इसकी समीक्षा आगे करेंगे।

प्रगतिवाद छायावाद की प्रतिक्रिया में

छायावादी युग के कवियों में अनुभूति, कल्पनात्मकता और कलात्मकता की प्रधानता थी। वे सरकार और समाज की ओर निराश होकर व्यक्तिवादी हो गये थे। उनके काव्य में संसार से पलायन वृत्ति और दुःखवाद की झलक बिलकुल स्पष्ट है। इस प्रकार छायावादी काव्य वास्तविक जीवन से अलग जा खड़ा हुआ था। इन छायावादी कविताओं की अत्यधिक कलात्मकता और प्रेम निवेदन की विकृति से कतिपय कवि स्वयं भी ऊब उठे। ये कविताएँ काव्य और कला की दृष्टि से चाहे उच्च हों पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि ये जनता के वास्तविक जीवन से दूर जा पड़ी हैं। छायावाद की बहुत सी कलापूर्ण रचनाएँ सुनकर या पढ़कर प्रसन्न होने वाले पर्याप्त शिक्षित व्यक्ति मिल जायें पर उन्हें ठीक ढग से समझने वाले अब भी कम हैं। परिणाम स्वरूप छायावाद के वायवीपन और सूक्ष्मता की स्थूल-भौतिकवाद में, पलायनवृत्ति की संघर्ष और क्रान्ति में, कल्पनात्मकता की यथार्थवाद में, अत्यधिक कलात्मकता की अत्यधिक सरलता में, निराशा और

दुःखवाद की आशा और उत्साह में प्रतिक्रिया ही प्रगतिवाद की विशेषताएं हैं।

प्रगतिवाद के विषय—प्रगतिवाद शब्द काव्य क्षेत्र में सामान्य रूप में दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—एक तो सामान्य राष्ट्रीय और सामाजिक कविताओं के लिये और दूसरे मार्क्सवादी विचारधारा से अनुशासित रचनाओं के लिये। पहले ढंग की रचानाओं के अंतर्गत देशभक्ति के उद्‌गार, अतीत और वर्तमान के देशभक्तों एवं राष्ट्रनायकों की प्रशस्तियां तथा देश की वर्तमान राजनैतिक और सामाजिक अवनति का दिग्दर्शन करने वाली शुष्क मनोदशा से भरी रचनाएं आती हैं। दूसरे ढंग की रचनाओं के अन्तर्गत अतीत की सम्पूर्ण व्यवस्थाओं के प्रति असन्तोष की व्यजना करने वाली, मार्क्सवादी विचारों के पद्यानुवाद रच कर सहानुभूति प्रकट करने वाली, तथा रूस और मार्क्स की प्रशंसा कर उनकी व्यवस्थाओं को अपने यहा प्रतिष्ठित करने की आकुलता दिखाने वाली, सकेत पर चलने वाली कविताएं ही प्रगतिवाद की कविताएं हैं।

प्रगतिवाद के मुख्य विषय निम्नलिखित हैं—किसान, मजदूर, ग्रामीणों से सहानुभूति तथा पूंजीवादियों और शोषकों के प्रति घृणा। शोषक वर्ग के अत्याचारों के विशद चित्र देकर, चूसे गये किसानों और श्रमिकों की मानसिक दशा का आभास देने का प्रयत्न प्रगतिवादी कवियों का सब से रुचिकर विषय है। पन्तजी का ग्राम्या में चित्र देखिये—

"युग-युग वह भारवाह, आकटि नतमस्तक।
विश्व विवर्तन शील, अपरिवर्तित वह निश्चल॥
वही खेत, गृह द्वार वही, कृषि हसिया और हल
वही सकीर्ण, समूह कृपण, स्वाश्रित परपीडित।"

ग्रामीण की दुर्दशा का वर्णन करने वाली श्री भगवतीचरण वर्मा की "भैंसा गाड़ी" शीर्षक कविता ने लोगों का ध्यान अपनी ओर बहुत आकृष्ट किया है। कुछ पंक्तियां देखिये—

"उस ओर क्षितिज के आगे, कुछ पांच कोस की दूरी पर।
भू की छाती पर फोडो-से, हैं उठे हुए कच्चे घर॥
मैं कहता हूँ खण्डहर उसको, पर वे कहते हैं उसे ग्राम।
जिसमें भर देती निज धुंधलापन, असफलता की सुखद शाम॥

पशु बन कर नर पिस रहे जहा, नारिया जन रही है गुलाम ।
पैदा होना फिर मर जाना यह है उन लोगो का एक काम ।"

× × ×

"वह राज काज जो मचा हुआ है इन भूखे कगालो पर ।
इन साम्राज्यो की नीव पडी है तिल-तिल मिटने वालो पर ॥
वे व्योपारी वह जिमीदार, जो है लक्ष्मी के परम भक्त ।
वे निपट निरामिष, वे सूद खोर, पीते मनुष्य का उष्ण रक्त ॥
इस राज काज के वही स्तम्भ, उनकी पृथ्वी उनका ही धन ।
ये ऐश और आराम उन्ही के और उन्ही के स्वर्ग सदन ॥
उस बडे नगर का राग रग, हस रहा निरन्तर पागल सा ।
उस पागलपन से ही पीडित, कर रहे ग्राम अविकल क्रन्दन ॥"

पं० उदयशङ्कर भट्ट ने एक मजदूर का बडा दर्द भरा चित्र अङ्कित किया । गर्मी, वसन्त और बरसात के दृश्य सब उसके शरीर में ही मिल जाते हैं । इसकी अन्तिम पक्तियों में जो तुलना है वह बडी करुणापूर्ण है ।

मेरी बरसातें आसू से, मेरा वसन्त पीला शरीर ।
गर्मी झरनो सा स्वेद मेरे साथी दुख दर्द पीर ॥
दिन उनको, मुझ को रात मिली, श्रम मुझे, उन्हें आराम मिला ।
बलि दे देने को प्राण मिले, हन्टर को सूखा चाम मिला ॥"

किसानों और मजदूरों आदि की करुण दशा को देखकर कवि को क्षोभ मिश्रित आश्चर्य होता है कि ऐसी विषम अवस्था मे भी ये जीवित कैसे रह सकते हैं । ऐसे शोषक समाज की धज्जी उड जाये तो ठीक है ।

'हो यह समाज चिथडे चिथडे
शोषण पर जिसकी नीव पडी ।" (अचल)

इतना ही नहीं, वह ईश्वर जिसने क्षुधातुरों की भूख नहीं मिटाई, दलितों की सहायता नहीं की, अत्याचारी शोषकों का दलन नहीं किया, नाश हो जाय उसका ।

आज भी जन-जन जिसे करबद्ध होकर याद करते, नाम ले जिसका गुनाहों के लिये फरियाद करते किन्तु मैं इसका सत्कार करता । इसके अतिरिक्त प्रगतिवादी कवियों ने दीन जनों के कुछ व्यंग्यात्मक चित्र भी खींचे हैं । अग्रवाल जी की कुछ कविताएं ऐसी हैं ।

रूस और लाल सेना का यशोगान करने वाली—

इस विषय में प्रगतिवादियों का मन अधिक रमा है। इस विषय में 'सुमन जी' का एक गीत देखिये—

"युगों की सड़ी रूढ़ियों को कुचलती
जहर की लहर सी मचलती
अँधेरी निशा में मसालों सी जलती
चली जा रही बढ़ी लाल सेना।
समाजी विषमता की नीवें हिलाती
गरीबों की दुनिया में जीवन जगाती
अमीरों की सोने की लंका जलाती
चली जा रही बढ़ी लाल सेना।"

इन गीतों में गीत-काव्योचित प्रवाह भी है। किन्तु इस प्रकार के गीतों के साथ जनता का हृदय प्रतिस्पन्दित होता नहीं दिखाई देता। क्योंकि सब लोग रूस को ही दुनिया की आजादी का प्रतीक नहीं मान सकते और प्रगतिवादियों के सुर में सुर मिलाकर नहीं कह सकते—

"लाल रूस है ढाल साथियो! सब मजदूर किसानों का
लाल रूस का दुश्मन साथी दुश्मन सब इंसानों का
दुश्मन है सब मजदूरों का दुश्मन सभी किसानोंका"
वह राज है पंचायत का वहां नहीं है बेकारी -

राजनीतिक सिद्धान्त विशेष का पद्यानुवाद

प्रगतिवाद की सर्वप्रथम दिखाई पड़ने वाली प्रवृत्ति भी (जो अब भी है) राजनीतिक सिद्धान्तों का पद्यानुवाद अथवा उनकी विचारधारा का ग्रहण। युगवाणी का कवि ऐसी 'नव संस्कृति' के आविर्भाव का अभिलाषी है जिसमें

"रूढ़ रीतियां नहीं, हम हों आराधित
श्रेणी वर्ग में मानव नहीं विभाजित
धन बल से हो जहां न जन श्रम शोषण
पूरित नव जीवन से निखिल प्रयोजन।'

× × ×

"सस्कृत वाणी, भाव, कर्म, सस्कृत मन
मुन्दर हो जन वास, वसन, सुन्दर तन
ऐसा स्वर्ग धरा में हो समुपस्थित
नव मानव सस्कृति-किरणो से ज्योतित ।"

उद्बोधनात्मक गीत—इन गीतों मे सरलता, प्रवाह और पूरी गेयता मिलती है। इनमे जोशीली प्रचारात्मक वाक्यावलियां यहां से वहाँ तक गुंफित रहती हैं। नरेन्द्र जी का लिखा हुआ गीत देखिये—

"हाथ हथौडा लिये हुए सन्मुख आ सकता है कौन
लोहे की दीवार हमारी, हमें हिला सकता है कौन,
सुनो साथियो! अमरीका के शहर शिकागो की है बात,
ओलो सी गोलियाँ चली थी, हुई खून की सी बरसात
फिर आवाज बुलन्द करो सब ही 'इन्कलाब जिन्दाबाद'
हो बरबाद सरमायादारी "इन्कलाब जिन्दाबाद"

इन गीतों की सामयिक उपयोगिता अवश्य है परन्तु ये काव्य की स्थायी सम्पत्ति नहीं हैं।

प्रेम गीत—प्रगतिवाद सिद्धान्तः रूढ़ियों के विरुद्ध है और उसमें उन्मुक्त प्रेम को अधिक आश्रय मिला है। नवीन, नरेन्द्र तथा अञ्चल के प्रेम गीतों में भौतिक पक्ष की प्रधानता है और रूढ़ियों के प्रति विद्रोह प्रतिध्वनित होता सुनाई पड़ता है। विस्तार भय से केवल एक गीत देंगे जिसमे वासना की गन्ध तो अवश्य है किन्तु उसकी भौतिकता मानसिक धरातल पर पहुची हुई प्रतीत होती है।

"ठहर जाओ घडी भर और तुमको देख लें आखें
अभी कुछ देर मेरे कान में गूँजें तुम्हारा स्वर
बहे प्रति रोम से मेरे सरस उल्लास का निर्झर
बुझा दिल का दिया शायद किरण-सा खिल उठे जलकर
ठहर जाओ घडी भर और तुमको देख लें आखें"

पंत जी ने नारी का नग्न चित्र खेंचा है। उसको समाज के वर्त्तमान काल में अपनी वासना की पूर्ति का एक साधन मात्र बनाकर नारी को कृत्रिम आदर्शात्मक नियमों में बाध बंदिनी बनाया है। उसे मुक्ति मिलनी चाहिये।

"क्षुधा काम वश गत युग ने
पशु बल से कर जन शासित।
जीवन के उपकरण सदृश
नारी भी कर ली अधिकृत।
अब— मुक्त करो जीवन संगिनी को
जननी देवी को आहृत।
जग जीवन में मानव के संग
हो मानवी प्रतिष्ठित ॥"

जहाँ पंत जी ने नारी को स्वतन्त्र करने की पुकार की है वहां वह स्वच्छन्दता उच्छृङ्खलता की सीमा तक न पहुंच सके इसलिये पंत स्वच्छंद 'आधुनिक नारी' को सम्बोधित करके कहते हैं—

"तुम सब कुछ हो फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जारी
आधुनिके! तुम नहीं कुछ अगर, नहीं सिर्फ तुम नारी।"

पर इस प्रकार समन्वय बुद्धि के दर्शन प्रायः प्रगतिवादी काव्यों में नहीं होते। वे तो पाश्चात्य आधार पर उन्मुक्त प्रेम ही चाहते हैं।

हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य—प्रगतिवाद ने प्रत्यक्ष जीवन के संघर्ष में आकर राजनीति में भाग लिया है और वह यथाशक्ति हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की ओर प्रयत्नशील रहा है। स्वयं धर्म से उदासीन होने के कारण ये लोग दोनों को समता-भाव से देखने की अधिक क्षमता रखते हैं। इस समता-भाव के लिये सब जगह धार्मिक विद्रोह ही उत्तरदायी नहीं है वरन् इसके अन्तःस्तल में कहीं-कहीं उच्च मानवता के भी दर्शन होते हैं। नरेन्द्र जी की निम्नलिखित कविता में मानवता ही काव्य प्रधान है—

"मैं हिन्दू हूँ तुम मुसलमान,
पर क्या दोनो इंसान नही।"
मै समझता रहा तुम्हे मलेच्छ, तुम मुझे वणिक और दहकानी
सदियों हम दोनो साथ रहे, यह बात न अब तक पहचानी
दोनो ही धरती के जाये हम मन चाहे महमान नही
मै हिन्दू हूँ तुम

है अलग अलग हम दोनो के व्यवहार, मान, जीवन, दर्शन
सास्कृतिक स्रोत दोनो के दो, करते भावो का सिंचन
पर दो होकर भी मिल न सके, तो दोनों का कल्याण नही
मैं हिन्दू हूँ तुम मुसलमान
पर क्या दोनो इन्सान नही।

सामयिक परिस्थितियों के प्रति जागरूकता—सामयिक समस्याओं के प्रति जागरूकता प्रगतिवादियों की सबसे बडी विशेषता प्रतीत होती है। गत महायुद्ध, महँगाई, बगाल का अकाल, हिन्दू-मुस्लिम समस्या— सभी विषयों पर प्रगतिवादी रचनाए हुई हैं। युद्ध के समय रूसपर प्रगतिवादियों की दृष्टि अधिक टिकती है। क्योंकि उसकी जय-पराजय पर इन्हे मानव-समाज का भाग्य निर्भर दिखाई देता है। रूस पर अनेक रचनाएं हुई यहां तक कि "अजेय खण्डहर" नाम का एक खण्ड काव्य ही उस पर प्रकाशित हुआ। मास्को के घिर जाने पर आशावादी कवियों ने अनेक गीत लिखे हैं। 'मास्को अब भी दूर है" किसी रचना का अच्छा उदाहरण है।

"ऐसा हुआ यह दुर्ग नही यह मजदूरो का प्यारा
यह इस युग के सघर्षों का सबसे प्रबल प्रतीक है
लाल फौज ने लाल खून से आज बनाई तस्वीर है
इस जागृति के स्वर में जन २ कण कण आज शरीर है।
दस हफते दस साल बन गये 'मास्को अब भी दूर है।'

बंगाल के अकाल के कारण स्थिति करुणाजनक थी। इस विषय पर अनेक रचनाएं हुई। अग्रवाल जी का एक गीत देखिये—

१. बाप बेटा बेचता है, २ मा अचेतन हो रही है
भूख से बेहाल होकर, मूर्च्छना में रो रही है
धैर्य धीरज प्राण खोकर राम के निर्भय चरणपर
हो रही अनरीति बर्बर, प्रेम माथा टेकता है
३ शर्म से आखें न उठती रोप से छाती धधकती
और अपनी दासता का शूल उर को छेदता है।

प्रगतिवाद के प्रमुख कवि

पंत—हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद के सूत्रपातकर्ताओं मे से हैं। छायावाद की ओर से प्रगतिवाद आन्दोलन की ओर इनके मुड जाने से नवयुवक कवियों पर बहुत प्रभाव पडा और वे भी उस ओर प्रवृत्त हुए। मार्क्सवाद की ओर भी पंत जी का झुकाव हित की दृष्टि से है। व्यक्तिगत रूप में वे गांधीवाद से भी प्रभावित हैं और भारतीय आत्मवाद का भी इन पर गहरा रंग है। छायावाद में भौतिकवाद की जो उपेक्षा हुई है उसका परिहार मात्र इनका आशय प्रतीत होता है। साम्यवाद की स्थापना के लिये कोई निश्चित योजना प्रस्तुत करने का प्रयास इन्होंने नहीं किया और न ही वर्ग-संघर्ष आदि उपायों का उपदेश दिया है। वर्त्तमान जीवन के भीतर वैषम्य और विषाद के कारण आकुलता इनकी रचनाओं में अवश्य दिखाई देती है। पर शैली की दृष्टि से पहले की अपेक्षा कोई विशेष परिवर्तन लक्षित नहीं होता।

नरेन्द्र शर्मा—पहले-पहले रोमांटिक कवि के रूप में ही सामने आए। इधर नये रास्ते पर चल कर इन्होंने सामयिक समस्याओं पर रचनाएं कीं। मजदूरों पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण से कई जन-गीत लिखे हैं। जिनमें शैली की दृष्टि से गेयता, प्रवाह और सरलता पर्याप्त मात्रा में मिलती है। इनकी प्रगतिवादी रचनाओं से सामयिक परिस्थितियों के प्रति जागरूकता का पूरा-पूरा परिचय मिलता है। ऐसी रचनाओं में नीति प्रतिपादन का जहां अवसर मिलता है वहां अपनी बातें खूब समझा-बुझाकर कहने में ये कुशल हैं। नये कवियों में इनका स्थान उच्च है।

शिवमंगलसिंह "सुमन"—की बडी भारी विशेषता यह है कि इनकी रचनाएँ कहीं दुरूह नहीं होतीं। सरलता इनमें सर्वत्र मिलेगी। भाव में, शब्द चयन में, अभिव्यक्ति प्रणाली में कहीं भी उलझन दिखाई नहीं देती। युद्ध काल में लिखे गये इनके कुछ सामयिक गीत और इधर की कुछ उत्साहवर्धक लम्बी रचनाएं विशेष प्रशंसित हुई हैं। सुमनजी की सब से बड़ी विशेषता यह है कि शक्ति, उत्साह, और आशा का सन्देश ये बराबर देते रहते हैं और किसी प्रकार की साहित्यिक परिस्थिति के सम्मुख हार मानना नहीं जानते।

रामेश्वर शुक्ल अंचल—इन्होंने छायावाद की सूक्ष्मता के विरोध में प्रेम और यौवन का सन्देश लेकर काव्य क्षेत्र में प्रवेश किया था। इनके

रचनाओं में सर्वत्र आवेश की वेगमयता दिखाई देती है। जीवन की किसी भी दशा को ये जवानी की आवेग भरी आँखों से ही देखते हैं। इनकी रचनाओं में उर्दू की पूरी छाप है। दलित पीड़ित वर्ग का दुःख-दर्द, रोष और उन्माद इनके द्वारा बड़ी ओज पूर्ण शब्दावली में व्यक्त हुआ है और वर्त्तमान असंगतियों के नाश की आकुलता।

केदारनाथ अग्रवाल—अपने ढंग के अकेले ही कवि हैं। इन्होंने अपनी नवीन शैली स्वयं निर्माण की है। "ये भाव चाहिए भाव" को मानने वाले हैं चाहे अभिव्यक्ति का ढंग अटपटा हो। इन्होंने अधिकतर मुक्तक छन्द में रचनाएं की हैं। कोई विचार, भाव, चित्र या कथा का आभास देने वाला प्रसंग ले लेते हैं और व्यंजनापूर्ण ढंग से उसे व्यक्त करते हैं। निम्न वर्ग के दैनिक जीवन के बड़े ही व्यंजक छोटे-छोटे रेखा-चित्र प्रस्तुत किये हैं। प्रतीकात्मकता भी इनकी रचनाओं में कहीं-कहीं मिलती है। केदारनाथजी किसी भाव, विचार या चित्र को ज्यों का त्यों रख देना ही पर्याप्त समझते हैं। उसको मार्मिक ढंग से सुन्दर रूप में व्यक्त करने का प्रयास नहीं करते। इसलिये बहुत से लोग इनकी कविता के बारे में अरुचि प्रकट करते हैं।

इनके अतिरिक्त और भी नवयुवक कवि हैं जिनका अच्छा विकास हो हो रहा है। कुछ अन्य पूर्ववर्ती प्रतिभासम्पन्न कवियों के भीतर भी बहुत अच्छी जाति दिखाई देती है। प्रसिद्ध कवि दिनकर इनमें प्रसिद्ध हैं।

प्रगतिवाद का साहित्य मूल्यांकन—

प्रगतिवाद मार्क्सवाद समालोचना प्रणाली पर अधिष्ठित है। उसके अनुसार "समाज का मूल आधार आर्थिक है अतएव साहित्य का आधार भी आर्थिक है और साहित्य की कोई स्वतंत्र सत्ता है ही नहीं।" यह काव्य सिद्धान्त ही मूलतः अशुद्ध है। क्योंकि समाज का आधार केवल आर्थिक नहीं है और साहित्य भी स्वतंत्र है। यह अवश्य है कि साहित्य पर जीवन के बाह्य उपकरण (राजनीतिक,सामाजिक आर्थिक समस्याएं)प्रभाव डालते हैं। क्योंकि वह जीवन में संलग्न है। परन्तु ये बाह्य उपकरण औपचारिक हैं काव्य के नित्य अंश नहीं। सामयिक वाद समय-समय पर परिवर्तित और विनष्ट हुआ करते हैं पर साहित्य इस प्रकार नष्ट नहीं होता।

प्रगतिवादी साहित्य प्रचारात्मक है। उसका प्रयोजन एक विशिष्ट समाज-

प्रणाली का प्रचार करना है। प्रयोजन युक्त साहित्य भी उच्च कोटि का हो सकता है। पर रचना में निहित यह प्रयोजन जब प्रच्छन्न न रह कर काव्य को ही आच्छादित कर लेता है, मार्मिक भावों की उद्भावना नहीं कर पाता तब वह किसी साम्प्रदायिक सिद्धान्त या विचार की पुष्टि के लिये प्रयत्नभूत कतिपय उपकरणों या नारों का संकलन मात्र हो जाता है। इसे प्रचार कहते हैं, यह काव्य नहीं है।

प्रगतिवादी कविता मे भावो की व्यजना एक विशेष सीमित विचार-प्रणाली पर है। काव्य का क्षेत्र सब के लिये समान रूप से खुला है। वह न केवल श्रमिकों का है और न केवल धनिकों का। उसमें जब चित्र और भाव की व्ययंजना लोक स्वीकृत मान्यताओं के अनुकूल होती है तभी साधारणीकरण सम्भव होता है। भावों को व्यंजना ऐसी होनी चाहिये जो सभी सहृदय व्यक्तियों के अनुभव करने योग्य हो, सब को तल्लीन और आनन्दित कर सके। केवल किसी वर्ग या समुदाय विशेष को नहीं। इसके अतिरिक्त साहित्य द्वेप का प्रचारक नहीं अपितु प्रेम सम्बन्ध स्थापित करने और सुदृढ़ करने की वस्तु है। उसमे घृणा, क्रोध, क्षोभ आदि का भी सम्यक् विधान हो सकता है, पर इनका मूल आधार प्रेम और करुणा ही हो। किसी मत का प्रचार या वर्ग संघर्ष की भावना नहीं।

प्रगतिवादी कविताओं का सम्बन्ध जन समूह से है इसलिये यह आवश्यक है कि वे इतनी सरल हों कि सभी उसे समझ सकें। अतः प्रगतिवादी कवि छायावाद की दुरारूढ कल्पना और दुरूह कलात्मकता को छोड कर सरलता के मार्ग पर चले हैं और उन्होंने बडे मार्मिक साहित्य की सृष्टि की है। परन्तु यदि हम यह कहें तो अनुचित न होगा कि कतिपय रचनाएं बिलकुल नीरस और गद्यात्मक होते हुए भी वे काव्य की सम्पत्ति न मानी जा सकेगी। उन्हें साहित्यिक गद्य भी तो न कह सकेंगे। फिर भी यह देख कर हर्ष होता है कि प्रगतिवादी कवि छायावाद की कला को अपनाते जा रहे हैं और पन्त जैसे कवियों ने प्रगतिवाद को कलामय बना दिया है।

प्रगतिवाद की कतिपय वृत्तियां प्रशसनीय हैं। छायावाद के अन्तिम दिनों में हमारे काव्य क्षेत्र में एक ओर व्यक्तिगत निराशा और संकुचित प्रेम का जो वातावरण तैयार हो चुका था उसे विफल कर और तथा चली आत

हुई सामाजिक काव्य धारा के अनुकूल विशेष वातावरण बना कर प्रगतिवाद ने काव्य में नई आशा का संचार किया है और सामाजिक जीवन की विशृङ्खलताओं की ओर विशेष ध्यान दिया है। आशा है कि राजनीतिक विचार-धारा की संकुचित मनोवृत्ति का त्याग करके हमारे सहृदय-हृदय-सवत्र मर्मानुभूति का ऐसा पथ ग्रहण करेंगे जिससे उनकी रचनाएँ हमें वस्तुतः करुणा की प्राप्ति करने और हमारे हृदय में आशा का संचार करने में और भी अधिक सफल होंगी। आशा है कि उन की वाणी जीवन के अभिनन्दन गान से झंकृत होगी और जीवन की सम्पूर्ण परिधि तक अपना विस्तार करेगी जिससे राष्ट्र और जाति का मंगल और साहित्य का संवर्ध न हो सके।

छायावाद

छायावाद एक प्रकार से द्विवेदी युग के नीति प्रधान, शुष्क इतिवृत्तात्मक तथा रीतिकालीन रूढ़िग्रस्त और अतिऐन्द्रियिक विलासप्रिय काव्य के विरुद्ध एक सजीव प्रतिक्रिया थी। द्विवेदी युग की कविता का लक्ष्य था सुधार। अनेक नैतिक विषयों को कविता का जामा पहना दिया गया था। अतः कविता आह्लादिनी न रह कर जड़मात्र रह गई थी। नारी-सौन्दर्य प्रेम-कल्पना विलास जीवन के आनन्द का स्वच्छन्द प्रकाशन करना था। इनको इस काव्य में ज़रा भी स्थान नहीं है। इसमें नैतिक बुद्धिवाद की प्रधानता थी। इससे प्रेम और शृंगार नाम की वस्तु साहित्य से लुप्त हो चली। द्विवेदी युग का काव्य जिस अन्तिम सीमा पर पहुँच सकता था भारत-भारती और प्रिय प्रवास उसके उदाहरण थे। भारत-भारती की देश भक्ति में हृदय तत्वकी अपेक्षा बुद्धि तत्व की प्रधानता है और प्रिय-प्रवास में नैतिक भावनाकहीं भी शिथिल नहीं है द्विवेदी काव्य की इतिवृत्तात्मकता और जड़ता से श्रीधर पाठककी एक मात्र हरियाली है। पाठकजी ने प्रकृति और ग्रामके सुन्दर चित्र हमें दिये परन्तु प्रेम और विलास उनके लिये भी वर्जित था। रीतिकाव्य के कवि के लिये बन्धन ही सब कुछ था। वह तो सारा साहित्य और शास्त्र का अध्ययन करके इस क्षेत्र में आता है। पग पग पर नियमों और परम्पराओं से बंधा हुआ था। सब में अधिकतर वही कदली के स्तम्भ, कमल नाल, दाड़िम के बीज, शुक, पिक, खंजन, शङ्ख, पद्म और सर्प, सिंह, मृग, चन्द्र, चार आँखें होना, कटार

करना, आह छोड़ना, रोमाञ्चित होना, दूत भेजना, मूर्छित होना, अभिसार करना, इसके सिवा कुछ भी नहीं। सबकी बावड़ियों में कुत्सित प्रेम का फुव्वारा शत-शत धाराओं में फूट रहा था। आर्य नारी की एकनिष्ठ निश्चल पवित्र प्रतिमा वासनाओं के असंख्य रंग बिरंगे बिम्बों में बदल गई जिन की भूल-भूलैया में फंस कर देश के लिये अपनी सरल सुशील सती को पहचानना कठिन हो गया। अतः काव्य-कला के क्षेत्र में एक जबरदस्त प्रतिक्रिया हुई। इस क्रान्ति और रस विद्रोह से प्रभावित होकर जो गान संसार की आत्मा ने उन्मत्त होकर गाया वेही छायावाद की क्रान्ति के प्राण हैं। उसके अभिधा प्रयोग के विरुद्ध लक्षणा का प्रयोग हुआ। कहीं-कहीं केवल अप्रस्तुत विधान से प्रस्तुत शब्दों का अधिक प्रयोग, विशेषण के लिये भाववाचक शब्दों का अधिक प्रयोग, विशेषण विपर्यय, अन्योक्ति पद्धति का आश्रय, लाक्षणिकता का बाहुल्य, वैचित्र्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति ये नये काव्य की कुछ विशेषताएं हैं। सारांश यह कि स्थूल के प्रति सूक्ष्म का, उपयोगितावाद के प्रति भावुकता का, धार्मिक रूढ़ियों के प्रति मानसिक स्वातन्त्र्य और काव्य के बन्धनों के प्रति स्वच्छन्द कल्पना का विद्रोह—यह छायावाद का आधार है।

छायावाद पर प्रभाव—इस विरोधमूलक काव्य प्रवृत्ति पर रवीन्द्र का बड़ा प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त इस काव्य पर सामयिक राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का, प्रकृति और नारी के प्रति नवीन दृष्टिकोण का, दर्शन शास्त्र और उपनिषदों के अध्ययन का और उर्दू काव्य की व्यंजना शैली तथा भावुकता का भी प्रभाव हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी का अन्त होते-होते देश बंगला काव्य से परिचित हो रहा था। माइकेल, विहारीलाल, हेमचन्द्र और रवीन्द्र हिन्दी प्रदेश में भी पहुँचे। इनमें रवीन्द्र की कविता, अंग्रेज़ी स्वच्छन्दता, उपनिषदों के रहस्यवाद, बंगला के अनुकरण से यह प्रभाव हिन्दी में आ गया। निराला ने विवेकानन्द के अद्वैत भक्ति के काव्य से भी स्फूर्ति ली है। उन्नीसवीं शताब्दी के बाद ही 'सरस्वती' में Keats, Shelley, Wordsworth, Black आदि अंग्रेजी से 'Romantic' कवियों के अनुवाद प्रकाशित होने लगे। इन्होंने अनुवाद कर्त्ताओं और कवियों को प्रभावित किया। दूसरे, इस ८

अंग्रेज़ी की उच्च कक्षाओं में Romantic पढ़ाया जाने लगा था। पन्त द्वारा अंग्रेजी रोमाटिक काव्य का प्रभाव मुख्य रूप से हिन्दी में आया। हिन्दी में विशेषण, विपर्यय और मानवीकरण तथा मुक्तक छन्द भी अंग्रेज़ी की देन है। जिनका सफल प्रयोग छायावाद के कवियों ने किया।

छायावादी कवियों ने प्रकृति को देखने का दृष्टिकोण ही बदल दिया। अंग्रेज़ी कविता के Romantic कवियों की भांति उनकी पुकार थी "प्रकृति की ओर लौटो"। अंग्रेज़ी रोमाटिक भावधारा की एक विशेषता आश्चर्य-भावना है। इसने हमारे कवियों को प्रकृति की ओर विशेष रूप से खींचा। प्रकृति को इनकी कविताओं मे कितना महत्व मिला है यह इसी से प्रकट होता है कि उन तीन प्रमुख संग्रहों के नाम लहर, पल्लव और परिमल हैं। प्रकृति के और इसके व्यापारों के प्रति आश्चर्य, प्रकृति को विशद वृहत पर अङ्कित करने का प्रयास, मीनाकारी के सुन्दर सफल चित्र, प्रकृति में रहस्यमय शक्ति का अनुसन्धान एवं आरोप, सहज सरल नागरिक एवं ग्रामीण चित्रण, ये कुछ महानुभावों के प्रयोग हैं।

नारी के प्रति दृष्टिकोण मे भी इस काव्य में एक विशेष परिवर्तन आया। रीतिकाल में नारी का जो चित्र खेंचा गया था वह विलासी राजाओं की विलासिता का उपकरण मात्र था। वह अतिऐन्द्रियिक और स्थूल था। अत छायावादी कविताओं में शृङ्गार का रूप अति सूक्ष्म और अतीन्द्रिय था। रीतिकाव्य में नारी मनुष्य की वासना की तुष्टि का साधन थी इससे अधिक कुछ नहीं। परन्तु प्रसाद ने प्रेम की परिभाषा बदल दी—

"इस पथ का उद्देश्य नही है शान्त भवन में टिक रहना।
किन्तु आलि! जाना उस हद तक जिसके आगे कुछ राह नही।"

पन्त ने नारी को कल्याणी, मां इत्यादि शब्दों में सम्बोधित किया है।

देश की सामयिक परिस्थिति का भी इस काव्य पर एक गहरा प्रतिबिम्ब है और नवीन जागरण का उल्लास सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा है, परन्तु वे आशाएं फलीभूत नहीं हुई। चारों ओर एक घोर निराशा का वातावरण फैल गया। जिसके परिणाम स्वरूप काव्य की प्रवृत्ति बहिर्मुखी न रह कर अन्तर्मुखी हो गई। उन्होंने अपने जीवन की स्थूल समस्याओं से पराङ्मुख होकर उन विषयों का अङ्कन स्वीकार किया जो अनन्त से सम्बन्ध रखनेवाले थे। यह प्रवृत्ति

बाद में पलायनवृत्ति के नाम से बदनाम हुई। इसके अतिरिक्त इन कवियों को पग-पग पर आर्थिक और सामाजिक विडम्बनाओं से मोर्चा लेना पड़ा जिसके परिणाम स्वरूप उनमें आत्माभिव्यंजना की प्रवृत्ति ने ज़ोर पकड़ा और समस्त एक-एक करुणा और दुःख की भावना से श्यामल हो गया।

अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के साथ ही रवीन्द्र की गीताञ्जलि, अंग्रेजी के भाव योगी कवि तथा हिन्दी के प्राचीन रहस्यवादी कवियों से विशेष प्रोत्साहन मिला। श्रीमती वर्मा ने बौद्ध दर्शन एवं कविवर प्रसादजी तथा निराला जी ने भारतीय अद्वैतवाद का अच्छा अध्ययन किया है। फलतः उनके काव्य में भावुकता और दार्शनिकता का सुन्दर समन्वय है। पन्त ने भी पौर्वात्य और पाश्चात्य दर्शन के अध्ययन के द्वारा कुछ मौलिक सिद्धान्तों की सृष्टि और उनका सुन्दर काव्यमय प्रयोग किया है।

छायावाद की विशेषताएं—लाक्षणिक प्रयोग, व्यंजकता, प्रतीक विधान और विशेषण विपर्यय का प्रयोग,दृष्टान्त आदि अलङ्कारों के स्थान पर समासोक्ति और अन्योक्ति का प्रयोग, नवीन उपमाएं तथा छन्द योजना छायावादी काव्य की प्रमुख विशेषताएं हैं।

(क) प्राचीन रूढ़ि ग्रस्त भाषा को प्राणमय बनाने का प्रयत्न तो हुआ ही उसकी लक्षणा शक्ति भी विकसित होने लगी। प्रतीक प्रधान भाषा का बहुत प्रयोग हुआ। जैसे 'हिलोर' का उत्थान प्रतीक का 'लहर' कम्पन का प्रतीक, पतझड़, निराश शुष्कपन का प्रतीक।

(ख) शब्दों में व्यंजना शक्ति का भी विवेचन होने लगा। इस विषय में पन्त लिखते हैं—"भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द प्रायः सगति भेद के कारण एक ही पदार्थ के भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं जैसे भ्रू से क्रोध की वक्रता, भृकुटी से कटाक्ष की चंचलता, भौंहों से स्वाभाविक प्रसन्नता ऋजुता का हृदय में अनुभव होता है।

(ग) छायावादी कवियों ने अपनी कल्पना के बल से बहुत सुन्दर चित्र खींचे हैं। प्रलय के समय समुद्र के आलोडित पृथ्वी का प्रलय समाप्त होने पर नववधू के रूपक द्वारा कितना सुन्दर चित्र है।

"सिन्धु सेज पर धरा वधू अब, तनिक सकुचित बैठी सी॥
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में, मान किये सी ऐंठी सी॥"

कहीं-कहीं कल्पना अनुभूति से शून्य हो जाती है और वह कोरी कल्पना ही रह जाती है। जैसे पंत जी का 'स्याही की बूंद' 'नक्षत्र' कविताएँ। कल्पना के इस व्यतिरेक ने छायावाद काव्य को खिलवाड़ बना दिया।

(घ) बंगला साहित्य की भावुकता का छायावादी कविता पर बड़ा प्रभाव है। प्रकृति के प्रत्येक चित्र पर कवि भाव विभोर हो उठता है। छाया को तरु के नीचे एकाकिनी देखकर उसकी अवस्था पर पर्याप्त चिंताकुल हो जाता है।

"कहो कौन हो दमयन्ती सी तरु के नीचे सोई।
हाय तुम्हें भी त्याग गया क्या, अति नल सा निष्ठुर कोई॥

(ङ) छायावादी कवियों ने चित्र भाषा का बड़ा सफल प्रयोग कर भाव-चित्र, ध्वनिचित्र, चलचित्र हमारी आँखों के सामने रख दिये हैं। चित्र भाषा के विषय में पन्त जी लिखते हैं—"कविता के लिये चित्र भाषाकी आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहियें। जो बोलते हों। जिनके मधुर रस की लाली भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े। जो अपने भाव को अपनी ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सके। जो झंकार में चित्र और चित्र में झंकार हो।"

सुहाग की प्रथम रात्रि के समय प्रियतम के पास जाती हुई नायिका का, चित्र देखिये—

"अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात,विकम्पित उर मृदु पुलकित गात।
सशंकित ज्योत्स्ना सी चुपचाप,जड़ित पद नमित पलक दृक्पात।
पास जब जा न सकेगी प्राण, मधुरता में सी भरी अजान।
लाज की छुईमुई सी म्लान, प्रिय प्राणों की प्राण।
पास जब आ न सकेगी प्राण, मधुरता में सी भरी प्राण।"

प्रत्येक शब्द एक चित्र की भांति जड़ा हुआ है। जड़ित पद, नमित पलकों में ठिठकी हुई म्लानमुखी का लज्जारूपी मुख कितना प्रत्यक्ष है। चित्र चल-चित्रों के सादृश्य में है। अंग्रेजी अलङ्कार, मानवीकरण और विशेषण विपर्यय का सफल प्रयोग सभी छायावादी कवियों ने किया है।

इन्द्रनील मणि महा चषक था, सोम रहित उल्टा लटका
आज पवन मृदु साँस ले रहा जैसे बीत गया खटका
खुली उस रमणीय दृश्य में अलस की चेतना की आँखें।

यहां पर पवन और चेतना को क्रमशः सांस लेता हुआ और आँखें खोलता हुआ कहा गया है।

(च) छायावादी कविता में लक्ष्यों के सादृश्य विधान के लिये प्राचीन दृष्टान्त आदि का प्रयोग न लेकर अन्योक्ति पद्धति का अनुसरण किया जाता है।

नीले नभ के शतदल पर, वह बैठी शरद हासिनी।
मृदु करतल पर शशि मुख पर, नीरव अनिमिष एकाकिनी।"

(छ) नवीन उपमाओं की भरमार भी इस काव्य में हुई है।

"क्या कहूँ, क्या कहूँ मैं उद्भ्रान्त, विवर मे लीन गगन में आज।
वायु की भटकी एक तरंग, शून्यता का जडता का साज॥
एक विस्तृत कर स्तूप अचेत, ज्योति का धुंधला सा प्रतिबिम्ब।
और जडता की जीवन राशि, सफलता का सकलित विलम्ब।"

(ज) छायावादी कविताओं से पूर्व छन्दों का बन्धन इतना दृढ़ हो गया था कि कवि प्रतिभा सर्वदा उसी की वन्दिनी हो गई थी। इस युग मे कवियों की उत्तेजित कल्पना और भावुकता नवीन छन्दों का आग्रह करने लगी। अतः पुराने छन्दों की मर्यादित बेडियां काट दी गईं। स्वतन्त्र रूप से तथा विदेशी प्रभाव की प्रेरणा से हमारे मननशील कवियों ने नवीन उद्भावनायें भी कीं। पन्त जी ने हिन्दी के कोमल छन्दों को चुनकर सगीत और गति का पूर्ण ध्यान रखते हुए भावानुकूल परिवर्तन करके इस कला को विकसित किया। इधर निराला जी ने लय और ताल के आधार पर स्वच्छन्द छन्द की सृष्टि की। श्रीमती वर्मा ने पुराने ग्राम गीतों मे कलात्मक प्राण फूंककर उन्हें एक अपूर्व सौन्दर्य प्रदान किया है।

छायावाद की प्रवृत्तियां

छायावाद काव्य की रहस्यवाद, करुणावाद, आत्माभिव्यञ्जनावाद, अन्तर्मुखी प्रवृत्ति (पलायनवृत्ति), प्रकृति के प्रति विशेष अनुराग, नारी का अमांसल वर्णन, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं। ये प्रवृत्तियां एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं हैं अपितु एक दूसरे से सम्बन्धित हैं।

(क) द्विवेदी के कवियों की क्रीडास्थल निकटवर्ती पार्थिव संसार रह गया था। अत. स्वभावतः ही उनका विरोध करने वाले कवि दूर धुंधले

रहस्यमय लोक की ओर बढ़ने लगे। इसके लिये इन्हें कवीन्द्र रवीन्द्र की गीताञ्जलि, अंग्रेजी के भाव योगी कवि तथा हिन्दी के प्राचीन रहस्यवादियों से विशेष प्रोत्साहन मिला। वास्तव में यह परिवर्तन का ही फल था। हमारे भावुक कवि किसी धार्मिक प्रेरणा से आकृष्ट नहीं थे। हाँ, अपनी विकसित चिन्तन शक्ति और विकसित दार्शनिक अध्ययन द्वारा उनको पचाने का सफल प्रयत्न अवश्य किया है। श्रीमती वर्मा ने बौद्धदर्शन एवं कविवर प्रसाद जी तथा निराला जी ने भारतीय अद्वैतवाद का अच्छा मनन किया है। फलतः उनके काव्यों मे भावुकता एव दार्शनिकता का सुन्दर समन्वय है। कविवर पंत ने भी पौर्वात्य और पाश्चात्य दर्शन के अध्ययन द्वारा कुछ सिद्धान्तों की सृष्टि और उनका सुन्दर काव्यमय प्रयोग किया है।

छायावाद की रहस्यवादी कवितायें कई प्रकार की होती हैं।

१ भक्ति के आधार पर मानवीय भावनाओं की व्यंजना

अरे अशेष! शेष की गोदी तेरा बने बिछौना सा।
आ मेरे आराध्य खिलाऊँ मैं भी तुझे खिलौना सा॥

२. दार्शनिक सिद्धान्त पर स्थिर रहस्यवाद

भर देते हो, बार बार प्रिय, करुणा की किरणों मे
क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो। तेरे घर के द्वार बहुत हैं,
किस में होकर आऊँ मै।

३. दुःखवाद और बौद्ध दर्शन पर आधारित

४. प्रकृति रहस्यवाद

किस रहस्यमय अभिनय की तुम सजनी? यवनिका हो सुकुमार।
इस अभेद्य पट के भीतर है, किस विचित्रता का ससार॥

५. प्रेम रहस्यवाद.

बैठ कर सारी सूनी रात, तुम्हारे चुम्बन का आघात।
याद कर देखा करता नाथ, विरहिणी आँखो की बरसात

६ बालक रहस्यवाद.

वत्स, तुम्हारे चकित नयन मे, किस अतीत की याद विचित्र।
जागृत मूर्छा के पर्दे मे, दिखा रही यह धुन्धले चित्र॥

७. सौन्दर्य रहस्यवाद—

दुःखवाद पर आधारित रहस्यवाद महादेवी में विशेषरूप से मिलता है। जिसके काव्य का आधार ही सार्वभौम करुणा, अति उत्तम मिलन और विरह है। इसके प्रधान कवि मैथिलीशरण गुप्त (झंकार), निराला (परिमल), प्रसाद (झरना), सुमन, पदुमलाल पुन्नालाल, मोहनलाल तथा रामकुमार वर्मा हैं। प्रेम रहस्यवाद प्रसाद के काव्य में, प्रकृति में चमत्कार देखने की प्रवृत्ति, पंत में, बालक के प्रति भी रहस्यवादी प्रवृत्ति पंत में और सौन्दर्य रहस्यवाद विशेष रूप से पंत के, प्रसाद और निराला में है। यही नहीं, भारतीय आत्मा जैसे कवि ने राष्ट्रीय भावना को भी ऐकान्तिक अनुभूति के रूप में देखकर उसे रहस्यकारी बना दिया और राष्ट्रीय रहस्यवाद जैसी एक नई श्रेणी की दृष्टि हुई।

करुणावाद

दुःखवाद छायावादी कविताओं का एक प्रमुख स्वर है। दुःखवाद के पीछे पलायन का दृष्टिकोण है। हमारे छायावादी कवियों को पग-पग पर सामाजिक और आर्थिक संकटों से जूझना पड़ा इससे उनकी आदर्शवादी प्रकृत्ति को धक्का लगा।

उनके काव्य में दुःख की भावना की उत्पत्ति हुई। उन्होंने परिस्थितियों को स्वाभाविक और परिवर्तनशील मान कर अपने हथियार डाल दिये। शीघ्र ही दुःखवाद ने आध्यात्मिक रूप धारण कर लिया और दुःख उनकी साधना ही हो गया।

"तुम को ढूढूंगी पीडा में तुम में ढूंढूगी पीडा।"
"मृत्यु अरी चिर निद्रे ? तेरा अंक हिमानी सा शीतल"

आत्माभिव्यंजन—छायावाद से पूर्व के कवियों में परम्परा का करते रहने से कवियों के व्यक्तिगत भावों और आवेशों को बाहर [illegible] लिये कोई स्थान नहीं था। उनकी भावनाएं बाह्यालङ्कार से दब[illegible] शान्त हो जाती थीं। छायावाद का मूल ही उपयोगितावाद के [illegible] कला का विद्रोह था। अतः सबसे पूर्व इन कवियों ने जिस प्रवृत्ति दी वह थी उन्मुक्त आत्माभिव्यंजना। अतः छायावादी काव्य में नीति स्वर काव्य में स्वतन्त्र होकर बोला। कवि कर्म व्यक्तिगत

गया। कवियों ने अपना भिन्न-भिन्न रूप विकसित करने की बड़ी चेष्टाएं कीं। अत. छायावादी कविताओं मे गीतियों की प्रधानता है। प्रसाद जी झरना में मिलन पक्ष की याद करके कहते हैं —

"तुम्हारे छूने में था प्राण, सग में पावन गगा स्थान।
तुम्हारी वाणी मे कल्यानी त्रिवेणी की लहरो का गान॥
अपरिमित चितवन मे था प्रात सुधामय सासो मे उपचार।
तुम्हारी छाया में आधार, सुखद चेष्टाओ मे आभार॥"

अर्न्तमुखी प्रतिभा—जैसा कि हम बता चुके हैं छायावादी कवि सामाजिक परिस्थितियों मे ऊब कर निराशावादी हो चले। उनकी काव्य साधना व्यक्तिगत साधना हो गई। जिसके परिणाम स्वरूप उनमें संसार के झगड़ों से पलायन की भावना जागृत हुई। जिसका ही यह परिणाम था कि उन्होंने रहस्यवादी बन कर आत्माभिव्यजना प्रारम्भ की। यह पलायन वृत्ति नीचे की पंक्ति में कितनी स्पष्ट है—

"ले चल मुझे भुलावा देकर नाविक धीरे-धीरे।"

ऐसी परिस्थिति में छायावाद का ह्रास आवश्यक ही था। राजनीतिक परिस्थिति भी उसके अनुकूल न थी। आगे चल कर छायावाद के स्थान पर प्रगतिवाद का आगमन हुआ।

गीति-काव्य

संगीत मे आनन्द के तत्व निहित रहते हैं। कहा जाता है कि परमात्मा ने संगीत के द्वारा ही समस्त ब्रह्माण्ड की सृष्टि की थी। निस्सन्देह संगीत में ही सुख है। किसी अंग्रेज़ी कवि ने कहा है—"Where there is music, there is joy" सगीत में एक रहस्य है। एक अद्भुत चातुर्य है। गायक लोग गाने से पूर्व प्राय. अपनी आँखें इस प्रकार बन्द कर लेते हैं, मानो वे किसी वस्तु का ध्यान कर रहे हो। प्रत्येक राग का एक चित्र होता है। संगीत शास्त्र मे प्रत्येक राग का स्वरूप निर्णीत है। गायक लोग उसी गीयमान राग की प्रतिकृति अपने चित्त के चित्रपट में देखते हैं। संगीत के द्वारा इस चित्र के रंग भी प्रत्यक्ष हो जाते हैं। सगीत के द्वारा ही मनुष्य तो क्या पशु पक्षी भी मन्त्रमुग्धवत् हो जाते हैं। इसका अमोघ प्रभाव

किसी से भी नहीं छिपा। कवि लोग भी इसी संगीत-देवी का आँचल पकड़ते हैं। इसी के माध्यम द्वारा कविगण गीति काव्य की रचना करते रहते हैं। वे भाषा के सरस शब्दों से प्रवाहित होने लगते हैं। गीति काव्य में कवि अपने व्यक्तित्व से ऊँचा उठ जाता है।

गीतिकाव्य का प्रादुर्भाव वैदिक काल से ही हो गया था। चारों वेदों के पुनीत मन्त्र स्वरों के आरोहावरोह से गेय है। विशेषकर सामवेद तो संगीत का मूल स्रोत है। संस्कृत साहित्य में गीतिकाव्यों का अत्यधिक प्रचलन था। आदि कवि वाल्मीकि जी के मुखारविन्द से काममोहित क्रौञ्च-मिथुन में से एक के वध को देखकर जो करुणामय भाव प्रस्फुटित हुए, वे ही गीत बनकर लोगों के हृदय-तन्त्री को झंकृत करते आ रहे हैं।

"म निषाद, प्रतिष्ठा त्वमग शाश्वती समा ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी काममोहितम् ॥"

निस्सन्देह गीतिकाव्य के उद्गम में करुण रस ही प्रधान कारण है। संसार में सुख और दुःख दो ही भाव मुख्य रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। दुःख के भाव जितना मर्मस्थल को स्पर्श करते हैं, उतना सुखमय भाव नहीं कर पाते। कवि का सरस और सुकुमार हृदय जितना करुणा रस से ओत-प्रोत होता है, सम्भवतः अन्य रस से नहीं। किसी-किसी कवि ने, विशेषकर भवभूति ने, करुण रस को ही प्रधान रस माना है।

"एको रस करुण एव स"।

गीतिकाव्य का मूल स्रोत करुण रस को मानते हुए भी हम इसका अपना पृथक् लक्षण देखते हैं। गीतिकाव्य में आत्माभिव्यक्ति, व्यक्तिगत विचार, भावोन्माद और आशा-निराशा की धारा अबाध रूप से बहती है। आत्माभिव्यक्ति में जो तल्लीनता होती है, वही गीतिका बनकर प्रकट होती है। गीतों का रचयिता कवि सर्वप्रथम वियोग की व्याकुलता का अनुभव करता है। श्री सुमित्रानन्दन पन्त के शब्दों में गीतिकाव्य को इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है—

"वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।
उमडकर आखो से चुपचाप, वही होगी कविता अनजान॥"

हिन्दी साहित्य में गीतिकाव्य की परम्परा जयदेव के "गीत-गो

के आदर्श को मान कर चल पड़ी है। गीत-गोविन्द में भागवत पुराण के आधार पर भगवान् कृष्ण की लीलामयी भावनाओं का वर्णन है। जयदेव ने संस्कृत की कोमल कान्त पदावली में जिस संगीत की सृष्टि अपने काव्य में की, वह हिन्दी में नहीं हो सकी। संस्कृत के गीति काव्य में "गीत गोविन्द" अमर है। उसमें यमक और अनुप्रास से जिस प्रकार भाव व्यंजना की गई है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। जयदेव ने स्वयं अपने दृष्टिकोण को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"यदि हरिस्मरणे सरस मनो, यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुर कोमल कान्त पदावली शृणु,तदा जयदेव सरस पदम्॥"

जयदेव के इस संगीतमय आदर्श को सामने रखकर ही हिन्दी के सरस कवि विद्यापति कृष्णकाव्य लिखने के लिए प्रवृत्त हुए। वस्तुत: जयदेव ही ऐसे कवि थे, जो गीतिकाव्य के पथ प्रदर्शित करने में अत्यन्त उपयुक्त सिद्ध हो सकते थे। एक प्रकार से विद्यापति साक्षात् जयदेव के रूप में ही अवतीर्ण हुए। विद्यापति की पदावली संगीत के स्वरों में गूंजती हुई राधाकृष्ण के चरणों में समर्पित हुई। कवि के अन्तर्जगत् के सभी विचार, व्यापार और उसके सूक्ष्मोद्गार अपने काव्य में संगीत के साथ प्रादुर्भूत हुए। जिस गीति-काव्य के लिए आत्माभिव्यक्ति, विचारों की एकरूपता और घनीभूत भावना की संक्षिप्तता का होना अनिवार्य है, वे सब प्रकार के दृष्टिकोण विद्यापति के सफल गीतिकाव्य में उपलब्ध होते हैं। गीतिकाव्य में संगीतात्मकता की अधिकता, श्रुतिसुखद अनुप्रास की छटा एवं पुनरुक्ति प्रकाश की तारतम्यता बड़ी सहायक तथा माधुर्यगुण की जननी होती है। ये सब विशेषताएँ हमें विद्यापति के सरस पदों में ही उपलक्षित होती हैं। जैसे—

"नन्द क नन्दन कदम्ब क तरु-तर धिरे धिरे मुरलि बजाव।
समय सकेत-निकेतन बइसल बेरि-बेरि बोलि पठाव॥"

विद्यापति के उपरान्त गीतिकाव्य के रचयिताओं में कबीर का नाम लिया जाता है? कबीर एक महात्मा और साधु के रूप में तानपूरे के तारों को झंकृत करते हुए जनता के सम्मुख आये। उनकी वाणी शिक्षित एवं अशिक्षित दोनों प्रकार की जनता के कण्ठ की माला बन गई। सन्त कवियों की वाणी संगीत का ही आधार लेकर समस्त उत्तरापथ में फैल गई? कबीर की संगीतमयी वाणी

केवल उत्तरापथ तक ही सीमित नहीं रही अपितु दक्षिण भारत में महाराष्ट्र एवं हैदराबाद की सीमाओं तक आज भी गूंजती हुई सुनाई पड़ती है। कबीर के संगीतमय गीतों में अनुप्रास एवं माधुर्यगुण का किंचिन्मात्र भी अभाव नहीं है। उनकी कविता से संगीतात्मकता की झलक निम्नलिखित पद्य से प्राप्त होती है—

"झीनी झीनी बीनी चदरिया,
काहे का ताना काहे का भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया।
इंगला पिंगला ताना भरनी, सुषमन तार से बीनी चदरिया॥"

सन्त कवियों के उपरान्त भक्त कवियों में सूरदास ने भक्तवत्सल कृष्ण की आराधना में समस्त रचनायें गीतिकाव्य में कीं। सूरदास बड़े गायक थे। वे गऊघाट में निवास करते हुए सदा विनय पद गाया करते थे। उनके कण्ठ की सुरीली ध्वनि को सुनकर महाप्रभु वल्लभाचार्य आनन्दसागर में निमग्न हो गये थे। इसी से वल्लभाचार्य ने सूरदास को पुष्टिमार्ग में दीक्षित करके कृष्ण लीला गाने की प्रेरणा दी। आराध्यदेव के प्रति आत्मनिवेदन के उल्लास में सूर की रचना गेय बन गई। "सूर सगुन लीलापद गावै" ऐसी प्रतिज्ञा कर 'सूरसागर' महाकाव्य के रचयिता सूरदास जी ने भगवान् का सान्निध्य प्राप्त किया। सूरदास के गीत भगवान् श्रीकृष्ण की मुरली की मधुर ध्वनि को साथ लेकर ही प्रकट हुए। जिस मुरली-माधुरी में मोह था और परम आकर्षण भी था। मुरली के माधुर्य को सुनकर देवता, नर, नाग, व्रजवनितायें ही मोहित नहीं होती थीं अपितु प्रकृति का एक-एक पदार्थ भी विस्मित, पुलकित एवं अनुराग से तृप्त हो जाता था।

"सुनहु हरि मुरली मधुर बजाई।
मोहे सुर नर नाग निरन्तर व्रजवनिता मिलि धाई।
जमुना नीर प्रवाह थकित भयो पवन रहो मुरझाई॥
खग मृग मीन अधीन सब अपनी गति बिसराई।
द्रुम बेली अनुराग पुलक तनु, ससि थक्यो निसि न घटाई॥"

महात्मा सूरदास के समान ही महाकवि तुलसीदास ने भी [illegible] देव की आराधना गा कर की। गीतिकाव्य की परम्परा को [illegible] रचना करके गोस्वामी तुलसीदास ने सदा के लिये जीवित रखा।

कृत विनय-पत्रिका शुद्ध गीतिकाव्य है। उसमें संगीत-सौन्दर्य का परमो आदर्श है। भिन्न भिन्न रागमय पदों की रचना करके गोस्वामी जी ने संग कला के पाण्डित्य को प्रकट किया। यदि वे ऐसे छन्दों में रचते, जो संगी संगत नहीं, तो वे अपने हृदय के इतने मनोरम और सच्चे भाव कदा व्यंजित नहीं कर सकते थे।

तुलसीदास जी ने विनय-पत्रिका का प्रारम्भ गाकर ही किया था—

"गाइये गनपति जगवन्दन, संकर सुवन-भवानी-नन्दन।
सिद्धिसदन गजवदन विनायक, कृपा सिन्धु सुन्दर सब लायक॥"

इन गीति-काव्य के रचयिताओं के सुन्दर कण्ठ में स्वभावसिद्ध अप मधुर कण्ठ को मिला कर मीराबाई ने भारतीय जीवन के कण-कण में संगीत व संचार कर दिया। गीतिकाव्य के अनुसार मीरा की कविता आदर्श है उनके हृदय में निर्झर की भाँति भाव आये और अनुकूल स्थल पाकर गीत में प्रकट हुए। हृदय की भावना मदाकिनी की भाँति कलकल करती हुई आई और मीरा के कण्ठस्थ सरस्वती की सङ्गीतधारा में मिल गई। वह भावना सङ्गीत का सार बनी और उसी में मीरा के हृदय की अनुभूति मिली। मीरा एक कोकिला सी बैठ कर अपने गिरधर गोपाल का गीत गाती है। वह पृथ्वी पर नहीं है, वह वृक्ष की सब से ऊँची चोटी पर स्वर्ग के कुछ समीप है। मीरा की रचनाओं में राग-रागिनियों का प्रयोग विशेष रूप से किया गया है। मीरा की भक्ति में कीर्तन का प्रधान स्थान है। 'मीरा के प्रभु गिरधर नागर' की भक्ति मन्दिर के कीर्तन के रूप में विशेष प्रसिद्ध है। साथ ही मीरा की गीतिकाव्यमयी भावना के लिए रागों की उपयुक्त सृष्टि परमावश्यक है। मीरा ने अपने सगीत के द्वारा गिरधर गोपाल को रिझाया और उन्हें अपना लिया है। मीरा केवल गाती ही नहीं अपितु वह अपने गीतों के मधुर लय और तालों पर झनझनाते नूपुरों को पैरों में बाँध कर अपने इष्ट देव के सम्मुख मादक नृत्य भी करती है। जिसके सगीत एवं नूपुरों की मधुर ध्वनि आज भी लाखों भारतीयों की वाणी पर गूंज उठती है।

"पग घुघरू बाँध मीरा नाची रे,
मैं तो मेरे नारायण की, आप हि हो गइ दासी रे।
लोग कहे मीरा भई बावरी, न्यात कहे कुलनासी रे।

विष का प्याला राणा जी भेज्या, पीवत मीराँ हाँसी रे ।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, सहज मिले अविनासी रे ।"

हिन्दी साहित्य में श्री भारतेन्दु ने नवीन युग का सचालन किया। वर्तमान युग में वैयक्तिकता के प्राधान्य के कारण गीतिकाव्य का चलन बहुत बढ़ गया है। आजकल पुराने ढंग के प्रबन्ध काव्य लिखने में अरुचि हो गई है। जो भी प्रबन्ध काव्य लिखे गये उनमें गीत की ही प्रधानता है। इस युग के प्रवर्तक भारतेन्दु की कविता में राष्ट्रीय गीत ही विशेष पाये जाते हैं जिन में करुणा की प्रधानता है। इन्हीं के समय श्रीधर पाठक ने भारत-स्तवन सम्बन्धी सरस गीत लिखे हैं। द्विवेदी युग में चरित्र-निर्माण, राष्ट्रीयता, इतिवृत्तात्मकता विषयक सुन्दर और व्यंग्यात्मक गीतों की रचना हुई। गुप्तजी की भारत-भारती, साकेत और यशोधरा आदि में सुन्दर एवं उत्तम गीत उपलब्ध होते हैं। आधुनिक गीतिकाव्य में अंग्रेजी के लिरिक्स (Lyrics) और बंगाली गीतों का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। अंगरेजी में लिरिक का सम्बन्ध किसी विशेष वाद्यमयी वीणा से होता है। आज के गीतों में आत्माभिव्यक्ति और भावातिरेकता की परम वृद्धि हुई है। यदि सङ्गीत की मधुर ध्वनि गीतिकाव्य की काया है तो भावातिरेकता उसकी आत्मा है। इस युग को महादेवी वर्मा ने नवीन गीत-प्रधान युग कहा है। 'यामा' की भूमिका में उन्होंने लिखा है—

"हिन्दी काव्य का वर्तमान नवीन युग गीत-प्रधान ही कहा जायगा। हमारा व्यस्त और व्यक्ति-प्रधान जीवन हमें काव्य के अतिरिक्त किसी और अंग की ओर दृष्टिपात करने का अवकाश ही देना नहीं चाहता। आज हमारा हृदय ही हमारे लिये संसार है। हम अपनी प्रत्येक सांस का इतिहास लिख रखना चाहते हैं, अपनी प्रत्येक कम्पन को अंकित कर लेने के लिए उत्सुक हैं और प्रत्येक स्वप्न का मूल्य पा लेने के लिए विकल हैं।"

छायावाद और रहस्यवाद के गीतों में स्थूल दृश्य की उपेक्षा है। अन्तर्मुख प्रधान हैं। बाह्य प्रकृति का चित्रण भी अन्त. रूप से ही [illegible] होता है। इसमें वस्तु को कटी-छटी सीमा में न देखकर उसका [illegible] कर दिया जाता है। महादेवी वर्मा ने रहस्यवादी गीतों के विषय में [illegible] है—"आज गीत में हम जिस रहस्यवाद के नये रूप को ग्रहण कर

वह इन सब की विशेषताओं से युक्त होने पर भी उन सब से भिन्न है। उसने परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम की तीव्रतामात्र उधार ली।" छायावाद और रहस्यवाद के कोमल स्निग्ध वातावरण में अनेक गीतों की सृष्टि हुई। छायावाद के प्रवर्तक जयशंकर प्रसाद गीतों के नवीन रूप लेकर काव्य क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। प्रसाद जी की कविता में भावुकता और भावात्मकता प्रारम्भ से ही उपलब्ध होती है, विशेषतया खड़ी बोली में प्रवेश करने के बाद तो उक्त दोनों गुणों का अत्यन्त प्रकर्ष हुआ है। प्रसाद जी के गीतों का एक मुख्य विषय प्रेम है। इनका प्रेममय हृदय लौकिक सौन्दर्य पर कुछ देर तक स्थिर रहकर अलौकिक लावण्य की ओर उन्मुख हो जाता है। गीतिकाव्य में वेदना के बीज को अंकुरित करने वाले सर्वप्रथम कवि प्रसाद को ही मानना होगा। महादेवी वर्मा ने इसी वेदना को पूर्ण रूप से पल्लवित करके चरम सीमा तक पहुँचाया है। प्रसाद जी ने अपने गीतों में प्रकृति के समस्त सौन्दर्य को मूर्त बना दिया। सौन्दर्य को यौवन के घन से सम्बोधित करके प्रसाद जी ने अपने गीतों को सदा के लिए सौन्दर्य और यौवन से परिपूर्ण कर दिया है—

'तुम कनक किरण के अन्तराल में
लुक छिप कर चलते हो क्यों ?
नत मस्तक गर्व वहन करते
यौवन के घन, रस कन ढरते
हे लाज भरे सौन्दर्य !
बता दो मौन बने रहते हो क्यों ?"

कविवर निराला ने तो गीतों के स्वर-सामञ्जस्य में महान् क्रान्ति कर दी है। निराला के गीत शक्तिशाली झरनों के सदृश अबाध गति से प्रवाह को उत्पन्न कर देते हैं। वे स्वयं महान् स्वर-शास्त्रों के वेत्ता हैं। वस्तुत. लय की प्रधानता ही संगीत है। इसका पूर्ण ध्यान निराला ने ही रखा है। संगीत की धारा को अक्षुण्ण रखने में निराला जी पूर्ण सफल हुए हैं। निम्नलिखित पंक्तियां आपकी अभिनव स्वर लहरी का पूर्ण परिचय देती हैं—

"विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी स्नेह-स्वप्न मग्न

अमल-कोमल-तनु तरुणी-जुही की कली,
दृग वन्द किये, शिथिल पत्राक में,
वासन्ती निसा थी।"

आधुनिक युग मे महादेवी वर्मा ने स्वर-माधुर्य का अनन्त स्रोत बहा दिया। गीतिकाव्य-क्षेत्र में साक्षात वीणावादिनी सरस्वती के सदृश महादेवी जी अवतीर्ण हुईं। भारती के मंदिर में वीणा के तारों को स्पर्श करती हुई महादेवी जी ने सहृदय व्यक्तियों के मानसक्षितिज को झंकृत कर दिया। मयूर का पञ्चम स्वर, कोकिल की काकली और चातक की पी-पी इनके गीतों में कर्णामृत बन जाती है। आपके गीतों मे पूर्णतया आत्मनिवेदन उपलक्षित होता है। आपने स्वय 'यामा' की भूमिका में लिखा है कि—'मेरे गीत आत्म-निवेदन मात्र हैं—उनके विषय में कुछ कह सकना मेरे लिए सम्भव नहीं। इन्हें मैं अपनी अकिञ्चन भेंट के अतिरिक्त कुछ नहीं मानती।" प्राय: वीणा का मधुर वाद्य संगीतज्ञों का प्रिय साधन होता है। वे इस साधन को अपने प्राणों से पृथक् करते दृष्टिगोचर नहीं होते, किन्तु महादेवी वर्मा स्वय वीणा और रागिनी की प्रतिकृति बनकर सम्मुख परिलक्षित होती हैं।

"बीन भी हूँ मै तुम्हारी रागिनी भी हूँ,
नीद थी मेरी अचल निस्पन्द कण कण में।
प्रथम जागृति थी जगत के प्रथम स्पन्दन में,
प्रलय में मेरा पता पद चिह्न जीवन में।
शाप हूँ जो बन गया वरदान बन्धन में,
कूल भी हूँ कूलहीन प्रवाहिनी भी हूँ।"

गीतिकाव्य मे प्राय सभी ने माधुर्यभावना का सम्यक् निर्वाह किया है। शैली की दृष्टि से कोई परिवर्तन नहीं हुआ। प्रेम और सौन्दर्य के कोमल भावों को मधुर भाषा में परिणत किया गया। विषय की दृष्टि से गीतिकाव्य के विषय शान्त, करुण, वात्सल्य और शृंगार आदि रसों में परिपक्व होते रहे। सुमित्रानन्दन पन्त ने तो ग्रामीण और मूक जनता को अपने गीतों का विषय बनाया। उद्देश्य की दृष्टि से विचारधारा को और मस्तिष्क की गति को आन्दोलित करना ही गीतिकाव्य का परम लक्ष्य रहा है। गीतिकाव्य का

भविष्य बड़ा उज्ज्वल है। आदिशक्ति ने संगीत की जिस माधुरी से समस्त सृष्टि की उत्पत्ति की थी, उस माधुरी को पुनरुज्जीवित करके भारत वसुन्धरा पर सुख शान्ति का साम्राज्य स्थापित करने का उत्तरदायित्व हिन्दी के गीति-काव्य पर ही निर्भर है।
